# श्री गीता प्रवचनमाला

## (तृतीय भाग)

व्याख्याता

राष्ट्रपति सम्मानित

महामहोपाध्याय पण्डित श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

संपादक

राष्ट्रपति सम्मानित

आचार्य डा. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

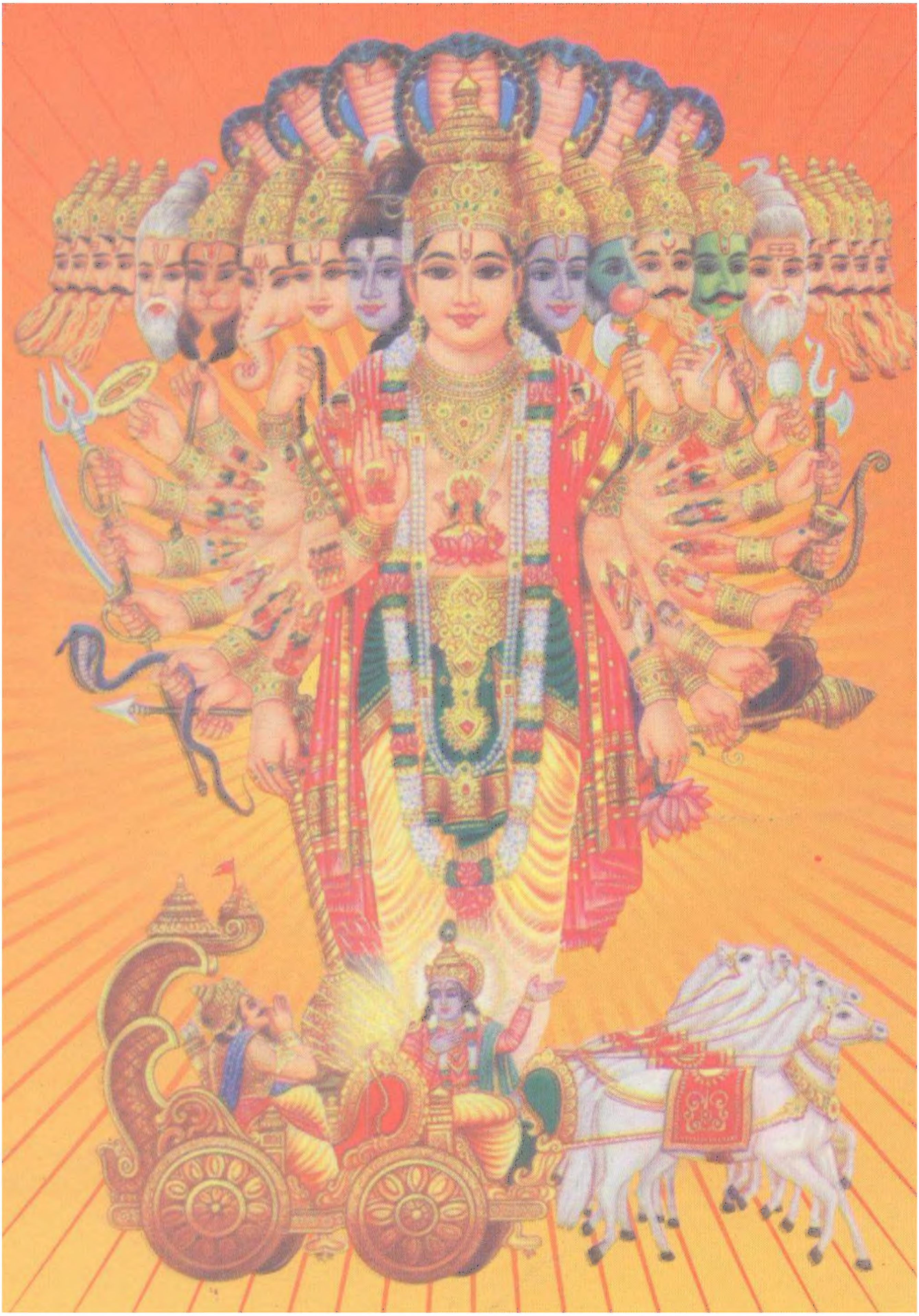

**डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी**
**सम्पादक**

**जन्मतिथि** : 16 अप्रैल, 1934
**पिता** : म. म. पं. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी
**माता** : श्रीमती गुलाब देवी चतुर्वेदी

प्रारम्भिक शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा जयपुर, लाहौर, हरिद्वार, अल्वर तथा वाराणसी में। "वाल्मीकीय रामायण में राजनीति" विषय पर शोध-निबन्ध। अध्यापन संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ तथा संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में। वहाँ के साहित्य विभागाध्यक्ष पद से सन् 1994 में सेवानिवृत्त। संस्कृत और हिन्दी में 30 पुस्तकें लिखित सम्पादित व प्रकाशित। हिन्दी और संस्कृत की पत्रिकाओं में शताधिक शोध लेख, ललित निबन्ध तथा काव्य रचनाएँ तथा कहानियाँ। सम्प्रति धर्मागम विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अतिथि प्राध्यापक।

संस्कृत वाग्विवर्धिनी परिषद, कविभारती, आन्वीक्षिकी, श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी संस्थान, वाराणसेय संस्कृत संसद आदि अनेक संस्थाओं की स्थापना और मंत्रित्व तथा अध्यक्षता। 15 अगस्त 1999 को राष्ट्रपति डॉ. के.आर. नारायणन् द्वारा राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित। संप्रति अपने पुत्रों डॉ. प्रयास चतुर्वेदी (रीडर, फ्रेंच विभाग, का.हि.वि.वि.) तथा डॉ. संजय चतुर्वेदी (विद्युतव्यवसायनिरत) के साहचर्य में धर्मपत्नी श्रीमती सरोज चतुर्वेदी सहित वाराणसी में निवास करते हुए साहित्यानुशीलन तथा अध्यात्म चिन्तन।

**महामहोपाध्याय पं. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी**
प्रवचनकर्त्ता

जन्मतिथि : पौ.शु.दशमी वि.स. 1938
निधनतिथि : 10 जून 1966
पिता : श्रीमान् गोकुलचन्द्र चतुर्वेदी
माता : श्रीमती लवङ्गी देवी चतुर्वेदी

राजस्थान की वर्तमान राजधानी जयपुर नगर में उत्पन्न, वहीं के संस्कृत कॉलेज में प्रारम्भ से सर्वोच्च शिक्षा तक प्राप्त। सर्वोच्च परीक्षा में विश्वविख्यात म.म. शिवकुमार शास्त्री की कलम से सौ में से सौ अंक प्राप्त। अध्यापन व्यवसाय का प्रारम्भ सहारनपुर के जैन महाविद्यालय से। अध्ययन काल में ही संस्कृत मासिक पत्र का संपादन एवं प्रकाशन। हरिद्वार के ऋषिकुल के प्रिंसिपल रहते हुए गुरूकुल के शास्त्रार्थ में भारत भर में विख्यात। लाहौर में 15 वर्ष निवासकाल में महामना पंडित मदनमोहनमालवीय, पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि का निकट सम्पर्क। पंजाब सिन्ध क्वेटा, विलोचिस्तान आदि में धर्मव्याख्यानार्थ अनेक बार यात्राएँ। देश के विभिन्न प्रमुख नगरों में अनेक बार यात्राओं में धर्माचार्यों, शंकराचार्यों, संस्कृत विद्वानों, हिन्दी कोविदों का निकट सम्पर्क सहयोग। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन आदि अनेक संस्थाओं के संस्थापक संचालक। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट की सर्वोच्च संस्कृत उपाधि महामहोपाध्याय से, तथा स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद द्वारा 15 अगस्त 1958 को संस्कृत सम्मान में प्रथम स्थान। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जैसे दिग्गज सहाध्यायी। संस्कृत हिन्दी में 50 से अधिक ग्रन्थों के निर्माता। केन्द्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त। अपनी मातृसंस्था जयपुर संस्कृत कॉलेज के 20 वर्ष प्रिंसिपल रहकर सेवा निवृत्त। पुनः लाहौर और अलवर में प्रिंसिपल। देश विभाजन के उपरान्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सम्मानित शोध संचालक। 86 वर्ष तक निरन्तर लेखन भाषण अध्यापनरत रहते हुए 1966 में काशी में शिवसायुज्य।

# श्री गीता प्रवचनमाला

## तृतीय भाग


*व्याख्याता*

राष्ट्रपति सम्मानित

महामहोपाध्याय पण्डित श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

*संपादक*

राष्ट्रपति सम्मानित

आचार्य डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी



*प्रकाशन कक्ष*

**काशीहिन्दूविश्वविद्यालय**

वाराणसी–२२१००५

भारत

**ISBN No. :** 81-85305-24-2

*पुस्तक का नाम :* **श्री गीता प्रवचनमाला**
**तृतीय भाग**

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५ की प्रकाशन अनुदान योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

**प्रथम संस्करण** : २००७

© काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

**मूल्य** : ५२५.००

*प्रकाशक :*
**डा० विश्वनाथ पाण्डेय**
विशेषकार्याधिकारी (प्रकाशन)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१ ००५

*पुस्तक प्राप्ति स्थान :*
**विशेषकार्याधिकारी, प्रकाशन कक्ष**
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-५ (भारत)
फोन : ९१-५४२-२३०-७२१६
फैक्स : ९१-५४२-२३६८५९८ / २३६८१७४
ईमेल : vnp@bhu.ac.in

*मुद्रक :*
**तारा प्रिंटिंग वर्क्स**
रथयात्रा-गुरूबाग रोड
कमच्छा, वाराणसी-२२१०१०

# पुरोवाक्

गीता व्याख्यानमाला के द्वितीय संस्करण का यह तीसरा भाग विद्वान् पाठकों को समर्पित करते हुए अपार हर्ष का अनुभव होना स्वाभाविक है। मुझे इस भाग के प्रथम मुद्रण काल में घटित घटनाओं का स्मरण आज भी रोमांचित करता है। उस काल इस प्रवचनमाला के व्याख्याता मेरे प्रातः स्मरणीय पूज्य पिता स्वर्गीय महाहोपाध्याय श्रीमान् पण्डित गिरिधर शर्मा जी की अवस्था चौरासी वर्ष की थी और वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मालवीय भवन में उन दिनों छान्दोग्य उपनिषद् पर अपने क्रमिक प्रवचन सुना रहे थे। उन्हीं दिनों एक रविवार को अत्यन्त शीतकाल में पिताजी की आवाज पर पक्षाघात का आक्रमण हो गया और प्रवचन की शक्ति उनमें फिर अन्त तक नहीं लौटी। उपनिषदों पर तो मालवीय भवन में रविवार को उनका प्रवचन चल रहा था और घर पर प्रतिदिन वे बोलकर गीताप्रवचन लिखवाते जा रहे थे और तत्काल उसे बी०एच०यू० प्रेस में भेजा जा रहा था और उसके प्रूफ आते जा रहे थे। इस प्रकार गीता प्रवचन का द्वितीय भाग १२वें अध्याय तक का पूर्ण हुआ था। जैसे ही तीसरा भाग शुरू होने को था कि वे सहसा अस्वस्थ हो गए। उस काल यह गंभीर विषय उपस्थित हो गया कि गीता प्रवचन माला का तीसरा भाग कैसे पूर्ण हो। हालांकि जब वे गीता पर प्रवचन कर रहे थे तब उसके नोट्स लिए जा रहे थे। परन्तु नोट्स और पूरे प्रवचन के लेखन में तो बहुत बड़ा अन्तर होता है। अन्ततः डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, जो कि यह जानते थे कि मैं प्रवचन काल में बराबर पिताजी के साथ रहता और प्रवचन के नोट्स लेता था, उन्होंने मुझसे गीता प्रवचन माला के तीसरे भाग को लिखने को कहा। उनकी प्रेरणा से इस तीसरे भाग का लेखन कार्य नोट्स को सामने रखकर तथा गीता की समस्त टीकाओं का अनुशीलन करते हुए मैंने ही पूर्ण किया।

मेरे इस प्रकार के लेखन को पूज्य पिताजी का पूर्ण आशीर्वाद और समर्थन प्राप्त होता रहे यह श्री अग्रवाल जी तथा श्री ज्योति भूषण गुप्त जी (तत्कालीन-कोषाध्यक्ष, का०हि०वि०वि०) का कथन था। पिताजी की वागिन्द्रिय ही पक्षाघात से बोलने के क्रम के लिए अवरुद्ध हुई थी। श्रवण शक्ति ठीक काम कर रही थी। अतः मैं नित्य प्रति अपना तीसरे भाग का लेखन उन्हें सुनाता जाता था और वे यत्र तत्र कुछ संकेतों से बोलते हुए तथा कुछ लिखकर उसमें संशोधन और परिवर्तन करने के संकेत देते जा रहे थे। एक दिन मेरे सुना देने के उपरान्त उन्होंने मुझे आशीर्वादात्मक वाक्य सुनाया कि "बाणभट्ट की "कादम्बरी" पुस्तक अधूरी ही थी कि बाणभट्ट का देहान्त हो गया, तब कादम्बरी को उनके पुत्र ने पूर्ण किया, वही कार्य हमारी इस अस्वस्थ

स्थिति में इस गीता प्रवचन माला के सन्दर्भ में तुम कर रहे हो। मैंने इस कथन पर उन्हें निवेदन किया कि बाणभट्ट की कथा तो सुनी हुई बात है, परन्तु यहां तो आप स्वयं प्रत्येक अक्षर सुनकर उसे अपना स्वत्त्व दे ही रहे हैं और प्रत्यक्ष आशीर्वाद भी दे रहे हैं, इससे इसकी प्रमाणिकता उक्त घटना से अधिक बढ़ जाती है।

हमारा प्रयत्न यह था कि कहीं इसी गहन रुग्णावस्था में उनका शरीर नहीं रहा तो गीता प्रवचन के सम्पूर्ण मुद्रण को वे नहीं देख सकेंगे, इसलिए यथा संभव यह लेखन और साथ साथ चलने वाले मुद्रण का कार्य शीघ्रता से सम्पन्न कर दिया जाय। कुलपति महोदय श्रीमान् स्व० भगवती साहब का भी बी०एच०यू० प्रेस को यह विशेष आदेश था कि गीता प्रवचन के मुद्रण कार्य को किसी भी प्रकार न रोका जाय। इस तत्परता से यह कार्य सम्पन्न होता रहा, बाद में इस शीघ्रता में हुई त्रुटियों की ओर ध्यान जब गया तो देखा गया कि थोड़ा पिछले अंश की ओर ध्यान दिये जाने पर आगे होने वाली त्रुटियों को नहीं रहने दिया गया होता। पिछले दो भागों में कई स्थानों पर अनेक बातों को इस भाग में आये हुए अध्यायों के प्रवचनों में विस्तार से लिखने की बात कही गई थी। उसका इस लेखन प्रवाह में ध्यान नहीं रक्खा जा सका। यद्यपि जब वह विषय लिखकर पिताजी को सुनाया तो उन्होंने उस विषय को संकेतित तो करा ही दिया, परन्तु उन विषयों का विस्तृत निरूपण जो इस गीता प्रवचन माला की अपनी एक मुख्य विशेषता है, वह इस तीसरे भाग में नहीं हो पाया, यदि वह भी इसमें आ गया होता तो इसका कलेवर प्रथम भाग से भी अधिक पृष्ठों में गया होता।

इस भाग में गीता के प्राचीन व्याख्याकारों की व्याख्याओं का सार संकलन ही प्रमुख रूप से है। साथ ही पिताजी के जो कुछ विशेष विषयों पर लेख पूर्व प्रकाशित होकर विख्यात हो चुके थे उनका भी उनकी आज्ञा और निर्देश से यथा स्थान समावेश कर दिया गया।

मैंने इस गीता प्रवचन माला के द्वितीय संस्करण के प्रथम और द्वितीय भागों के अपने "पुरोवाक्" शीर्षक कथनों में इस "गीता प्रवचन" ग्रन्थ के सन्दर्भ में अपने अनुभवों को प्रस्तुत किया है। परन्तु वे सारे अनुभव कभी भी एकत्र लिखे ही नहीं जा सकते। वे तो विपुल मात्रा में हैं। अत: जब उन बातों को लिखने का अवसर उपस्थित होता है तो कई नई बातें सूझतीं हैं कि इन्हें भी मनीषियों के मनोविनोदार्थ प्रस्तुत कर दूं।

इस सन्दर्भ में एक बात तो यह कथनीय है कि पिताजी के गीता और उपनिषदों के प्रवचन काल में मालवीय भवन तथा उससे पूर्व के संस्कृत महाविद्यालय आदि

के स्थान श्रोताओं से खचाखच भरे रहते थे। वह स्थिति उसके उपरान्त यदा कदा विशेष-विशेष वक्ताओं के आने पर कभी कभी ही देखने को मिलती है। बीच के काल में तो श्रोताओं के अभाव में दो चार श्रोताओं को गीता प्रवचन का श्रोता बनता हुआ देखा गया। परन्तु इस वर्ष इस श्रोताओं की संख्या में पुनः वृद्धि हुई है, यह बात स्वयं आमन्त्रित होकर प्रवचन करते हुए मेरे अनुभव में आई और यह भी अनुभव हुआ कि वर्तमान गीता समिति इस सन्दर्भ में पर्याप्त सचेष्ट है और उसका लाभ भी जनता को प्राप्त हो रहा है। श्रोताओं की उपस्थिति की दृष्टि से गीता प्रवचन के समय में भी अनुकूल परिवर्तन कर दिया गया है। पहिले गीता प्रवचन का समय प्रातः ८ बजे से ९ बजे तक नियत था। अब वह समय प्रातः १० बजे से ११ या ११.३० तक हो गया है। पहिले प्रारंभ और अन्त में भजन के अतिरिक्त केवल गीता पर प्रवचन ही होता था, अब भजन, गीता के एक अध्याय का सामूहिक पाठ उसके उपरान्त मालवीय जी महाराज की प्रतिमा पर वक्ता के द्वारा माल्यार्पण, फिर वक्ता की प्रस्तुति में मन्त्री महोदय के द्वारा कुछ वक्तव्य उसके उपरान्त गीता पर व्याख्यान, उसके उपरान्त प्रस्तुत किये गए व्याख्यान का सार मन्त्री महोदय के द्वारा प्रस्तुत करना जिसमें उनकी स्वयं की ली यथा स्थान छोटी बड़ी प्रशंसात्मक तथा आलोचनात्मक टिप्पणियाँ होती हैं, उसके बाद समाप्ति सूचक भजन गायन और तब इस प्रकल्प की परिपूर्ति होती है। यही रविवासरीय गीता का क्रम कुछ काल से चल रहा है। मुझे जो इस समय स्मरण पिताजी के प्रवचन काल का आ रहा है वह उस काल की विशिष्ट श्रोतृ-मण्डली का है। उस काल की श्रोता मण्डली में इस विश्वविद्यालय के विश्व विख्यात मनीषी नियमित रूप से उपस्थित रहते थे, जिनमें कुछ नाम हैं, प्रो० डा० नारलीकर, जिनके सुपुत्र ने गणित में विश्व व्यापिनी ख्याति अर्जित की और जो स्वयं अनेक वर्षों तक पी०वी०सी० पद पर रहे डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल अपने समय के भारतीय विद्याओं भाषाओं के व्यातनाम विद्वान् थे, डॉ० राजबली पाण्डेय महोदय, पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी, पण्डित बलदेव उपाध्याय वयोवृद्ध श्रीमान् श्यामाचरण डे महाशय, प्रो० भीखनलाल आत्रेय, जबसे डॉ० नटवर लाल हीरा लाल भगवती महोदय कुलपति बने और अपने सहयोग के लिए पी०वी०सी० के रूप में उन्होंने एम०सी०बीजावत महोदय को बुलवा लिया तब से उन्होंने नियमित रूप से गीताप्रवचन का श्रवण किया और उनके कारण भी विश्वविद्यालय के समस्त उच्च अधिकारीगण उपस्थित रहते थे। नगर के दूरस्थ भागों से भी श्री याज्ञिक जी आदि अनेक महानुभाव नियमित रूप से गीता प्रवचन को सुनते थे। संस्कृत महाविद्यालय के विद्वानों को रविवार का अवकाश न होकर भारतीय प्राचीन अनध्याय की परम्परा को देखते हुए आज भी अष्टमी और

प्रतिपदा तिथियों को साप्ताहिक अवकाश मिलता है, परन्तु गीता प्रवचन के श्रवण का लाभ: उन्हें भी मिले और दो बार न आना पड़े इसलिए रविवार को संस्कृत महाविद्यालय का कार्यकाल प्रात:काल १० बजे से प्रारम्भ होता था, अत: संस्कृत महाविद्यालय के कवितार्किक चक्रवर्ती श्री महादेव शास्त्री जी (बाद में संन्यास लेने पर श्री स्वामी माहेश्वरानन्द जी) श्री पं० रामनाथ दीक्षित, पं० श्री हीरावल्लभ जी, आदि समस्त विद्वान् उपस्थित होते थे। इस प्रकार रविवासरीय गीता प्रवचन की यह श्रोता मण्डली अपना एक अलग ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। कुछ अन्य विद्वानों का स्मरण भी आ रहा है जिनमें आचार्य बदरीनाथ शुक्ल (जो बाद में संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे) वे इसी विश्वविद्यालय में थे, श्रीराम व्यास ज्योतिषी, श्री गया प्रसाद ज्योतिषी, पं० सीताराम त्रिपाठी आदि विद्वान् भी निरन्तर प्रवचनों में विद्यमान रहते थे। गीता प्रवचनों के लिखे जाने का प्रस्ताव सर्वप्रथम श्रीमान् डॉ० प्रो० दरबारी लाल जी कोठिया, महोदय ने रक्खा था और श्री महेन्द्र कुमार जैन महाशय ने इस पर बहुत जोर दिया था। उस समय के छात्रों में अग्रगण्य और वर्तमान के भारत विख्यात मनीषियों में डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी, श्री डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, श्री स्व० रतिनाथ झा आदि प्रमुख थे। इनमें से कई महानुभाव अपने अध्ययन के अन्तिम चरण में थे।

मैं गीता प्रवचन के मध्य के काल में प्राय: दो वर्ष अध्यापक होकर पंजाब विश्वविद्यालय की सेवा में चण्डीगढ़ चला गया था। उन्हीं दिनों गीता व्याख्यानमाला के प्रथम भाग का मुद्रण होता रहा। प्रूफ सम्बन्धी और सम्पादन सम्बन्धी अनेक त्रुटियां उसमें रह गईं। उपरान्त मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय में साहित्य विभाग में अध्यापक होकर आ गया। इस प्रयत्न में पिताजी का आशीर्वाद और कुलपति श्री भगवती महोदय का उत्साह मेरा संबल था। मैंने आने के उपरान्त गीता व्याख्यानमाला के कार्य को सम्हाला। पंजाब विश्वविद्यालय में मैंने पी-एच०डी० शोधोपाधि के लिए कार्यारम्भ कर दिया था। परन्तु यहाँ आने पर मुझे स्वयं को शोधोपाधि के लिए पुन: पंजीकृत कराना अनिवार्य था। इसके लिए जब मैं श्रीमान् स्वर्गीय डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जी महानुभाव से परामर्श लेने गया तब उन्होंने मुझे समझाया कि मैं भले ही रजिस्ट्रेशन की औपचारिकता पूरी कर लूं, परन्तु पी-एच०डी० उपाधि तो प्रतिवर्ष सैकड़ों लोग प्राप्त कर रहे हैं, जो कार्य अन्य कोई नहीं कर सकेगा सिवा मेरे वह कार्य ही मुझे पूरी तल्लीनता से करना चाहिए और वह है पिताजी के वर्तमान लेखन को पूर्ण करने में योग देने, उसकी शीघ्र मुद्रण व्यवस्था देखने, और साथ ही हिन्दी और संस्कृत में उनके प्रकाशित अप्रकाशित बिखरे हुए लेखों को व्यवस्थित कर उन्हें प्रकाशन के उपयुक्त रूप में प्रस्तुत करने का महान् कार्य।

मैंने भी इस तथ्य का अनुभव किया और रजिस्ट्रेशन मात्र करा लेने के बाद मैंने उस ओर से ध्यान हटाकर गीता प्रवचन पर ही ध्यान केन्द्रित किया। द्वितीय भाग में एकादश अध्याय पर पिताजी की आज्ञा पाकर मैंने ही लेखन किया था। फिर जब उनकी वाणी पर पक्षाघात का आक्रमण हुआ तो त्रयोदश अध्याय से अन्तिम अष्टादश अध्याय तक का गीता की विभिन्न टीकाओं को सामने रख कर लेखन भी मैंने पूर्ण कर उन्हें सुनाया और उनकी स्वीकृति प्राप्त की।

इसी मध्य में पिताजी के संस्कृत लेखों का संस्कृत पत्रिकाओं से संकलित कर "चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावलि:" इस नाम से चौखम्बा मुद्राणालय से प्रकाशन कराया। "निबन्धादर्श:", "प्रमेय पारिजात:", "पुराण पारिजात:", "वैदिकविज्ञानम्" आदि पुस्तकें भी प्रकाशित हुई। यह सब पिताजी के जीवन काल में प्रकाशित होकर उन्हें समर्पित होती रहीं।

हिन्दी भाषा में उनके निबन्धों का संकलन करके 'साहित्यिकनिबन्ध' तथा 'दर्शन अनुचिन्तन' नामक पुस्तकें उन्हें समर्पित हुई। ये सभी पुस्तकें उच्चकोटि के प्रकाशन संस्थानों से प्रकाशित हुईं। इस प्रकार मेरी काशी में नियुक्ति का मुख्य उद्देश्य सन्तोषजनक रीति से पूर्ण हुआ।

पिताजी के दिवंगत होने के उपरान्त पटना से पुराण परिशीलन नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, उसका भी बहुत कुछ लेखन कार्य मैंने ही किया। हिन्दी में "भारतीय दर्शनों में आत्मा", "भगवान् श्रीकृष्ण और शिवतत्त्व", "वैदिक वर्णव्यवस्था और श्राद्ध", "उपनिषद् परिशीलन", "छवि की किरणें", "आत्मकथा और संस्मरण", "प्रत्यालोचन" इन ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन सम्पन्न किया। एम०ए० पास करने के सत्रह वर्ष उपरान्त मैंने "बाल्मीकि रामायण में राजनीति" विषय पर अपना शोध कार्य पूर्ण कर शोधोपाधि प्राप्त की।

मेरे सेवा निवृत्त होने और पुनर्नियुक्ति (सुपर एन्यूएशन) के अन्तराल में पिताजी का संस्कृत में अनेक वर्षों के परिश्रम से लिखा गया महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "पुराणविद्या" इस नाम से जयपुर की राजस्थान संस्कृत अकादमी संस्था से प्रकाशित कराने के उपरान्त ही मैंने चैन की सांस ली। क्योंकि पिताजी की महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रकाशन हो चुका था।

परन्तु अब दूसरी समस्या आ गई कि वर्षों पूर्व प्रकाशित ये सभी कृतियां अनुपलब्ध हो चुकी थी। उनमें गीता व्याख्यानमाला ही प्रमुख और सबसे बड़ी थी। आज भगवत्कृपा से वह कार्य सम्पन्न होने के उपरान्त मुझे अपार हर्ष का अनुभव

होना स्वाभाविक है और इसके लिए मैं प्रारंभ से पूर्णता पर्यन्त श्रीमान् डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय महोदय, जनसम्पर्क अधिकारी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं सदस्य प्रकाशन समिति का हृदय से कृतज्ञ हूं। अपने पास रहने वाले अपने पुत्रों डॉ० संजय चतुर्वेदी और डॉ० प्रयास चतुर्वेदी (रीडर फ्रेंच भाषा विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) का भी मैंने पर्याप्त सहयोग लिया। इन्हें हृदय से शुभाशीर्वाद देता हूं।

आशा है इस दीर्घकाल से अनुपलब्ध ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन से विद्वानों को मनस्तोष और आनन्द प्राप्त होगा।

निवेदक-

**शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी**

---

# आरम्भिक वक्तव्य

भगवत्कृपा से गीता प्रवचनमाला का यह तृतीयखण्ड प्रस्तुत हो रहा है। इस मध्य में मुझे अनेक पत्र मिलते रहे जिनमें इस खण्ड के मुद्रण की प्रतीक्षा करने की बात लिखी गई थी। इसके पूर्व के दो खण्डों को पाठक सज्जनों ने पढ़ा और पत्र भी इस विषय के मुझे मिलते रहे। अनेक समाचार पत्रों में पूर्व खण्डों की आलोचनाएँ-प्रत्यालोचनाएं भी हुईं। पहिले तो मैं भी शास्त्रीय आलोचनाओं में बराबर भाग लेता था। मेरे आलोचनात्मक लेखों का संग्रह भी किया गया है, परन्तु वृद्धावस्था के शैथिल्य और पूर्वारब्ध कार्यों में यथाशक्ति लगे रहने के कारण इस समय इन आलोचनाओं मे पड़ने का अवकाश और शक्ति नहीं। यावज्जीवन के स्वभावानुसार यथाशक्ति कुछ लिखते-लिखाते रहना ही इस समय अवशिष्ट कार्य रह गया है। वही करता रहता हूं। नेत्रों के दौर्बल्य से जब से स्वयं पढ़ना छूटा तभी से स्वयं लिखना भी छूट गया है। कई वर्षों से एकाधिक विद्वान् या छात्र की मुझे सहायता लेनी होती है।

इस भाग को प्रस्तुत करने में प्रमुख सहायता मेरे कनिष्ठ पुत्र श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी की मिली। गतवर्ष जनवरी मास में मैं वागवरोध रोग से आक्रान्त हो गया। बहुत दिनों तक बोल ही नहीं सका। उस अवसर पर शिवदत्त शर्मा ने मुझसे निर्देश लेकर इस ग्रंथ के कार्य को आगे बढ़ाया। जब मैं गीता पर प्रवचन करने हिन्दू विश्वविद्यालय में जाया करता था, उस समय जो व्यक्ति मेरे साथ जाता था, वह व्याख्यान के संक्षिप्त नोट भी ले लेता था। वे नोट्स सुरक्षित प्राप्त हो गए। श्री पं० गयाप्रसाद जी ज्योतिषी महोदय भी प्रवचन काल में नोट्स लेते रहे। उनके नोट्स भी प्राप्त हो गए। अनेक विषयों की प्रत्यभिज्ञा इन के आधार पर होती गई। जब कुछ-कुछ वाणी खुलने लगी तब मैं भी बोल कर लिखाने लगा। गीता की व्याख्याओं का सार संकलन ही इस भाग में भी आपको मिलेगा। कुछ विशेष विषय भी इसमें चर्चित हुए हैं। क्षर-अक्षर निरूपण, ईश्वर निरूपण, ज्ञान और भक्ति, आदि विषयों पर कुछ विस्तार से लिखा है।

आयुष्मान् शिवदत्त शर्मा को मैं शुभाशीर्वाद देता हूं। उसने इसमें पर्याप्त श्रम किया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के नेपाल प्रकाशन मण्डल के अधिकारियों का मैं आभार स्वीकार करता हूं कि वहां की पूरी सहायता से इस गीता व्याख्यान माला का लेखन और प्रकाशन हुआ है। श्रीमान् डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जी महोदय ने आरम्भ से ही इसके प्रकाशन में रुचि ली, भूमिकाएं भी लिखी, उनको भी मैं साधुवाद देता हूं। श्री चिन्तामणि झा ने भी इसके प्रकाशन में परिश्रम किया है, उन्हें मेरे शुभाशीर्वाद हैं। मेरे पौत्र श्री ईश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, एम०ए० तथा मेरे प्रशिष्य रामप्रसाद त्रिपाठी

तथा गोप राजुराम (आन्ध्र) ने भी इस कार्य में योग दिया है। इन्हें भी मैं शुभाशीर्वाद देता हूं। अन्त में मेरा यही निवेदन है कि इस ग्रन्थ में जहां कोई दोष दिखाई दे, वह मेरा ही है, मेरा असामर्थ्य ही उसमें कारण है। जो कुछ ग्राह्य अंश इसमें हो वह आचार्यों, मनीषियों और गुरुजनों का ही प्रसाद है, यही समझकर पाठक महानुभाव इसका अवलोकन करें और कृपापूर्ण दृष्टि से मेरे दोषों को क्षमा करें।

महाशिवरात्रि | गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी
सं० २० [illegible]

# भूमिका

यह ईश्वर की महती कृपा है कि म०म० पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी के भाष्य का जो वाग्यज्ञ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आरम्भ हुआ था, वह अब पूर्ण हो रहा है। यह योजना इस प्रकार थी कि श्रीमद्भगवद्गीता के अठारह अध्यायों को मूल और भाष्य समेत ६-६ अध्यायों के तीन खण्डों में प्रकाशित किया जाय। तदनुसार पहला खण्ड (अध्याय १-६) ७-१२-१९६२ को और दूसरा खण्ड (अध्याय ७-१२) २३-१२-६३ को प्रकाशित हुआ था। आज यह तीसरा खण्ड अध्याय (१३-१८) प्रकाशित करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हो रहा है। तीनों खण्डों में लगभग १४०० पृष्ठ हुए हैं। पण्डित जी की आयु ८४ वर्ष की है। इधर पक्षाघात के आक्रमण के कारण उनका स्वास्थ्य सार्वजनिक चिन्ता का विषय बन गया था किन्तु भगवान् ने उनकी रक्षा की। अब वे प्राय: रोग से मुक्त हो गए हैं किन्तु व्याधि की अवस्था में भी उन्हें गीता-प्रवचन के तीसरे खण्ड को विधिवत् संपन्न करने का बराबर ध्यान बना रहा और अपनी तपश्चर्या से वे सफल मनोरथ हुए।

इन छह अध्यायों में विशेष बात यह है कि इनमें अनेक वैदिक विद्याओं का उल्लेख पाया जाता है, जैसे १३वें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विषय का स्पष्ट विवेचन किया गया है। ये दोनों शब्द ऋग्वेद में पाए जाते हैं। क्षेत्र शरीर है और क्षेत्रज्ञ आत्मा है। जो आत्मा को नहीं जानता वह अक्षेत्रविद् है और जो जानता है उसे क्षेत्रविद् कहते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में सच्ची दृष्टि सब प्रकार के अन्य ज्ञानों से श्रेष्ठ है। सब शरीर में, भगवान् की सत्ता के विषय में, सब भारतीय शास्त्रों का मत स्पष्ट है और वही बात गीता में दृढ़ता से कही गई है। विराट् ब्रह्म सूर्य है, उसी की ज्योति या एक किरण अध्यात्म शरीर में आत्मा है।

गीता के इस अध्याय में कहा गया है कि ऋषियों ने अनेक वेद मन्त्रों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संबन्धी इस विद्या को समझाया है और इसी का उल्लेख ब्रह्मसूत्रों के शब्दों में है जिनमें उपनिषदों का सार है। इसी के साथ पूरे शरीर की रचना किन तत्त्वों से हुई है, इसका भी स्पष्ट उल्लेख है, अर्थात् पञ्चभूत, दस इन्द्रियां, पांच तन्मात्रा या इन्द्रियों के विषय इन बीसों के अतिरिक्त अहंकार (वैयक्तिक अहंभाव या मन), विराट्बुद्धि (विज्ञान) और अव्यक्त प्रकृति एवं इनके अतिरिक्त इच्छा-द्वेष, सुख-दु:ख, चेतना, प्राणात्मक विधृति और इनका एकत्र पुरुष रूप में संघात या जमघट यह क्षेत्र का ठाट है।

इसके अतिरिक्त संसार में ज्ञान क्या है और अज्ञान क्या है ? इसको भी इस

अध्याय में स्पष्ट और सरल शब्दों में कहा गया है। इसके अलावे ज्ञेय ब्रह्मतत्त्व या परमात्मा के दो स्वरूपों की व्याख्या करते हुए निर्गुण और सगुण कहा गया है। इस वर्णन की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें केवल शब्दों का जंजाल नहीं, यह तो ज्ञानी की साधना की दृष्टि से मथा हुआ मक्खन है। यहाँ किसी एक साधना को अच्छा और दूसरी को बुरा कहने का प्रश्न नहीं; अतएव ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इन तीनों मार्गों को सत्यात्मक बताया गया है।

चौदहवें अध्याय में ब्रह्म के दो स्वरूपों का एक नये ढंग से वर्णन है जिसे मातृ-पितृ विद्या कहा जा सकता है। 'द्यौः पिता पृथिवी माता' यह ऋग्वेद का प्राचीन सूक्त था। इसे ही द्यावा-पृथिवी विद्या भी कहा जाता था। इसे ही स्वयंभूपरमेष्ठी विद्या भी कहते थे। स्वयंभू पिता और परमेष्ठी माता है। स्वयंभू पुरुष और परमेष्ठी विराज् प्रकृति है। स्वयंभू सूक्ष्मातिसूक्ष्म अव्यक्त तत्त्व और परमेष्ठी महान् महिमा भाव है। स्वयंभू बीजप्रद या गर्भाधान करने वाला रेतोधा पिता है। परमेष्ठी गर्भ धारण करने वाली महद्‌योनि या महिमारूपिणी माता है। स्वयंभू अपरिभाष्य या वर्णन से परे है किन्तु परमेष्ठी विराजृ या प्रकृति सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से बनी है और उसी के साथ गुणातीत या गुणों के वैषम्य से विचलित न होने वाले ज्ञानी का भी लक्षण बताया गया है। ऐसा व्यक्ति ब्रह्म तुल्य ही बन जाता है। ब्रह्मभूयाय कल्पते।

पन्द्रहवें अध्याय में अश्वत्थ विद्या का विवेचन है। यह भी मूलत: वैदिक विद्या ही थी जहाँ इस विश्व को ब्रह्म वृक्ष और समस्त विश्वों या ब्रह्माण्डों की समष्टि को ब्रह्म कहा गया है। वृक्ष और वन की उपमा ब्रह्माण्ड के स्वरूप को दृढ़ता से सामने लाती है। गीता के इस वर्णन में कुछ पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ स्पष्टता से समझ लेना चाहिए। वेदों में जिसे सहस्रवल्श वनस्पति अर्थात् सहस्र शाखाओं वाला वृक्ष कहा है उसे ही यहाँ अव्यय अश्वत्थ कहा गया है। जो सहस्र या अनन्त है वही अव्यय है। जैसे अनन्त का कभी अन्त नहीं होता वैसे ही अव्यय का कभी व्यय या क्षय नहीं होता। इस निखिल ब्रह्माण्ड में अनेक संसार हैं। वे ऐसे ही हैं जैसे अण्डे के भीतर की सफेदी में भरे हुए अनन्त कण या कोशों की सत्ता होती है। दोनों में एक बड़ी समानता है। वह यह है कि विश्व में भी प्राण या अस्तित्व है। अण्डे के कोश या कणों में भी प्राण हैं। प्राण को वेदों में हिरण्य या रेतस् भी कहा गया है। इसीलिए इस ब्रह्माण्ड की एक संज्ञा हिरण्यगर्भ भी है। उसी हिरण्यगर्भ का वर्णन अव्यय अश्वत्थ के रूप में पाया जाता है। इनमें केवल प्रतीकों का भेद है। वास्तविक तथ्य एक ही हैं। अश्वत्थ नाम भी सार्थक है। अश्वत्थ की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। एक तो अश्वत्थ वह है जो आज है, कल निश्चित नहीं। यह संसार सदा परिवर्तनशील

है। यह भवचक्र ऐसा पहिया है जो सदा घूमने वाला है। इस परिवर्तमान चक्र का अङ्ग-प्रत्यङ्ग या इसके सहस्रों अरे निरन्तर घूम रहे हैं। इस प्रकार यह ध्रुव या एक रूप टिकाऊ नहीं है और इसकी अ+श्वत्थ संज्ञा चरितार्थ है। अश्वत्थ का दूसरा संकेत और भी अधिक प्राचीन एवं गूढ़ था जिसके नीचे या जिसकी छाया में एक-एक अश्व का अस्तित्व है वही अश्वत्थ है। यह अश्व काल है (कालो अश्वो वहति सप्त रश्मिः, अथर्व)। प्रत्येक विश्व काल पर आश्रित है। काल-चक्र के परिभ्रमण से ही विश्व का विकास हो रहा है। काल ही विश्व के स्वरूप का आधान करने वाला है। यदि एक क्षण के अनन्तर दूसरा क्षण संभव न हो तो व्यक्ति और संसार, व्यष्टि और समष्टि सब प्रकार के जीवन का अन्त हो जाय। गत्यर्थक अश् धातु से अश्व शब्द बना है। अश्व-पशु या अश्व-काल इन दोनों का प्रवृत्ति-निमित्त एक ही है। कालरूपी अश्व का सबसे स्फुट दृष्टान्त सूर्य है। वह अपनी गति के अनुसार विश्व की गति को नियमित कर रहा है। अतः सूर्य सापेक्ष काल का सबसे समर्थ प्रतीक है। सूर्य के द्वारा प्रवर्तित काल के अनेक खण्ड, वर्ष, मास, पक्ष, अहोरात्र के रूप में हमारे अनुभव में आते हैं और फिर किसी अनन्त काल राशि में विलीन हो जाते हैं। काल के एक रस प्रवाह में इन काल खण्डों की कहीं ध्रुव सत्ता नहीं है किन्तु फिर भी उनका अनुभव प्रत्येक प्राणी को हो रहा है। अर्वाचीन भाषा में सूर्यरूपी अश्व और संसाररूपी अश्वत्थ के संबन्ध का वर्णन करते हुए कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति एक सौर मण्डल है जिसके केन्द्र में उसका क्रियात्मक सूर्य प्रतिष्ठित है। निश्चय ही सौर मरण्डल के सब प्राणियों का जन्म सूर्य की शक्ति से ही होता है।

गीता के 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' इस श्लोक में ऊर्ध्व और अधः शब्दों का भी विशेष अर्थ है। ये लोकिक संस्कृत के समान दिशावाची शब्द नहीं हैं किन्तु ऊर्ध्व का अर्थ अव्यक्त और सूक्ष्म है और अधः का अर्थ व्यक्त स्थूल है। ऊर्ध्व अमृत या अविनाशी और अधः मर्त्य या विनाशी है। संसार रूपी वृक्ष का मूल ऊर्ध्व, अमृत या ब्रह्म तत्त्व है। इस महावृक्ष की जो जटायें नीचे की ओर फैलती हैं वे कर्मानुसारिणी हैं। हम जैसा कर्म करते हैं उसी के अनुसार जटाओं की रस्सियां बटी जाती हैं। इस वृक्ष का न अन्त है न आदि। यह एक पुरानी प्रवृत्ति है जो आदि पुरुष या ब्रह्म की शक्ति से प्रवृत्त हुई है। यह संसार भूतों से बना हुआ क्षर कहा जाता है। इसमें व्याप्त जीव या प्राण अक्षर हैं और इन दोनों से ऊपर अथवा अधिक सूक्ष्म भगवान् अव्यय या पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। यह बड़ा गुह्य या छिपा हुआ ज्ञान है (गुह्यतमं ज्ञानम्) जो भगवान् ने अर्जुन से कहा।

सोलहवें अध्याय में वेदों की देवासुर विद्या का मानवीय धरातल पर बहुत ही

सुन्दर विवेचन किया गया है। देवों और असुरों का यह द्वन्द्व विराट् जगत् में भी है किन्तु इसकी सबसे स्फुट सत्ता मनुष्यों के जीवन और आचार में देखी जाती है। इसी सामाजिक स्वरूप को चरित्र संबन्धी गुण-दोषों के सांचे में ढाल कर यहाँ कहा गया है कि संसार में भूतों की सृष्टि या प्राणियों का जन्म दो ही प्रकार से हुआ है, एक देवों के रूपों में दूसरे असुरों के रूपों में (द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च) देवों और असुरों को मनुष्य जैसे रूप में हम कहीं नहीं देख पायंगे। किन्तु मनुष्यों की जो दो तरह की प्रवृत्ति या स्वभाव हैं उनमें भी दैवी-संपद् और आसुरी संपद् का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। देवों का लक्षण सत्य, अमृत, ज्योति और पवित्रता है। असुरों का लक्षण असत्य, अन्धकार, मृत्यु और अशौच या अपवित्रता है। देव की शक्ति को न देखनेवाले असुर प्राय: यही कहते हैं कि सत्य की प्रतिष्ठा करने वाला कोई ईश्वर इस संसार के मूल में नहीं है। इसलिए कामों का उपयोग ही यहाँ परम पुरुषार्थ है। धन, मान, दम्भ, अहंकार, काम-क्रोध इनका क्रूर चक्र ऐसे दुरात्मा व्यक्तियों के मन को ग्रस लेता है।

सत्रहवें अध्याय में अर्जुन ने अपनी एक शंका प्रकट की कि यह जो आपने सत्व, रज, तम, तीन प्रकार की जीवन प्रणाली कही है उसके अनुसार जीवन बिताने वाले लोगों की श्रद्धा कैसी होती है। उनके देवता, तप, आहार, यज्ञ, दान आदि प्रवृत्तियों में किस प्रकार के भेद होते हैं जिससे कि उन व्यक्तियों की तत्काल पहिचान की जा सके। संक्षेप में सत् और असत् का भेद क्या है ?

अठारहवें अध्याय में कर्म संन्यास और कर्मफल त्याग इन दो दृष्टियों के पारस्परिक भेद का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है। कैसा कर्म सांख्य और योग के अनुसार उचित है। इसके विषय में समन्वय परक उत्तर यहाँ पाया जाता है जिसका मूल हेतु भी वहाँ त्रिगुणमयी सात्विकी, राजसी और तामसी धृति अर्थात् विचार धाराएँ हैं। यही वर्णों के स्वाभाविक अपने-अपने कर्मों का भी वर्गीकरण किया गया है। इस प्रकार की सोच-विचार की स्वीकृत जीवन प्रणाली को गीताकार ने बुद्धियोग की संज्ञा दी है और इसे गुह्य से गुह्यतर ज्ञान कहा है।

महामहोपाध्याय श्री गिरिधर जी ने गीता की यह नई व्याख्या बड़े मनोयोग से विस्तार के साथ प्रस्तुत की है। इसमें श्रुति, स्मृति के अनेक प्रामाणिक वचनों का भी यथा स्थान संग्रह किया गया है। इन प्रवचनों का उपदेश काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के श्रोताओं के समक्ष कथा रूप में किया गया था और लगभग उसी रूप में ये मुद्रित किए जा रहे हैं। इनमें गीता पर भाष्य लिखने वाले शंकर, रामानुज आदि प्रमाणभूत

आचार्यों के मतों का भी तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन है। यह इस प्रवचनभाष्य की अपूर्वता है।

आशा है, इसके द्वारा अपने देश में गीता साहित्य की विशेष अभिवृद्धि और गीता-ज्ञान का व्यापक प्रचार हो सकेगा।

इस कार्य की पूर्ति में पण्डित जी की रुग्णावस्था के समय उनके सुपुत्र श्री शिवदत्त जी ने सम्पादन और प्रूफ संशोधन में विशेष सहयोग दिया जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

श्री पं० रामाधीन शास्त्री ने महामहोपाध्याय जी के लेखक के रूप में इन प्रवचनों की पाण्डुलिपि मुद्रणार्थ तैयार की, अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

काशी हिन्दूविश्वविद्यालय
१०-३-१९६५
फाल्गुन शुक्ल सप्तमी

वासुदेव शरण

# गीता व्याख्यान माला
## तृतीय भाग

### विषय-सूची

### त्रयोदश अध्याय


पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या

१- पुष्प ( श्लो० १ ) २४
 (१) उत्तर षट्क का प्रारंभ
 (२) प्रकरण विभाग पर प्रश्न और समाधान
 (३) प्रक्षिप्त श्लोक विचार
 (४) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अर्थ
 (५) पूर्व पद्यों से समन्वय
 (६) प्रत्यक्षवाद के द्वारा क्षेत्रज्ञ के स्वरूप पर शंका और उसका उत्तर

२- पुष्प ( श्लो० २ ) ३१
 (१) 'अपि' शब्द का तात्पर्य
 (२) जीव का अज्ञानाच्छन्न होना
 (३) आत्मा की अलिप्तता
 (४) विद्या और अविद्या
 (५) भगवान् कृष्ण की स्थिति
 (६) क्षेत्रज्ञ का ज्ञान

३- पुष्प ( श्लो० ३-४ ) ३६
 (१) क्षेत्र के विषय में ज्ञातव्य बातें
 (२) क्षेत्र के ज्ञान की आवश्यकता
 (३) समास कथन
 (४) 'गीतम्' पद का तात्पर्य
 (५) ब्रह्मसूत्र पद

४- पुष्प ( श्लो० ५-६ ) ४०
 (१) तत्त्वों की गणना
 (२) सांख्य और वेदान्त की तत्त्वगणना
 (३) अव्यक्त और शरीर

पुष्प संख्या पृष्ठ संख्या

(४) आत्मा के धर्म और क्षेत्र के धर्म
(५) विकार का तात्पर्य

५- पुष्प (श्लो० ७-११) ४४
(१) क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का अधिकारी
(२) अमानित्व-अदम्भित्व
(३) आचार्योपासना
(४) शुचिता के विषय में विकल्प का निरास

६- पुष्प (श्लो० १२) ५०
(१) ज्ञेय का स्वरूप
(२) ज्ञान के विषय में विप्रतिपत्ति और उत्तर
(३) अनादिमत्परम् की विविध व्याख्याएं
(४) सत् और असत् का निषेध क्यों ?
(५) अस्ति-नास्ति बुद्धि और अतीन्द्रिय पदार्थ
(६) शास्त्रों द्वारा मूल तत्त्व के प्रतिपादन की प्रक्रिया
(७) क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म का एकत्व
(८) ज्ञाता ज्ञेय कैसे बना इस प्रश्न का उत्तर

७- पुष्प (श्लो० १३-१८) ५३
(१) क्षेत्रज्ञ का विवेचन
(२) सोपाधिक ब्रह्म
(३) विविध उदाहरण और श्रुति का उद्धरण
(४) इन्द्रिय विवर्जित का आशय
(५) श्री नीलकण्ठ की व्याख्या का संक्षिप्त सार
(६) श्री शंकरानन्द का कमल का दृष्टान्त
(७) अविज्ञेयता पर शंकर और उत्तर
(८) स्फटिक और जपा कुसुम
(९) जल-चन्द्र, रज्जु-सर्प दृष्टान्त
(१०) चर-अचर पर विचार
(११) अनेक दृष्टान्त
(१२) चार ज्योति पदार्थों का संकेत
(१३) आत्मरूप से अवस्थित ब्रह्म
(१४) 'तम के परे' का आशय
(१५) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विज्ञान का फल

पुष्प संख्या पृष्ठ संख्या

८- पुष्प (श्लो० १९-२३) ६६
(१) परा-अपरा प्रकृति का पूर्वोपन्यास
(२) अनादि का तात्पर्य
(३) यथाश्रुत अर्थ के ग्रहण में आपत्ति
(४) प्रकृति की अनादिता और ईश्वरत्त्व
(५) पुरुष का भोक्तृत्व
(६) उपद्रष्टा और अनुमन्ता का आशय
(७) पुरुष और गुणों का चार प्रकार का संग
(८) विभिन्न दर्शनों का मत परिग्रह
(९) अंशांशिभाव सम्मत व्याख्या
(१०) मुक्ति और कर्म क्षय
(११) बाण द्वारा लक्ष्य वेध का दृष्टान्त

९- पुष्प (श्लो० २४-३४) ७५
(१) ध्यान से दर्शन
(२) सांख्य योग से दर्शन
(३) योग का अर्थ
(४) कर्म योग से दर्शन
(५) नीलकण्ठ का समन्वय
(६) मणिप्रभा दृष्टान्त
(७) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पत्ति का आशय
(८) यथार्थ दर्शन क्या है ?
(९) अपनी हिंसा न करने का आशय
(१०) प्रकृति के आधार पर दृष्टि
(११) अव्यय का अर्थ
(१२) आत्मा का पंचकोशों से अतीत होना
(१३) आकाश का दृष्टान्त
(१४) सूर्य का दृष्टान्त
(१५) अणु-परिमाण सिद्धान्त
(१६) फल श्रुति
(१७) व्याख्याकारों के विभिन्न मत
(१८) अध्याय का उपसंहार

पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या

## चतुर्दश अध्याय

१०- पुष्प (१-२) ८४
(१) गुण आदि का उपक्रम
(२) दर्शनों का प्रक्रिया भेद
(३) द्वैत दर्शन और सांख्य का भेद
(४) व्याख्याकारों का अध्यायोपक्रम
(५) गंभीर विद्या
(६) यज्ञ-यागादि से प्रस्तुत ज्ञान की उत्कृष्टता
(७) ज्ञान के तीन विभाग
(८) ज्ञान और उसके प्रतिबनधक
(९) औषध का दृष्टान्त
(१०) श्री रामानुजाचार्य का साधर्म्य का अर्थ
११- पुष्प (३-४) ९०
(१) सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया
(२) यद्यत्पिण्डे तत्तद् ब्रह्माण्डे
(३) हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति
(४) उपनिषद् का उत्पत्ति वर्णन
(५) विराट् का विवरण
(६) क्रीडार्थ विस्तार
(७) प्रकृति की स्वतन्त्रता का खण्डन
(८) प्रकृति को भी ब्रह्म कहा गया है
(९) आगमानुसारी व्याख्यान
(१०) महानात्मा का विवरण
(११) मूर्तियों की अनन्तता
(१२) पुनरुक्ति की आशंका का समाधान
(१३) प्रकृति और ब्रह्म जगत् के माता-पिता के रूप में उपास्य
(१४) अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्या
१२- पुष्प (५-८) १०२
(१) गुण की परिभाषा
(२) गुणों के द्वारा बन्धन

पुष्प संख्या पृष्ठ संख्या
(३) गुण और प्रकृति के वैषम्य का उपपादन
(४) भगवान् की बन्धलीला
(५) श्री निम्बार्काचार्य का मत
(६) "प्रकृतिसंभवाः" का तात्पर्य
(७) गुणों का निर्देश क्रम
(८) गुणों का कार्य
(९) श्रुति का उद्धरण
(१०) गुणों की अभिमानिनी शक्तियाँ
(११) सत्त्व का स्वरूप
(१२) सत्त्व के विशेषणों का तात्पर्य
(१३) रजोगुण का स्वरूप
(१४) तमोगुण का स्वरूप
(१५) प्रमाद का विशकलन
(१६) गुणों की क्रियारूपता का प्रतिपादन
१३- पुष्प (९-१३) ११७
(१) गुणों के प्रभाव
(२) तीनों गुणों का साहचर्य
(३) गुणों के वृद्धि-ह्रास की पहिचान
(४) सत्त्वादि के पृथक्-पृथक् प्रभाव
१४- पुष्प (१४-१८) १२५
(१) मरणोत्तर गुणानुसार गति
(२) गुणों के कार्य
(३) भृत्यादि का दृष्टान्त
१५- पुष्प (१९-२१) १३२
(१) गुणों के कर्तृत्व का निश्चय मोक्षदायक
(२) दुःख विनिर्मुक्ति
(३) गुण ही देह के कारण
(४) अर्जुन के प्रश्न में पहिचान जानने की जिज्ञासा
(५) प्रश्न का तात्पर्य
(६) अर्जुन के प्रश्न के तीन भाग
(७) लिंग शब्द का आशय

पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या

१६- पुष्प (२२-२५) १३९
(१) गुणातीत अवस्था का उपक्रम
(२) प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा राग-द्वेष से विरति
(३) गुणातीत की समाधि स्थिति
(४) समाधि की अवस्थाएं
(५) गुणातीत अवस्था में समभाव
(६) स्वस्थ, धीर आदि का तात्पर्य
(७) स्थित प्रज्ञ के लक्षणों से समानता

१७- पुष्प (२६-२७) १४७
(१) भक्तियोग का उपदेश
(२) ब्रह्मभूयस्त्व की प्राप्ति
(३) भगवान् ही सबकी प्रतिष्ठा हैं
(४) पद्य का व्याख्यान्तर
(५) योग की भूमिकाओं का समन्वय
(६) चैतन्योपासना
(७) भागवत का उद्धरण
(८) लोकमान्य तिलक का कर्मयोग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन
(९) तन्त्र शास्त्र के अनुसार 'अहम्' का अर्थ

## पञ्चदश अध्याय

१८- पुष्प (१) १५३
(१) अश्वत्थ निरूपण
(२) अश्वत्थ का अर्थ
(३) कठोपनिषद् और महाभारत से साम्य
(४) ऊर्ध्वमूल के अनेक अर्थ
(५) अश्वत्थ कल्पना का कारण
(६) वृक्ष वर्णन की काव्य-शैली
(७) संसार वृक्ष का रूपक
(८) धार्मिक महत्त्व के प्रशस्त वृक्ष
(९) ब्रह्माश्वत्थ और कर्माश्वत्थ

| पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| १९– पुष्प ( २-५ ) | १६१ |
| (१) अश्वत्थ का विस्तार | |
| (२) कर्मवृक्ष | |
| (३) कर्म का क्षय | |
| (४) सांख्य प्रक्रिया का समन्वय | |
| (५) संसार वृक्ष का मिथ्यात्व | |
| (६) वृक्ष रूपक का विशद विवेचन | |
| (७) श्री वल्लभाचार्य की व्याख्या | |
| २०– पुष्प ( ६ ) | १७१ |
| (१) भगवान् का परमधाम | |
| २१– पुष्प ( ७ ) | १७६ |
| (१) जीव ब्रह्म का अंश | |
| २२– पुष्प ( ८-११ ) | १८२ |
| (१) आत्मा द्वारा शरीर का ग्रहण और त्याग | |
| (२) परमेश्वर की साक्षिता | |
| २३– पुष्प ( १२-१५ ) | १८६ |
| (१) ज्योतिपिण्डों में ईश्वरीय तेज | |
| (२) उपनिषद् की आख्यायिका | |
| (३) भगवान् की वेदवेद्यता | |
| २४– पुष्प ( १६-१७ ) | १९३ |
| (१) क्षर, अक्षर और अव्यय का निरूपण | |
| २५– पुष्प | २०० |
| (१) वैज्ञानिक-विवेचन | |
| (२) अक्षर पुरुष | |
| २६– पुष्प ( १८-२० ) | २०६ |
| (१) पुरुषोत्तम स्वरूप | |
| (२) त्रिपुरुष ज्ञान का फल | |
| (३) भारतीय संस्कृति के तीन मार्ग | |
| (४) त्रिपुरुष निरूपण में गीता की सर्वश्रेष्ठता | |

पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या

## षोडश अध्याय


२७– पुष्प २१४
(१) दैवी और आसुरी सम्पत्तियां
(२) अध्याय की विविध संगतियां
२८– पुष्प (१-३) २२०
(१) दैवी सम्पत्ति के लक्षण
(२) अभय
(३) भय के कारण का दार्शनिक विवेचन
(४) सत्त्व संशुद्धि
(५) तेज के प्रसंग में वसिष्ठ और अगस्त्य का उपाख्यान
२९– पुष्प (४-७) २३२
(१) आसुरी सम्पत्ति
३०– पुष्प (८) २३६
(१) आसुरी दृष्टि में जगत् का स्वरूप
३१– पुष्प (९-२०) २४१
(१) असुरों के उपद्रावक कार्य
(२) असुरों का अहंकार
(३) शुम्भ-निशुम्भ का उदाहरण, यज्ञ आदि को आसुरी सम्पत्ति में गिनने का कारण
(४) वृत्रोत्पत्ति में प्रमाद
३२– पुष्प (२१-२४) २५०
(१) नरक का त्रिविध द्वार
(२) श्रेय और प्रेय
(३) शास्त्र का प्रामाण्य और वर्तमान स्थिति


## सप्तदश अध्याय


३३– पुष्प (१) २५४
(१) अर्जुन का प्रश्न
(२) विधिशून्य श्रद्धायुक्त मनुष्यों की स्थिति
३४– पुष्प (२) २५७
(१) श्रद्धा त्रैविध्य
(२) श्रद्धा का स्वरूप

पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या

३५– पुष्प ( ३-४ ) २५९
(१) सत्त्वानुरूपा श्रद्धा
(२) श्रद्धानुसार भजन
३६– पुष्प ( ५-६ ) २६१
(१) असुरों का सिद्धान्त और व्यवहार
३७– पुष्प ( ७-१० ) २६३
(१) आहार त्रैविध्य
(२) सात्त्विक आहार
(३) राजस और तामस आहार
३८– पुष्प ( ११-१३ ) २६८
(१) यज्ञ त्रैविध्य
(२) सात्त्विक आदि यज्ञ
३९– पुष्प ( १४-१९ ) २७१
(१) त्रिविधतप
(२) तप के सात्त्विक आदि भेद
४०– पुष्प २७६
(१) ब्रह्मचर्य
४१– पुष्प ( २०-२२ ) २८५
(१) दान के भेद
(२) दान का स्वरूप
(३) दान का आदर्श
(४) दान का पात्र
४२– पुष्प ( २३-२८ ) २९०
(१) ओं तत्सत् का निर्देश
(२) अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्या
(३) 'तत्' पद का संकेत


## अष्टादश अध्याय


४३– पुष्प २९९
(१) अध्याय की अवतरणिका

| पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| ४४- पुष्प ( १ ) | ३०२ |
| (१) संन्यास और त्याग विषयक अर्जुन का प्रश्न | |
| (२) संन्यास के भेद | |
| ४५- पुष्प ( २ ) | ३०६ |
| (१) काम्य कर्मों का स्वरूप | |
| (२) गौण संन्यास और मुख्य संन्यास | |
| ४६- पुष्प ( ३ ) | ३११ |
| (१) कर्म त्याग के विषय में विभिन्न मत | |
| ४७- पुष्प ( ४-६ ) | ३१६ |
| (१) तीन प्रकार का त्याग | |
| (२) त्याग का स्वरूप | |
| (३) यज्ञ, दान और तप आवश्यक | |
| ४८- पुष्प ( ७-९ ) | ३२१ |
| (१) नियत कर्म का परित्याग दोषावह | |
| (२) कर्म सिद्धान्त में वर्ण व्यवस्था की विशेषता | |
| (३) तामस त्याग | |
| ४९- पुष्प ( १०-११ ) | ३२७ |
| (१) कर्म फल त्याग ही त्याग है | |
| (२) कर्म मार्ग की विशेषता | |
| ५०- पुष्प ( १२ ) | ३३१ |
| (१) कर्मों के फल | |
| ५१- पुष्प ( १३-१६ ) | ३३५ |
| (१) कर्म सिद्धि के पांच कारण | |
| (२) दैव या भाग्य | |
| ५२- पुष्प ( १७ ) | ३४१ |
| (१) अहंकार और बुद्धिलेप के अभाव से समस्त कर्मदोषों से मुक्ति | |
| (२) दर्शनों का निरास | |
| ५३- पुष्प ( १८ ) | ३४६ |
| (१) कर्म चोदना और कर्म संग्रह | |
| ५४- पुष्प ( १९ ) | ३४९ |
| (१) ज्ञान, कर्म और कर्त्ता का निरूपण | |

| पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| ५५- पुष्प ( २०-२२ ) | ३५१ |
| (१) ज्ञान के सात्त्विक, राजस, तामस भेद | |
| ५६- पुष्प ( २३-२५ ) | ३५६ |
| (१) कर्म के गुणानुसार तीन भेद | |
| ५७- पुष्प ( २६-२८ ) | ३५९ |
| (१) कर्ता के गुणानुसार तीन भेद | |
| ५८- पुष्प ( २९-३२ ) | ३६४ |
| (१) बुद्धि के गुणानुसार तीन भेद | |
| ५९- पुष्प ( ३३-३५ ) | ३६९ |
| (१) धृति के गुणानुसार तीन भेद | |
| ६०- पुष्प ( ३६-४० ) | ३७२ |
| (१) सुख का स्वरूप और उसके गुणानुसार तीन भेद | |
| (२) गुणों की सर्वत्र व्याप्ति | |
| ६१- पुष्प ( ४१-४४ ) | ३८२ |
| (१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का स्वभावजकर्म | |
| (२) ब्राह्मण के कर्म | |
| (३) क्षत्रिय के कर्म | |
| (४) वैश्य के कर्म | |
| (५) शूद्र का कर्म | |
| ६२- पुष्प ( ४५ ) | ३९१ |
| (१) स्वकर्म निरतता और सिद्धि | |
| ६३- पुष्प ( ४६ ) | ३९३ |
| (१) अपने कर्म से ईशार्चन | |
| (२) भीष्म का उदाहरण | |
| ६४- पुष्प ( ४७ ) | ३९६ |
| (१) स्वधर्म की परधर्म से श्रेष्ठता | |
| (२) पुरुषार्थ | |
| (३) धर्म और विज्ञान | |
| (४) मनुष्य जन्म की सफलता | |
| (५) प्रपञ्च और संसार | |

पुष्प संख्या — पृष्ठ संख्या

६५- पुष्प (४८) ४४९
(१) सहज कर्मानुष्ठान दोष युक्त होते हुए भी आवश्यक
(२) धूम का उदाहरण
(३) श्री शंकराचार्य की विस्तृत व्याख्या

६६- पुष्प (४९) ४५७
(१) संन्यास से नैष्कर्म्य सिद्धि

६७- पुष्प (५०) ४६०
(१) ब्रह्मप्राप्ति और ज्ञान की पराकाष्ठा

६८- पुष्प (५१-५३) ४६५
(१) ब्रह्मभाव की प्राप्ति की प्रक्रिया

६९- पुष्प (५४) ४६९
(१) ब्रह्मभाव का फल पराभक्ति

७०- पुष्प (५५) ४७१
(१) भक्ति से ईश्वर की उपलब्धि

७१- पुष्प (५६-५७) ४७५
(१) शाश्वत पद की प्राप्ति

७२- पुष्प (५८) ४७७
(१) भगवान् के प्रसाद से दुर्गों का संतरण

७३- पुष्प (५९-६०) ४७९
(१) मिथ्या अभियान से कर्म परित्याग का अनौचित्य

७४- पुष्प (६१) ४८२
(१) हृदय स्थित ईश्वर के द्वारा जगच्चक्र संचालन

७५- पुष्प ४८७
(१) ईश्वर निरूपण परिशेष

७६- पुष्प ४९५
(१) भारतीय दर्शन शास्त्रों में परम तत्त्व

७७- पुष्प (६२) ५०८
(१) ईश्वर शरण से ही पराशान्ति और शाश्वत पद की प्राप्ति

पुष्प (६३) ५१४
(१) रहस्यमय ज्ञान का उपदेश

| पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| ७९– पुष्प ( ६४ ) | ५१६ |
| (१) पुनः हित कथन | |
| ८०– पुष्प ( ६५ ) | ५१९ |
| (१) भगवान् को सर्वात्मना समर्पण | |
| ८१– पुष्प ( ६६ ) | ५२४ |
| (१) समस्त धर्मों को छोड़कर भगवान् की शरण लेने का आदेश | |
| ८२– पुष्प | ५३८ |
| (१) श्री शंकराचार्य का उपसंहार | |
| ८३– पुष्प | ५४३ |
| (१) भक्ति और ज्ञान | |
| ८४– पुष्प ( ६७-७८ ) | ५४९ |
| (१) गीतोपदेश के अधिकारी आदि | |
| गीता के श्लोकों की अकारादि क्रम से अनुक्रमणिका | |

# श्री गीता प्रवचनमाला

## तृतीय भाग

# तृतीय-षट्क
## त्रयोदशोऽध्यायः
## प्रथम-पुष्प
### श्री भगवानुवाच

**इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।**
**एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१।।**

अब तृतीय उत्तर षट्क का आरम्भ किया जाता है। जैसा कि प्रथम षट्क के उपोद्घात प्रकरण में हमने विभिन्न मतों का निरूपण किया है, उसके अनुसार किन्हीं व्याख्याकारों के मतानुसार यह षट्क ज्ञान काण्ड का निरूपण करने वाला है और श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि "तत्त्वमसि" इस महावाक्य के अनुसार गीता के तीनों षट्कों का विभाग मानते हैं। उनके मतानुसार यह षट्क "असि" पद का विवरण है अर्थात् जीव की ब्रह्म के साथ एकता इस षट्क में बतलाई जाती है। एवं श्रीविद्या-वाचस्पतिजी के मतानुसार जो भगवद्गीता में राजर्षिविद्या, सिद्ध विद्याएँ, वैराग्य योग और ज्ञान योग प्रतिपादित हैं उनके निरूपणानुसार इस षट्क में आर्षविद्या द्वारा धर्मयोग का संस्कार बतलाया जाता है।

यहाँ प्रश्न होगा कि अन्य व्याख्याताओं के अनुसार ज्ञान का या जीव ब्रह्म की एकता का निरूपण तो इस षट्क में मिलता है किन्तु "आर्षविद्या" या "धर्मयोग" तो उस षट्क में पाया नहीं जाता। यदि "ऋषिभिर्बहुधा गीतम्" इस पञ्चम पद्य के अनुसार "आर्षविद्या" इसे मान भी लिया जाय तो भी 'कर्मयोग' का निरूपण तो इन छह अध्यायों में विस्तार रूप से प्राप्त नहीं होता फिर श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मत की संगति किस प्रकार होगी ? इसका उत्तर है कि सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों में ही आर्य जाति के धर्म, अधर्म निहित हैं। सत्त्वगुण का परिणाम ही धर्म कहा जाता है और तमोगुण के परिणाम को अधर्म कहते हैं। इन तीनों गुणों का विस्तार से निरूपण इस षट्क में प्राप्त होता है, इसलिए धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, ये चार जो बुद्धि के सात्त्विक रूप और इनके विपरीत जो चार तामस रूप सांख्य दर्शन में बतलाए गए हैं उनमें से धर्म, अधर्म का निरूपण इस षट्क में सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि लोकमान्य तिलक के मतानुसार जो प्रथम षट्क के उपोद्घात प्रकरण में पाश्चात्य विद्वानों के मतों की समीक्षा हम कर चुके हैं उनके अनुसार आर्य जाति का धर्म, व्यावहारिक आत्मा से ही सम्बन्ध रखता है, इस कारण भी इन छह अध्यायों

में जब अन्य व्याख्याकारों के मतानुसार आत्म-ज्ञान या जीव-ब्रह्म का अभेद-ज्ञान माना जाता है तब धर्म ज्ञान की पूर्णता भी आत्मा से सम्बन्ध रखने के कारण ही माननी होगी, इसीलिए सोलहवें अध्याय के अन्त में कहा गया है कि–

**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।**
**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।**
**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।**
**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।**

(१६।२३-२४)

इस विचार से श्रीविद्यावाचस्पतिजी का प्रकरण विभाग भी सुसंगत हो जाता है। कई प्रतियों में अध्याय के आरम्भ में एक पद्य मिलता है–

**अर्जुन उवाच**

**प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।**
**एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ।।**

इसका अर्थ है कि अर्जुन कहता है कि हे केशव ! अब मैं प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, और ज्ञान-ज्ञेय, इनको भी जानना चाहता हूँ। इस पद्य को प्रायः प्राचीन सभी व्याख्याकारों ने प्रक्षिप्त ही माना है, किन्तु श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपनी टिप्पणी में लिखा है कि महाभारत की पुस्तक में यह पद्य भगवद्गीता में मिलता है और इन छह का ही इन अध्यायों में विशेषकर निरूपण मिलता है, इस कारण श्री विद्यावाचस्पतिजी उत्थानिका रूप से अर्जुन के इस प्रश्न का होना यहाँ उचित बतलाते हैं। श्रीमान् लोकमान्य तिलक ने अपनी व्याख्या में इस पद्य को प्रक्षिप्त बतलाते हुए लिखा है कि यह पद्य मानने से भगवद्गीता की श्लोक संख्या सात सौ के स्थान में सात सौ एक हो जायगी। इसका उत्तर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपनी टिप्पणियों में यह दिया है कि इस पद्य को तो मानना चाहिये किन्तु सोलहवें अध्याय के पाँचवें पद्य के अनन्तर जो निम्नलिखित पद्य कई पुस्तकों में मिलता है कि–

**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।**
**दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।।**

यह पद्य वहाँ प्रक्षिप्त-सा प्रतीत होता है क्योंकि दैवी और आसुरी सम्पत् का विवरण पूर्व पद्यों से ही आरम्भ हो चुका है फिर मध्य में उसके कथन की प्रतिज्ञा

असमञ्जस-सी प्रतीत होती है। इस कारण उस पद्य को वहाँ नहीं मानना चाहिए। इससे संख्या में कोई विषमता न होगी। इन मतों की युक्तायुक्तता पर विज्ञ पाठक स्वयं विचार कर लें।

अब प्राचीन व्याख्याकारों के अनुसार आरम्भ के पद्य की व्याख्या लिखी जाती है कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह शरीर जो प्रत्यक्ष हमारा-तुम्हारा सबका दिखाई दे रहा है, उसे "**क्षेत्र**" नाम से कहा जाता है और जो इसका जानने वाला हे उसे "**क्षेत्रज्ञ**" नाम से उसके जानने वाले कहा करते हैं।

यहाँ श्रीशङ्कराचार्य इसका सम्बन्ध सप्तम अध्याय के आरम्भ से मिलाते हैं कि वहाँ जो "**अपरा**" और "**परा**" नाम की दो प्रकृति बतलाई गई हैं, वे ही यहाँ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ नाम से विशेष विवरण के लिए प्रस्तुत की जाती हैं। विशेष विवरण यहाँ यही होगा कि "क्षेत्रज्ञ" नाम से जो जीवात्मा कहा जाता है वह भी सब शरीरों में एक ही है और क्षेत्र भी उससे पृथक् नहीं है, इन सब बातों का विवरण उन-उन पद्यों में ही किया जायगा। शरीर का नाम जो यहाँ क्षेत्र बताया उसकी निरुक्ति भी कई प्रकार से श्री आचार्य चरणों ने की है। आत्मा का आवरण होने के कारण आत्मा को सब भूतों के संघर्ष से बचाता है, इसलिए क्षय से त्राण करने के कारण अविद्या के बन्धन से अपनी रक्षा करता है। इसलिए भी इसे क्षेत्र कहा जा सकता है। अथवा आत्मा के नित्य रहने पर भी यह शरीर स्वयं क्षीण होने वाला है, "क्षि" धातु से क्षेत्र बनाया जायतो भी क्षरणशील अर्थात् विनष्ट होने के कारण क्षेत्र शब्द शरीर में उपयुक्त हो जाता है। अथवा जैसे खेती करने वाले लोग क्षेत्र-शब्द-वाच्य अपने खेतों में सब प्रकार के अन्न, शाक आदि उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा इस शरीर के द्वारा ही सब प्रकार के अच्छे-बुरे कर्म करता है और उनका आगे स्वयं अच्छा-बुरा फल भोगता रहता है। इस प्रकार क्षेत्र की समानता होने के कारण इसे "क्षेत्र" कहा गया।

उस क्षेत्र भूत शरीर को जो करतलामलकवत् जानने वाला है, उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। वह क्षेत्रज्ञ शरीर रूप क्षेत्र को या तो स्वाभाविक ज्ञान का विषय बनाता है, या उपदेश के आधार पर उसे जान जाता है।

श्रीरामानुजाचार्य इस अध्याय से पूर्वोक्त षट्क में आए हुए प्रकृति, पुरुष, उनका सम्बन्ध-रूप प्रपञ्च, ईश्वर का स्वरूप, कर्म, ज्ञान, भक्ति और उसके संपादन प्रकारों की व्याख्या मानते हैं। उनके मत से इस अध्याय में देह और आत्मा का स्वरूप, देह से अतिरिक्त आत्मा की प्राप्ति का उपाय, आत्मा के स्वतन्त्र स्वरूप का परिचय, आत्मा के अचेतन पदार्थों से सम्बद्ध होने का कारण तथा अचेतन से आत्मा को पृथक् समझने का उपाय बतलाया गया है।

श्लोक में कहा गया है "यह शरीर"। यहाँ "यह" शब्द सन्निकृष्ट पदार्थ का वाचक होगा। अत: शरीर के जो धर्म हैं, वही 'इदम्' शब्द से लिए जायंगे। 'मैं देवता हूँ, मनुष्य हूँ, स्थूल हूँ, कृश हूँ, इत्यादि अनुभवों में शरीर ही मुख्य रूप से ज्ञान का बिषय बनता है। जितनी जातियाँ जितने गुण आदि हैं सबका आधार यह शरीर ही है, मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, इत्यादि अनुभवों में हमें आत्मा और शरीर का मिला जुला ज्ञान होता है। वस्तुत: यह शरीर आत्मा के द्वारा भोग्य है, वह आत्मा से अलग है, आत्मा इस शरीर का भोक्ता है, इसे जो क्षेत्र संज्ञा दी गई वह भोग क्षेत्र होने के कारण, यह ऊपर व्युत्पत्ति में आ ही चुका है। क्षेत्रज्ञ जीवात्मा को कहा गया है। यद्यपि "घट, पट, गंगा, यमुना आदि को जानता हूँ' इत्यादि अनुभवों में ज्ञान के विषय घट-पट आदि ज्ञाता से भिन्न हैं, और उन पदार्थों का ज्ञाता शरीर विशिष्ट आत्मा ही होता है तथापि "मैं शरीर को जानता हूँ' इत्यादि अनुभवों में घट-पट आदि की तरह ही शरीर भी ज्ञान का विषय ही बन जाता है और शुद्ध ज्ञातृत्व आत्मा पर ही जाता है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञाता केवल आत्मा ही है, उसके लिए शरीर भी घट-पटादि के समान ज्ञेय ही बना रहता है। प्रश्न यह उठता है कि "मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, सुखी हूँ, दुखी हूँ', इत्यादि अनुभव शरीर को भी होते हैं, तब ज्ञाता केवल आत्मा ही है शरीर नहीं यह कैसे समझा जाय, इसका उत्तर है वास्तव में शरीर कभी ज्ञाता नहीं हो सकता, वह तो क्षेत्र है, ज्ञेय है, आत्मा का भोग साधन है, ज्ञाता तो केवल जीवात्मा को ही कहा जा सकता है, 'मैं सुखी हूँ, दु:खी हूँ, देखता हूँ, सुनता हूँ, इत्यादि अनुभव भी शरीर के नहीं केवल आत्मा के ही हैं परन्तु शरीर कभी आत्मा से पृथक् नहीं रहता और आत्मा भी बिना शरीर के किसी प्रकार का उपभोग नहीं कर सकता इसलिए उनके भोग के सम्बन्ध में नित्य सम्बद्ध रहने से शरीर की ज्ञातृता का अवास्तविक अनुभव होता है। तत्त्वत: ज्ञाता तो केवल आत्मा ही है। ज्ञाता जो आत्मा है उसका आकार ऐसा नहीं है जो चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा गृहीत हो सके वह तो योगशक्ति सम्पन्न मन में ही प्रतिभासित हो सकता है। यही कारण है कि योग शक्ति से विरहित मनुष्य शरीर को ही आत्मरूप से समझने का अभ्यासी हो गया है। इसी बात को अन्यत्र इस श्लोक में कहा गया है–

**"उत्क्रा:मन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।**
**विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष:" ।।**

अर्थात् शरीर छोड़ते हुए, बैठे हुए, भोजन करते हुए प्रकृति के गुणों से युक्त इस आत्मा को मूढ़ लोग नहीं देख सकते, ज्ञान रूपी नेत्र धारण करने वाले लोग ही उसे देख सकते हैं।

तत्त्व दीपिका आदि व्याख्याओं के इस पद्य के व्याख्यान का आशय यह है कि पहिले परा और अपरा भेद से जो दो प्रकृतियाँ कही गई हैं उनमें परा प्रकृति को क्षेत्र और अपरा प्रकृति को चेतन क्षेत्रज्ञ कहा गया है। पहिले जिस प्रकृति को अचेतन कहा गया है उसी का परिणाम रूप यह शरीर है, यह पुरुष का निवास स्थान है। अत: इसे क्षेत्र कहा जाता है। यद्यपि संसार दशा में भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान रहता है अर्थात् जड़ चेतन या ज्ञाता और ज्ञेय का ज्ञान सांसारिक व्यवहार में अनुभूत होता है परन्तु वह मिश्रित ज्ञान है, विविक्त या पृथक् पृथक् ज्ञान नहीं है, परन्तु मृत शरीर में जब हम चेतना के अभाव को प्रत्यक्ष देख लेते हैं तब यह निश्चय हो जाता है कि चेतन स्वरूप आत्मा इस शरीर से पृथक् है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यह पृथक् पृथक् ज्ञान सबको नहीं होता, केवल आत्मा को ज्ञाता समझ जाने वाले पुरुष को वैसा ज्ञान हो सकता है।

अमृततरंगिणी में कहा गया है कि यह शरीर मरणादि धर्म युक्त है और ईश्वर के अंश रूप जीव का उत्पत्ति स्थान है, यह उत्पत्ति ईश्वर अपनी लीला के लिए ही करता है। इस बात की यथार्थता को समझ जाने वाला ही क्षेत्रज्ञ कहलाता है। यहाँ पर जो ऐसा जाने वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है इस प्रकार की जो अन्योक्ति की गई है उससे यह प्रकाशित किया गया कि इस प्रकार का विभक्त ज्ञान संभव ही नहीं है, यह अमृततरंगिणीकार श्रीपुरुषोत्तमजी का आशय है।

अद्वैत मतानुयायी श्री नीलकण्ठजी ने इस श्लोक की व्याख्या में सांख्य मत को उद्धृत करके उसकी समालोचना लिखी है। वे कहते हैं कि–'तत्वमसि' इस महावाक्य के अनुसार गीता में पहिले–

**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।**
**नित्य: सर्वगत: स्थाणुरचलोऽयं सनातन: ।।**

इस पद्य के द्वारा 'त्वम्' पद का अर्थ कहा गया है। इसके अनन्तर द्वादश अध्याय में–

**ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।**
**सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।**

इस पद्य से 'तत्' पदार्थ को समझाया गया है। ये दोनों पद्य 'तत्' और 'त्वम्' के लक्षण कहे जा सकते हैं। इन दोनों के लक्षणों में एकता होने से ये दोनों भिन्न भिन्न नहीं माने जा सकते। दोनों के लक्षणों में 'अव्यक्तत्व, अचिन्त्यत्व, अचलत्व, सर्वगतत्व' इत्यादि बातें समान हैं। यदि 'तत्' पदार्थ और 'त्वम्' पदार्थ, अर्थात् जीवात्मा और

परमात्मा अलग अलग माने जायँ तब तो उपर्युक्त पद्य में जो दोनों को 'सर्वगत' माना गया है वह संभव न हो सकेगा। क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा यदि भिन्न भिन्न हो गए तो ये दोनों एक दूसरे में नहीं रह सकेंगे, तब सर्वगतत्व कैसे बनेगा ? अत: दोनों में अभेद मानना आवश्यक है। इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जन्म, मरण, शरीर, संयोग और वियोग को देखते हुए आत्मा या पुरुष को अनन्त संख्या में मानना आवश्यक है। क्योंकि यदि एक ही पुरुष माना जाय तो एक के जीवन धारण कर लेने से सभी जीवित हो जायेंगे। परन्तु ऐसा चूंकि देखने में नहीं आता। अत: आत्मा या पुरुषों का अनन्त संख्या में मानना आवश्यक हो जायगा और इससे अद्वैतवाद ही खतरे में पड़ जायगा। इसका उत्तर देते हुए अद्वैतवादी पहिले पुरुषबहुत्व पर दोष दिखाते हैं, पुरुष का व्यापक होना पुरुषबहुत्ववादी को भी संमत है, तब सभी पुरुष व्यापक भी होंगे। ऐसी स्थिति में एक पुरुष को जो सुख दु:खादि का भोग होगा वह दूसरे पुरुष को भी होगा, क्योंकि सभी पुरुष सभी स्थानों पर रहेंगे। परन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। एक अन्त:करण जब सुखादि रूप से परिणत होगा तो एक ही चेतन पुरुष को उसका अनुभव होगा यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यापक होने से सभी पुरुष तो वहाँ उपस्थित रहेंगे। अत: आत्मा एक ही है और वह सर्वत्र व्यापक है। तब जो जन्म मरणादि के प्रतिनियत होने की बात उठाई गई थी उसका उत्तर अवशिष्ट रह जाता है वह यह है कि आत्मा के व्यापक होने पर भी अन्त:करण रूप उपाधियाँ अनेक हैं। अन्त:करणादि से आत्मा का सम्बद्ध होना ही जन्म और वियुक्त होना ही मृत्यु कहा जाता है। जैसे एक घड़े के बन जाने से आकाश कम नहीं हो जाता और करोड़ों घड़ों के फूट जाने से आकाश बढ़ नहीं जाता वैसे ही शरीरों के संयोग-वियोग से आत्मा के स्वरूप में भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब गीता में पहिले ही जीव और ब्रह्म का लक्षण बतला दिया गया और उन दोनों की एकता स्वत: सिद्ध है तब तो आगे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेचन की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वेदान्त का चरम लक्ष्य तो जीव और ब्रह्म की एकता को स्पष्ट कर देने के उपरान्त परिसमाप्त हो जाता है। उसका उत्तर है कि ये सब बातें व्यवहारातीत अवस्था में ही बनती हैं। परन्तु व्यवहार दशा में जब जीव और ईश्वर की विभिन्नता का बोध प्रत्येक प्राणी को बना हुआ है तब उस भेद को मिटाने के लिए यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ज्ञान का उपदेश प्रारंभ हुआ है।

यहाँ एक व्याख्या में केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले मत की भी आलोचना की गई है। उसे भी संक्षेप से कहा जाता है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के ही आधार पर चलने वाले कहेंगे कि हमें इन्द्रिय मन बुद्धि अहंकार के अतिरिक्त अन्य

किसी ज्ञाता का अनुभव ही नहीं होता तब यह कहना कि यह शरीर तो क्षेत्र है और इसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ इससे भिन्न है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होगा। मैं जाता हूँ, मैं भोजन करता हूँ इत्यादि जितने भी व्यावहारिक अनुभव हैं वे सब इन्द्रियों के समूहरूप शरीर को ही तो हो रहे हैं। अनुमान प्रमाण के आधार पर भी शरीर से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं होती। देवदत्त यज्ञदत्त का पुत्र है, क्योंकि वह यज्ञदत्त के समान है इत्यादि अनुमान के आधार पर हम इन्द्रियादि के समूह रूप शरीर को ही तो ग्रहण कर रहे हैं। जब कोई किसी को शतायु होने का आशीर्वाद देता है तब वह शरीर के ही उतने दिनों तक स्थित रहने की कामना करता है अन्य किसी की नहीं। अतः इन्द्रियादि के समूहरूप शरीर से अतिरिक्त अन्य किसी तत्व की कल्पना करके उसे ही ज्ञाता कह कर प्रधानता देना प्रमाण विरुद्ध है। इस पर प्रत्यक्ष प्रमाणवादी से यह प्रश्न होगा कि शरीर में जितने पदार्थों के अस्तित्व का अनुभव होता है उनमें से ज्ञाता किसे कहोगे ? देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार उनमें से कोई एक ज्ञाता है या सभी का समुदाय ज्ञाता है ? वस्तुतः इनमें से कोई भी ज्ञाता नहीं बन सकता। देह को ज्ञान होता है यह तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि शयनावस्था में जब देह परवश होकर पड़ा हुआ है तब भी ज्ञान तो होता है, साथ ही मेरे पैर में पीड़ा है, मेरा सिर दर्द कर रहा है इत्यादि देहविषयक पीड़ा का अनुभव देह को नहीं अपितु देह से अतिरिक्त और ही किसी को हो रहा है। अतः यह ज्ञातृत्व देह पर नहीं जा सकता इन्द्रियाँ भी ज्ञाता नहीं मानी जा सकतीं क्योंकि इन्द्रियों के भी सुन्दर और असुन्दर तथा स्पष्टता और खराबी का अनुभव होता है, तब इन्द्रियों के इस प्रकार के अनुभवों का ज्ञाता स्वयं इन्द्रियां नहीं हो सकतीं उनसे कोई अन्य ही ज्ञाता मानना होगा। प्राण को भी ज्ञाता नहीं कहा जा सकता क्योंकि निद्रा में अपने और पराये का ज्ञान नहीं रह जाता। मन बुद्धि और अहंकार में चंचलता, जड़ता और दुष्टता आदि का ज्ञान होता है उसका ज्ञातृत्व उनके अतिरिक्त किसी और पर ही जायगा। अब इन सबके समूहरूप पूरे शरीर को ज्ञाता मानने का प्रश्न उठता है, उसका उत्तर स्पष्ट है कि जब अवयव अचेतन ही सिद्ध हुए तो अचेतन अवयवों का समुदाय भी अचेतन ही होगा। एक लकडी अचेतन है तो करोड़ों लकड़ियां इकट्ठी हो जाने से उनमें चैतन्य कैसे आ जायगा इसलिए ये सब ज्ञेय हैं और ज्ञाता ज्ञेय से अलग ही होता है। इसीलिए भगवान् ने यहां क्षेत्र शब्द से शरीर को, शरीर के अन्दर अनुभूयमान सभी तत्त्वों को अलग कर दिया है और उसके ज्ञाता के रूप में चेतन क्षेत्रज्ञ ईश्वर को अलग कर दिया है। आगे के पद्यों में इन्हीं का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है। (१)

---

# द्वितीय-पुष्प

**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।**
**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।१३।२**

"हे अर्जुन ! सभी क्षेत्रों में मुझे क्षेत्रज्ञ भी समझो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वह मेरा ज्ञान माना गया है।"

क्षेत्र की परिभाषा को भगवान् ने पूर्व पद्य में बतला दिया है कि यह शरीर क्षेत्र कहलाता है। वहां एक वचन है और यहां बहुवचन है। वहां उदाहरण के लिए किसी भी एक शरीर को समझाया गया था, परन्तु शरीर अनन्त है, उन सभी शरीरों में क्षेत्रज्ञ बन कर केवल एक ही ईश्वर अनुप्रविष्ट है। इसी बात को सूचित करने के लिए यहां क्षेत्र के साथ बहुत्व और क्षेत्रज्ञ के साथ एकत्व है। यहां शरीर में अनुप्रविष्ट चैतन्य को भगवान् ने अपना ही रूप बतलाया है, तब क्या शरीर भगवद्रूप नहीं है ? इसका समाधान पहिले ही अपनी परा और अपरा प्रकृति का निरूपण करके भगवान् ने कर दिया है। शरीर भूतसंघात रूप परा प्रकृति है और जीव चेतनांशरूप अपरा प्रकृति है। तब भी तो प्रकृति ईश्वर रूप ही सिद्ध हुई क्योंकि प्रकृति ईश्वर की ही शक्ति है तथा शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न होते हैं, तब यहां क्षेत्रज्ञ को ही अपना रूप कहना तथा क्षेत्र को अपने से पृथक् बोधित करना कैसे संगत होगा। इसीलिए इस पद्य में 'अपि' शब्द का प्रयोग है कि क्षेत्र तो मुझसे पृथक् नहीं है, वह तो मेरी शक्ति रूप है परन्तु क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ। जब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों ईश्वर रूप ही सिद्ध हुए तो इनके अतिरिक्त और रहा क्या, जिससे पृथक् ज्ञान के लिए यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विवेक समझाने की आवश्यकता पड़ी। इसका उत्तर है कि यद्यपि समस्त जड़ चेतन प्रपंच ईश्वर का ही रूप है, परन्तु जीव ने अज्ञान से आच्छन्न होकर अपने ईश्वरत्व को विस्मृत कर रक्खा है। जीव की संसार दशा में जो स्थिति है उसे दूर करने के लिए ही यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विवेचन है। इसमें तो किसी प्रकार के संशय का अवकाश ही नहीं है कि संसार में रहते हुए और सांसारिक व्यवहार का परिचालन करते हुए सभी प्राणी अपने शरीर को ही आत्मा समझ रहे हैं। प्रत्येक कार्य का कर्तृत्व वे अहंकार पर्यन्त शरीर पर ही आरोपित करते हैं। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तक जो शरीर का अनुभव सबको हो रहा है उसी को सब लोग कर्ता भी समझते हैं। इसका अनुभव तो व्यवहार दशा में कभी किसी को हो ही नहीं पाता कि सभी क्रियाओं का कर्ता और भोक्ता देहादि अहंकारान्त शरीर नहीं अपितु चेतन या चिदाभास आत्मा है। इस प्रकार आत्मा एक के ऊपर एक आवरण पड़ते चले जाने से प्रगाढ़ आवरणों में आबद्ध होता चला जाता

है। यहां यह भी सर्वथा ध्यान में ले लेना चाहिए कि इन आवरणों से आत्मा के अपने स्वरूप में कुछ भी विकार उपस्थित नहीं होता। दीपक को किसी बर्तन से ढँक देने पर दीपक का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा; उसके प्रकाश में कोई परिवर्तन नहीं होगा, हां उसको ढँकने वाला बर्तन काला अवश्य पड़ जायगा। आवरण करने वाले में ही विकार होगा आवृत पदार्थ तो तदवस्थ ही रहेगा, आत्मा पर इन आवरणों से कुछ भी भेद न होगा। आत्मा का सहजात धर्म है प्रकाशित होना। उसका प्रकाश सत्ता, चेतना और आनन्द का अनुभव होना है। अज्ञान से अत्यन्त आवृत व्यक्ति को भी सत्ता चेतना और आनन्द का अनुभव अवश्य होगा। इसीलिए आत्मा की सर्वत्र समान रूप से स्थिति में किसी विवाद का अवसर नहीं आता। परन्तु उन आवरणों को आत्मोन्मुख करने की क्षमता जीव को मिली हुई है। आत्मा के धर्मों का प्रतिबिम्ब इन आवरणों पर पड़ने के कारण ये आवरण सचेष्ट हो जाते हैं। सचेष्टता आ जाने पर ये आत्मोन्मुख भी हो सकते हैं, आत्मा विमुख भी। उस समय बुद्धि को सावधान रखकर इन्हें आत्मोन्मुख बनाए रखना यह जीव का काम है। यह संस्कार से होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि आत्मा के अतिरिक्त अन्य भोक्ता नहीं तब तो आत्मा भी संसार प्रपंच के अन्तर्गत आ गया। तब तो संसार के धर्मों का प्रभाव आत्मा पर भी अवश्य मानना होगा। भोक्ता रहते हुए वह संसार से असंग और संसार के प्रभाव से अलग कैसे रह सकेगा। दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि जब ईश्वर के अतिरिक्त और कोई भोक्ता है ही नहीं तब भोग्य रूप यह संसार भी कैसे स्थित रह सकेगा। जीव जब ईश्वर ही है और ईश्वर को संसार जब इष्ट ही नहीं, कयोंकि संसार से पृथक् करके अपने स्वरूप को जानने के उपदेश सभी शास्त्रों के द्वारा निरन्तर दिये जा रहे हैं, तब यही मानना होगा कि ईश्वर को संसार इष्ट ही नहीं है जब ईश्वर को ही संसार अनिष्ट है यह सिद्ध हो गया तो संसार आएगा ही कहां से। ईश्वर की इच्छा से ही तो संसार की उत्पत्ति स्थिति और संहार होते हैं। यदि संसार की सत्ता ही उसे अभीष्ट नहीं तो संसार की उत्पत्ति ही कैसे होगी। इससे तो संसार की स्थिति ही समाप्त हो जाती है। परन्तु न तो यही माना जा सकता है कि ईश्वर संसारी है और संसार के धर्मों का उस पर भी प्रभाव है और न यही स्वीकार किया जा सकता है कि ससार की स्थिति ही नहीं है। यदि संसार की स्थिति ही न मानी जाय तब तो जीवात्मा के बन्धन और उसके मोक्ष के प्रतिपादक शास्त्रों के वचन ही असिद्ध हो जायंगे। साथ ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी अपलाप होगा क्योंकि संसार तो हमारे प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, उसकी असत्ता को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। उपर्युक्त दोषों के रहने पर जीव और ईश्वर की एकता कैसे मानी जा सकती है। इसका

उत्तर अद्वैतवादी आचार्य यही देते हैं कि अज्ञान के कारण आत्मा कर्ता और भोक्ता जैसा समझ लिया जाता है, ठीक वैसे ही जैसे दूर से हम किसी सूखे वृक्ष (स्थाणु) को मनुष्य समझ लेते हैं अथवा जैसे अन्धकार में रस्सी को सर्प समझ लेते हैं। वह हमारा भ्रम या अज्ञान ही है। हमारे इस भ्रम या अज्ञान का वस्तु स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हमारे समझ लेने से सूखा वृक्ष (स्थाणु) मनुष्य नहीं बन जाता या रज्जु सर्प नहीं बन जाती, हां हमारे ऊपर भ्रम, भय आदि के रूप में उस अज्ञान का प्रभाव अवश्य पड़ता है। परन्तु वह प्रभाव तभी तक है जब तक वस्तु स्थिति हमसे ओझल है। अज्ञान या भ्रम के दूर होते ही हम पर उसका प्रभाव भी नहीं रहेगा। इसी प्रकार निर्विकार और अकर्ता चैतन्य आत्मा को भी प्रकृति के संग से जन्ममरणधर्मा, भोक्ता, कर्ता आदि समझ लिया जाता है। परन्तु यह तभी तक है जब तक कि आत्मा और प्रकृति के स्वरूप के विषय में अज्ञान है। जिस क्षण यह अज्ञान हट जायगा उसी क्षण आत्मा पर समझे हुए मिथ्या आरोपित धर्म भी स्वत: निवृत्त हो जायंगे। ऐसा मान लेने पर न तो आत्मा को संसारी ही मानने की आवश्यकता हुई क्योंकि संसार आत्मा पर अज्ञान से आरोपित है, वह उसके अपने स्वरूप में अनुप्रविष्ट नहीं हैं और न संसार के अभाव को मानने की कोई आवश्यकता आई क्योंकि यदि संसार नहीं होगा तो आत्मा पर आवरण ही असिद्ध हो जायगा और उसके हटाने के शास्त्र बोधित उपाय भी निरर्थक हो जायंगे। साथ ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी संसार की सत्ता सिद्ध हो ही रही है।

श्रुतियों में भी सर्वत्र विद्या, अविद्या, श्रेय, प्रेय आदि शब्दों से ज्ञान और अज्ञान का निरूपण किया गया है और अज्ञान को हटाने का भी आदेश दिया गया है। ज्ञान का फल बहुत बड़ा माना गया है। यदि सर्प को सर्प न जाना जाय या सर्प के विषय में अज्ञान हो तो मृत्यु के मुख में मनुष्य पहुँच जाता है, उसका ज्ञान रहने पर उससे बच निकला जा सकता है, इससे ज्ञान का फल कितना बड़ा है यह बात सिद्ध है।

यह तो प्रत्यक्ष अनुभव से ही सिद्ध है कि जो व्यक्ति शरीर को ही आत्मा समझ बैठता है उसे काम, क्रोध, राग, द्वेष, जन्म मृत्यु के हर्ष, शोक आदि अवश्य होते हैं। परन्तु जो व्यक्ति देह से आत्मा की भिन्नता का अनुभव कर लेता है उसे उपर्युक्त बातों का अनुभव नहीं होता। अत: जिस प्रकार अविद्या से उत्पादित जरा मृत्यु आदि का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, उसी प्रकार सुख, दु:खादि का भी आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि दोनों ही अविद्याकृत हैं।

इस पर फिर वही प्रश्न उपस्थित होगा कि यदि आत्मा संसारी नहीं है तो शास्त्रों के उपदेश निरर्थक हो जायंगे, उसका भी यही उत्तर है कि शास्त्रों की सार्थकता अविद्या

से आबद्ध आत्मा के लिए है, अविद्या से विमुक्त आत्मा के लिए शास्त्रों का महत्त्व वास्तव में नहीं है। अविद्या से सम्बद्ध आत्मा के लिए भी शास्त्रों की उपयोगिता का प्रयोजन अविद्या के सम्बन्ध को निवृत्त कर देना ही है।

इस पर कुछ विचारक यह भी प्रश्न उठाते देखे गये हैं कि गीता के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण स्वयं विमुक्तात्मा हैं या अविद्या से आच्छन्न हैं। यदि वे विमुक्त हैं तब तो उपदेश्य उपदेशक भाव ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आत्मा की यथार्थता का ज्ञान हो जाने पर तो भेद बुद्धि ही समाप्त हो जाती है। जब भेद बुद्धि ही जाती रही तब भगवान् से अर्जुन अलग ही नहीं रहा और यदि भगवान् भी अविद्या से आबद्ध हैं तब उनके द्वारा दिया गया उपदेश प्रामाणिक कैसे होगा। उपदेश्य और उपदेशक दोनों एक ही रोग के रोगी हैं। एक रोगी दूसरे रोगी का क्या इलाज करेगा।

इसका उत्तर स्पष्ट है कि भगवान् तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाले हैं परन्तु वे अविद्या से आबद्ध जीव की स्थिति को तो सम्यक् प्रकार से समझते हैं। अविद्या ने जीव को अनन्त उपाधियों से आबद्ध-सा कर रक्खा है। अत: आत्मा भी अनन्त से प्रतीत हो रहे हैं। उनकी यही प्रतीत होने वाली अनन्तता संसार का विषय है। इसीलिए किसी एक उपाधि से सम्बद्ध आत्मा के मुक्त हो जाने पर भी सभी अविद्या की उपाधियां निवृत्त नहीं हो जातीं। इसी कारण उपदेष्टा भगवान् भी संसारावस्था में पड़े हुए चैतन्य की स्थिति को ध्यान में रखकर ही उपदेश देते हैं। अत: उक्त दोष का यहां अवकाश नहीं है।

अद्वैतवाद से भिन्न मत रखने वाले आचार्य यहाँ क्षेत्रज्ञ का अर्थ जीव करते हैं। जीव और ईश्वर का अंशांशिभाव या जीव और ईश्वर की पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता उन्हें अभिमत है। पद्य के 'माम्' पद का इनके मत में भी परब्रह्म या ईश्वर ही अर्थ होगा।

एक अन्य व्याख्या के अनुसार पद्य का अर्थ दूसरे प्रकार का है कि क्षेत्रज्ञ प्राय: क्षेत्र में और स्वयं में कोई भेद नहीं समझता। वह क्षेत्र को अपना ही रूप समझता है। जो क्षेत्रज्ञ क्षेत्र को अपना रूप न समझ कर उससे पृथक् समझता है वही समझना या ज्ञान श्रेष्ठ ज्ञान है, भगवान् कहते हैं कि वही ज्ञान मुझे अभिमत है। यह इस प्रकार के ज्ञान की श्रेष्ठता को बतलाया गया है।

श्री नीलकण्ठ की व्याख्या में ज्ञान शब्द का विशकलन किया गया है कि ज्ञान का अर्थ है अपरोक्ष रूप से तत्त्व का निश्चय। उन्होंने यह भी कहा है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में से किसी एक के ज्ञान हो जाने मात्र से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। भ्रम

से छुटकारा पाने के लिए रज्जु और सर्प दोनों का ज्ञान आवश्यक होता है। केवल रज्जु या केवल सर्प का ज्ञान भ्रम को निवृत्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार यहां भी संसार रूप भ्रम को निवृत्त करने के लिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाना आवश्यक है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाना सम्यक् प्रकार से ईश्वर का ज्ञान प्रस्तुत पद्य में कहा गया है। अनेक व्याख्याओं में इस प्रकार के ज्ञान की सिद्धि और उसकी महत्ता बतलाने के लिए अनेक युक्तियां और प्रमाण भी उपस्थित किए गए हैं। गीता के व्याख्याकारों ने सबसे विस्तृत व्याख्या संभवतः इसी पद्य पर लिखी हैं और अपने अपने सिद्धान्तों को युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर इस पद्य से सिद्ध किय है, उन्हीं का कुछ दिग्दर्शन हमने प्रस्तुत किया है। (२)

# तृतीय-पुष्प

**तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।**
**स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।। १३।३**
**ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।**
**ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।१३।४**

"वह क्षेत्र जो कुछ है, जैसा है, जैसे विकारों से युक्त है और जहाँ से उद्भूत है, तथा वह क्षेत्रज्ञ जिस स्वरूप का है, उसका जैसा प्रभाव है, उसको संक्षेप से मुझसे सुनो।"

आगे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप निरूपण करते समय जिन बातों पर प्रकाश डालना है उनकी यहां संक्षिप्त तालिका दे दी गई है। जिन बातों पर आगे विस्तृत प्रकाश डालना है प्रारंभ में उनका संकलन कर देने से वक्ता और बोद्धा दोनों को सरलता का अनुभव होता है। फिर विषय चाहे कितना ही क्लिष्ट हो इस प्रकार प्रारंभ में ही विभक्त कर देने से वह शीघ्र ही समझ में आ जाता है।

उपर्युक्त शीर्षकों में ज्ञातव्य क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप, उनके धर्म, उनकी विकृतियां, उनके प्रभाव आदि का विवरण देने की प्रतिज्ञा की गई है। 'यादृक्' का अर्थ 'वह जिसका आश्रय है' ऐसा किया गया है।

क्षेत्रज्ञ तो इन्द्रियातीत होने के कारण केवल विशेष प्रकार के अनुभव का विषय है, अतः उपदेश से क्षेत्रज्ञ का ज्ञान होना युक्तियुक्त है। परन्तु जिस शरीर को क्षेत्र के रूप में बतलाया गया है वह तो प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य होने से आपामर सभी को ज्ञात है। तब उस शरीर रूप क्षेत्र को बतलाने की क्या आवश्यकता ? शास्त्र के द्वारा तो अज्ञात अर्थ का ही ज्ञापन हुआ करता है। जो बात सभी को प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ज्ञात हो जाती है उसको बतलाने के लिए उपदेशात्मक गीता शास्त्र की इतने संरम्भ से प्रवृत्ति क्यों हुई। इस शंका का निवारण भी उक्त श्लोक से हो जाता है कि जितना हम प्रत्यक्ष प्रमाण से शरीर को जानते हैं वह उतना ही नहीं है। उसका ज्ञान भी अपने आप में एक बड़ा शास्त्र है। यह शरीर वास्तव में किस रूप का है, इसके क्या-क्या कार्य हैं, यह बनता किन-किन तत्त्वों से है, इसके प्रभाव किस रूप में प्रकट होते हैं इत्यादि बातों को सभी लोग प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जानते। अतः इसके परिचय के लिए भी शास्त्रों की प्रवृत्ति न्याय संगत है।

फिर प्रश्न हो सकता है कि शरीर का परिचय देना, उसके प्रभावों का विवेचन

करना, उसके विकारों का स्वरूप बतलाना इत्यादि तो आयुर्वेदादि शास्त्रों का विषय है। अध्यात्म प्रधान गीता आदि शास्त्रों का शरीर के विवेचन से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है उसका भी उत्तर यही है कि आयुर्वेदादि शास्त्रों का शरीर विवेचन उनकी अपनी आवश्यकताओं तक ही होता है। शरीर की विकृतियों की चिकित्सा के उद्देश्य से उन शास्त्रों की प्रवृत्ति है। उतने मात्र से उन शास्त्रों का प्रयोजन पूर्ण हो जाता है। परन्तु अध्यात्म शास्त्र का शरीर विवेचन तो समस्त रोगों के मूल अविद्या रूपी महारोग के उन्मूलन को लक्ष्य में रखकर किया गया है। अतः केवल स्थूल विकृतियों की पहिचान और उनकी चिकित्सा के लिए जितना शरीर विवेचन आयुर्वेदादि शास्त्रों में किया गया है उतना यहाँ पर्याप्त नहीं। यद्यपि उन शास्त्रों में भी चरक आदि ग्रन्थों में दार्शनिक दृष्टि से भी शरीर विवेचन उपलब्ध होता है, परन्तु वह वहाँ प्रसङ्गागत और शरीर के मूल तत्वों की ओर एक संकेत भर है। उसका सांगोपाङ्ग विस्तृत विवेचन तो अध्यात्म शास्त्रों का ही विषय है। इसीलिए आत्म विद्या के मुख्य प्रतिपादक वेदों उपनिषदों और वेदान्त-सूत्रों में शरीर का विस्तृत विवेचन मिलता है। वेदान्त सूत्रों पर श्रीशंकराचार्य का जो भाष्य है उसका नाम भी शारीरिक भाष्य है जो इसी बात को विचार दृष्टि में ला देता है, क्योंकि शरीर का विवेचन वहां का मुख्य विषय है। शरीर भी स्थूल, सूक्ष्म, कारण भेदों से विख्यात है और उनका विस्तृत निरूपण अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। उसी का संक्षिप्त सार यहां भगवान् ने भी कहने का उपक्रम किया है।

यहाँ भगवान् ने "तत्समासेन मे शृणु" कह कर यह प्रकट कर दिया है कि यहाँ का विवेचन एक संक्षिप्त विवेचन है। 'समास' शब्द का व्याकरण आदि शास्त्रों में एक वृत्ति के रूप में व्यवहार है। अनेक शब्दों को जोड़ देने के नियमों का अध्ययन समास के अन्तर्गत वहाँ माना गया है। वह समास भी संक्षेप का ही बोधक है। प्रत्येक शब्द के साथ प्रत्यय न जोड़ कर भी इन प्रत्ययों के अर्थों को समझ लेने के नियम वहाँ बतलाए जाते हैं। यही वहां का संक्षेप होता है जो समास संज्ञा से वहाँ विवक्षित है। परन्तु संक्षेप अनेक प्रकार से हो सकता है। वह शब्द के व्यावहारिक स्वरूप में भी होता है जो कि व्याकरण के द्वारा प्रदर्शित है तथा विस्तृत अर्थ का सार संगृहीत करके थोड़े शब्दों में व्यक्त कर देना भी एक संक्षेप है। वही संक्षेप यहां के समास शब्द से गृहीत है। ऐसा समझने पर यह भी स्पष्ट होता है कि जो बात गीता के प्रस्तुत सन्दर्भ में कही जा रही है वह विस्तृत रूप में कहीं अन्यत्र भी कही गई होगी और इस संक्षेप को जानने के लिए उन स्थलों का भी कम से कम नाम मात्र से परिज्ञान अवश्य होना चाहिए जहां इन विषयों का विस्तार मिलता है। इसी बात को ध्यान में

रख कर भगवान् ने अग्रिम पद्य में इन स्थलों का संकेत किया है जहां इस विषय का विस्तृत निरूपण है ऐसा आशय कुछ व्याख्याकारों ने लगाया है। (२)

श्री शंकराचार्य ने अपने भाष्य में आगे के पद्य को प्ररोचनार्थ कथन माना है। इसका तात्पर्य है कि प्रस्तुत क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप विवेचन इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि सारा आर्ष वाङ्मय इसके विवेचन से भरा है। अतः इसके ज्ञान के लिए जिज्ञासु महानुभावों को अवश्य प्रवृत्त होना चाहिए यही प्ररोचना कथन का आशय है। पद्य का अर्थ है–

"पृथक्-पृथक् छन्दों में ऋषियों ने इसका अनेक प्रकार से गान किया है तथा कार्य कारण भाव का प्रदर्शन करते हुए निश्चित अर्थ रखने वाले ब्रह्मसूत्रों के पदों में इस विषय का विवरण है"।

यहाँ विचारणीय यह है कि क्रिया पद केवल 'गीतम्' यही है, जिसका अर्थ है 'गाया था', या 'गाया गया'। ऋषियों ने विविध छन्दों के द्वारा गाया है यहां तक तो ठीक है, परन्तु ब्रह्मसूत्र के पदों में भी यह गाया गया है यह कथन असमंजस प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र के नाम से भगवान् बादरायण व्यास के द्वारा विरचित वेदान्त सूत्रों की प्रसिद्धि है। श्री शंकराचार्य के अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याकारों ने यहां ब्रह्मसूत्र से व्यास विरचित वेदान्त सूत्रों का ही आशय निकाला है। पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रों में इन्हीं को भिक्षुसूत्र भी कहा है क्योंकि भिक्षु अवस्था अर्थात् संन्यास अवस्था में ही इन सूत्रों के विशेष मनन की परंपरा रही है। परन्तु वेदान्त सूत्रों में गायन की क्रिया संगत नहीं हो सकती। गायन के लिए तो छन्दोबन्धन आवश्यक होता है, वहीं गायन के लय सम्बन्धी नियमों का पालन भी संभव होता है। वेदान्त सूत्रों में तो इस प्रकार के नियमों का संगठन देखने में नहीं आता। प्रत्युत सूत्रों में तो कम से कम अक्षरों का निवेश किया जाता है। सूत्र का प्रसिद्ध लक्षण है–

**''अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।**
**अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः ।।'**

इसमें सूत्रों में प्रथम बात उनका अल्पाक्षर होना ही है। अनेक व्याख्याओं में 'गीतम्' को कथन सामान्य में लगाकर व्याख्या की गई है तथा कुछ व्याख्याओं में 'गीतम्' को केवल छन्दों के साथ अन्वित करके ब्रह्मसूत्र पदों के लिए पृथक् कथनार्थक क्रिया का अध्याहार किया गया है।

श्री शंकराचार्य एवं उनके अनुयायी श्री नीलकण्ठ तथा श्री शंकरानन्द आदि ने 'ब्रह्मसूत्रपद' का अर्थ किया है 'ब्रह्म के प्रतिपादक उपनिषद् वाक्य' और उदाहरण के रूप में '**आत्मेत्येवोपासीत**' आदि श्रुतियां उद्धृत की हैं। इससे उनका यह आशय

जाना जा सकता है कि वे 'ब्रह्मसूत्रपद' से उपनिषदों का ही ग्रहण करते हैं, वेदान्त सूत्रों का नहीं। वेदान्त सूत्रों के यहां ग्रहण न करने का आशय यही लगाया जा सकता है कि महाभारत और वेदान्त सूत्र दोनों ही व्यास कर्तृक हैं, अतः एक ही कर्ता की कृति का अपनी ही अन्य कृति में उद्धरण होना संभवतः अनुपपन्न माना गया हो। अविगीता की टिप्पणी में महाभारत के एक उद्धरण से इसी मत को स्पष्ट करते हुए यह भी दिखाया गया है कि वेदान्त सूत्रों की रचना गीता के बाद में हुई, तथा "स्मृतेश्च" आदि अनेक सूत्रों में गीता का ग्रहण भी किया गया है। इस पक्ष में 'गीतम्' पद भी चरितार्थ हो जाता है क्योंकि उपनिषत् भी छन्दोबद्ध होने से 'गान' का विषय बन सकते हैं। 'ब्रह्मसूत्रपद' से वेदान्त सूत्रों का ग्रहण मानने वाले यह कहते हैं कि दोनों ही कृतियां जब श्री व्यास जी की हैं तब उनका अन्योन्य उद्धृत होना कोई असंगति नहीं रखता। भगवान् श्री कृष्ण के अवतार के पूर्व ही भगवान् वेद व्यास अवतीर्ण हो चुके थे, तभी तो भगवान् ने विभूतियों के उल्लेख में 'मुनीनामप्यहं व्यासः' कह कर व्यास जी का अपनी विभूति के रूप में उल्लेख किया है। श्रीहर्ष के नैषधीय चरित और खण्डनखण्डखाद्य, अप्पयदीक्षित के चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द आदि कृतियों में एक दूसरे का एक दूसरे में उल्लेख भी मिलता है इत्यादि बातें अविगीता की टिप्पणी में लिखी गयी हैं। हमारी दृष्टि में दोनों ही पक्ष ठीक हैं और दोनों का ही समर्थन किया जा सकता है। लोकमान्य तिलक ने यहां वेदान्त सूत्रों का ही ग्रहण माना है।

श्री रामानुजाचार्य ने इस पद्य की व्याख्या में वेदों उपनिषदों और स्मृतियों से अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिये हैं जिनसे इन विषयों के उन स्थलों पर विस्तृत निरूपण होने का आभास मिल जाता है।

श्री नीलकण्ठ ने 'ऋषिभिर्बहुधागीतम्' इससे वसिष्ठ के योगवासिष्ठ का भी ग्रहण कर लिया है। 'हेतुमद्भिः' और 'विनिश्चितैः' ये दोनों ब्रह्मसूत्रों के विशेषण उनका महत्व दिखाने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि उपनिषद एक ऋषि के द्वारा दृष्ट न होने के कारण परस्पर विशृङ्खल और अनेकत्र परस्पर विरुद्ध अर्थों का भी आभास देते हैं, इसीलिए उनके लिए यहां भगवान् ने 'बहुधा' और 'विविधैः' विशेषण दिए हैं। उन उपनिषदों को क्रमबद्ध करके उनका युक्ति पुरस्सर निश्चित अर्थ कर देने का कार्य वेदान्तसूत्रों में सम्पन्न हुआ है। बिना वेदान्तसूत्रों के उपनिषदों का तात्पर्य समझना असम्भव है इसलिए वेदान्त सूत्रों के लिए 'हेतुमद्भिः' और 'विनिश्चितैः' ये दोनों अर्थ–गर्भित विशेषण दिये गए हैं। 'हेतुमद्भिः' विशेषण से तो यह बतलाया गया है कि उनमें सिद्धान्तों की दुर्बोधता को दूर करने के लिए युक्तियां दी गई हैं और 'विनिश्चितैः' का यह आशय है कि उनके प्रतिपादन में किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं है। (४)

---

# चतुर्थ-पुष्प

**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च**
**इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।५।**
**इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः**
**एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।६।**

"महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति), एकादश इन्द्रियां, पांच इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना, धैर्य यह संक्षेप से विकारों सहित क्षेत्र बतलाया गया है।"

यहां क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले पदार्थों के नामों का परिगणन कर दिया गया है। यही यहां संक्षेप का अभिप्राय है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत प्रसिद्ध ही हैं। सर्वत्र व्याप्त होने से इनकी महाभूत यह संज्ञा है। महाभूतों की सूक्ष्मावस्था ही यहां गिनाई गई है क्योंकि महाभूतों का स्थूल रूप जो इन्द्रिय ग्राह्य है वह आगे पृथक् बतलाया गया है। महाभूतों का उत्पादक अहंकार है, उसकी उत्पादक बुद्धि और उसका भी कारण अव्यक्त अर्थात् सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों की समष्टि भूता प्रकृति है। अहंकार और बुद्धि से यहां प्रत्येक प्राणी में पृथक् पृथक् अवस्थित जो अहंकार हैं उनका ग्रहण नहीं अपितु सृष्टि के आरंभक जो अहंकार और बुद्धि हैं उनका ही यहां ग्रहण है। यद्यपि सृष्टि के आरंभक बुद्धि तत्त्व को महत्तत्त्व या महान् शब्द से ही कहा जाता है परन्तु बुद्धि शब्द से भी उसका व्यवहार प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। यहां बुद्धि को अहंकार और अव्यक्त के मध्य में कहने से भी बुद्धि का अर्थ महत्तव ही होगा। यह आठ प्रकार की प्रकृति है।

पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय तथा एक मन को मिलाकर एकादश इन्द्रियां होती हैं। **'दशैकं च'**, दस और एक ऐसा कहकर जो मन को अलग किया है उसका आशय एक व्याख्याकार यह लगाते हैं कि मन प्रधान रूप से इन्द्रियों का परिचालक है उसकी इन्द्रियों में गणना गौण रूपसे ही की जाती है। सर्वत्र मन की इन्द्रियों से पृथक् ही गणना देखी गई है, मन को उभयात्मक कहा गया है, अर्थात् मन बन्धन भी करता है और मोक्ष भी। यहां यदि मन को इन्द्रियों में न समझा जाय तो वाच्यार्थ संगत नहीं हो सकेगा। इसलिए मन को भी इन्द्रियों के अन्तर्गत ही मानना उपयुक्त है ऐसा भी कुछ व्याख्याकारों का मत है। मन के इन्द्रिय न मानने पर भी मन सहित ग्यारह इन्द्रियां ऐसा कथन कोई अनुपयुक्त नहीं होता। क्योंकि एकादश गणना में मन का इन्द्रिय होना आवश्यक नहीं। यज्ञदत्त सहित ग्यारह स्त्रियां ऐसा कहने में यज्ञदत्त

का भी स्त्री होना आवश्यक नहीं, ग्यारह संख्या में ही वहां आशय है ऐसा भी एक व्याख्या में लिखा गया है। इसके अनुसार मन को यदि इन्द्रिय न भी माना जाय तो भी यहां उसकी इन्द्रियों के साथ गणना करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। इसके अतिरिक्त शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध ये इन्द्रियों के पांचों विषय भी क्षेत्र के ही रूप हैं। इन्हीं को सांख्यदर्शन में तन्मात्रा शब्द से कहा गया है। यह सांख्य के अनुसार तत्वों की गणना है।

सांख्य में २४ तत्व माने गये हैं, उन्हीं का संकलन करके यह क्षेत्र का परिचय दिया गया है ऐसा सभी व्याख्याकारों ने स्वीकार किया है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने यहां वेदान्त की प्रक्रिया भी लिखी है औरउसका समन्वय भी कर दिया है कि उपनिषदों में परमेश्वर की माया नाम की जो शक्ति है, वह अव्यक्त, अव्याकृत और अचिन्त्य है। परमेश्वर सिसृक्षा से जब उसकी ओर ईक्षण करता है तब वही बुद्धि सर्ग कहा जाता है। उस ईक्षण के अनन्तर '**एकोऽहं बहुस्याम्**' ऐसी ईश्वर की आत्म प्रेरणा ही अहंकार की सृष्टि है। उसके अनन्तर आकाश की उत्पत्ति होती है, उससे वायु, उससे अग्नि, उससे जल और उससे पृथ्वी की उत्पत्ति होती है यह सृष्टि की वेदान्त सम्मत प्रक्रिया है।

आरोह क्रम से परिचय देते समय पंचभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त यह क्रम रहेगा। इस प्रक्रिया के अनुसार यहां भगवान् ने आरोह क्रम से ही क्षेत्र का परिचय दिया है ऐसा मानना होगा। अन्तिम तत्त्व से क्रमशः आदि के तत्त्व को समझना आरोह क्रम है। प्रकृति के रूपों में महाभूत ही अन्तिम तत्त्व होते हैं। उनसे पूर्व का तत्त्व अहंकार है, उससे पूर्व का बुद्धि और उससे पूर्व का अव्यक्त प्रकृति या माया है। यह वेदान्त-सम्मत क्रम भी यहां पूर्णरूप से संग्रहीत हो जाता है, यह श्रीमधुसूदनसरस्वती का आशय है। सृष्टि के आगे की प्रक्रिया में सांख्यदर्शन और वेदान्त में कोई विशेष अन्तर नहीं। मूलतत्व-विषयक सिद्धान्त में ही दोनों का भेद है। इन तत्त्वों के नाम भी '**ऐक्षत**' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर ईक्षण कह दिया जाता है। परन्तु वह ईक्षण भी परमेश्वर का ही होता है, विषय रूप से उसमें माया भी आ जाती है अतः वह सृष्टि का प्रथम उन्मेष कहा जा सकता है। ईश्वर की अनेक रूपों में प्रकट होने की इच्छा का ही नाम अहंकार है। क्षेत्र के तत्वों के परिगणन में वेदान्त और सांख्य में कोई अन्तर नहीं आता। इसीलिए नाम और संख्या के परिगणन में सभी व्याख्याकारों ने इसे सांख्यानुसारिणी मान लिया है। परन्तु आगे क्षेत्रज्ञ के निरूपण में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सांख्य में अव्यक्त या प्रकृति जैसे एक स्वतंत्र तत्व है वैसा यहां गीता को आभिमत नहीं।

श्रीनीलकण्ठ ने यहां अव्यक्त शब्द से शरीर का ही ग्रहण माना है। क्षेत्र को ही उन्होंने शरीर कहा है। अत: शरीर का परिचय देते समय अव्यक्त का अर्थ शरीर ही करना चाहिए ऐसा उनका आशय है। अव्यक्त शब्द से शरीर कैसे लिया जाय इसके समर्थन में उन्होंने कहा कि उपनिषद में भी शरीर के प्रकरण में आया है–'**शरीरं रथमेव तु**' (कण्ठो ३।३) वहां शरीर ही अव्यक्त है यह वेदान्तसूत्र के भाष्य में श्रीशंकरार्य ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है। श्रीनीलकण्ठ ने भी उसी के अनुसार यहां अव्यक्त का अर्थ शरीर ही किया है। उसी अव्यक्त के विकारों के रूप में आगे इन्द्रियों की गणना भी उन्होंने इस पक्ष में संगत मानी है।

आगे के पद्य के अवतरणिका भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने लिखा कि वैशेषिक दर्शन में जिनको आत्मा का धर्म माना गया है वे भी वस्तुत: क्षेत्र के ही रूप हैं। इच्छा, द्वेष, सुख, दु:खादि भी क्षेत्र के ही अन्तर्गत हैं और पद्य के उपसंहार में कहा गया है "यह विकार सहित क्षेत्र का विवरण संक्षेप से कहा गया है"। अत: इच्छा द्वेषादि क्षेत्र के विकार हैं। श्रीरामानुज ने इसे और भी स्पष्ट करके लिखा है कि पञ्चभूतादि तो क्षेत्र के आरम्भक द्रव्य हैं और इच्छा द्वेषादि उसके विकार या परिणाम हैं। वैशेषिक दर्शन में जो इनको आत्मधर्म माना गया है उसकी आलोचना करते हुए श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि वैशेषिक दर्शन का आत्मा भी क्षेत्र के ही अन्तर्गत है। वेदान्त का चिदाभास ही वैशेषिकों का आत्मा है। अत: उस दृष्टि से उन्हें आत्मधर्म कह देने पर भी उनके क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाने में कोई बाधा नहीं।

श्रीरामानुजादि भाष्यकारों ने अपने सिद्धान्त के अनुसार इच्छा द्वेषादि को आत्मधर्म माना है क्योंकि गीता में आगे आत्मा को सुख दु:खादि का भोक्ता कहा गया है। परन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये क्षेत्र के सान्निध्य होने के अनन्तर ही आत्मा के भोग्य बनते हैं, अत: इन्हें क्षेत्र के अन्तर्गत भी लिया गया है और आत्मा के इनका भोक्ता होने से क्षेत्रज्ञ के साथ भी इनका समन्वय हो जाता है। जिस प्रकार के पदार्थों से पहिले सुख का अनुभव हुआ हो उस प्रकार के पदार्थों की पुन: प्राप्ति की अभिलाषा का नाम इच्छा और जिस प्रकार के पदार्थों से दु:ख का अनुभव हुआ हो उन पदार्थों के त्याग की इच्छा का नाम ही द्वेष है। अनुकूल अनुभव को सुख और प्रतिकूल अनुभव को दु:ख कहा जाता है। 'संघात' कहने का प्रयोजन है कि पहिले तो पंचभूतादि की पृथक पृथक गणना कर दी गई, अब कहीं यह सन्देह न हो कि पृथक् पृथक् अवस्था में अवस्थित होने पर तो ये क्षेत्र हैं और इनका समूह बन जाने पर ये क्षेत्र से विलक्षण हो जाते हैं। अत: संघात शब्द से यही स्पष्ट किया गया कि वे पृथक् पृथक् और समूह रूप दोनों ही अवस्थाओं में क्षेत्र के ही अन्तर्गत आते हैं। चेतना

को भी क्षेत्र के ही अन्तर्गत कहा गया है क्योंकि वह भी ज्ञेय ही है। विशुद्ध आत्मा के स्वरूप में जो चेतना है वह इससे पृथक् है। श्रीशंकराचार्य ने इसके उदाहरण के रूप में गरम किये हुए लोहे को लिया है। जैसे अग्नि में निरन्तर तपाया हुआ लोहा भी अग्नि के सदृश लाल और गरम हो जाता है वैसे ही चेतन आत्मा के नित्य संसर्ग से शरीर रूप क्षेत्र भी चेतन के समान हो जाता है। आयुर्वेद में तो स्पष्ट ही चेतना को एक धातु माना है। यद्यपि बुद्धि शब्द से चेतना स्मृति धृति अहंकारादि को जाना जा सकता है परन्तु यहाँ इन सबके पृथक् पृथक् क्षेत्र होने से ही गणना भी अलग-अलग रखी गई है। 'धृति' नियमन करने वाली चित्त वृत्ति है। व्याख्याकारों ने इन धर्मों को उपलक्षण मान कर सभी अन्त:करण क्षेत्र रूप हैं यह स्वीकार किया है।

यहाँ प्रश्न होता है कि चार्वाक संघात को ही आत्मा मानता है, क्षणिक ज्ञान को ही बौद्ध आत्मा मानते हैं, इच्छा द्वेष सुख दु:ख आदि का ज्ञान ही आत्मा का ज्ञापक है यह नैयायिक मानते हैं, तब ये सब यहां क्षेत्र के ही अन्तर्गत कैसे मान लिए गए। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने ऐसी शंका उठाकर इसके उत्तर के रूप में पद्य के 'सविकार' शब्द को लगाया है। विकार शब्द यहां निरुक्तादि ग्रन्थों में प्रतिपादित भावविकारों का वाचक है। जायते, आस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति, ये ६ भाव विकार माने गए हैं जिनका विवरण प्रसंगानुसार हम पूर्व प्रवचनों में कर चुके हैं। उक्त दार्शनिकों की आत्म विषयिणी मान्यता भी इन्हीं विकारों तक है। वे विकार भी ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र के ही स्वरूप में अन्तर्निविष्ट हैं।

# पंचम-पुष्प

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।७।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।८।।
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।९।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१०।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।११।।

क्षेत्र के स्वरूप का उपसंहार पूर्व के पद्यों में हो चुका। इसके आगे क्षेत्रज्ञ का विवरण प्रसंग प्राप्त है। परन्तु आगे के इन पाँच श्लोकों में क्षेत्रज्ञ का स्वरूप कहने से पहिले यह भी बतलाना भगवान् ने आवश्यक समझा कि उस क्षेत्रज्ञ को समझने के लिए पहिले उसके ज्ञान के उपयुक्त योग्यता का होना आवश्यक है। बिना वैसी योग्यता के क्षेत्रज्ञ का स्वरूप ध्यान में ही नहीं आ सकता। उक्त पद्यों की अवतरणिका में सभी व्याख्याकारों ने यही लिखा है कि इन पद्यों में भगवान् ने क्षेत्रज्ञ को जानने का अधिकारी कौन है, इसी का विवरण दिया है। इस पर प्रश्न होता है कि पूर्व पद्यों में क्षेत्र के विवरण के पहिले क्षेत्र के ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी का विवरण भगवान् ने क्यों नहीं दिया ? उसका उत्तर यही होगा कि क्षेत्र तो अहर्निश अनुभव का विषय है। अतः केवल संकेत मात्र से वह सभी की बुद्धि में अनायास आ सकता है। परन्तु क्षेत्रज्ञ प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं है, वह परोक्ष रूप से ही सर्वदा अवस्थित रहता है और परोक्ष विषय सभी की समझ में नहीं आ सकता जब तक कि उसके समझ लेने के लिए समुचित योग्यता प्राप्त न कर ली जाय। यह बात इसी से सिद्ध है कि शास्त्रों से अनभिज्ञ व्यक्तियों को क्षेत्र का ज्ञान रहते हुए भी परोक्ष सत्ता का ज्ञान नहीं हो पाता। यदि क्षेत्र के ही समान क्षेत्रज्ञ को जानने के लिए किसी अतिरिक्त योग्यता की आवश्यकता न हो तो जिस प्रकार सभी को क्षेत्र का ज्ञान रहता है उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ का भी सभी को ज्ञान हो जाना चाहिए परन्तु वैसा नहीं देखा जाता। इसका कारण यही है कि क्षेत्रज्ञ को जानने के लिए विशेष प्रकार की योग्यता की आवश्यकता

होती है। दूसरे शब्दों में स्वयं को अनेक, संस्कारों से संस्कृत करना पड़ता है। ये संस्कार दोषमार्जन, अतिशयाधान और हीनाङ्गपूर्ति के रूप में होते हैं, जिनका विवरण हम पूर्व के प्रवचनों में कर चुके हैं, यहां भी प्रकरणानुसार संस्कारों से संस्कृत करना अपने आपको आवश्यक हो जाता है। जिन योग्यताओं का भगवान् ने उल्लेख किया है उनमें भी अनेक दोषमार्जन रूप हैं, कुछ अतिशयाधान रूप हैं और कुछ हीनाङ्गपूर्ति रूप हैं। क्षेत्रज्ञ का विस्पष्ट ज्ञान हो जाना भी स्वयं में एक हीनाङ्गपूर्ति है। श्रीशंकराचार्य ने इस पद्य की अवतरणिका में लिखा है कि इन सभी गुणों से युक्त संन्यासी ही क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को जानने का वास्तविक अधिकारी है। क्षेत्रज्ञ के ज्ञान की योग्यता के साधन इस प्रकार हैं–

"अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, ऋजुता (सरलता), आचार्य की उपासना, शौच, आत्मा का निग्रह"

अपने में जो कुछ गुण हैं उनके आधार पर पूज्य व्यक्तियों के प्रति तिरस्कार प्रकट करना मान है, उससे दूर रहना ही अमानित्व होता है, यह एक व्याख्या है ! दूसरी व्याख्या के अनुसार अपने में जो गुण हैं या जो गुण नहीं हैं उन गुणों का प्रदर्शन करके अपनी श्लाघा करना मान है, कई बार मनुष्य ऐसे गुणों को भी अपने में प्रदर्शित करने लगता है जो कि वास्तव में उसमें नहीं होते, ऐसे प्रदर्शन से स्वयं को दूर रखना अमानित्व होता है, यह इस व्याख्या का आशय है। श्रीशंकरानन्द ने लिखा है कि मान वह है जिससे कि विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध हो जाता है। आत्मज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को मान का परित्याग करना अनिवार्य हो जाता है। श्रीरामानुजाचार्य और श्रीशंकराचार्य उत्कृष्ट पूज्य जनों के पूजा व्यतिक्रम को मान कहते हैं और उसका कारण अपने में विद्यमान और अविद्यमान गुणों का प्रदर्शन मानते हैं। जो व्यक्ति धन, अधिकार, सौन्दर्य, प्रसिद्धि आदि के रहने के कारण अथवा इनके वस्तुतः न रहने पर भी इनका प्रदर्शन करने लगते हैं, वे इस आत्मज्ञान के निकट कभी नहीं पहुँच सकते। इसके आगे 'अदम्भित्व' आता है। दम्भ भी चित्त वृत्ति ही है और 'मान' की तरह ही उसका बाह्य प्रदर्शन भी हुआ करता है। यहां श्रीशंकराचार्यादि भाष्यकारों ने अपने धर्म को प्रकाशित करने को दम्भ कहा है। जो धर्मानुष्ठान कर्तव्य बुद्धि से न किया जाकर दिखाने के लिए किया जाता है, जिसमें कि अपनी प्रतिष्ठा और पूजा को बढ़ाने का उद्देश्य अन्तर्निहित होता है वह दम्भ है, उसमें अपने आपको परम धार्मिक सिद्ध करना ही मुख्य उद्देश्य होता है, ऐसी स्थिति में मानसिक झुकाव के अभाव में मनुष्य धर्म पालन तो कर नहीं पाता, हाँ उसके बाहरी रूपों का बड़े घटाटोप से पालन करता है। वह अविधिपूर्वक धर्मानुष्ठान है। एक व्याख्या में कहा गया है कि

धर्म का अनुष्ठान दम्भ से भी किया जाता है और कर्तव्य बुद्धि से भी किया जाता है, दोनों में परिश्रम तो बराबर ही करना पड़ता है। दम्भ से किया गया धर्मानुष्ठान केवल श्रम के ही लिए रह जाता है उससे और कोई फल सिद्ध नहीं हो पाता जबकि कर्तव्य बुद्धि से किये गए धर्मानुष्ठान से बहुत बड़ा सुख प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रायः सभी व्याख्याकारों ने दम्भ को एक प्रकार के धर्मानुष्ठान से ही जोड़ा है। श्रीशंकरानन्द ने विलक्षण वेश धारण करके प्रभावशाली भाषण देकर अनेक प्रकार की विलक्षण क्रियाओं से और विविध चतुरताओं से अपने महत्त्व को प्रकट करने को दम्भ कहा है। इस प्रकार के दम्भ से दूर रहना ही 'अदम्भित्व' है। 'अहिंसा' का अर्थ है प्राणियों को पीड़ा न देना। यह पीड़ा न देने का भाव व्यापकता रखता है। मन, वचन और शरीर किसी से भी किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाना ही अहिंसा है। 'शान्ति' या क्षमा का अर्थ है कि अपराध करने वाले पुरुष के अपराध का कोई प्रतीकार न करके उसकी उपेक्षा करना। दूसरी व्याख्या के अनुसार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक उपद्रवों को सहन करते जाना शान्ति है। वाणी, मन और शरीर को एक स्थिति में रखना ही ऋजुता या आर्जव कहलाता है। किसी को धोखा बिना दिये अपने हृदय की समानता रखते हुए व्यवहार का परिचालन करते जाना ऋजुता है, यह भी एक व्याख्या है।

इसके आगे है आचार्य की उपासना। आचार्य का भारतीय संस्कृति में बहुत बड़ा स्थान माना गया है। आचार्य का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है–

**'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः**
**सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते'**

जो शिष्य का उपनयन संस्कार करके अपने पास रखकर उसे सकल्प और सरहस्य वेदों का अध्यापन करता है उसे आचार्य कहा जाता है। यहां तत्त्वप्रकाशिकामें 'ब्रह्मनिष्ठ' पुरुषों को आचार्य बतलाते हुए ये श्लोक उद्धृत किये गये हैं–

**आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ।**
**मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्राशयः शुचिः ।।**
**गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः ।**
**एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ।।**

आत्म ज्ञान के अधिकारी की योग्यता में श्रुति कहती है "**आचार्यवान्पुरुषो**

वेद'' आचार्य में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला ही तत्त्व ज्ञान का अधिकारी है। परमार्थप्रपा में भी इसी प्रसंग में एक श्लोक उद्धृत किया गया है–

**यद्यप्युद्दामबुद्धिः पठनपरिणमद्वेदशास्त्राक्षरार्थो**
**न ह्याचार्यं विनासौ तदपि परिचिनोत्येतदुक्तं रहस्यम् ।**
**ब्रूते नामापि यद्यप्यजिरनिवसतामन्यवक्त्राच्छुतानि**
**प्रायस्तं तं पदार्थं नहि कथकमृते वेत्त्युपोद्रायकोऽपि ।।**

अर्थात् तीव्र बुद्धि वाला मनुष्य यद्यपि स्वयं भी वेदों और शास्त्रों के अक्षरार्थों को समझ सकता है, परन्तु आचार्य के बिना वेदों और शास्त्रों के रहस्य उसकी बुद्धि में समाविष्ट नहीं हो सकते।

यहां विभिन्न व्याख्याकारों ने आत्म-ज्ञान के उपदेष्टा को ही प्रकरणानुसार आचार्य माना है। श्रीरामानुजाचार्य ने आचार्य की उपासना का अर्थ चतुर्थ अध्याय से संगति करते हुए आचार्य को प्रणिपात उनसे परिप्रश्न और उनकी सेवा किया है। शौच या पवित्रता दो प्रकार की मानी गई है, बाह्य शरीर और इन्द्रियों की पवित्रता मृत्तिका या जलादि से होती है, और अन्तःकरण के मल, राग, द्वेषादि को दूर करने के लिए विवेक से शुचिता मानी गई है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने आन्तरिक मलों का अपनयन करने के लिए विषयों के दोषों का अनुसन्धान करके शुचिता संपादन कहा है। उसके लिए अस्पृश्य पदार्थों का स्पर्श न करना, अभक्ष्य पदार्थों को न खाना, और अग्राह्य वस्तुओं का परित्याग आवश्यक बतलाया है। श्रीवल्लभाचार्य मतानुसारिणी व्याख्या में भगवान् के स्मरण से आन्तरिक मलों की शुद्धि मानी गई है।

यहाँ यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि वर्तमान में प्रायः लोगों का ऐसा विचार बनता जा रहा है कि बाह्य शुद्धि को कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए, मन का शुद्ध रहना ही मुख्य वस्तु है। बाहर से हम अपनी इच्छानुसार आचरण करते रहें, मन अवश्य शुद्ध रहना चाहिए, मन के शुद्ध रहने पर बाहर की अपवित्रता हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। इसी बात को आज प्रायः लोग मानने लगे हैं और इसी का अपने व्यवहार में आचरण करने के फलस्वरूप शास्त्र बोधित बाहरी शुचिता का उपहास भी देखने में आता है। परन्तु यह एक बहुत बड़ी भूल है। आन्तरिक शुचिता और बाहरी शुचिता का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि हमने बाहरी आहार-व्यवहार में अपनी पवित्रता के विचार को ताख में रख दिया तो आन्तरिक शुचिता को भी सर्वथा समाप्त ही समझिये। भारतीय आचार्यों ने इसीलिए सर्वत्र आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की पवित्रता पर समान रूप से बल दिया है और दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया

है। जिस प्रकार बाह्य पवित्रता के अभाव में आन्तरिक पवित्रता नहीं हो सकती उसी प्रकार आन्तरिक पवित्रता के अभाव में बाह्य पवित्रता रखना भी केवल प्रदर्शन मात्र है जिसे अभी दम्भ कहा गया है। इसको 'स्थैर्य' या स्थिरता भगवान् ने बतलाया है। श्रीशंकराचार्य स्थैर्य का अर्थ केवल मोक्ष मार्ग में ही अध्यवसाय रखना करते हैं। अध्यात्मशास्त्र में जिनका बोध कराया जाता है उसमार्ग में निश्चल हो जाना ही यहां स्थिरता है। इसी का विवरण अन्य व्याख्याकार ने किया है कि अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ते हुए जो विघ्न उपस्थित हों उनके होते हुए भी उस मार्ग से विचलित न होना ही यहां स्थिरता का तात्पर्य कुत्सित कर्मों से अथवा स्वेच्छाचारिता से अपने को बचाने में है।

"इन्द्रियार्थों में वैराग्य, अहंकार का अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःखों में दोष का अनुदर्शन करना"।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये इन्द्रियों के अर्थ कहे गए हैं, इनमें विराग भावना का होना ही वैराग्य है। इन सभी में सदोषता देखने से इनसे मन हट जाता है। जन्म में गर्भवासादि की पीड़ा का स्मरण, मृत्यु का भय, वृद्धावस्था में स्मरणशक्ति तथा शरीर की शक्ति का क्षीण हो जाना इत्यादि दोषों को देखने से भी चित्त में ज्ञान उत्पन्न होने की योग्यता आ जाती है। शिरोवेदना आदि व्याधियां हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि दुःख हैं। इन सभी में दोषों का अनुदर्शन होना चाहिये। देह में आत्मा का अभिमान अहंकार है। उसी प्रकार आत्मा में देह का अभिमान होना भी अहंकार है, दोनों ही परिवर्जनीय हैं।

"आसक्ति होना, पुत्र, स्त्री, गृह आदि में आत्मबुद्धि न रखना, अभिलषित और अनभिलषित पदार्थों में समान बुद्धि रखना"।

जिनमें सङ्ग हो सकता है ऐसे सभी विषयों से प्रेम न रखना ही आसक्ति है। पुत्र-स्त्री आदि के सुखी-दुःखी, अनुगत रहने पर तथा गृह के सुन्दर या असुन्दर रहने पर आत्मा से सुख-दुःखादि का अनुभव सर्व सामान्य को होता है। उससे बचने का यहाँ निर्देश है। इष्ट वस्तु के मिल जाने से सुख और अनिष्ट के मिल जाने पर दुःख होना भी सर्वसामान्य का अनुभव है। आत्मज्ञानोन्मुख व्यक्ति को इष्ट और अनिष्ट दोनों को समान भाव से देखना चाहिए।

"मुझमें अनन्य भाव से अविचलित भक्ति, एकान्त देश का सेवन, और जन समुदाय से विरत होजाना।"

ऊपर कहे हुए गुणों में जब पुत्र, दार, गृहादि सभी से स्नेह हटाने का आदेश

है तो फिर स्नेह का पात्र कौन हो यह बतलाना भी आवश्यक हुआ। उसके लिए भगवान् में ही भक्तिरूप स्नेह होना चाहिए। यही यहाँ कहा गया। यहाँ अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति का यही अभिप्राय है कि भगवान् में पूर्ण रूप से मन को लगा देना चाहिए तथा अन्य सभी स्थानों से उसे हटा लेना चाहिए। एकान्त स्थान का सेवन भी चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए परमावश्यक है। परन्तु एकान्त में रहने पर भी यदि विषयों का निरन्तर चिन्तन चलता रहेगा तो वह एकान्त सेवन नितान्त व्यर्थ होगा। इसलिए आगे भगवान् ने जन समुदाय में अरति होना भी आवश्यक बतलाया।

"नित्य ही आत्म ज्ञान में रत रहना, तत्त्व ज्ञान के अर्थ का दर्शन करना, यही ज्ञान है, इससे विपरीत जो कुछ है, वह अज्ञान है"।

श्रीशंकराचार्य ने तत्त्वज्ञानार्थ का अर्थ मोक्ष किया है। तत्त्व ज्ञान का फल मोक्ष ही है। श्रीरामानुजाचार्य ने ज्ञान का अर्थ ज्ञान साधन किया है, यह ज्ञान हो जाने पर आध्यात्म ज्ञान होता है। अतः यह ज्ञान का साधन हुआ।

# षष्ठ-पुष्प

## ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते
## अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते ।।१२।।

"जो ज्ञेय है जिसको जानकर अमृतत्व की प्राप्ति होती है उसे कहूँगा, परम ब्रह्म अनादि है, वह न सत् है और न असत् ही कहा जाता है।"

श्रीशंकराचार्य इस पद्य के भाष्य की अवतरणिका में यह प्रश्न उठाते हैं कि उपर्युक्त ज्ञान के साधनों से ज्ञातव्य क्या है; उसी का यह उत्तर है कि ब्रह्म ही उससे ज्ञातव्य है, फिर प्रश्न होगा कि जिस विषय का ज्ञान होता है वह उस विषय का ज्ञापक हुआ करता है, यहाँ अमानित्व आदि का जो ज्ञान बतलाया गया वह तो ब्रह्म विषयक ज्ञान है नहीं, तब अमानित्व आदि के ज्ञान से ब्रह्म ज्ञेय कैसे होगा ? घट के ज्ञान का विषय अग्नि कैसे हो जायगा ? इसका उत्तर यही है कि ये सब ज्ञान के साधन हैं, ज्ञान के साधनों को भी ज्ञान कहा जा सकता है, उस साधन भूत ज्ञान से साध्य भूत जो ज्ञान है, जिसे प्रस्तुत पद्य में ज्ञेय कहा गया है, वह परब्रह्म का ही ज्ञान है। उस परब्रह्म के ज्ञान का फल क्या होगा इस जिज्ञासा को मिटाने के लिए ज्ञाता के अमृतत्व का प्ररोचना के लिए कथन किया गया है। किसी प्राचीन व्याख्या में 'अनादि' पद को अलग और 'मत्परम्' को अलग करके वासुदेव जो भगवान् हैं तत्परक ब्रह्म है ऐसा अर्थ किया गया था, इसका कारण यह था कि 'अनादि' पद में बहुव्रीहि समास के द्वारा ही 'अनादिमत्' का स्वतः बोध हो जाता है, तब बहुव्रीहि समास वाले अनादि शब्द के अनन्तर 'मतुप्' प्रत्यय जोड़कर 'अनादिमत्' बनाने से पुनरुक्ति दोष होगा, इस दोष को दूर करने के लिए 'अनादि' को पृथक् पद बनाकर और 'मत्परम्' को अलग करके उपर्युक्त अर्थ किया गया था, परन्तु श्रीशंकराचार्य ने उक्त व्याख्या का खण्डन करते हुए लिखा है कि ऐसी व्याख्या पुनरुक्ति दोष को हटाने के लिए तभी स्वीकार की जा सकती है यदि उससे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाती, परन्तु उक्त व्याख्या से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि 'मत्परम्' इसे ब्रह्म का विशेषण ही बनाना होगा और ब्रह्म को किसी परिच्छेदक विशेषण से विशिष्ट बनाना अभिमत नहीं है। इसलिए समान ही अर्थ के रहते हुए 'मतुप्' का प्रयोग यहां श्री शंकराचार्य ने श्लोकपूर्ति के लिए माना है। इस प्रकार अमृत होने की प्ररोचना से अर्जुन को उन्मुख करके, वह ज्ञेय ब्रह्म न सत् है और न असत् है ऐसा भगवान् ने कहा है। एक तरफ तो उसे बहुत स्पष्ट शब्दों में ज्ञेय कहा, और दूसरी ओर न वह सत् है और न असत् है ऐसा कह दिया, संसार में जो भी कुछ ज्ञेय है वह सत् या असत् दोनों में से कुछ नहीं है, ऐसा कहना तो

विरुद्ध कथन होगा। इसका उत्तर है कि सभी उपनिषदों में ब्रह्म को बतलाने की यही शैली रही है–'नेति-नेति' 'अस्थूलं अनणु' इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में निषेध मुखेन ही ब्रह्म का परिचय दिया जाता है। गीता उपनिषदों का ही सार कथन है और सर्वजगत्कारण ब्रह्म को सत्ता, असत्ता या किसी गुणादि के आधार पर बतलाया भी नहीं जा सकता, इसीलिए गीता में भी यही उपक्रम किया गया है।

ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका 'अस्ति' शब्द से व्यवहार न होता हो, जिसका 'अस्ति' शब्द से व्यवहार नहीं होता या हो सकता वह वस्तु नहीं है; यही कहना पड़ेगा। वह ज्ञेय भी है और असत् भी है यह तो विप्रतिषिद्ध कथन है। इसका उत्तर यह है कि वह नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह नास्ति बुद्धि का विषय ही नहीं है। फिर प्रश्न होगा जितना भी ज्ञान है वह या तो अस्ति बुद्धि का विषय है या फिर 'नास्ति' बुद्धि का विषय है, इसका उत्तर है कि 'अस्ति', 'नास्ति' बुद्धि के विषय वे ही पदार्थ होते हैं जो इन्द्रियों से गृहीत हो सकें, जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं वे 'अस्ति' 'नास्ति' दोनों ही बुद्धियों के विषय नहीं हो सकते। सत्ता और असत्ता दोनों का निषेध ब्रह्म की अतीन्द्रियता बोधन के लिए ही है। अपने उसी रूप में वह विज्ञेय होता है। सभी जाति, क्रिया और गुणों के सम्बन्ध से उनका अर्थ समझते हैं। 'गो, अश्व' इत्यादि शब्दों द्वारा जाति का बोध होता है। 'पचति, पठति' आदि शब्दों से क्रिया का बोध होता है, शुक्लकृष्ण आदि शब्दों से गुणों का तथा धनी, गोमान् आदि शब्दों से सम्बन्ध का बोध होता है। ब्रह्म में जाति न होने से वह सत् आदि शब्दों से नहीं कहा जाता है, निर्गुण तथा निष्क्रिय होने से गुण शब्द या क्रिया शब्द भी उसे बोधित नहीं कर सकते, अद्वितीय होने के कारण वह सम्बन्ध के वाचक शब्दों से भी बोधित नहीं हो सकता। अन्ततः यह वाणी का विषय ही नहीं यही '**यतो वाचो निवर्तन्ते**' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा भी कहा गया है। यह श्री शंकराचार्य के अनुसार प्रस्तुत पद्य की व्याख्या हुई।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने लिखा है कि जब ब्रह्म किसी भी प्रकार के शब्द से बोधित हो ही नहीं सकता तो उसके बोधन का उपक्रम ही कैसे किया जाता है ? इसका उत्तर वे देते हैं कि वेदान्त सूत्र है '**शास्त्रयोनित्वात्**' अन्य शब्दों से उसका बोध नहीं हो सकता, शास्त्र से ही उसका ज्ञान हुआ करता है। शास्त्र भी तो अन्ततः शब्द रूप ही है और शब्दों में उसके बोधन करने की योग्यता नहीं है। इसका उत्तर भी वे यही देते हैं कि शास्त्र के शब्द भी इदमित्थं रूप से ब्रह्म का बोध नहीं करा सकते। किसी प्रकार लक्षणा आदि से उसका बोध कराते हैं। उनके कहने का प्रकार भी '**आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्**' कोई इसे आश्चर्य की तरह देखता है, इत्यादि है।

श्रीनीलकण्ठ ने '**अनादिमत्**' शब्द पर पूर्वोक्त शंका उठाकर उसका समाधान

दूसरे प्रकार से कर दिया है कि अव्यक्त आदि भी प्रवाह नित्य है। इसी बात का बोधनकरने के लिए अनादि के साथ 'मतुप्' प्रत्यय और जोड़ा गया है, यह उनका आशय है।

एक व्याख्यामें 'मत्परम्' पद को काट कर 'मत्तः' अर्थात् मुझ सगुण ब्रह्म से वह पर है ऐसा माना है।

श्रीरामानुजाचार्य **'मत्परम्'** का अर्थ **'अहं परो यस्य तत'** 'मैं' पर, जिसका ऐसा अर्थ मान कर परा प्रकृति रूप जीव जो उनके सिद्धान्त में भगवान् का शरीर है उसको ग्रहण करते हैं। 'वह न सत् है, न असत्' इसका अर्थ वे करते हैं कि सत् और असत् शब्द से कार्यों और कारणों का निर्देश किया जाता है, ब्रह्म कार्यों और कारणों से अतीत है। अतः वह सत् और असत् दोनों से विलक्षण है। यद्यपि **'असद्वा इदमग्र आसीत्'** आदि श्रुतियों में ब्रह्म को कारण रूप में कहा गया है तथापि वह ब्रह्म की विशुद्ध अवस्था नहीं, कर्म बन्धन के द्वारा ही ब्रह्म कारणता बनती है। अपने स्वरूप में तो वह सर्वकार्यकारणातीत ही है।

श्रीवल्लभाचार्यमतावलम्बिनी व्याख्यान में 'न सत् और न असत्, का अर्थ लगाया गया है कि ब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आश्रय है।

श्रीशंकरानन्द ने यहां यह प्रश्न उठाया है कि उपक्रम तो किया गया था क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विवेचन का। क्षेत्र का निरूपण कर देने के उपरान्त क्षेत्रज्ञ का विवेचन प्रकरण प्राप्त था उसे छोड़कर ब्रह्म का विवेचन क्यों प्रारम्भ किया गया ? इसका उत्तर यही है कि क्षेत्रज्ञ का विवेचन और ब्रह्म का विवेचन एक ही है। क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म एक ही हैं, यह अद्वैत वाद ही गीता का अभिमत है और इसीलिए क्षेत्रज्ञ के प्रकरण में यहां ब्रह्म का स्वरूप कथन सुसंगत हो जाता है।

अब यह प्रश्न रह जाता है कि ब्रह्म को तो सर्वत्र विज्ञाता कहा जाता है। **'विज्ञातारम् केन विजानीयात्'** अर्थात् जो विज्ञाता है, जानने वाला है उसे किससे जाना जायगा ? आंख से मनुष्य सब कुछ देखता है, परन्तु अपनी आंख को कभी नहीं देख पाता। शीशे आदि में आँख नहीं उसका प्रतिबिंब दिखाई देता है। इसी प्रकार जो ज्ञाता है, वह ज्ञेय कैसे बनेगा, परब्रह्म तो सर्वत्र ज्ञाता ही माना गया है, तब यहां गीता में भगवान् ने ब्रह्म को ज्ञेय कैसे कहा ? उसका उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म ज्ञाता है, वह ज्ञेय नहीं होता; स्वरूपतः उसे नहीं जाना जा सकता, परन्तु जैसे हम आंख को बिना देखे भी वर्णन से आंख का थोड़ा बहुत आभास पा लेते हैं, यद्यपि उससे विस्पष्ट ज्ञान नहीं आभास मात्र होता है उसी प्रकार ब्रह्म का भी स्वरूपतः इदमित्थंभावेन परिचय कथमपि नहीं दिया जा सकता क्योंकि वह ज्ञाता है, परन्तु निषेध मुखेन उसकी झलक हमें शास्त्रों के द्वारा मिल जाया करती है।

# सप्तम-पुष्प

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१३।।
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१४।।
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१५।।
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।१६।।
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ।।१७।।
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।१८।।

"वह ब्रह्म सब ओर हाथ और पैर वाला है, सब ओर आँख और ग्रीवा रखता है, सब ओर उसके कान हैं और वह सबको आवृत करके स्थित है।"

'ब्रह्म सत् शब्द से ज्ञातव्य नहीं ऐसा ऊपर कहा गया है, इससे यह शङ्का न हो कि वह वास्तव में 'असत्' है, कुछ नहीं है, इसी शङ्का को निवृत्त करने के लिए उसमें सामान्य प्राणियों के से अङ्गों का विवरण यहाँ दिया गया है। सारे प्राणियों की इन्द्रियाणि उपाधियों से क्षेत्रज्ञ के अस्तित्व का निश्चय हो जाता है। क्षेत्ररूपी उपाधि के कारण ही 'ब्रह्म' को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है, वह क्षेत्र अनन्त पाणि-पाद वाला है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। क्षेत्र ही उपाधि के कारण जो विशेषतायें क्षेत्रज्ञ में प्राप्त होती हैं, वे मिथ्या हैं। इसीलिए पहिले 'न सत् है, और न असत्' यह कहा गया है। उपाधि रूप मिथ्या धर्म भी ज्ञेय ब्रह्म के से धर्म वाला हो जाता है। अतः उसका भी सद्रूप से यहाँ कथन किया गया है। अध्यारोप और अपवाद से प्रपञ्चशून्य ब्रह्म को समझाने की वेदान्तादि दर्शनों की प्रक्रिया है। ब्रह्म के अस्तित्व के सूचक रूप में यहाँ सब ओर हाथ, पैर ब्रह्म के बतलाए गए हैं। वस्तुतः सूचक होने पर भी जो इनको यहाँ ब्रह्म रूप ही कह दिया गया है, यह औपचारिक कथन है। यह प्रस्तुत पद्य पर श्री शंकराचार्य का आशय है।

श्री नीलकण्ठ लिखते हैं कि प्रारम्भ में क्षेत्रज्ञ के विषय में उसका स्वरूप और उसके प्रभाव को बतलाने की प्रतिज्ञा की गई है, उसी के अनुसार पूर्व पद्य में उसका अशेष विशेष-शून्य स्वरूप बतला दिया गया और अब प्रस्तुत पद्यावली के द्वारा उसके प्रभावों का कथन किया जा रहा है। यह प्रभाव उसके विश्वरूप के प्रतिपादन के रूप में कहा जा रहा है। उन्होंने श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए यहाँ यह कहा है कि पाणि, पाद आदि उपाधियाँ जब मिथ्या हैं, तब मिथ्या उपाधियों को पहिले ब्रह्म रूप समझना और फिर उन सबसे ब्रह्म बुद्धि हटाना, पहिले कीचड़ से अपने को लिप्त करके फिर उसके प्रक्षालन का प्रयत्न करने के समान है, इससे तो अच्छा यही है कि उपाधि विनिर्मुक्त ब्रह्म का ही स्वरूप समझा जाय। इसका उत्तर उन्होंने यही दिया है कि उपाधि-परिच्छिन्न ब्रह्म के परिज्ञान के बिना विशुद्ध ब्रह्म का ज्ञान संभव नहीं है। सोपाधिक ब्रह्म का ज्ञान विशुद्ध ब्रह्म के ज्ञान का उपायभूत है। वह शाखाचन्द्रन्याय के समान है।

श्री रामानुजाचार्य ने सर्वत: पाणिपादं आदि का तत्तत् अंगों के न रहने पर भी उन सबकी शक्ति रखने वाला ब्रह्म है ऐसा अर्थ किया है। ब्रह्म देश-काल के परिच्छेद के बिना ही सबका आवरण करता है, जीव भी ब्रह्म के ही समान होने से ब्रह्म की शक्तियाँ उसमें वैसे ही हैं।

तत्त्व-प्रकाशिका में भी यही अर्थ किया गया है कि इन्द्रियों से रहित होता हुआ भी ब्रह्म सभी इन्द्रियों की शक्तियों से सम्पन्न है।

पद्य में सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की गणना नहीं की गई है, अत: पाणि-पाद समस्त कर्मेन्द्रियों के और नेत्र और श्रुति (कान) समस्त ज्ञानेन्द्रियों के उपलक्षण हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में जो भी कुछ शक्ति है वह ब्रह्म की ही है, अथवा ब्रह्म में इन इन्द्रियों के न रहने पर भी इनकी सारी शक्तियाँ विद्यमान हैं। ये दोनों प्रकार की व्याख्याएँ संगत हो जाती हैं।

भाष्योत्कर्ष दीपिका में रथ का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार रथ के जड़ होने से बिना चेतन के रथ में गति नहीं होती, वैसे ही इन्द्रिय समूह के जड़ होने से चेतन ब्रह्म की सहायता के बिना उसमें कोई गति नहीं हो सकती। इन्द्रियों को शक्ति चेतन ब्रह्म से ही मिलती है। इसीलिए औपधिक या औपचारिक रूप से श्रुतियों में और गीता में भी ब्रह्म को अनन्त इन्द्रियों वाला कह दिया गया है।

परमार्थप्रपा में यह श्रुति उद्धृत करके उसकी व्याख्या करते हुए प्रस्तुत पद्य की समानता बतलाई गई है कि–

**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखा विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।**
**सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।**

इससे यही तात्पर्य निकला कि इन्द्रियों के स्वरूप बिना रहे भी ब्रह्म में सम्पूर्ण चराचर के उत्पादन का सामर्थ्य है।

"वह ब्रह्म सभी इन्द्रियों के गुणों का आभास रखता है, वह सभी इन्द्रियों से विवर्जित है, आसक्ति से शून्य वह सबका भरण करने वाला है, वह निर्गुण होता हुआ गुणों का भोक्ता है।"

पूर्व पद्य में ब्रह्म को सभी ओर सभी इन्द्रियों से युक्त बतलाया गया है, वह ब्रह्म का औपाधिक वर्णन है, उससे कहीं ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप की आशङ्का न हो जाय। अतः यहाँ प्रस्तुत पद्य का आरम्भ है, ऐसा श्री शंकराचार्य का आशय है। इन्द्रियों के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं, उन सबका उसमें आभास है। श्री शंकराचार्य ने यहाँ अन्तःकरण के मन, बुद्धि आदि के गुणों का भी आभास उसमें है ऐसा अर्थ किया है। वह सभी इन्द्रियों के गुणों का आभास मात्र ही क्यों रखता है, उन गुणों में संसक्त क्यों नहीं है ? इसका उत्तर आगे दिया गया कि वह सभी इन्द्रियों से विवर्जित है। यदि इन्द्रियाँ वहाँ स्वरूपतः हों तब तो वह उन गुणों में व्यापृत हो। परन्तु वह सभी इन्द्रियों से विवर्जित है। अतः गुणों में व्यापृत होने का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। तब उन गुणों का आभास भी उसमें कैसे होगा इसका उत्तर है कि सभी इन्द्रियों की शक्तियाँ उसमें विद्यमान होने के कारण उन शक्तियों से सभी इन्द्रिय गुणों के आभास होने में कोई क्षति नहीं। 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' कथन से वह निःसङ्ग, कूटस्थ, चैतन्य रूप है ऐसा ध्वनित किया गया। यहाँ श्री शंकराचार्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि "**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता**" इत्यादि श्रुतियों में जो '**जवन**' आदि धर्म ब्रह्म में बतलाए गए हैं वे भी इसीलिए हैं कि इन गुणों की असाधारणता का ब्रह्म में बोध होने के कारण ब्रह्म की उपासना हो सकती है। पारमार्थिक दृष्टि से तो ब्रह्म में इनमें से कोई गुण, धर्म है ही नहीं। सभी इन्द्रियों से विवर्जित होने के कारण ही वह असक्त कहा गया है, परन्तु सबका भरण करने वाला भी वही बतलाया गया है, क्योंकि वही सद्रूप से सर्वत्र अवस्थित है। सत्ता ही सम्पूर्ण चराचर का भरण करने वाली है और वही ब्रह्म है। अतः 'सर्वभृत्त्व' उसमें सुसंगत हो जाता है।

श्री रामानुजाचार्य ने 'इन्द्रिय गुण' का अर्थ इन्द्रियों की वृत्तियाँ माना है, अर्थात् इन्द्रियों की वृत्तियों से भी वह व्यवहार के परिचालन में समर्थ है। साथ ही '**सर्वेन्द्रियविवर्जित**' होने का आशय वह लगाते हैं कि इन्द्रियों की वृत्तियों के बिना

भी वह सब कुछ जानता है, यह उसका विलक्षण सामर्थ्य प्रकट किया गया है। असक्त का अर्थ वे करते हैं कि ब्रह्म देव, मनुष्य आदि के देहों में असक्त है, परन्तु सर्वभृत् अर्थात् देवादि का भी भरण-पोषण करने वाला वही है। निर्गुण का अर्थ श्री शंकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य तथा अन्य व्याख्याकारों ने सत्व, रज, तम आदि गुणों से रहित ही किया है।

श्री नीलकण्ठ ने यहाँ कहा है कि पद्योक्त विशेषणों से ब्रह्म में किसी भी प्रकार की विचित्रता का प्रतिषेध है। देवताधिकरण में ब्रह्म सूत्रों में जिन देव आदि का विवरण है वे भी ब्रह्म के ज्ञान से बाधित हो जाता है। अत: वे भी पारमार्थिक रूप ब्रह्म नहीं कहे जा सकते। सर्वेन्द्रिय विवर्जित का व्याख्यान लिखते हुए कहते हैं कि ब्रह्म में ग्राह्य रूपादि और ग्राहक मन आदि नहीं हैं।

"**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्**" (कठोपनिषद)

**अप्राणो ह्यमना: शुभ्र:** (मु. उ.)

आदि वचनों से ब्रह्म के स्वरूप में किसी भी प्रपञ्च का कोई सम्बन्ध संभव नहीं है। ऐसा प्रपञ्चशून्य ब्रह्म को मान लेने पर "**सर्वं ब्रह्म**" सब कुछ ब्रह्म ही है इत्यादि शास्त्रीय वचन किस प्रकार संगत हो सकेंगे, ब्रह्म को ही सब कुछ कहने पर तो प्रपञ्च भी ब्रह्म के स्वरूप में ही स्वीकार करना पड़ेगा जिसका कि निषेध दिखाया जा चुका है, इसी का उत्तर देते हुए ब्रह्म के असक्त और 'सर्वभृत्' विशेषण दिए गए हैं। वह सबका भरण करने वाला है, अर्थात् समस्त प्रपंच का आधार है। प्रश्न यह है कि ब्रह्म के साथ सम्पूर्ण प्रपञ्च का जो आधाराधेय भाव है वह घट और उसके रूप के समान समवाय सम्बन्ध से है अथवा घट और भूतल के समान संयोग सम्बन्ध से है। इस प्रश्न का ही उत्तर देने के लिए 'असक्तम्' यह विशेषण है जिसका अभिप्राय है कि संसार में अनुभूयमान सम्बन्धों से पृथक् है। इस विशेषण से सभी सांसारिक सम्बन्धों का निषेध किया जाता है। यहाँ फिर प्रश्न होता है कि वह सबका भरण करनेवाला भी है और असक्त अर्थात् असम्बद्ध भी है। यह एक अलौकिक बात है, लोक में तो जो आधार बनता है उसका अपने आश्रित के साथ समवाय संयोग आदि सम्बन्ध अवश्य देखा जाता है, अत: ये दोनों बातें यहाँ लौकिक दृष्टि से परस्पर विरुद्ध मालूम होती हैं। इस प्रश्न का एक उत्तर तो यही है कि ब्रह्म में लौकिक दृष्टि से सम्बन्ध का घटित न होना भूषण ही है दूषण नहीं क्योंकि ब्रह्म तो अलौकिक है, उसके साथ लौकिक दृष्टान्त कैसे सुसंगत होंगे ? तब तो फिर सन्देह होगा कि ऐसी बात का विश्वास ही कैसे किया जाय। माना कि ब्रह्म का स्वरूप नितान्त अलौकिक है, परन्तु

उसके स्वरूप को समझने के लिए तो लौकिक उदाहरण ही आवश्यक होंगे क्योंकि उदाहरण एक देश में ही समानता रखते हैं, पूर्ण रूप से परिचय नहीं कराते, अतः ब्रह्म के सम्बन्ध में कोई अंश तो लोक सिद्ध होना चाहिए। इस पर श्री नीलकण्ठ ने मरु-मरीचिका का प्रसिद्ध दृष्टान्त उपस्थित कर दिया है कि रेगिस्तान में धूप के पड़ने से जो जल दिखाई देता है उस जल का आधार मरु प्रदेश ही है, परन्तु उस मरु-प्रदेश का उस दिखाई देने वाले जल से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि जिस पदार्थ की वास्तविक सत्ता हो उसी के दूसरे वास्तविक सत्ता रखने वाले पदार्थ से समवाय संयोग आदि सम्बन्ध कहे जा सकते हैं, यहाँ मरु-मरीचिका में प्रतीत होने वाले जल की वास्तविक सत्ता ही नहीं है, तब नितान्त अविद्यमान जल से मरु प्रदेश का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? फलतः आधारता के ग्रहण कर लेने के उपरान्त भी किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को यहां अस्वीकार ही करना पड़ेगा। वही स्थिति यहाँ ब्रह्म के विषय में भी समझनी चाहिए। ब्रह्म के आधार पर अवस्थित समस्त चराचर प्रपञ्च की वास्तव में सत्ता ही नहीं है, और इसीलिए सारे प्रपञ्च का आधार होता हुआ भी वह ब्रह्म प्रपञ्च से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता, यही यहाँ असक्त और सर्वभृत् विशेषणों का आशय है। फिर प्रश्न होता है कि इस प्रकार संसार को मरु-मरीचिका के समान मान लेने पर तो संसार सर्वथा असत्य हो जायगा और कर्तव्य, कर्म और उपासना की शास्त्र विधियाँ भी निरर्थक हो जायँगी, संसार को सत्य समझ कर ही कर्म और उपासना को अवसर मिलता है, जब संसार ही सत्य नहीं रहा तब कर्म और उपासना के प्रतिपादन सभी शास्त्रीय वचन भी सर्वथा निरर्थक हो जायँगे। शास्त्रों के वचनों का निरर्थक हो जाना तो भगवान् को भी अभिमत नहीं, क्योंकि आगे कार्य और अकार्य की व्यवस्थिति में भगवान् ने शास्त्र को ही प्रमाण मानने की बात कही है, तब इसका उत्तर यही होगा कि संसार के मिथ्यात्व का जब तक ब्रह्म के ज्ञान से बाध नहीं हो जाता दूसरे शब्दों में जब तक ब्रह्म का ज्ञान संसार के ज्ञान को बाधित नहीं कर देता तब तक समस्त शास्त्रों के वचनों की सार्थकता बनी हुई है, इस बात को पूर्व के श्लोकों के प्रवचनों में भी यथा स्थान स्पष्ट किया जा चुका है। जैसे सरोवरादि के जल में प्रतिबिम्बित सूर्य बिम्ब में हलचल होती है, वह बिम्बभूत सूर्य में नहीं उसके प्रतिबिम्ब में ही है। उसी प्रकार चिदाभास गुणों का आलम्बन होने के कारण गुणों का भोक्ता सा है, परन्तु बिम्ब की दृष्टि से तो वह निर्गुण ही कहा जाता है।

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि ब्रह्म स्वरूपतः सर्वेन्द्रियविवर्जित असक्त और निर्गुण होते हुए भी माया से सर्वेन्द्रिय गुणाभास, सर्वभृत् और गुणों का भोक्ता बन जाता है या वैसा प्रतीत होने लगता है।

श्री शंकरानन्द ने लिखा है कि जैसे कमल प्रात:काल स्वयं ही विकसित होता है परन्तु कमल के विकास का कर्तृत्व हम सूर्य पर आरोपित कर देते हैं कि सूर्य ने कमलों को खिला दिया, सूर्य का प्रकाश सर्वत्र ही फैलता है, कमलों में जो सूर्य का प्रकाश फैलता है उसमें तथा उससे अन्यत्र फैलनेवाले सूर्य के प्रकाश में कोई भेद नहीं है, यह बात नहीं है कि कमलों पर सूर्य उनको खिलाने के उद्देश्य से अपना प्रकाश फैलाता हो, परन्तु सूर्य के प्रकाश के किसी विशेष प्रयोजन के न रहने पर भी हम यह बात उस पर आरोपित कर देते हैं कि सूर्य ने कमलों को खिला दिया। वैसे ही ब्रह्म किसी के उद्देश्य से चेतन नहीं है, परन्तु हम इन्द्रियादि उपाधियों में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखकर ब्रह्म को शरीरधर्मा मान लेते हैं उसे गुणों का भोक्ता आदि समझने लगते हैं, वस्तुत: तो वह असंग है। '**सर्वत: पाणिपादं**' आदि जो पहिले कहा गया था वह ब्रह्म के स्वरूपाधिगम के लिए नहीं अपितु उसकी सत्ता के ज्ञान के लिए ही था। प्रपञ्च में सर्वत्र सत्ता और चेतना के अन्वित देखे जाने से ही ब्रह्म का '**सर्वभृत्**' होना सिद्ध है।

वल्लभ-सिद्धान्तानुसारिणी व्याख्या में कहा गया है कि '**सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**' पद से लौकिक इन्द्रियादि का ब्रह्म के स्वरूप में निषेध है, परन्तु '**सर्वेन्द्रियगुणाभास**' शब्द से दिव्य इन्द्रियादि ब्रह्म के स्वरूपान्तर्गत हैं ऐसा आशय है। निर्गुण कह देने से जब ब्रह्म ही निर्गुण है तब गुणों की स्थिति ही नितान्त व्यर्थ हो जायगी, भोक्ता के सम्बन्ध के अभाव में भोग्य की स्थिति ही निरर्थक हो जाती है, उसी का उत्तर है कि स्वरूपत: निर्गुण होते हुए भी गुणों से वह अपना भोक्तृत्व सम्बन्ध अवश्य रखे हुए हैं।

"वह भूतों के बाहर और भीतर अवस्थित है, वह अचर और चर है, सूक्ष्म होने के कारण वह ज्ञातव्य नहीं है, वह दूर भी है और समीप में भी अवस्थित है"। (१५)

श्री शंकराचार्य ने शरीर को लक्ष्य करके यह श्लोक लगाया है कि शरीर में त्वचा पर्यन्त को बाहर और चिदाभास को अन्तर् या भीतर कहा गया है। बाहर और भीतर कहने में मध्य में ब्रह्म का अभाव न समझ लिया जाय, अत: उसे अचर और चर भी कहा गया है, इससे देहाभास आदि का भी बोध हो जाता है। फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ब्रह्म चर और अचर है तब तो वह व्यवहार का विषय होने से सभी के लिए विज्ञेय भी है, जो व्यावहारिक वस्तु है उसे तो सभी जानते हैं तथा व्यवहार की सभी वस्तुएँ या तो चर हैं या अचर हैं। चर का अर्थ जंगम या चलनशील होता है, जिसमें क्रिया शीलता हो वह चर कहलाता है और जिसमें क्रिया शीलता का

अभाव हो वह अचर या स्थावर कहा जाता है। स्थावर और जंगम पदार्थों के आधार पर ही विश्व का सम्पूर्ण व्यवहार चल रहा है। जब ब्रह्म को ही चर और अचर या स्थावर जंगम स्वरूप मान लिया तो ब्रह्म सभी के प्रतिक्षण व्यवहार का विषय बन गया, फिर उसे कौन नहीं जानता, जब चराचरात्मक होने के कारण वह सभी को ज्ञात है तब वह अविज्ञेय कहाँ रहा कि उसको एक अत्यन्त रहस्य का विषय बना कर शास्त्रों की गंभीर चर्चा का विषय बनाया जाय। इसी के उत्तर में आगे कहा गया कि यद्यपि वह चराचर स्वरूप है परन्तु ये सभी उसकी उपाधियाँ हैं, वह इन सबका विधारक है, तब वह विधारकत्वेन इनसे पृथक् उपलब्ध क्यों नहीं होता, इसी का उत्तर है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से अविज्ञेय रहता है। यहाँ सूक्ष्म का अर्थ है इन्द्रियों की पहुँच के बाहर होना। वर्तमान में यह भी प्रश्न किया जाता है कि विज्ञान के द्वारा आविष्कृत बड़े-बड़े यन्त्रों से अतीन्द्रिय पदार्थों का भी ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है। हम अपने नेत्रों से छोटे होने के कारण जिन चीजों को कथमपि नहीं देख सकते ऐसी वस्तुएँ भी यन्त्रों की सहायता से अनायास देख लेते हैं। शरीर के जिन अत्यन्त आवृत कीटाणुओं को आँखों से कभी देखा ही नहीं जा सकता उनको भी एक्सरे करके यन्त्र द्वारा देखा जा रहा है और उनका उपचार भी किया जा रहा है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि आज ऐसी कोई भी सूक्ष्म से सूक्ष्म भी वस्तु बाकी नहीं रह गई जो कि वैज्ञानिक यन्त्रों से न जानी जा सके। यदि ब्रह्म या आत्मा भी शरीर के भीतर कोई होता तो वह भी अवश्य ही यन्त्रों के द्वारा जाना जा सकता था। वह सूक्ष्म होने से ही नहीं जाना जाता यह बात उस युग में तो मानी जाने योग्य हो सकती थी जब वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था, परन्तु आज यान्त्रिक प्रक्रिया के इस मध्याह्न काल में भी किसी वस्तु को सूक्ष्म कहकर अविज्ञेय कहना एक उपहासास्पद कथन है। विज्ञान वेत्ताओं के परोक्ष सत्ता पर इस आक्रमण का उत्तर दार्शनिकों के यहाँ बड़ा सरल है कि सूक्ष्म की वह परिभाषा ही नहीं जो आप कर रहे हैं। आप तो उसे सूक्ष्म कह रहे हैं जो सामान्यत: हमारी इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं हो पाता परन्तु यन्त्र आदि साधनों से जिसे देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में देखा जाने की योग्यता तो उसमें अवश्य है परन्तु आवरणों के कारण और छोटाई के कारण वह देखने में नहीं आता उसे ही आप सूक्ष्म कह रहे हैं। परन्तु प्रस्तुत पद्य में ब्रह्म को सूक्ष्म कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह आवरणों से आवृत होने से दुर्ज्ञेय होने के कारण अथवा बहुत छोटा अणु होने के कारण सूक्ष्म है। यहाँ सूक्ष्म कहने का अभिप्राय उसके अतीन्द्रिय या इन्द्रियों की परिधि से बाहर होने से है। जिस पदार्थ में इन्द्रियों से विज्ञात होने की योग्यता है उन्हीं पदार्थों को यन्त्र आदि की सहायता से देखा जा सकता है

परन्तु जिसमें इन्द्रियों से दिखलाई देने की योग्यता ही नहीं अथवा जो इन्द्रियों की पहुँच के बिलकुल बाहर है उसे यन्त्र कैसे दिखला सकते हैं। अत: ब्रह्म की अविज्ञेयता में जो यहाँ सूक्ष्मता को हेतु बनाया है वह बिलकुल ठीक है। तब तो इसका यह अर्थ हुआ कि वह कभी जाना ही नहीं जा सकता, क्योंकि ज्ञान का साधन तो इन्द्रियाँ ही हैं और वह इन्द्रियों की पहुँच के बाहर है। इसका उत्तर यह है कि वह अविद्वानों के लिए ही दूरस्थ होने के कारण अविज्ञेय है परन्तु जो विद्वान् हैं, शास्त्रों के मर्म के ज्ञाता हैं, उनके लिए तो आत्मस्वरूप होने के कारण वह सर्वदा ही विज्ञेय है क्योंकि वह तो उनका आत्मा होने के कारण अन्तिक अर्थात् अत्यन्त समीप में अवस्थित है। बिना जाने तो अत्यन्त पास की वस्तु भी सैकड़ों योजन की दूरी पर स्थित वस्तु के समान ही अलभ्य है, परन्तु जब वह वस्तु ज्ञात हो गई तो उसके सन्निकट फिर और कुछ भी नहीं रह जाता है। हाँ, इस बात का ज्ञान शास्त्रों से होता है, उन शास्त्रों के रहस्यों को यथावत् समझने वालों को श्रीशंकराचार्य ने यहाँ विद्वान् कहा है और न समझने वालों को अविद्वान् कहा है।

श्री नीलकण्ठ ने सूक्ष्मता से अविज्ञेय होने में स्फटिक और जपा कुसुम का दृष्टान्त दिया है। स्फटिक मणि स्वभावत: श्वेत होता है परन्तु जपा कुसुम के सान्निध्य से वह लाल प्रतीत होने लगता है। जो विद्वान् हैं वह तो यह समझ जाते हैं कि यह रक्तिमा स्फटिक की नहीं पुष्प की है, परन्तु जो अविद्वान् हैं उनकी दृष्टि में सूक्ष्मता के कारण यह बात नहीं आती।

दूरस्थ और अन्तिकस्थ में श्री नीलकण्ठ ने सूर्य के बिम्ब और जल में उसके प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिया है। अन्य टीकाओं में यहाँ इसी बात को समझाने के लिए तप्त लोह पिण्ड, सुवर्ण कटक कुण्डल, जल और तरङ्ग आदि के उदाहरण दिए गए हैं।

"वह भूतों में अविभक्त और विभक्त होकर स्थित है, वह भूतों का धारण करने वाला है वह उनका विलय तथा उत्पादन भी करता है।"

समस्त कार्य-कारण-संघातरूप भूतों में आकाश की तरह वह अविभक्त रूप से स्थित है, जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलों में प्रतिबिम्बित होता है वैसे एक ही ब्रह्म के प्रतिबिम्बित रूप समस्त जीव हैं। प्रत्येक देह के भिन्न होने के कारण वह प्रतिबिम्बित ब्रह्म विभिन्न की तरह प्रतीत हो रहा है। यदि जल चन्द्र का दृष्टान्त ब्रह्म के लिए उपस्थित किया जाता है तब तो चन्द्रमा से जल पात्र सरोवरादि पृथक् हैं अत: ब्रह्म से भी शरीरादि को पृथक् मानना होगा उसका उत्तर है कि वही भूतों का भर्ता

है, वह अधिष्ठाता के रूप में सभी भूतों को धारण कर रहा है अतः उसी की सत्ता से सभी सत्तावान् हैं उससे पृथक् कुछ नहीं है। रज्जु में अध्यस्त सर्प का आधार जिस प्रकार रज्जु ही है, रज्जु से पृथक् सर्प की कोई सत्ता नहीं वैसे ही आधार भूत ब्रह्म से पृथक् प्रपञ्च की भी कोई पृथक् सत्ता नहीं। वह ग्रसिष्णु है, इसका तात्पर्य है कि जैसे रज्जु का ज्ञान सर्प आदि को ग्रस लेता है, वैसे ही ब्रह्म का ज्ञान प्रपञ्च को ग्रस लेता है, और प्रभविष्णु का अर्थ भी इसी प्रकार है कि अज्ञानावस्था में जैसे रज्जु सर्प आदि को उत्पन्न कर देती है वैसे ही ब्रह्म भी समस्त प्रपञ्च को उत्पन्न कर देता है।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने प्रत्येक देह में पृथक् पृथक् आत्मा को मानने वालों के उत्तर के रूप में 'अविभक्तम्' पद को माना है कि आकाश की तरह वह ब्रह्म सर्वत्र एक ही है परन्तु उपाधि भेद से जिस प्रकार आकाश पृथक् पृथक् प्रतीत होता है उसी प्रकार अविभक्त ब्रह्म भी उपाधि भेद से पृथक् पृथक् सा अवभासित हो रहा है। यह क्षेत्रज्ञ के स्वरूप के प्रसंग में कहे जाने के कारण ऐसा न माना जाय कि क्षेत्रज्ञ भले ही एक हो परन्तु सर्वजगत्कारणभूत ब्रह्म को पृथक् पृथक् क्यों न मानें, इसी का उत्तर श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'भूतभर्तृ' पद से मानकर कहा है कि ब्रह्म और क्षेत्रज्ञ में अभेद है, दोनों एक ही हैं।

श्री शंकराचार्य ने यहाँ पूर्व-पक्ष उठाया है कि पूर्व पद्य में जो अचर और चर ब्रह्म को बतलाया गया है वह असंगत प्रतीत होता है। चर को तो ब्रह्म कहा जा सकता है अचर को नहीं, क्योंकि चेतना जो ब्रह्म का स्वरूप है, वह चर या जंगम पदार्थों में ही है अचर पदार्थों में नहीं, अतः केवल चर पदार्थों में ही रहने के कारण या तद्रूप होने से ब्रह्म परिच्छिन्न है वह अपरिच्छिन्न नहीं। इसी का उत्तर अविभक्त पद से माना है कि चराचर में व्यापक ब्रह्म की सत्ता की उपलब्धि निर्मल अन्तःकरण में ही हो सकती है, जैसे सर्वत्र अवस्थित आकाश का प्रतिबिम्ब निर्मल जल में पड़ता है, जैसे दूरस्थ अग्नि से प्रज्वलित हो उठने की क्षमता केवल सूर्यकान्त मणि में ही होती है, जैसे रूप के सर्वत्र अवस्थित होने पर भी केवल आंखों से ही रूप का ग्रहण संभव होता है उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल अन्तःकरण में ही चराचरावस्थित ब्रह्म के जानने की शक्ति है सभी में नहीं। स्थल में आकाश का प्रतिबिम्ब न गिरने से आकाश के व्यापकत्व में कोई न्यूनता नहीं आ सकती वैसे ही मलिन अन्तःकरण वाले जीवों को यदि सर्वत्रावस्थित ब्रह्म के एकत्व की उपलब्धि नहीं होती केवल चर पदार्थों में स्पष्ट चेतना के प्रतीत होने से केवल वहीं उन्हें ब्रह्म का भान होता है तो एतावता ब्रह्म परिच्छिन्न नहीं हो सकता इसी बात को यहाँ अविभक्त पद से कह कर जो उसके अखण्डत्व को नहीं समझ पाते उनके लिए 'विभक्तमिव' भी कह दिया गया है।

श्री रामानुजाचार्य यहाँ कहते हैं कि देव मनुष्य आदि भूतों में सर्वत्र स्थित आत्मा ज्ञाता के रूप में एकाकार होने से अविभक्त है। जो अविद्वान् हैं वे 'यह देव है यह मनुष्य है' इस प्रकार आत्मा को विभक्त समझते हैं अतः उनके लिए कहा गया है कि वह विभक्त की तरह मालूम होता है। वह भूतों का भर्ता है यह कहने का अभिप्राय भी क्षेत्र से उसे पृथक् सिद्ध करना ही है। ग्रसिष्णु का अर्थ अन्नादि को खाने वाला है इससे भी अन्नादि से उसकी पृथक्ता सिद्ध की गई है। इन सभी से वह क्षेत्र से पृथक् है यह दिखलाया है।

श्री वल्लभाचार्य की तत्वदीपिका के अनुसार इस पद्य में ब्रह्म का सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण होना बतलाया गया है।

"वह ज्योतियों की भी ज्योति है, वह तम से परे है, वह ज्ञान है, ज्ञेय है, ज्ञान-गम्य है, वह सबके हृदय में प्रतिष्ठित है।

सूर्य, चन्द्र, दीपक, मणि आदि जो ज्योतिवाले पदार्थ हैं उनको भी प्रकाशित करने वाला ब्रह्म ही है। संसार में चार प्रकार के पदार्थ हैं, स्वज्योति, परज्योति, रूपज्योति और अज्योति। स्वज्योति का अर्थ है जिसे प्रकाश कहीं अन्यत्र से नहीं लेना जिसका अपना स्वरूप ही प्रकाशमय है, ऐसा ही सूर्य है। परज्योति का अर्थ है जिसे अन्यत्र से प्रकाश मिलता है और तब वह प्रकाशित होता है, चन्द्र आदि सूर्य से प्रकाश ग्रहण करके प्रकाशित होते हैं इसलिए ये परज्योति हैं। पृथ्वी आदि रूप-ज्योति हैं इनका अपना रूप ही दिखाई देता है, वायु, आकाश आदि अज्योति हैं। ये जितने ज्योति वाले पदार्थ हैं इन सबका प्रकाशक आत्मा या ब्रह्म ही है। इसके दो प्रकार के अर्थ हैं। एक तो यदि ज्योति का ग्रहण करने वाला न हो तो सभी ज्योतियां निरर्थक हैं अतः ज्योतियों का ग्राहक आत्मा ज्योति की भी ज्योति हुआ। दूसरा ज्योति वाले पदार्थों में भी ज्योतिरूप से वही अवस्थित है। श्री नीलकण्ठ ने अन्तर्ज्योति और बहिर्ज्योति कहकर अन्तर्ज्योति से बुद्धि आदि का और बहिर्ज्योति से सूर्य आदि का ग्रहण किया है। यहां यह प्रश्न होता है कि चन्द्रमा को प्रकाशित करने वाला सूर्य है यह ज्योतिष-शास्त्र में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार एक ज्योतिष्मान् जब दूसरे की ज्योति से प्रकाशित होता है तो प्रकाश देने वाला प्रकाश ग्रहण करने वाले ज्योति पिण्ड के समान ही प्रकाश फैलाने वाला होता है। सूर्य भी प्रकाश फैलाता है, चन्द्रमा भी। जब सूर्य प्रकाश फैलाता है तब उसी प्रकाश को चन्द्रमा लेता है। जब यहां ब्रह्म को सबका प्रकाश बतलाया गया तो वह भी इन ज्योति पिण्डों के समान ही प्रकाश फैलाने वाला होना चाहिए, परन्तु सूर्य चन्द्र, अग्नि आदि की तरह ब्रह्म को अपना प्रकाश फैलाते हुए कभी नहीं देखा जाता इसी का उत्तर आगे 'ज्ञान' शब्द से दिया गया है कि ब्रह्म भौतिक

ज्योति को नहीं फैलाता वह ज्ञानरूप ज्योति का प्रकाशक है, ज्ञानरूप ज्योति के अभाव में कोई भी ज्योति निष्फल ही रहती है इसीलिए उसे सभी ज्योतिष्मान् पदार्थों की ज्योति के रूप में यहां कहा गया है। वही ज्ञान ज्ञेय है अर्थात् वह ज्ञान आवरणों से आवृत होने के कारण अनायास ही नहीं जाना जा सकता अपितु विशेष प्रयत्न से ज्ञेय है। उसका ज्ञान कैसे होता है इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए आगे उसे ज्ञानगम्य बतलाया गया है। यहां ज्ञानगम्य के ज्ञान शब्द से अमानित्व अदम्भित्व आदि जो ज्ञान अभी बतलाया गया उसका ग्रहण है। उसी ज्ञान से यह परमज्योति ब्रह्म गृहीत होता है। तब क्या वह ज्योति कहीं बहुत दूर देशमें स्थित है या वह बहुत अधिक विशाल है अथवा उसमें वर्तमान भूत भविष्य आदि का कोई कालकृत भेद है इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आगे कहा गया कि वह सभी के हृदय में अवस्थित है। वह सबका आत्मरूप है, जिन लोगों की दृष्टि भीतर की ओर झुकी रहती है उन्हें उसका प्रकाश सर्वदा मिलता रहता है। ब्रह्म का यह प्रकाशमय रूप उपासना में भी सर्वत्र विहित है। उपासना में सूर्य चन्द्र आदि सभी में परब्रह्म की सत्ता बतलायी जाती है। भगवान् के ध्यान का एक पद्य है–

**ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती**
**नारायणः सरसिजासनसन्निषण्णः।**
**केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी**
**हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः ।।**

'सूर्य मण्डल के मध्य में अवस्थित, कमलासनासीन, केयूर, मकर, कुण्डल हार आदि दिव्य आभूषणों से अलंकृत, शंख चक्र को धारण करने वाले हिरण्मय भगवान् नारायण सबके द्वारा ध्येय हैं, इसी प्रकार उपास्य रूप में सभी ज्योति पिण्डों में भगवान् का ध्यान उपासना-पद्धतियों में विहित है। श्लोक में आया "तमसः परमुच्यते" यह वाक्य अन्धकार और ज्योति का नित्य सम्बन्ध बतलाने के लिए है ऐसा कुछ व्याख्याओं में मिलता है। ज्योति अन्धकार से परे की वस्तु है। जहां जाकर अन्धकार समाप्त हो जाता है वहीं ज्योति का आरम्भ होता है अन्धकार प्रकाश का अभाव मात्र नहीं है अपितु वह भी एक तेज रूप ही है, इसीलिए गौर तेज और श्याम तेज इन नामों से अन्धकार और प्रकाश दोनों को तेज के रूप में विज्ञान की प्रक्रिया में समझा जाता है। गौर तेज और श्याम तेज परस्पर नित्य संसक्त रहते हैं। चाहे कितना भी अधिक प्रकाश क्यों न हो यह नहीं कहा जा सकता कि वहां अन्धकार बिलकुल है ही नहीं। अधिक से अधिक प्रकाश में भी प्रकाश के आवरक पदार्थ की छाया पड़

जाती है वह छाया वहाँ अन्धकार की निरन्तर सत्ता बतला रही है। परन्तु यह लौकिक दृष्टान्त है। ज्ञान-रूप ज्योति में तो अन्धकार के उद्भव का प्रश्न ही नहीं है, वही ज्ञान-रूप ज्योति यहाँ ब्रह्म है, उसी को यहाँ 'तम के आगे' कहा गया है। लौकिक सभी तेज तम से सर्वदा अनुविद्ध रहते हैं, परन्तु ब्रह्मज्योति या आत्मज्योति तम से सर्वथा परे है। बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश देते हुए आत्मज्योति को ही मुख्य बतलाया था। गीता में भी विश्वरूपदर्शन में भगवान् के ज्योतिर्मय रूप का विवरण हम विगत प्रवचनों में कर चुके हैं।

'तमसः परम्' का श्री रामानुजाचार्य ने 'प्रकृति से पर' अर्थ किया है। तमस् शब्द से उन्होंने प्रकृति की साम्यावस्था को लिया।

**आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्,**

इत्यादि स्मृति में भी प्रकृति की साम्यावस्था को तमस् शब्द से कहा है। उससे पर यहाँ ब्रह्म को बतलाया है। इसका अभिप्राय यह होगा कि सृष्टि के आरम्भ में केवल साम्यावस्थापन्न प्रकृति या माया ही नहीं थी अपितु उसका भी आधारभूत ब्रह्म था। हम लोगों की दृष्टि में वह काल की दृष्टि से आदि की अवस्था होने के कारण पर कही जाती है। देश व्यवधान या काल व्यवधान दोनों में 'पर' शब्द का व्यवहार चला करता है। इस हमारी व्यवहार दृष्टि से ही हमें गीता के पर शब्द का अभिप्राय समझना होगा।

श्री हनुमत्कृत पैशाच भाष्य में तम का अर्थ अज्ञान किया गया है। तम से परे का अर्थ हुआ अज्ञान से परे, ब्रह्म अज्ञान से परे है ज्ञान रूप है। उत्तरार्ध का भी अर्थ उन्होंने यह किया कि ब्रह्म ही ज्ञान का साधन है वही ज्ञान का विषय है और वही ज्ञान फल है। ज्ञान का फल ही ज्ञानगम्य होता है। यहाँ–यह शंका उपस्थित हो सकती है कि ज्ञान का विषय अन्य होता है और उसका फल अन्य होता है, दोनों एक रूप नहीं होते–"**ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्**" उसका उत्तर यही है कि ये कथन उपाधियों से आवृत दशा के हैं, उपाधि विनिर्मुक्त दशा में तो न केवल ज्ञान का विषय और उसका फल ही एक है अपितु उसका साधन भी एक ही है। यद्यपि 'तमस्' शब्द का अभिधा वृत्ति से प्रधान व्यवहार तो अन्धकार में ही है परन्तु लक्षणा के आधार पर उसके अज्ञान आदि अर्थ भी प्रयोगों में आते हैं–

**अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।**
**चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥**

इत्यादि लोक विश्रुत पद्यों में अज्ञान को तिमिर कहा गया है। तत्त्व दीपिका में भी तम

का अर्थ प्रकृति ही किया है, इतनी वहाँ विशेषता लिखी है कि पर शब्द का अपरिणामी अर्थ किया है। प्रकृति का जो धर्म परिणाम है उससे पर अर्थात् दूसरा विपरीत अपरिणाम ही होगा। ब्रह्म की अपरिणामिता इससे बतलायी जाती है।

"इस प्रकार से संक्षेप में यहाँ क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय बतलाए गए हैं। मेरा भक्त इनको जानकर मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है।"

श्रुतियों तथा अन्य स्मृतियों में जिस विषय को विस्तार से कहा गया है उसे यहाँ संक्षेप में बतला दिया। महाभूत से धृति पर्यन्त क्षेत्र का निरूपण हुआ। अमानित्व से तत्त्वज्ञानार्थदर्शन पर्यन्त ज्ञान का प्रतिपादन हुआ और "**ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि**" से लेकर '**तमसः परमुच्यते**' तक ज्ञेय का विवरण हुआ। भगवान् कहते हैं कि इस सभी विज्ञान को जानने का अधिकारी मेरा भक्त होता है और इसे जान कर वह मेरे भाव अर्थात् परमेश्वर भाव को प्राप्त कर लेता है "**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**" श्री रामानुजाचार्य ने मद्भाव का अर्थ असंसारित्व किया है, अर्थात् वह असंसारी हो जाता है। वह मुक्त हो जाता है ऐसा अर्थ भी व्याख्याओं में मिलता है।

इससे आगे प्रकृति-पुरुष का निरूपण प्रस्तुत होगा।

# अष्टम-पुष्प

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।।१९।।
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।२०।।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।२१।।
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ।।२२।।
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।२३।।

सप्तम अध्याय में परा और अपरा दो प्रकार की प्रकृति बतलाई गई हैं, वही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ हैं। इन दोनों प्रकृतियों का उपन्यास करके वहां कहा–"**एतद्योनीनि भूतानि**" अर्थात् समस्त भूतों की योनि या जन्म का कारण ये ही दो प्रकृतियां हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ किस प्रकार भूतों के उत्पादक होते हैं इसी बात को आगे के पद्य में स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं कि "प्रकृति और पुरुष ये दोनों ईश्वर की प्रकृतियां हैं, ये दोनों अनादि हैं ऐसा समझो, बुद्धि आदि विकार और गुण ये सभी सुख, दुःख मोहात्मक प्रकृति से संभूत हैं।"

अनादि उसे कहते हैं कि जिसका आश्रय अनादि हो। ईश्वर जब नित्य है तब उसकी प्रकृति भी नित्य है, जैसे ईश्वर की उत्पत्ति या उसका आदि नहीं वैसे ही उसमें सर्वदा स्थित, उससे अपृथग्भूता प्रकृति की भी उत्पत्ति या उसका आदि नहीं। ईश्वर का ईश्वरत्व या उसका नियमन करना दोनों प्रकार की प्रकृतियों का स्वामी होना ही है। सारांश यह है कि जिन पर अपरा, प्रकृति पुरुष, आदि संज्ञाओं से शास्त्रों में व्यवहृत होने वाली दो प्रकार की प्रकृतियों से ईश्वर संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार कर रहा है वे प्रकृतियां अनादि और सारे संसार की कारणभूत हैं। श्री शंकराचार्य ने अनादि शब्द में बहुव्रीहि समास माना है "न आदिर्विद्यते ययोः" इस विग्रह वाक्य में 'न आदि' पद से अनादि ईश्वर लिया जाता है, वह आदिशून्य ईश्वरजिनका है, अर्थात् जिसका आश्रय है, वह पुरुष और प्रकृति नाम की प्रकृति अनादि है ऐसा अर्थ यहां आचार्यवर

को अभीष्ट है। उन्होंने यहां कुछ विद्वानों के द्वारा स्वीकृत तत्पुरुष समास का खण्डन किया है। द्विवचनान्त आदि शब्दसे "**न आदी अनादी**" ऐसा विग्रह करके भी अनादि यह बनाया जा सकता है। इससे अर्थ में भी यह परिवर्तन उपस्थित हो जाता है कि प्रकृति और पुरुष दोनों में स्वतन्त्र रूप से अनादित्व मान लेना पड़ता है। यह सांख्य दर्शन की प्रक्रिया है। सांख्य में प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतन्त्र रूप से अनादि माना जाता है, इसीलिए आदि में दो मूल तत्व मान लेने के कारण सांख्य दर्शन द्वैत दर्शन कहलाता है। परन्तु अद्वैत सिद्धान्त के आदि में दो मूल तत्व नहीं अपितु एक ही मूल तत्व माना जाता है। अवश्य ही माया नाम की ईश्वर की शक्ति को वेदान्त दर्शन भी नित्य मानता है परन्तु उसमें स्वतन्त्र रूप से नित्यता नहीं है, वह ईश्वर की शक्ति है और शक्ति कभी शक्तिमान् से पृथक् होकर उपलब्ध नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् परस्पर अभिन्न होते हैं, इसीलिए वेदान्त में द्वैत की संभावना को निरस्त कर दिया है। सांख्य दर्शन की विचार-पद्धति अपनाने वाले विद्वान् यहां प्रकृति और पुरुष इन उन्हीं की अभिमत संज्ञाओं का व्यवहार दिखाकर तथा दोनों की अनादिता की स्पष्ट उद्घोषणा बतलाकर गीता में सांख्य सिद्धान्त के ही प्रतिपादन का आग्रह कर सकते हैं, उन्हीं को श्री शंकराचार्य ने यहां उत्तर दिया है कि यहां अनादि शब्द में तत्पुरुष समास नहीं अपितु बहुव्रीहि समास ही अभिमत हो सकता है। बहुव्रीहि समास के विग्रह वाक्य में "**न आदिर्विद्यते ययो:**" यहां पूर्वोक्त प्रकार से '**न आदि**' पद से ईश्वर का ग्रहण होता है और उसी के आश्रित प्रकृति और पुरुष दोनों प्रकृति भेद से समझा जाता है। यहां कठिनाई यही है कि प्रकृति ईश्वर की अविभक्त माया शक्ति का भी नाम है और उसी के विभक्त दो रूपों में भी एक का नाम प्रकृति है। इसीलिए सप्तमाध्याय में प्रकृति शब्द के साथ परा अपरा विशेषण लगाए गए थे और इसीलिए आगे भी भेद न हो इसलिए परा प्रकृति को तो उसी नाम से स्वीकृत कर लिया और अपरा प्रकृति को पुरुष कह दिया। वहां यह विस्पष्ट कर दिया गया है कि ये परा और अपरा प्रकृतियां ईश्वर की अभिन्न शक्तियां हैं इनमें संख्याकृत आनन्त्य भी होता है परन्तु अन्तत: ये सब एक और अद्वितीय ईश्वर से अभिन्न होने के कारण मिथ्या हैं यह सब माया शक्ति का पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या-विजृम्भण है।

पद्य में यथाश्रुत प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतन्त्र रूप से अनादि मान लेने पर तो वे ही दोष प्राप्त होंगे जो वेदान्त दर्शन की ओर से सांख्य दर्शन पर दिखाए जाते हैं। दोनों के अनादि और स्वतन्त्र होने से संसार का कुछ भी निमित्त न रह जायगा और निमित्त के अभाव में मोक्ष का प्रसंग भी न रहेगा। दोनों के अनादि होने से अद्वैत तत्त्व की ज्ञापक श्रुतियां व्यर्थ या निरर्थक हो जायगी तथा दोनों के स्वतन्त्र और

अनादि होने पर बन्ध और मोक्ष का भी अभाव होगा। जब प्रकृति और पुरुष दोनों को ईश्वर की शक्ति के रूप में नित्य माना जाता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं, तब उपर्युक्त सारे दोष नहीं उपस्थित होते। क्योंकि जितने विकार और गुण हैं वे सब प्रकृति से संभूत हैं। बुद्धि से प्रारम्भ करके देहेन्द्रिय पर्यन्त विकार माने गए हैं और सुख, दु:ख, तथा मोह के अनुभव के आकार में परिणत जो होते हैं वे गुण कहे जाते हैं। 'प्रकृतिसंभवान्' में प्रकृति का अर्थ विकारों की जो कारण त्रिगुणात्मिका माया है उससे अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि जितने विकार और गुण हैं वे सब प्रकृति से ही संभूत हैं, ऐसा हे पार्थ तुम समझो। वे विकार और गुण कौन हैं इसका उत्तर अग्रिम पद्य से देते हैं कि कार्य और कारणों के कर्तृत्व में प्रकृति ही हेतु होती है। कार्य शरीर को कहा गया है, तेरह उसके आरम्भक भूतों को कारण कहा गया है, सुख-दु:ख, मोहशब्द, गुण करणों के ही आश्रित होने के कारण यहां करण शब्द से ही उनका ग्रहण माना है। इन सबकी कारणभूता प्रकृति ही है।

पुरुष, जीव, क्षेत्रज्ञ और भोक्ता ये पर्याय शब्द हैं। वह पुरुष सुख और दु:ख के उपभोग में हेतु है। प्रकृति के विचारों और गुणों के हेतु हो जाने से और पुरुष के उसका भोक्ता हो जाने से संसार के कारण वे दोनों हैं यह कैसे सिद्ध होगा, इसका उत्तर यही है कि यदि कार्य-कारण संघात रूप से प्रकृति का परिणाम न हो और उसका चेतन भोक्ता न हो तो संसार कैसे चलेगा ? दोनों को स्वीकार करने पर ही संसार की स्थिति माननी होगी, प्रकृति और पुरुष का अविद्या रूप जो संयोग होता है उसी से संसार चलता है। सुख-दु:खादि के संभोग का ही नाम संसार है।

तत्त्व-प्रकाशिका में पूर्वोक्त अमानित्व आदि का यहाँ गुण शब्द से ग्रहण किया है।

श्री शंकरानन्द ने श्री शंकराचार्य की व्याख्या के आधार पर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वर की शक्ति रूप माया को भी अनादि मान लेने के उपरान्त ही ईश्वर का ईश्वरत्व या ईशनकर्तृत्व भी नित्य रूप में सिद्ध हो सकता है, यदि शक्ति अनादि न हो तो शक्ति की उत्पत्ति के पूर्व काल में ईशितव्य के अभाव में ईश्वरत्व ही असंभव हो जायगा, परन्तु ईश्वर का ईश्वरत्व तो त्रिकालाबाधित नित्य है। अत: उसकी ईशितव्या माया शक्ति भी ईश्वर के समान ही नित्य कहनी होगी। वेदमन्त्र में भी माया शक्ति की इस नित्यता को कहा गया है–

**'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'**

आदि मन्त्रों में माया शक्ति को अजा और एका कहकर उसकी अनादिता बतलाई गई

है। यहीं आगे श्री शंकरानन्द ने ईश्वर और उसकी माया शक्ति को मानते हुए भी ईश्वर की शक्ति माया को अनादि न मानने के विचार की समालोचना करते हुए लिखा है कि यदि वह शक्ति या प्रकृति अनादि न हो तो उसके अभाव की अवस्था में केवल ईश्वर को ही जगत् का कारण कहना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में एक तो उक्त प्रकार से किसी समय ईशितव्य के अभाव में ईश्वर में ईश्वरत्व ही नहीं रहेगा, दूसरा दोष यह होगा कि प्रकृति के अभाव की अवस्था में जब ईश्वर सृष्टि करेगा तो किसी को सुख और किसी को दुःख प्राप्त होने से ईश्वर में सुख-दुःख प्रदायित्व भी मानना होगा और उसके भी कारण के रूप में ईश्वर में भी विषमता और नैर्घृण्य मानने होंगे, ऐसा मानना किसी भी आस्तिक दर्शन को स्वीकृत नहीं। यदि ईश्वर के स्वरूप में वैषम्य नैर्घृण्य नहीं है ऐसा कहा जाय तो माया शक्ति के अभाव की अवस्था में जीव नाना योनि में क्यों उत्पन्न हुए उनके सुख और दुःख का कारण क्या है, यह कहना असंभव होगा और कार्य-कारण की सर्व सम्मत परंपरा भी खतरे में पड़ जायगी। साथ ही माया से आबद्ध होने पर ही जीव को बद्ध कहा जाता है और माया से मुक्त जीव को ही मुक्त या उसकी मोक्ष प्राप्ति माना जाता है, प्रकृति को अनादि न मानने पर उक्त बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था भी बिगड़ जायगी। इसलिए प्रकृति को अनादि मानना आवश्यक है। श्री शंकराचार्य के व्याख्यान को ही श्री शंकरानन्द जी ने लिखा है।

श्री रामानुजाचार्य यहाँ कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष जो कि एक दूसरे में संसृष्ट हैं वे अनादि हैं। बन्धन के कारण भूत जो इच्छा, द्वेष आदि विकार हैं तथा मोक्ष के हेतुभूत जो अमानित्व आदि गुण कहे गए हैं ये सब प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। प्रकृति का परिचय देते हुए श्री रामानुजाचार्य लिखते हैं कि पुरुष से संसृष्ट अनादि काल से प्रवृत्त, क्षेत्र के आकार में परिणत हो जाने वाली यह प्रकृति अपने इच्छा, द्वेष आदि विकारों से तो जीव का बन्धन करती है और अमानित्व आदि अपने गुणों से जीव को विमुक्त भी करती रहती है। आनन्दतीर्थकृत माध्व भाष्य में प्रस्तुत पद्य का समानार्थक श्रीमद्भागवत का यह पद्य भी उद्धृत किया है–

**''कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।**
**भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ।।**

(भागवत ३।२६।८)

अग्रिम पद्य का अर्थ है–''प्रकृति में अवस्थित होता हुआ पुरुष प्रकृति से उत्पादित गुणों का भोग करता है, इसका कारण सत्, असत् योनि जन्म में पुरुष से गुणों क संग ही है''।

पुरुष भोक्ता है, वह अविद्यारूपिणी और कार्य-कारण रूपों में परिणत होने वाली प्रकृति में जब स्थित होता है तो वह प्रकृति को अपनी जैसी बना लेता है तब वह प्रकृति के द्वारा उत्पादित सुख-दु:ख, मोह आदि गुणों का भोग भी करता है, वह स्वयं को सुखी, दु:खी, मूढ़, पण्डित आदि समझने लगता है। सुख-दु:खादि गुणों के इस भोग में जो सङ्ग होता है पुरुष का, वही इस संसार के सद् और असत् योनियों में जन्म का कारण है। श्री शंकराचार्य ने यहां संसार पद का अध्याहार माना है। देव आदि सद् योनियां और पशु आदि असद् योनियां है। श्री नीलकण्ठ कहते हैं कि देहेन्द्रियमन के संघात रूप शरीर में जब पुरुष स्थित होता है उसी अवस्था में वह गुणों का भोग करता है। सुषुप्ति, समाधि और मूर्छा आदि के समय जब पुरुष प्रकृतिस्थ नहीं रहता तब वह गुणों का भोग भी नहीं करता। सत्-असत् योनियों में पुरुष के जन्म के कारण पुरुष का गुणों के साथ सम्बन्ध ही है, इस बात को दिखाते हुए उन्होंने कहा है देव सात्विक होते हैं, मनुष्य राजस और पशु तामस हैं। यह विभाग भी पुरुष के गुणों के ही संसर्ग से सृष्टि होने का समर्थक है।

तत्त्व-प्रकाशिका में लिखा है कि पुरुष सत्वादि गुणों के कार्यों में आसक्त होकर उसके साधन भूत पुण्य और पाप कर्मों में प्रवृत्त होता है और उनका फल भोगने के लिए सत् और असत् योनियों में जाता है। फिर वहां कर्म का आरम्भ करता है और फिर उनका फल भोगने के लिए अन्य योनियों में जाता है। जब तक वह विषयों को त्याग कर मोक्ष के साधन बुद्धि, वैराग्य आदि का सेवन नहीं करता तब तक यह संसार क्रम चलता ही रहता है।

श्री शंकरानन्द ने गुण सङ्ग का अर्थ गुण बन्धन किया है कि देहेन्द्रियादि गुण विकारों में जो सङ्ग अर्थात् अहं बुद्धि है वही अविद्या मूलक अध्यास है। अविद्वान् इससे अध्यस्त होकर नाना योनियों में परिभ्रमण करता है।

अग्रिम पद्य का अर्थ है-"इस देह में जो पर पुरुष है, वह उपद्रष्टा है, अनुमन्ता है, भर्ता और भोक्ता भी वही है, वह महेश्वर है उसे परमात्मा भी कहा गया है।" उप अर्थात् समीप में स्थित होकर वह पुरुष द्रष्टा अर्थात् असंग रहता है। उपद्रष्टा शब्द यज्ञ के कार्यकर्ताओं का निरीक्षण करने वाले यज्ञविद्या में कुशल अधिकारी का वाचक है। वह यज्ञ कर्म में व्यापृत ऋषि है जो कार्यों का निरीक्षण करता है। उसी प्रकार इस संसार यज्ञ का भी पर पुरुष उपद्रष्टा है। दूसरी भी व्याख्या श्री शंकराचार्य ने यह लिखी है कि देह, चक्षु, मन, बुद्धि आदि द्रष्टा हैं उनका भी अन्तरतम द्रष्टा आत्मा है। उसके आगे उसका और कोई अन्य द्रष्टा नहीं है। अत्यन्त समीप से देखने के कारण ही आत्मा को उपद्रष्टा कहा गया। होने वाली क्रियाओं से परितोष ही अनुमनन है, वह

आत्मा ही अनुमन्ता है। दूसरा अर्थ यह भी है कि नित्य सहचर होता हुआ भी बुद्धि आदि को अपने व्यापारों से नहीं हटाता, इसलिए भी यह अनुमन्ता है। भर्ता का अर्थ है कि अचेतन पदार्थों देहेन्द्रियादि में अपनी चेतना प्रदान करके उनके स्वरूप का वह विधारण कर रहा है। बुद्धि के सुख-दुःख मोहादि में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से उपाधियों के भेद के कारण विभिन्नता के उपस्थित हो जाने पर वह भोक्ता रूप में प्रतीत होता है, सबका आत्मा होने से और स्वतन्त्र होने से वह महेश्वर कहा जाता है। परम द्रष्टा होने के कारण वह परमात्मा कहा जाता है।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि देह का नियमन, भरण और देह के अन्त में शेष रहने से देह, इन्द्रिय और मन के प्रति वह महेश्वर है।

श्री नीलकण्ठ ने यहां विलक्षण ही व्याख्या लिखी है। वे कहते हैं कि पहिले गुणों के सङ्ग से संसार होता है, यह कहा गया है। पुरुष के साथ गुणों का चार प्रकार से सङ्ग हो सकता है। उनमें प्रत्येक प्रकार के सङ्ग को मानकर पृथक्-पृथक् दर्शनों की प्रवृत्ति हुई है। चार प्रकार के सङ्गों में प्रथम वह है जिसमें केवल प्रकृति को ही सब कुछ मानकर पुरुष का अपलाप या उसके अस्तित्व का निषेधही कर दिया जाता है। ऐसा सम्बन्ध मान लेने से ही जड़कारणवाद की सृष्टि होती है जैसा कि चार्वाक आदि दर्शनों का प्रतिपादन है। इसी दृष्टि को सामने रखने वालों को लक्ष्य में रखकर यहाँ भगवान् ने पुरुष को भोक्ता कहा है। जड़वादी विचारधारा में भोग ही मुख्य माना जाता है। वे भोक्ता को ही सब कुछ मानते हैं। गुणों के सम्बन्ध होने के अनन्तर केवल गुणों को ही प्रधान मानना यह दूसरा सम्बन्ध है। इसमें गुणों की प्रधानता होने से वास्तविक कर्तृत्व का अभिमान पुरुष को हो जाता है, इसीलिए वह कर्म के फलों का भर्ता या उनको एकत्रित करने वाला होने के कारण पद्य में उसे इसी दृष्टि से भर्ता कहा गया है, तार्किकों की दृष्टि में आत्मा का यही स्वरूप है। तीसरे प्रकार का पुरुष और गुणों का सम्बन्ध वह है जिसमें गुणों की और पुरुष की समान रूप से प्रधानता मानी जाती है, इसी सम्बन्ध को सांख्य दर्शन ने ग्रहण किया है। चौथा सम्बन्ध गुणों के साथ पुरुष की समान प्रधानता मानना होता है। इस सम्बन्ध में दोनों की समान रूप से प्रधानता होने के कारण गुणों के विकारों या धर्मों का पुरुष में सङ्क्रमण नहीं माना जाता, वह उदासीन या तटस्थ भाव से गुणों के प्रचार को देखता रहता है, उनका साक्षी बना रहता है, योग दर्शन में ईश्वर को इसी प्रकार का साक्षी कहा गया है, उसे ही गीता के प्रस्तुत पद्य में उपद्रष्टा कहा है। इन सभी में आत्मा का उपद्रष्टा रूप उत्तम अनुमन्ता मध्यम, भर्ता अधम और भोक्ता अधमाधम है; यह भी श्री नीलकण्ठ ने लिखा है। वही आत्मा जब गुणों के साथ अपने समप्राधान्य से भी ऊपर उठकर गुणों के साथ

क्रीड़ा करता है तब उसे महेश्वर कहते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाला जो उसका अन्तर्यामी रूप है उसे परमात्मा कहा है। यद्यपि ईश्वर का उपद्रष्टा रूप भी गुणों को छोड़कर उसके साक्षी के रूप में ही स्थित है परन्तु उसमें उसकी स्थिति प्रत्येक संघात में पृथक्-पृथक् होती है। एक संघात में स्थित होता हुआ दूसरे संघात में होने वाले गुण प्रचार को वह नहीं देख सकता। इसलिए समस्त संघातों का दर्शन करने वाला परमात्मा अलग कहा जाता है। इसी को आगे गीता में ही कहा जायगा।

**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।**
**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययईश्वरः ।।**

उपर्युक्त ६ रूपों में अनुमन्ता, भर्ता और भोक्ता इन तीन रूपों से तो आत्मा बन्धन में आता है और उपद्रष्टा महेश्वर और परमात्मा इन तीन रूपों में वह मुक्तावस्था में प्रतिष्ठित होता है।

श्री वल्लभाचार्य जीव और ईश्वर का अंशांशिभाव मानते हैं। जीव और ईश्वर दोनों ही शरीर में प्रतिष्ठित हैं। प्रस्तुत पद्य में भी इस देह में परम पुरुष रूप से परमात्मा को प्रतिष्ठित दिखाते हुए उन्होंने–

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।**

यह श्रुति उद्धृत की है और शरीर रूप वृक्ष में वह अवस्थित है, यही पद्य का आशय लगाया है।

अग्रिम पद्य का अर्थ है कि–

"जो इस प्रकार गुण सहित पुरुष और प्रकृति को समझ जाता है वह सर्वथा वर्तमान रहता हुआ भी पुनः उत्पन्न नहीं होता।"

भारतीय दर्शनों का यह सिद्धान्त है कि ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर मुक्ति हो जाती है। परन्तु साथ ही यह भी सिद्धान्त है कि जो कर्म किये जा चुके हैं उनका भोग करने के बाद ही वे क्षीण होते हैं। पूर्व जन्मों के कर्मों को भोगने के लिए वर्तमान जन्म और वर्तमान जन्म में ज्ञानोत्पत्ति से पूर्वकृत कर्मों के भोग के लिए ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर भी जब कर्म चलता ही रहेगा तब उन कर्मों के भी भोग के लिए कम से कम एक जन्म और मानना आवश्यक होगा। ऐसी स्थिति में गीता में जो यहाँ '**न स भूयोऽभि जायते**', कहा गया है उसका कैसे समर्थन होगा, यह प्रश्न उठाकर श्री शंकराचार्य

ने उसका उत्तर दिया है कि ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर सब ही कृताकृत कर्म समाप्त हो जाया करते हैं यही बात–

**"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन"**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि"**

इत्यादि वाक्यों में कही गई है। श्रीशंकराचार्य ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त जन्म की निवृत्ति में युक्ति देते हुए कहते हैं कि अविद्या जनित कर्मों के ही द्वारा जन्मान्तर का अंकुर प्रारम्भ होता है। यहां गीता में भी भगवान् ने अनेकत्र कहा है कि अहंकार पूर्वक अभिसन्धि से किये हुए कर्म ही जन्मादि फल के प्रदाता होते हैं। महाभारत में इसका समर्थक पद्य भी भाष्य में उद्धृत हुआ है कि–

**बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।**
**ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः ।।**

जिस प्रकार अग्नि के द्वारा जला दिए गए बीज पुनः अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकते उसी प्रकार क्लेशों के ज्ञान के द्वारा समाप्त कर दिये जाने पर यह आत्मा भी जन्म ग्रहण नहीं करता। फिर पूर्व पक्ष उठाया गया है कि ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर किये हुए कर्मों का ज्ञान से दाह हो जाता है यह हमने मान लिया क्योंकि वे ज्ञान के साथ ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु इस जन्म में अथवा पूर्व जन्मों में ज्ञान उत्पन्न होने से पहिले जो कर्म किये जा चुके हैं उनका अभाव कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हैं कि शास्त्रों में '**सर्वकर्माणि**' कहा गया है–अर्थात् ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को जला देता है, सब कर्मों में अतीत के कर्म भी सम्मिलित हैं। यदि यह कहा जाय कि 'सर्वकर्माणि' का अर्थ भी ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर होने वाले सभी कर्म हैं तो ऐसा संकोच करने में कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। ज्ञान हो जाने पर भी जन्मान्तर के अभाव को न मानने वालों ने यह भी कहा था कि जिस प्रकार वर्तमान शरीर के आरम्भ करने वाले कर्म ज्ञान हो जाने पर भी अपना फल शरीर धारण पर्यन्त देते ही रहते हैं, वैसे ही ज्ञान हो जाने के अनन्तर भी जो कर्म किए जायँगे भले ही वे अहंकार और अभिसंधि से न भी किये जांये परन्तु तब भी वे अपना फल तो अवश्य ही देंगे क्योंकि फलों को उपस्थित करना तो कर्मों का स्वभाव है, फलतः ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर भी मुक्ति का प्रसंग नहीं होता। वह तो महाप्रलय की अवस्था में ही प्राप्त हो सकेगा। इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य एक दृष्टान्त से प्रस्तुत सिद्धान्त को समझाते हैं कि जैसे किसी लक्ष्य का वेधन करने के लिए धनुष से छोड़ा गया बाण लक्ष्य का वेधन करने के अनन्तर भी उतना आगे चला जाता है जितना कि वेग उसमें दिया गया है। उसी प्रकार

शरीर के आरम्भक कर्म लक्ष्यभूत ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी वेग के अवशिष्ट रहने के कारण शरीर धारण पर्यन्त अपना फल देते रहते हैं। परन्तु जिस बाण को धनुष पर चढ़ा लेने के अनन्तर लक्ष्य के अभाव में धनुष से वापस उतार लिया गया, उसमें कुछ भी वेग न रहने से वह जरा भी दूर नहीं जा सकता, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर किए जाने वाले कर्म अविद्या और अहंकार रूपी वेग के अभाव में अपने आश्रय भूत शरीर में ही जीर्ण हो जाते हैं, वे फल प्रदाता ही नहीं बनते। अतः गीता का ज्ञानवान् के विषय में '**न स भूयोऽभिजायते**' वह पुनः उत्पन्न नहीं होता यह कथन सर्वथा समीचीन और युक्तिपूर्ण है।

श्री रामानुजाचार्य 'न स भूयोऽभिजायते' की व्याख्या में लिखते हैं कि वह ज्ञानवान् पुरुष अपरिच्छिन्न ज्ञान स्वरूप, मायादि से विनिर्मुक्त आत्मा को देह छोड़ने के अनन्तर प्राप्त कर लेता है।

## नवम-पुष्प

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।२४।।
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।२५।।
यावत् संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ।।२६।।
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।२७।।
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।२८।।
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।।२९।।
यदाभूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।।३०।।
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ।।३१।।
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्राऽवस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ! ।।३२।।
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।३३।।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।३४।।

"कुछ लोग ध्यान से आत्मविषयक दर्शन करते हैं, कुछ आत्मा से ही आत्मा को देखते हैं, अन्य लोग सांख्ययोग से दर्शन करते हैं, दूसरे कर्म योग से

आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त इन उपायों को न जानने वाले दूसरे आचार्यों से सुनकर उपासना करते हैं ये श्रुति अर्थात् श्रवण में परायण होने वाले मृत्यु का तरण कर जाते हैं"। (२४, २५)

शब्दादि विषयों से अपनी इन्द्रियों को हटाकर उनको मन में स्थित करना और मन को प्रत्यगात्मा में निरन्तर स्थित रखना ही ध्यान है, तैलधारा के समान सन्तत ज्ञान का ही नाम ध्यान है। इस प्रकार के ध्यान से संस्कृत अन्तःकरण में 'आत्मनि' अर्थात् बुद्धि में आत्मा को योगी देखते हैं। अन्य विद्वान् सांख्ययोग से आत्मदर्शन करते हैं। इसका अभिप्राय है कि सत्व, रज, और तम मेरे द्वारा दृश्य हैं, मैं उनसे पृथक् उनके कार्यों का देखने वाला नित्य और गुणों से विलक्षण आत्मा हूँ, ऐसा चिन्तन ही सांख्ययोग के द्वारा आत्मदर्शन कहलाता है। निष्काम और ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करते जाना कर्मयोग है, कुछ विद्वान् इसी प्रकार कर्म करते करते निर्मल ज्ञानप्राप्त करके मेरा दर्शन करते हैं। अन्य लोग जो न तो ध्यान की ही प्रक्रिया को जानते हैं, न सांख्योग से ही परिचित हैं और न ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म करना ही जानते हैं वे आचार्यों से सुनकर उन सुने हुए उपदेशों का ही आश्रय लेते हैं। ऐसे श्रवण परायण लोग भी मृत्यु का तरण करके आत्मभाव को प्राप्त कर ही लेते हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने ध्यान का अर्थ भक्तियोग किया है, अर्थात् भक्तियोग से कुछ विद्वान् मुझे प्राप्त करते हें। श्री वल्लभाचार्य ने यहां योग शब्द से अष्टाङ्गयोग का ग्रहण किया है। श्री नीलकण्ठ लिखते हैं कि जो निष्काम कर्म करते हुए ब्रह्म को जानना चाहते हैं वे कर्मयोगी हैं। कर्मयोग के अनन्तर ब्रह्मज्ञान के अभिलाषी वेदान्तादि के श्रवण में प्रवृत्त होते हैं, फिर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही ये मनन आदि में प्रवृत्त होते हैं, ये ही सांख्य के अनुयायी माने गए हैं। इस प्रकार मनन करने पर जब ब्रह्म की सत्ता का निश्चय हो जाता है तब ये विद्वान् लोग ब्रह्म से विपरीत ज्ञान अर्थात् देहादि से आत्मबुद्धि को हटाने के लिए ध्यानमार्ग का आश्रय लेते हैं। इनमें जो कर्म और सांख्य में निष्णात हैं वे ध्यान के द्वारा आत्मा अर्थात् देह में 'आत्मना' अर्थात् बुद्धि से परमेश्वर को देखते हैं। जिन्होंने कर्ममार्ग का आश्रय नहीं लिया है वे सांख्ययोग अर्थात् विचारात्मक योग का आश्रय लेकर ध्यान करते हैं, तब ईश्वर को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार तीनों साधनों का आत्मदर्शनार्थ समुच्चय यहां अभीष्ट है, न कि एक के अभाव में दूसरे साधन का विकल्प। उपर्युक्त उपायों से जो ब्रह्मसाक्षात्कार बतलाया गया है, कुछ विद्वान् तो उसे सत्य साक्षात्कार अथवा प्रमाणरूप मानते हैं, तथा कुछ विद्वानों के मत में वह ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं अपितु उसके साक्षात्कार का भ्रम है। इसका उपपादन करते हुए श्री नीलकण्ठ ने यह दृष्टान्त दिया है कि जैसे दूर से मणि की प्रभा को ही दर्शक मणि समझ लेता है, परन्तु जब वह प्रभा को मणि समझ उसे ग्रहण

करने के लिए प्रवृत्त होता है तो वह वास्तव में मणि को प्राप्त कर लेता है। यहां भी ऐसा ही है कि उपर्युक्त उपायों से वास्तव में 'तत् त्वमसि' में 'त्वम्' पदार्थ जो प्रत्यगात्मा है, उसी का साक्षात्कार होता है, 'त्वम्' पदार्थ के ही 'तत्' पदार्थ समझने का भ्रम होता है, उस 'त्वम्' पदार्थ को 'तत्' पदार्थ समझ कर जब प्रमाता उसके साक्षात्काररूप ग्रहण के लिए प्रवृत्त होता है तब मणि और उसकी प्रभा जैसे नित्यसम्बद्ध हैं और मणि की प्रभा देखकर मणि के ग्रहण के लिए समुद्यत व्यक्ति के हाथ में जैसे मणि आ जाती है उसी प्रकार 'त्वम्' पदार्थ और 'तत्' पदार्थ भी नित्य सम्बद्ध हैं, अत: 'त्वम्' के ग्रहण के लिए समुद्यत प्रमाता को 'तत्' पदार्थ जो ब्रह्म है उसका ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार का भ्रम संवादिभ्रम कहा जाता है।

कुछ व्याख्याओं में उपर्युक्त साधनों को ग्रहण करने वालों में उत्तम, मध्यम, अधम का क्रम है, अर्थात् ध्यान से आत्मा को देखने वाला उत्तम, सांख्य योग से आत्मदर्शन करने वाला मध्यम और कर्मयोग से आत्मदर्शन करने वाला मन्द तथा अपने अनुभव के नितान्त अभाव में केवल श्रवण पर आश्रित रहने वाला अतिमन्द है।

इसके आगे का पद्य है कि–"स्थावर या जंगम जो कुछ भी वस्तु उत्पन्न होती है, हे भरतर्षभ ! उसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न समझो" (२६)

श्री शंकराचार्य यहाँ प्रश्न उठाते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से यहां क्या अभिप्राय है। कूप में से जल निकालने के लिए घट का रस्सी से संयोग किया जाता है वैसा संयोग तो यहां सम्भव नहीं है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ आकाश के समान ही निरवयव है, दो अवयवी द्रव्यों का परस्पर वैसा सम्बन्ध बन सकता है। तन्तु और पट के समान दोनों का समवाय सम्बन्ध भी यहाँ नहीं हो सकता, क्योंकि तन्तु पट का जैसे कार्यकारण भाव है वैसा कार्यकारण भाव यहां क्षेत्रज्ञ का नहीं है। तब यहां संयोग का क्या अभिप्राय होगा? इसके उत्तर में श्री शंकराचार्य लिखते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विषय और विषयी तथा विभिन्न स्वभाव वाले हैं, उनमें एक के धर्म को दूसरे में समझ लेना यही अध्यासरूप संयोग इनका है और यह दोनों का पृथक्-पृथक् स्वरूप न जानने के कारण है। जैसे रज्जु और सर्प के स्वरूप को पृथक् पृथक् न समझने की दशा में सर्प का रज्जु पर अध्यास हो जाता है अथवा जैसे रांगे और रजत के स्वरूप को न जानने की दशा में रांगे को ही रजत समझ लिया जाता है, ठीक वैसे ही अध्यास या भ्रम रूप संयोग यहां भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का है जिससे कि स्थावर और जंगम सभी वस्तुओं की सृष्टि हो जाती है जो कि वास्तव में मिथ्या ज्ञान का विजृम्भण है। ज्ञेय ब्रह्म पर क्षेत्र को माया के द्वारा प्रदर्शित हाथी, महल आदि की भांति, स्वप्न में दिखाई देने वाली वस्तुओं की भांति, गन्धर्व नगर की भांति समझने वाला व्यक्ति ही मुक्ति का अधिकारी होता है यह बतलाया गया है।

श्री रामानुजाचार्य ने यह भी लिखा है कि सभी स्थावर जंगम पदार्थ क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही होते हैं, उनकी वियुक्तावस्था में कुछ भी नहीं होता। अग्रिम पद्य का अर्थ है कि–

"समस्त भूतों में समान भाव से अवस्थित और नाशवान् पदार्थों में अविनश्वर भाव से अवस्थित परमेश्वर को जो देखता है उसका ही देखना वास्तव में देखना है।" (२७)

तत्त्वज्ञानी पुरुष की दृष्टि रागद्वेषादि से शून्य हो जाती है। उसे कोई पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं लगता, सभी पदार्थ उसे समानरूप मालूम होते हैं, संसार के सभी पदार्थ नाशवान् हैं परन्तु वह तत्त्वज्ञानी पुरुष इन सभी पदार्थों में अनुस्यूत कभी नष्ट न होने वाले तत्त्व को पहिचान लेता है। तत्त्व ज्ञान के बाद जो दृष्टि मिलती है उसमें कहीं भी कोई विभेद नहीं भासित होता। समान भाव से देखना मात्र ही नहीं अपितु अपने देखने के अनुकूल समान भाव से व्यवहार भी वह कर सकता है, प्रकृति के नियम भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। वह यदि विष को अमृत के समान पी जाय तो उसकी मृत्यु नहीं होती। प्रह्लाद, मीरा आदि की समान रूप से सर्वत्र ईश्वर को अवस्थित देखने और समान भाव से व्यवहार करने की कथाएं प्रसिद्ध ही हैं। ऐसे दर्शन का अभ्यास करने पर उसके पुनर्जन्म की कथा समाप्त हो जाती है। श्री शंकराचार्य ने यहाँ विनाश को सभी भाव विकारों का उपलक्षण माना है और ईश्वर में किसी भी विकार को न देखना ही असली देखना है यह कहा है। देखते तो सभी हैं परन्तु विपरीत रूप से देखते हैं, जैसे तैमिरिक रोग से ग्रस्त मनुष्य आकाश में अनेक चन्द्रों को देखता है, परन्तु उसका देखना विपरीत दर्शन है। चन्द्रमा को यथास्थित रूप से ही देखना वास्तविक देखना या सम्यक् दर्शन है। यहाँ भी आत्मा को सर्वत्र विभक्त रूप से तो सभी देखते हैं परन्तु सर्वत्र एक रूप में समान भाव से देखना ही सम्यक् दर्शन होता है। श्री रामानुजाचार्य ने लिखा है कि जो आत्मा को समान भाव से न देखकर देव, मनुष्य आदि विषम आकारों में देखता है तथा उसे जन्म विनाश, आदि से युक्त भी समझता है वह संसार चक्र में संसरण करता रहता है।

सर्वत्र समभाव से ईश्वर के दर्शन की प्रशंसा और उसका फल बतलाते हुए भगवान् आगे कहते हैं कि–"सर्वत्र अवस्थित ईश्वर को समान भाव से देखने वाला पुरुष स्वयं अपनी हिंसा नहीं करता, अतः परम गति को प्राप्त कर लेता है"। (२८)

यहां प्रश्न उठता है कि अपनी हिंसा तो स्वयं ईश्वर को न जानने वाला भी नहीं करता, तब ईश्वर को जानने वाला अपनी हिंसा नहीं करता, यह तो कोई ज्ञान का फल नहीं

हुआ। इसका उत्तर है कि अज्ञानी पुरुष आत्मा का तिरस्कार करता रहता है, वही आत्मा की हिंसा है। आत्मा के स्वरूप को न जानकर अनात्मा को आत्मा समझना ही आत्मा का तिरस्कार या उसकी हिंसा है। पहिले आत्मा का तिरस्कार करके अपने शरीर को ही आत्मा समझना, फिर उसका भी हनन करके स्त्री, पुत्रादि को आत्मा समझना, फिर उसका भी हनन करके गृह, सम्पत्ति आदि को आत्मा समझना, यह सब आत्मा की हिंसा ही है। उपर्युक्त प्रकार से ज्ञान हो जाने पर ज्ञाता इस प्रकार की हिंसा से रक्षित होकर परम गन्तव्य स्थान को प्राप्त हो जाता है।

आत्मा को अन्यथा समझना महाभारत में भी हिंसा कहा गया है–

**"योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।**
**किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ।।"**

इसी प्रकार भगवान् मनु भी लिखते हैं कि–

**योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।**
**स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ।।**

(मनु २५।४५)

श्री नीलकण्ठ ने यहां यह भी आशय लगाया है कि सर्वत्र एक आत्मा को देखने वाला पुरुष जैसे अपने को नहीं मारता वैसे दयालु स्वभाव धारण करके दूसरों को भी पीड़ा नहीं पहुंचाता।

अग्रिम पद्य का अर्थ है–

"सब ओर समस्त कर्म प्रकृति के द्वारा ही किये जा रहे हैं; आत्मा अकर्ता है, ऐसा जो देखता है, वही सम्यग्दर्शी है"। (२९)

पूर्व पद्य में ईश्वर को समभाव से देखना ही वास्तव में देखना है यह कहा गया था, परन्तु संसार में गुणों और कर्मों की विलक्षणता से ऐसा कैसे देखा जा सकता है, इसी का उत्तर यहां है कि गुणों और कर्मों की यह विलक्षणता प्रकृति के द्वारा होती है, प्रकृति ईश्वर की माया शक्ति है। यहां आत्मा को अकर्ता कहने का अभिप्राय उसे स्वतन्त्र सिद्ध करना है।

केवल प्रकृति को सभी कार्यों की सम्पादक और आत्मा को अकर्ता समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है अपितु अन्ततः सर्वभूतात्मक प्रकृति भी उसी एक पर ब्रह्म में स्थित है, उसका कारण भी परमात्मा है, यह समझना भी आवश्यक है। इसी बात को समझाते हुए

भगवान् अग्रिम पद्य कहते हैं कि–"जब भूतों के पृथग्भाव को भी एक ही स्थान पर स्थित देखता है, और उसी स्थान से समस्त चराचर प्रपंच का विस्तार देखता है तब प्रमाता ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेता है"। (३१)

यहां श्री शंकराचार्य आदि ने 'एक स्थान का अर्थ ब्रह्म में स्थित किया है और श्री रामानुजाचार्य आदि ने एकस्थ का अर्थ प्रकृति में स्थित किया है।

सभी पृथक् पृथक् भूतों को एक ही प्रकृति में स्थित समझ लेने से उससे पृथक् आत्मा का स्वरूप समझ में स्पष्टता से आ जायगा यही प्रकृतिस्थित का आशय है। अनेक व्याख्याकारों ने इससे सांख्य प्रक्रिया का उत्तर माना है कि ब्रह्म में ही सभी भूत अवस्थित हैं और वहीं से सबका उत्थान होता है। यहां यह भी स्पष्ट है कि पहिले सभी कार्यों में एक ही कारण अनुस्यूत है यह जाना जाता है, फिर एक ही कारण से सभी कार्य उत्पन्न होते हैं, यह समझा जाता है। इसी प्रक्रिया को ज्ञान और विज्ञान शब्द से भी कहा है यह हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है।

शरीरादि में नित्य संस्थित आत्मा शरीर के द्वारा होने वाले शुभाशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होता यह समझाने के लिए ऐसा किस कारण से होता है इसे अग्रिम पद्य से समझाते हैं कि–

"हे कौन्तेय ! यह अव्यय परमात्मा अनादि और निर्गुण होने से शरीर में स्थित होता हुआ भी न कुछ करता है और न लिप्त ही होता है"। (३२)

अव्यय का अर्थ है कि जिसका व्यय न होता हो। अनादि का अर्थ है जिसका कोई कारण न हो। जिस पदार्थ का आदि होगा वह अवयवी होगा और उसके स्वरूप का व्यय भी होगा। परमात्मा अनादि होने से निरवयव है अतः इसका व्यय भी नहीं होता। इसी प्रकार जो पदार्थ सगुण होता है उसके गुणों का व्यय होने से उसका भी व्यय होता है। परमात्मा निर्गुण है अतः गुणों के कारण वह परमात्मा शरीरस्थ कहलाता है तथा वह कोई कर्म नहीं करता।

शरीर में स्थित क्षेत्रज्ञ यदि कर्ता नहीं है तब कर्ता कौन है। यदि क्षेत्रज्ञ के अतिरिक्त और कोई कर्ता है तब तो क्षेत्रज्ञ और परमात्मा की एकता जो कही गई है वह सिद्ध न होगी, उसका उत्तर श्री शंकराचार्य ने दिया है कि अविद्या का स्वभाव है कि 'करोति' और 'लिप्यते' यह व्यवहार आत्मा पर हो रहा है। इसी बात को "**स्वभावस्तु प्रवर्तते**" इत्यादि के द्वारा भगवान् ने कहा है।

माध्वभाष्य में 'न करोति' का अर्थ किया गया है कि लौकिक क्रियादि उसके नहीं हैं।

श्री वेंकटनाथ ने अपनी ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में पहिले यह शरीरस्थ प्रत्यगात्मा अव्यय है, व्यय रहित है, ऐसा अन्वय किया है, फिर कहा है कि यह व्यय दो प्रकार से हो सकता है, धर्मी के स्वरूप की उत्पत्ति से अथवा धर्मी के उत्पन्न न होने पर भी धर्मों की उत्पत्ति मानने पर। अनादि कहकर तो धर्मी की उत्पत्ति का निषेध किया गया और निर्गुण कह कर धर्मों की उत्पत्ति का भी निषेध हो गया। अनादि होने से जब जन्म ही नहीं है तब जन्म के बाद होने वाले भाव विकार भी न होंगे अतः परमात्मा अविकारी सिद्ध हुआ।

श्रीवल्लभाचार्य लिखते हैं कि अन्तःपुरुष जो परमात्मा है अथवा आत्मा रूप जो जीव है वह अक्षर रूप से अनादि और निर्गुण है, अतएव वह अव्यय है, वह भगवदिच्छा से स्वतः पृथक् हो जाने पर भी अकर्ता और निर्लिप्त है।

श्री नीलकण्ठ ने परमात्मा का अर्थ पांच कोशों से अतीत किया है। वह शरीरमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों कोशों से परम अर्थात् अतीत होने से परमात्मा है। वह अनादि होने से देश और काल के परिच्छेद से शून्य है। प्रश्न उठता है कि उसे परमाणु रूप ही क्यों न माना जाय, क्योंकि परमाणु भी निरवयव होता है और वह नित्य भी है, इसका उत्तर है कि परमाणु में देशपरिच्छेद होता है, आत्मा में नहीं, अतः आत्मा को परमाणु नहीं कहा जा सकता। प्रश्न होता है कि परमात्मा में अनादि होने से सजातीय और विजातीय भेद का न होना तो ठीक है, परन्तु वह अपनी शक्तियों से समस्त प्रपंच की रचना करता है, अतः उसमें स्वगत भेद तो मानना होगा। उसका उत्तर देते हैं कि वह निर्गुण होने से स्वगत भेद वाला भी नहीं है।

तत्त्वप्रकाशिका में परमात्मा का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि देह, मन, बुद्धि आदि का भी आत्मा शब्द से व्यवहार किया जाता है, ईश्वर इन सबसे परे है, अतः उसे परमात्मा कहा जाता है।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि जैसे सूर्य के प्रतिबिम्ब में क्रिया होने पर भी सूर्य पर उसका कोई प्रभाव नहीं, वैसे ही शरीर की क्रियाओं का कोई लेप आत्मा पर नहीं पड़ता। श्री शंकरानन्द ने निर्गुण का अर्थ गुण की कार्यभूत प्राणादि षोडश कलाएँ भी किया है और उनसे रहित होने के कारण भी परमात्मा को निर्गुण कहा है।

ऐसा कोई दृष्टान्त भी है कि नहीं कि जो सर्वदा कहीं रहता हुआ भी वहां के विकारों से दूर रहे ! अग्रिम पद्य में इसी के दृष्टान्त के लिए कहते हैं कि "जैसे सूक्ष्मता के कारण सर्वत्र अवस्थित होता हुआ भी आकाश उपाधिभूत द्रव्य से उपलिप्त नहीं होत वैसे ही देह में सर्वत्र अवस्थित आत्मा भी उपलिप्त नहीं होता"। (३२)

यहां आत्मा जैसे अनन्त देहों में सर्वत्र अवस्थित है वैसे ही प्रत्येक देह में भी सर्वत्र अवस्थित है यह 'सर्वत्र' पद की विशेषता है। श्री वल्लभाचार्य ने 'सौक्ष्म्यात्' का अर्थ 'अणु होने से' किया है। श्री नीलकण्ठ और श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'सौक्ष्म्यात्' का अर्थ असंग 'स्वभाव वाला होने से' ऐसा किया है।

आत्मा के अकर्तृत्व और निर्लेप होने को दूसरा दृष्टान्त देते हुए परमकारुणिक भगवान् कहते हैं कि–

"जैसे एक सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित कर रहा है वैसे ही सम्पूर्ण क्षेत्र को एक ही क्षेत्री प्रकाशित करता है"। (३३)

क्षेत्री ही अपने ज्ञान रूप प्रकाश से समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है। जैसे प्रकाशित करने वाला सूर्य निर्लेप भाव से ही समस्त चराचर को प्रकाशित करता है, वैसे ही निर्लेप भाव से क्षेत्री भी समस्त क्षेत्रों को प्रकाशित करता है। श्री वल्लभाचार्य आत्मा को ईश्वर का अंश मानते हैं अत: उनकी व्याख्या है कि जैसे ईश्वर का नेत्र होता हुआ रवि संपूर्ण लोकों का प्रकाशक है, वह भी ईश्वर का ही अंश है; वैसे ही ईश्वर का अंश जीव भी ज्ञान रूप ज्योति से सम्पूर्ण क्षेत्र का प्रकाशक है।

आत्मा को अणुपरिमाण माननेवाली तत्त्वप्रकाशिका में कहा है कि यहां परिच्छिन्न परिमाण वाले सूर्य का उदाहरण देने से आत्मा भी परिच्छिन्न परिमाण वाला ही है। उन्होंने विभुपरिमाण और मध्यमपरिमाण मानने में दोष दिखाते हुए अणु परिमाण पक्ष को ही इस दृष्टान्त से माना है।

श्री नीलकण्ठ ने लिखा है कि सूर्य अपनी सत्ता मात्र से समस्त लोकों को प्रकाशित करता है न कि तन्तुवाय की तरह व्यापार में प्रवृत्त होता हुआ ! सूर्य के दृष्टान्त से एकत्त्व और अकर्तृत्त्व के कारण आत्मा का निर्लेप होना श्री नीलकण्ठ ने लिखा है।

अन्त में अध्याय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि–"इस प्रकार ज्ञान चक्षु से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का अन्तर और भूतप्रकृति के मोक्ष को जो समझ जाते हैं वे परमभाव को प्राप्त करते हैं"। (३४)

ऊपर जिन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की व्याख्या की जा चुकी है उनके अन्तर को जानने का परम फल परमपद अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर लेना ही है। ऊपर दोनों का अन्तर भी बतला दिया गया है, यही उसकी फलश्रुति है। ज्ञानचक्षु का अर्थ है शास्त्रों अथवा आचार्य के प्रसाद से विवेक दृष्टि मिलना। यहां लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि नवम अध्याय में जिस राजविद्या का निरूपण है वह प्रत्यक्ष चर्मचक्षु का विषय है, उसके अनन्तर एकादश में जो विश्वरूप वर्णन है वह भगवद्भक्त को दिव्य चक्षुओं से मिलता है। अब

यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विवेचन ज्ञान चक्षुओं से बतलाया गया है। पद्य के 'भूतप्रकृतिमोक्ष' पद के ऊपर व्याख्याकारों में मतभेद है। श्री शंकराचार्य भूतों की प्रकृति जो अविद्या नाम की है उसके अभाव को ही मोक्ष कहते हैं, परन्तु अन्य सांख्य सम्मत व्याख्या को मानने वाले समस्त भूतों की जो मूल प्रकृति है उसका मोक्ष होना अर्थ करते हैं। उनके अनुसार पुरुष तो निर्लेप द्रष्टा मात्र है, बन्ध और मोक्ष दोनों ही प्रकृति के ही होते हैं। लोकमान्य तिलक ने भी यही व्याख्या मानी है। परन्तु अन्य व्याख्याकार इस मत का खण्डन करते हुए गीता में मोक्ष और परमतत्त्व के विषय में सांख्य का प्रतिपादन नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हुए '**भूतेभ्यः प्रकृतेश्च मोक्षः**' ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् अविद्या के कार्यों से मोक्ष का ज्ञान हो जाना। इस रहस्य को समझने वाले परमपद के भागी होते हैं। श्री नीलकण्ठ ने यहां यही प्रश्न किया है कि क्या दर्शन की तरह गुणों के और पुरुष के अन्तर मात्र को समझ लेना ही मोक्ष है, इसी का उत्तर उन्होंने 'भूतप्रकृतिमोक्ष' पद से माना है कि आकाश आदि भूतों की प्रकृति जो अविद्या है उसका मोक्ष अर्थात् समूलोन्मूलन हो जाने पर ही परमपद की प्राप्ति होती है। दोनों का अन्तर मात्र जान लेने से ही मुक्ति नहीं हो जाती जैसा कि सांख्य दर्शन में माना जाता है। यदि प्रकृति एक सत्य और व्यापक हो तब व्यापक और निर्लेप दृष्टि वाले बहुत से पुरुषों के द्वारा उसका देखा जाना अपरिहार्य ही रहेगा। ऐसी स्थिति में प्रकृति का मुक्तावस्था में भी दर्शन होने से मुक्त पुरुषों का भी पुनर्बन्ध मानना होगा। यदि वह प्रकृति मिथ्या है तब जिसको आत्मा का साक्षात्कार हो जायगा उसकी दृष्टि में रज्जु में दिखाई देने वाले सर्प की भांति सर्वदा के लिए प्रकृति का अभाव हो गया, यही कहना होगा। अनात्मज्ञ अन्य पुरुषों के लिये प्रकृति अनादि अनन्त है, यह कहा जा सकता है। इसलिए प्रकृति और पुरुष के केवल भेद को समझ लेना ही मोक्ष है ऐसी बात नहीं अपितु जैसे रज्जु के ज्ञान से सर्प का बाध होता है और उसी बाध के फलस्वरूप भय से निवृत्ति होती है उसी प्रकार पुरुष या आत्मा के ज्ञान से प्रकृति या अविद्या का बाध होने के अनन्तर जन्म मरणादि के प्रवाह से मुक्ति मिलती है।

# दशम-पुष्प

## चतुर्दश अध्याय

### श्री भगवानुवाच

**परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।**
**यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगताः ।।१।।**
**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।**
**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।२।।**

विगत अध्याय में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का निरूपण हुआ। प्रकृति और पुरुष अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अविद्या के द्वारा एक दूसरे पर अध्यास से समस्त सृष्टि होती है तथा उनके यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर जब ज्ञान के द्वारा अविद्या निवृत्त हो जाती है तब मोक्ष होता है; अमानित्व आदि ज्ञान साधनों के द्वारा बन्ध से मुक्ति हो जाती है। सत्त्वादि गुणों से युक्त सुख आदि का संग बन्धन का कारण है, यह सब विवेचन पूर्व अध्याय में हुआ। अब प्रस्तुत अध्याय में तीनों गुण किस प्रकार बन्ध करते हैं और किस प्रकार उस बन्धन से मुक्ति मिल सकती है, यह विवेचन करना है। साथ ही ऊर्ध्वगमन, नीचगमन, और मध्य में स्थिति होना इस महत्वपूर्ण विषय का भी प्रतिपादन होगा।

श्री शंकराचार्य ने प्रस्तुत अध्याय का आरंभ बतलाते हुए दार्शनिक भंगिमा से इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि विगत अध्याय में सांख्य दर्शन की ही संज्ञाओं का व्यवहार और उसी की प्रक्रिया का प्रतिपादन देखकर बहुत अशों में गीता के संसार के स्वरूप कथन का आधार सांख्य दर्शन को माना जाना संभव है। परन्तु प्रक्रिया में सांख्य दर्शन और वेदान्त दर्शन का साम्य रहते हुए भी मूल तत्त्व के प्रतिपादन में दोनों दर्शनों में भेद है, इस बात को हम विगत प्रवचनों में स्पष्ट कर चुके हैं। जैसा कि गीता प्रवचन के प्रथम भाग में कहा जा चुका है, वेदान्त दर्शन में भी अनेक संप्रदाय हैं, उनमें जगत के मूलतत्व के विषय में मुख्य मतभेद है। कोई मूलतत्वों को अनेक मानते हैं, उन्हें द्वैतवादी कहा जाता है, कोई विशिष्टाद्वैतवादी हैं, कोई शुद्धाद्वैत-वादी और कोई अद्वैतवादी हैं। ये सभी वाद वेदान्त दर्शन के ही अवान्तर भेदों में परिगणित होते हैं। सांख्य दर्शन भी द्वैतवादी दर्शन है, तब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि वेदान्त के द्वैतवादी सम्प्रदाय और सांख्य में क्या भेद होगा। भेद यही है कि जहां द्वैतवादी सांख्य जगत के मूल में दो तत्त्वों का विवरण देता हुआ प्रकृति और

पुरुष दोनों को स्वतन्त्र कहता है वहाँ वेदान्त का द्वैतवाद दो मूलतत्वों को मानते हुए भी चेतन सत्ता से भिन्न तत्त्व को स्वतन्त्र नहीं अपितु चेतन सत्ता के आधार पर अवस्थित मानता है। अद्वैत दर्शन की दृष्टि में ब्रह्म अपनी माया शक्ति को साथ में लेता हुआ समस्त संसार की सृष्टि और उसका संहार करता है। वह माया ही प्रकृति है वह त्रिगुणात्मिका है, सत्व, रज और तम ये ही प्रकृति के भेद हैं। इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति के आधार पर सृष्टि कैसे उत्पन्न हो जाती है, कैसे सर्वव्यापक सच्चिदानन्दसत्ता गुणत्रय के बन्धन में आती है, यही प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

माध्वभाष्य में कहा गया है कि विगत अध्याय में–

**"साधनं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु"**

इत्यादि के द्वारा क्षेत्रज्ञ के व्यवहारिक स्वरूप में आबद्ध हो जाने का साधन गुणों का सङ्ग बतलाया गया है। उसी साधन सम्पत्ति रूप गुणत्रय के स्वरूप का विवेचन, और कौन गुण किस प्रकार चेतन को आबद्ध करता है यही आगे के पांचों अध्यायों का विषयहै। यद्यपि अनेक पद्यों में आगे ईश्वर के माहात्म्य का भी वर्णन है, परन्तु प्रधान रूप से उपर्युक्त वर्णन ही प्रस्तुत किया गया है।

श्री वेंकटनाथ प्रस्तुत चतुर्दश अध्याय में विगत त्रयोदश अध्याय में कहे गए प्रकृति के संक्षिप्त स्वरूप का ही विस्तार से कथन मानते हैं। उन्होंने भी सांख्यानु-सारिणी प्रतिपादन की प्रक्रिया का वही पूर्वपक्ष और उसका वही समाधान दिया है जो श्री शंकराचार्य ने लिखा है।

श्री वल्लभाचार्य की व्याख्या में यह भी कहा गया है कि गत अध्याय के अन्तिम पद्य में "यान्ति ते परम्" में जो पर शब्द का अर्थ है उसे भी प्रस्तुत अध्याय में खोला गया है।

श्री नीलकंठ ने भी उसी पूर्व अध्याय के अन्तिम पद्य से संगति जोड़ते हुए लिखा है कि भूतप्रकृति क्या है ? किस आधार पर वह भूतों को उत्पन्न करती है? कैसे वह बन्धन करती है ? उससे मोक्ष कैसे होता है ? मुक्त पुरुषों का क्या लक्षण है ? इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालने के लिए चतुर्दश अध्याय का प्रारंभ किया जाता है।

श्री शंकरानन्द ने लिखा है कि मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु पुरुष के लिए तीनों गुणों और उनके कार्यों को जानलेना परमावश्यक है, इसीलिए गुणत्रय का यहां परिचय दिया जाता है।

लोकमान्य तिलक ने गीता के प्रस्तुत सन्दर्भ का साम्य अनुगीता और मनुस्मृति के चतुर्दश अध्याय में भी बतलाया है।

अग्रिम पद्यों का अर्थ है–"पुनः ज्ञानों में उत्तम परमज्ञान कहता हूं, जिसे जानकर सारे मुनिगण यहां से परमसिद्धि को प्राप्त हो गए। इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य में आ जाने वाले सृष्टि काल में उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में उनको कोई व्यथा नहीं होती"। (२)

यह बात नहीं है कि प्रस्तुत महत्वपूर्ण ज्ञान का उपदेश पूर्व नहीं आया है। गीता के विगत अध्यायों में अनेक बार गुणत्रय का विवेचन हो चुका है। परन्तु एक तो यह बहुत ही गंभीर विद्या है, गंभीर विद्या अनेक बार कहने पर ही बुद्धि में ठीक प्रकार से बैठती है। दूसरे भगवान् अर्जुन को सम्यक् रूप से ज्ञानोपदेश करके उसके अज्ञान को सर्वथा निर्मूल कर देना चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने पूर्व कथित गंभीर ज्ञान को भी सरलता से बुद्धिगम्य बनाने के लिए स्वयं ही पुनः कहने का आश्वासन दिया है। ज्ञान के यहां दो विशेषण हैं 'परम्' और 'उत्तमम्'। पर तो वह इसलिए है कि उसका विषय पर वस्तु है और इस ज्ञान का फल उत्तम भी कहा गया है। जिसका फल उत्तम हो वही उत्तम होता है। इस ज्ञान का फल है मोक्ष; वही सब फलों में उत्तम फल है। उस मोक्ष की प्राप्ति जिस ज्ञान से होती है वह ज्ञान भी अवश्य ही उत्तम होगा ! भगवान् ने कहा है कि यह ज्ञानों में उत्तम ज्ञान है। किन ज्ञानों में उत्तम है ? क्या विगत अध्याय में कहे गए अमानित्व आदि ज्ञान से उत्तम यह है ? श्री शंकराचार्य ने यह नहीं माना। उन्होंने लिखा है कि यहाँ अमानित्व आदि से उत्तमता बतलाने में प्रयोजन नहीं अपितु अन्य जो कर्मकाण्ड में विहित यज्ञ यागादि का ज्ञान है, उससे इस ज्ञान की उत्तमता बतलाना यहां भगवान् को अभीष्ट है। यज्ञयागादि का ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान क्यों न माना जाय इसका उत्तर है कि मोक्षरूप सर्वोत्तम फल को देने वाला ज्ञान यज्ञयागादि का नहीं है; उससे तो अधिकाधिक स्वर्गप्राप्ति तथा ऐहलौकिक समृद्धि की प्राप्ति ही सिद्ध होती है। मोक्ष तो इसी ज्ञान से होता है। इससे यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि भगवान् ने इतर ज्ञानों को निकृष्ट कहा है। यहां का प्रयोजन तो श्रोताओं में इस ज्ञान की ओर रुचि पूर्वक जिज्ञासु भावना उत्पन्न करना है। क्या इसका कोई उदाहरण भी है, भगवान् सभी मुनियों का उदाहरण दे रहे हैं कि वे सभी मुक्त हो गए, उनके देहबन्धन छूट गए, श्री शंकराचार्य ने मुनि का अर्थ मननशील संन्यासी किया है। यद्यपि संन्यासाश्रम चतुर्थ आश्रम है। इतने थोड़े से काल में ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाना कैसे संभव है, इसीलिए उन्होंने मननशील

संन्यासी कहा है। जो निरन्तर मनन चिन्तन करता रहे वह सर्वदा ही संन्यासी है, इसके लिए आयु का बन्धन नहीं है।

श्री रामानुजाचार्य ने कहा है कि जो ज्ञान पहिले बतलाया गया है उससे भिन्न परन्तु प्रकृति और पुरुष के अन्तर्गत ही पुनः ज्ञान का उपदेश करता हूं। उन्होंने यहां यज्ञ यागादि को पृथक् नहीं किया अपितु प्रकृति पुरुष सम्बन्धी जो अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं उन्हीं में यह सर्वोत्तम ज्ञान है ऐसा कहा है।

श्री वेंकटनाथ ने यज्ञादि को बहिरङ्ग और इस ज्ञान को अन्तरङ्ग कहा है।

श्री वल्लभाचार्य की तत्त्वदीपिका में कहा गया है कि पूर्व के अध्याय के अन्तिम पद्य में जो 'यान्ति ते परम्' कहा गया; उसी 'परम्' की व्याख्या से यह अध्याय आरंभ होता है। 'प्रवक्ष्यामि' का अर्थ उन्होंने विवरण सहित कहूंगा ऐसा किया है। वह परमज्ञान अचिन्त्यशक्ति और महिमा से युक्त पुरुषोत्तम का ही ज्ञान है।

श्री नीलकण्ठ ने दार्शनिक दृष्टि से परज्ञान का विवरण इस प्रकार दिया है कि सभी ज्ञानों में ज्ञाता, वृत्ति और पदार्थ इन तीनों का समावेश होता है। "मैं घट को जानता हूं" इस ज्ञान का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होगा कि इस में तीन भाग हैं, "मैं" का अर्थ है प्रमाता या ज्ञाता, "जानता हूं" का अर्थ है घटाकार वृत्ति होजाना, जिस विषय का ज्ञान होगा चित्त की वृत्ति तदाकार हो जायगी यही दार्शनिक परिभाषा में वृत्तिज्ञान कहा जाता है, तीसरा अंश घट स्वयं होगा। इन तीनों में प्रमाता और विषयाकार चित्तवृत्ति तो अनिवार्य ही है, तीसरे ज्ञान का अंश जो घट है वह प्रकाशरूप है। घट के ज्ञान में जो घट है वह प्रकाशरूप ही कहा जा सकता है। घट यहां उदाहरण के लिए ले लिया गया है, वह ज्ञान मात्र का उपलक्षण है। किसी भी ज्ञान में जिसका ज्ञान होगा वह वस्तु प्रकाशरूप से ही विद्यमान रहेगी, उसका जो इन्द्रियवेद्य स्थूल रूप है वह तो ज्ञान का अंग है नहीं, वह तो ज्ञान का जनक बनकर रह जाता है। अतः प्रत्येक ज्ञान में अवस्थित जो परज्ञान है वह ब्रह्म ही है, वह प्रकाशरूप है। उन्होंने यह वार्तिककार की कारिका उद्धृत की है कि–

**परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता**
**संविद् सैवेह ज्ञेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ।**

अर्थात् बाह्य जितने भी ज्ञान के विषयभूत पदार्थ हैं, उनका जो फल है उसे 'संवित् कहा जाता है, वह प्रकाशरूप है, वेदान्त के द्वारा उसे ही परम विज्ञेय बतलाय जाता है।

श्री शंकरानन्द ने प्रस्तुत ज्ञान की उत्तमता को समझाने के लिए कहा है कि यद्यपि मुक्ति का असाधारण कारण आत्मा और अनात्मा का पृथक् ज्ञान हो जाना, आत्मा की ब्रह्म से अभिन्नता का ज्ञान हो जाना, तथा प्रकृति के विलीन होने का ज्ञान हो जाना ही है। ऐसी स्थिति में उसे ही मुक्ति का कारण होने से सर्वोत्तम ज्ञान कहना चाहिए। यहां जो गुणों और उसके कार्यों का ज्ञान बतलाया गया है उससे ब्रह्मवेत्ता गुण की वासना से उत्पन्न होने वाली बाहरी प्रवृत्ति को रोक कर सम्यक् दर्शन का अभ्यासी हो जाता है, इससे ज्ञान और उसके प्रकाशरूप फल का प्रतिबन्ध नहीं होता। यों तो ज्ञान भी प्राप्त होता रहता है, उसका प्रकाश भी सभी को होता रहता है, परन्तु प्रतिबन्धक सामग्री के भी सर्वदा सामने रहने पर ज्ञान और फल दोनों का प्रतिबन्ध भी होता रहता है। यही मुक्ति मार्ग में बड़ी बाधा है। तीनों गुणों और उनके कार्यों के ज्ञान के अनन्तर प्रतिबन्ध होने का भय जाता रहता है और ब्रह्मवेत्ता को विदेह कैवल्य प्राप्त हो जाता है। इसीलिए गुणों का यह ज्ञान आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से भी उत्तम माना गया है। जैसे रोगी के लिए रोग कैसा है, उसकी क्या औषध है, औषध का क्या अनुपान है, उसरोग में क्या पथ्यवस्तु लेनी चाहिए, इत्यादि के ज्ञान से भी बढ़कर लाभ पहुँचाने वाला ज्ञान यह होता है कि अमुक वस्तु अपथ्य है, उसके सेवन से औषध और पथ्य से पहुँचने वाले लाभ का प्रतिबन्ध होता है, अतः अमुक अपथ्य पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए। इससे अपथ्य के प्रतिबन्ध से जब निवृत्ति हो जायगी तभी पथ्य और औषध का यथार्थ लाभ प्राप्त हो सकेगा। औषध के सेवन और आरोग्य की सिद्धि को भी अपथ्य के अभाव में ही बल मिल सकेगा। उपर्युक्त उदाहरण के ही आधार पर प्रकृत में भी इसीलिए प्रतिबन्धक गुण और उनके विकारों के ज्ञान को उत्तम कहा गया है। क्योंकि गुणों और उनके प्रभावों के अभाव में ही ज्ञान को बल मिल सकेगा। अन्यथा कितना भी विशिष्ट ज्ञान प्रतिबन्धकों के रहने पर अकिंचित्कर हो जायगा।

अग्रिम पद्य में भगवान् ने यह बतलाया है कि इस ज्ञान का फल अवश्यंभावी है; इस ज्ञान का आश्रय लेकर जिन्होंने व्यवहार का परिचालन किया वे मेरे साधर्म्य को प्राप्त हो गए। यहां 'साधर्म्य' के अर्थ में व्याख्याकारों में मतभेद है। श्री शंकराचार्य, श्री शंकरानन्द, श्री मधुसूदन सरस्वती आदि अद्वैत सिद्धान्त के अनुयायी व्याख्याकार साधर्म्य का अर्थ सारूप्य करते हैं। '**ब्रह्मवेद ब्रह्मवैव भवति**' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म को जान लेने वाला ब्रह्मरूप ही हो जाता है, यही बात सिद्ध होती है। गीता में क्षेत्रज्ञ और परब्रह्म में कुछ भी अन्तर नहीं है, यह बात विगत अध्याय के प्रवचनों में विस्तार से कही जा चुकी है; अतः क्षेत्रज्ञ का ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेना उक्त आचार्यों ने माना है।

श्री रामानुजाचार्य के सिद्धान्तानुसार मुक्तात्मा ब्रह्मरूप नहीं अपितु ब्रह्म के समान हो जाता है। उसमें भी सर्वात्मत्व, सर्वनियन्तृत्व, सबका अधिष्ठाता होना आदि धर्म आ जाते हैं। यही उनके यहां 'साधर्म्य' का अर्थ होगा। 'साधर्म्य' या समानधर्मता भिन्नता में ही हो सकती है। भिन्नता के न रहने पर समानता कैसे रहेगी और समानता के न रहने पर सधर्मता कहां से होगी। इस प्रकार अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार 'साधर्म्य' की व्याख्या की गई है। सृष्टि में उत्पन्न न होना और प्रलय में व्यथित न होना जो बतलाया गया है उस पर श्री शंकरानन्द यह प्रश्न करते हैं कि जो भगवान् के साथ साधर्म्य को प्राप्त हो गया उसकी सर्ग में उत्पत्ति और प्रलय में व्यथा का प्रश्न ही नहीं उठता। तब क्या यह यथास्थित वस्तु का ही कथन है। इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यह अप्राप्त निषेध नहीं है। एक वह भी मुक्तावस्था है जब शिव विष्णु आदि के लोकों में प्राप्त होकर भी प्राणी मुक्त कहलाता है। परन्तु वह मुक्ति अपुनर्भव देने वाली नहीं है। शिव विष्णु आदि की सृष्टि के समय उनको फिर उस रूप में उत्पन्न होना पड़ेगा। विद्वानों को कहीं ऐसा सन्देह न हो जाय कि भगवान् यहां जिस साधर्म्य रूप मुक्ति की बात कह रहे हैं वह भी कहीं वैसी ही मुक्ति तो नहीं है जिसमें फिर उत्पन्न होने का प्रश्न आवे। उसी का निषेध यहां भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में किया है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने वाले फिर कभी भी संसृति के चक्र में आते ही नहीं।

---

# एकादश-पुष्प

**मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्**
**संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ।।३।।**
**सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः संभवन्ति याः**
**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।४।।**

"हे भारत; महान् ब्रह्म मेरी योनि है, मैं उसमें गर्भ का आधान करता हूं। फिर समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है, हे कौन्तेय; समस्त योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं उनकी योनि तो महद् ब्रह्म है और मैं उनका बीजप्रद पिता हूं।"

संसार चक्र से छुटकारा पाना ज्ञान से ही संभव है। अतः यहां से भगवान् ने यह यह कहना प्रारंभ किया कि यह संसार चक्र प्रारंभ किस प्रकार होता है। कह चुके हैं कि जिससे बचना हो उसका भी ज्ञान आवश्यक है। सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया थोड़े से अक्षरों से समझा देना बड़ा कठिन कार्य है। सृष्टि की उत्पत्ति हमसे बहुत दूर की वस्तु है। भगवान् तो नित्य हैं, अतः उनके लिए तो कुछ भी परोक्ष नहीं है, परन्तु हमारे लिए तो वह प्रक्रिया सर्वथा परोक्ष है। परोक्ष विषयों को समझने की यही शैली है कि उस परोक्ष विषय की समानता रखने वाली जो बात हमारे सामने घटित होती हो उसको आधार बनाकर परोक्ष विषय को कह दिया जाता है। समझाने में इस प्रकार की समानता जब विषय से पृथक् करके कही जाती है तब तो उसे दृष्टान्त या उदाहरण कह देते हैं; परन्तु जब समानता का प्रस्तुत संदर्भ से नितान्त पार्थक्य अभीष्ट नहीं होता तब उस स्थिति में जो व्यवहारिक समानता प्रतिपाद्य विषय के साथ स्थापित की जाती है, उसे आलंकारिक शैली कहा जाता है। इसका प्रयोजन विषय प्रतिपादन की सरलता ही है। संपूर्ण संसार चक्र कैसे प्रारंभ में प्रवर्तित होता है, इस अत्यन्त परोक्ष विषय को समझाने के लिए यहां भगवान् ने यह उदाहरण लिया कि प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति का जो क्रम प्रत्यक्ष सभी को अनुभूत और नित्य-दृष्ट है उसी क्रम के आधार पर सृष्टि के आरंभ की भी झलक मिल सकती है। दूसरी बात यह भी है कि भारतीय दर्शनों का यह सिद्धान्त है कि "**यद्यत्पिण्डे तत्तद् ब्रह्माण्डे**" अर्थात् प्रत्येक प्राणि-पिण्ड में सृष्टि आदि का जो क्रम देखा जाता है, समस्त ब्रह्माण्ड का भी वही क्रम है। इसलिए भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रतिपादन शैली मनोवैज्ञानिक आधार रखती है और इस शैली से दुर्बोध विषय भी अनायास ही बोध-गम्य हो जाता है।

प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति का क्रम यही है कि योनि में बीज का आधान होता

है; वह गर्भ स्थित बीज समय पाकर पोषण प्राप्त करता हुआ प्राणि-शरीर के रूप में प्रकट हो जाता है। जिस गर्भाधान की प्रक्रिया से प्रत्यक्ष समस्त प्राणियों की उत्पत्ति देखी जाती है, वही प्रक्रिया यहां सम्पूर्ण सृष्टि आदि उत्पत्ति के विषय में भी भगवान् ने बतलायी है। यद्यपि सृष्टि का यह चक्र अनादि माना गया है परन्तु सृष्टि और लय दोनों की परम्परा चलती है। लय के अनन्तर जो सृष्टि होती है उसी का क्रम समझाना यहां लक्ष्य है।

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि भगवान् की आत्मभूत जो माया शक्ति है, जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति कहलाती है, वही गर्भाधान के लिए योनि रूप है। योनि का अर्थ होता है कारण; प्रकृति ही समस्त चराचर प्रपंच का कारण है। प्रस्तुत पद्य में उसे 'महत् ब्रह्म' कहा गया है। यहां ईश्वर के लिए जिस ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ करता है उसी का प्रयोग हुआ है। परन्तु यह यहां योनि का ही विशेषण है। 'महत्' और 'ब्रह्म' ये दोनों ही विशेषण यहां योनि रूपा प्रकृति के लिए प्रयुक्त किये गए हैं। वह अपने विकारों से बहुत बड़ा है, सभी विकारों का वह कारण है तथा सभी का भरण वह करती है इसीलिए प्रकृति या माया को यहां 'महत्' और 'ब्रह्म' कहा गया है। उसी प्रकृति में हिरण्य गर्भ की उत्पत्ति का कारण जो गर्भ है उसका निक्षेप भगवान् ने बतलाया। पद्य में जो 'अहम्' शब्द आया है, उसका अर्थ है क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूपिणी दोनों प्रकृतियों का स्वामित्व रखने वाला ईश्वर। उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि अविद्या से प्रयुक्त कामना पूर्वक कर्म की उपाधियों का अनुगमन करने वाला जो क्षेत्रज्ञ है, ईश्वर उसे क्षेत्र से संयुक्त कर देता है। हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के अनन्तर उस हिरण्यगर्भ से फिर समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। उस चराचर की उत्पत्ति का कारण यही क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोग रूप गर्भाधान है।

श्री वेंकटनाथ की ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में कहा गया है कि योनि रूप प्रकृति देश और काल से सीमित न होने के कारण 'महत्' कही गई है; वह बृंहणशील होने के कारण ब्रह्म है। समस्त कार्य रूप विकारों की वृद्धि करते रहना ही उसकी बृंहणशीलता है। वही ईश्वर के द्वारा किये जाने वाला गर्भाधान का स्थान है। उसमें ईश्वर समस्त भूत जगत के कारण रूप "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय" मैं एक हूं, बहुत रूपों में उत्पन्न हो जाऊँ, ऐसा श्रुतियों में प्रतिपादित जो ईक्षणरूप संकल्प है उसका आधान करता है। वही यहां गर्भाधान कहा गया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती और श्रीवेंकटनाथ दोनों आचार्यों ने यहां प्राणि की उत्पत्ति को उपमान के रूप में ग्रहण किया और उपनिषद के आधार पर जीव की उत्पत्ति की

प्रक्रिया का भी संक्षेप में दिग्दर्शन किया है। उपनिषदों में सूक्ष्म 'आप' रूप प्राण की पुरुष या प्राणि शरीर के रूप में परिणत हो जाने तक की पांच श्रेणियां कही गई हैं। इन्हें उपनिषद में आहुति कहा गया है। प्रथम आहुति चन्द्रमण्डल से मेघों में होती है। दूसरी आहुति मेघों से पृथ्वी पर वर्षा के रूप में होती है। तीसरी आहुति अन्न के मानव शरीर में पहुँचने के रूप में होती है। चौथी आहुति पिता के द्वारा माता के शरीर में गर्भाधान के रूप में होती है और अन्तिम पांचवीं आहुति में उपर्युक्त क्रम से चन्द्रमण्डल से चला हुआ वह प्राण तत्त्व प्राणि शरीर के रूप में अवतीर्ण होता है। यहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि जिस प्राणतत्त्व की यह आहुतियां बतलाई गई हैं उसे शास्त्र की परिभाषा में अनुशयी कहा जाता है। इस प्रक्रिया का विषद वर्णन हम विगत प्रवचनों में श्राद्ध के प्रकरण में कर चुके हैं। चतुर्थ जो गर्भाधान रूप आहुति बतलाई गई है, उसमें आहार के रूप में अपने शरीर में व्याप्त सन्तान को पिता माता के शरीर में आहुत करता है। इस आहुति से पुत्र शरीर के साथ संयोग प्रारंभ होता है; उसे शरीर प्राप्त कराने की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है और शरीर मिलने से पहिले मांस पिण्ड आदि रूपों में वह जाता है, उसे शास्त्रों में कललादि अवस्थाएं बतलाया गया है। यही क्रम यहां उपमेय रूपा सर्वजगत् सृष्टि में भी भगवान् बतला रहे हैं कि प्रलयावस्था में मुझ में विलीन जो अविद्या वश काम्य कर्मों का अनुशय रखने वाला क्षेत्रज्ञ है उसे कार्य और कारण के समूह रूप में अवस्थित क्षेत्र के साथ चिदाभास नाम के शुक्र से मैं सिंचित करता हूं। यह गर्भ माया वृत्ति रूप होता है। वही मध्य की आकाश वायु, तेज, जल पृथिवी आदि अवस्थाओं में परिणत होता है। उसी गर्भाधान से हिरण्यगर्भादि की उत्पत्ति होती है। स्मरण रहे कि यह उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा विहित गर्भाधान के बिना संभव नहीं क्योंकि इस प्रक्रिया में ईश्वर कृत गर्भाधान ही सम्पूर्ण सृष्टि का आदि कारण है।

श्री वल्लभाचार्य लिखते हैं कि "**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**", इत्यादि पद्य में भगवान् ने सर्ग या सृष्टि का उपक्रम कर दिया है। वह सर्ग प्रकृति का होने से प्राकृत और गुण सम्बन्धी होने से सगुण है। उसी की उत्पत्ति का वर्णन यहां प्रक्रान्त हुआ है। योनि रूप प्रकृति के लिए 'मेरी' कहने का अभिप्राय यह है कि गुणों की कारण रूपा प्रकृति ईश्वरांश और ईश्वर से ही समुद्भूत है। समस्त भूतों का प्रकृति के गुणों के साथ संयोग मैंने ही किया है। ब्रह्म सद्रूप है और प्रकृति सदंश रूप है, वही योनि या वीर्य का निषेक स्थान है। ब्रह्म का अंश होने से प्रकृति को महत् ब्रह्म कहा गया है। प्रकृति समस्त भूतों की कारण रूप और अचेतन है। उसमें बीजरूप चेतना का आधान अक्षरात्मा पुरुष करता है। ईक्षण के द्वारा ही यह गर्भाधान होता है,

वह ईक्षण सृष्टि का बीज है। इससे संयुक्त या मिले हुए पुरुष की 'विराट्' यह संज्ञा है। उसमें उत्पन्न होने वाले प्रकृति और पुरुष दोनों के स्वरूप को धारण करने वाले आत्मा को जीव कहा जाता है। जिस प्रकार माता में उत्पादित पुत्र में पिता और माता दोनों का अंश है, वह माता के अंश को भी धारण करता है और उसमें पिता का भी बीजरूप अंश विद्यमान है, उसी प्रकार यह ईश्वर के द्वारा प्रकृति में समुत्पादित जीव भी ईश्वर का अंशरूप है।

श्रीपुरुषोत्तमजी की अमृत तरंगिणी में ब्रह्म का अर्थ लीला के लिए फैलने वाली किया गया है। वह प्रकृति ही है। वह पुरुषोत्तम भगवान् की योनि अर्थात् क्रीड़ा के लिए विचित्र अनेक वस्तुओं को प्रकट करने वाला गर्भाधान का स्थान है। उसमें भगवान् के गर्भाधान करने का अभिप्राय क्रीडा की इच्छा का भाव स्थापित करना है। इस प्रकार के गर्भाधान के अनन्तर समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। यहां विश्वास उत्पन्न करने के लिए अर्जुन को भारत ! कहकर सम्बोधित भी किया गया है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि पूर्व अध्याय में कही गई भूत प्रकृति क्या वस्तु है, किसके आधार पर वह भूतों को उत्पन्न करती है इस बात को इस पद्य में कहा गया है। यहां 'मम' 'मेरी' का अर्थ शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा है। उसकी योनि का अर्थ है प्रवेश स्थान। 'महद्ब्रह्म' में महत् का, कार्य रूप में प्रथम समुत्पन्न महत्तत्व का जो ब्रह्म अर्थात् बृंहक या पोषक है वह प्रकृति है जिसे अव्यक्त, अव्याकृत आदि पर्याय शब्दों से भी कहा जाता है। उसमें अपने प्रतिबिंब का आधान करना ही गर्भ धारण कराना है। यह प्रतिबिंब चिदात्मा का ही होता है। इस प्रकार चैतन्य से गर्भित जो प्रकृति है उसी से उत्पन्न होने वाले सारे भूतों तथा हिरण्यगर्भादि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार चैतन्य के प्रतिबिम्ब के योग से सृष्टि बतलाकर भगवान् ने सृष्टि के विषय में सांख्य दर्शन में प्रकृति को जो स्वतन्त्र माना गया है उसका खण्डन कर दिया।

श्री रामानुजाचार्य का कथन है कि प्रकृति के गुण किस प्रकार बन्धन के हेतु बनते हैं यह बतलाने के लिए सम्पूर्ण भूत प्रपंच की रचना के लिए प्रकृति और पुरुष संयोग भी भगवान् ने स्वयं ही किया है, यही बात उक्त पद्य से बतलाई गई है। उनका अर्थ है कि समस्त संसार की कारण भूता प्रकृति मेरी ही है। वह महत्तत्व और अहंकार आदि की कारण है, अतः उसे यहां 'महद् ब्रह्म' कहा गया है। यहां प्रकृति मेरी है और वह संपूर्ण संसार की कारण भूता है ऐसी व्याख्या करके 'योनि' के पूर्व में समस्त संसार का अध्याहार किया है। यदि ऐसा न करके यथा श्रुत "मम योनि" दोनों का परस्पर सीधा ही अन्वय किया जाय तब तो 'मेरी योनि, अर्थात् मेरी भी कारण

भूता प्रकृति है', ऐसा अर्थ करना होगा। परन्तु प्रकृति को ईश्वर का भी कारण मानना गीता को अभिमत नहीं। पहिले–

**''मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय''**

इत्यादि में परब्रह्म से आगे और कोई तत्व नहीं है ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। उपर्युक्त यथाश्रुत अन्वय के अनुसार प्रकृति को ईश्वर का कारण मान लेने पर तो पूर्वोक्त श्लोक का विरोध होगा। साथ ही उस व्याख्या में मैं उसमें गर्भाधान करता हूं तथा सभी योनियों में जितनी मूर्तियां हैं उनकी योनि तो महद् ब्रह्म है और मैं उनका बीज वपन करने वाला पिता हूं, यह आगे के श्लोक का अर्थ भी गड़बड़ा जायगा। पहिले तो प्रकृति को ईश्वर का कारण कहना और फिर उसी प्रकृति को योनि रूप मान कर उसके कार्य रूप ईश्वर से उसमें गर्भाधान की बात कहना यह परस्पर विरुद्ध कथन हो जायगा। इसलिए यहां प्रकृति को समस्त संसार की योनि कहने के लिए श्लोक में छोड़ दिये गए 'समस्त संसार' का अध्याहार करना अनिवार्य है। प्रकृति को श्रुति में भी अनेक बार ब्रह्म कहा गया है, उदाहरण के लिए–

**''यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः**
**तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते''**

'जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है, उसी से यह ब्रह्म, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है।' यहां प्रकृति को स्पष्ट रूप से ब्रह्म कहा गया है। यद्यपि प्रकृति और ब्रह्म पारिभाषिक हैं और प्रकृति और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं तथापि जैसे ब्रह्म सबका कारण है और सबसे बृहत् है इसी प्रकार प्रकृति भी महदादि सभी आगे उत्पन्न होने वाले तत्त्वों की कारण है और महदादि सभी तत्त्वों से बृहत् अर्थात् बड़ी भी है अतः ब्रह्म के साथ इन धर्मों के सादृश्य से ब्रह्म से भिन्न प्रकृति को भी यहां ब्रह्म कह दिया गया है। अवश्य ही यह इस शब्द का औपचारिक प्रयोग माना जायगा। सप्तम अध्याय में जो चेतन रूपा भूत प्रकृति बतलाई गई है उसे ही यहां गर्भ शब्द से कहा गया है। प्रश्न उपस्थित होता है कि वहां चेतन को जड़ रूपा अपरा प्रकृति का आधार और जड़ प्रकृति को चेतन का आधेय कहा गया था यहां ''ययेदं धार्यते जगत्'' (७।५) से जीव रूपा परा प्रकृति को जड़ जगत् रूप अपरा प्रकृति का धारण करने वाली स्पष्ट बतलाया गया है। यहाँ उसके विपरीत जड़ प्रकृति को ही जीव रूप गर्भ का आधेय स्थान कहा जा रहा है, यह पूर्वापर विरुद्ध कथन प्रतीत होता है। इसका उत्तर है कि यहां गर्भ रूप जीवप्रकृति और जड़प्रकृति का आधाराधेय भाव नहीं कहा जा रहा है अपितु भगवान् यहां यही कह रहे हैं कि मैं जीव और प्रकृति को संयुक्त कर देता हूं, अचेतन प्रकृति

भोग क्षेत्ररूपा है उसके साथ भोक्ता जीवों को संयुक्त कर देता हूं। मेरे संकल्प के द्वारा संपन्न इन जीव और जड़ दोनों प्रकृतियों के संयोग से ब्रह्म से लेकर घास फूस तक की सम्पूर्ण सृष्टि का प्रादुर्भाव हो जाता है।

आनन्दतीर्थ कृत माध्वभाष्य में आगमशास्त्र की प्रक्रिया का आधार लेते हुए प्रकृति जिसे यहां योनि शब्द से कहा है उसे चेतन माना है, वह श्रीः भूः और दुर्गा इन तीन रूपों में विभक्त है। प्रकृति स्वयं महालक्ष्मी है। यह प्रश्न उठाया गया है कि यहां जड़ प्रकृति का ग्रहण ही उपयुक्त है क्योंकि आगे सत्व रज और तम इन तीन गुणों का विस्तार से वर्णन आवेगा। सत्व रज और तम जड़ प्रकृति के ही भेद हैं, अतः यहां भी महत् ब्रह्म, योनि शब्द से जड़ प्रकृति का ही ग्रहण उचित होगा, अन्यथा पहिले तो यहां चेतन प्रकृति का उपन्यास हुआ और आगे जड़ प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन हुआ यह असंगत कथन हो जायगा। इसका उत्तर उक्त भाष्य और उसकी व्याख्या में यह दिया गया है कि आगे गुणत्रय के रूप में जिस प्रकृति का वर्णन है वह भी चेतन प्रकृति ही है। यद्यपि सत्त्व रज और तम ये तीनों गुण जड़ प्रकृति के ही हैं परन्तु इनमें से प्रत्येक गुण की अभिमानिनी श्रीः भूः और दुर्गा नाम की चेतन प्रकृतियां हैं। यद्यपि प्रकृति रूपा भगवती, माहेश्वरी, कौमारी, माहेन्द्री, श्रीः, भूः, दुर्गा ये सात भेद आगमों में माने गए हैं, फिर यहां श्रीः भूः दुर्गा ये तीन ही भेद प्रकृति के कैसे कहे गए इसका समाधान करते हुए उक्त भाष्य में कहा गया है कि उक्त सात भेदों में आदि के चार भेद भगवती, माहेश्वरी, कौमारी, और माहेन्द्री ये प्रकृति के अवान्तर भेद हैं, ये अन्य जीव रूप हैं, प्रकृति के प्रारंभिक भेद तो तीनों गुणों की अभिमानिनी देवताओं के रूप में अन्तिम तीन श्रीः भूः दुर्गा ही हैं। अपने प्रतिपादित सिद्धान्त की पुष्टि के लिए काषायण श्रुति का यह उद्धरण दिया है कि–

**श्रीर्भूर्दुर्गा महती तु माया या लोकसूतिर्जगतो बन्धिका च**
**उमा वागाद्या अन्यजीवास्तदंशास्तदात्मना सर्ववेदेषु, गीताः**

अर्थात् "जगत् को उत्पन्न करने वाली और उसको बन्धन में लेने वाली महती माया या महामाया श्रीः भूः और दुर्गा इन तीन भेदों से युक्त है। उमा, वाक् (सरस्वती) आदि अन्य जीव उसी के अंश हैं और इन अंशों का भी उसी महामाया शक्ति के रूप में समस्त वेदों में गायन हुआ है। आगे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि योनि शब्द से योनि की प्रजनन और गर्भधारण इन दोनों शक्तियों का बोध हो सकता है। उनमें प्रकृत में योनि शब्द से गर्भधारणगुणसम्पन्ना योनि ही विवक्षित है, वह भगवान् की भार्या रूप में ही यहां ग्राह्य है। "महद् ब्रह्म मेरी योनि है" इसमें योनि शब्द से प्रजनन

गुण वाली योनि का आशय लगाया जायगा तब तो 'मेरीयोनि' कहने का अभिप्राय प्रकृति को अपनी उत्पादिका माता के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु यहां प्रकृति को अपनी जननी बतलाने का अभिप्राय भगवान् का नहीं है। यहां तो उस योनि में वे स्वयं को गर्भाधान करने वाला पिता स्पष्ट शब्दों में ही कह रहे हैं। इसलिए यहां योनि का गर्भ धारण की शक्ति रखने वाली ही अर्थ करना होगा। इसकी पुष्टि में भी प्रस्तुत भाष्य में सामवेद की शार्कराक्ष श्रुति का उद्धरण दिया गया है कि–

**विष्णोर्योनिर्गर्भसंधारणार्था महामायासर्वदुःखैर्विहीना ।**
**तथाप्यात्मानं दुःखिवन्मोहनार्थं प्रकाशयन्ती सह विष्णुना सा ।।**

अर्थात् "सर्वविध दुःखों से विहीन, गर्भ का संधारण करने वाली महामाया नाम की विष्णु की योनि है। यद्यपि वह सभी दुःखों से विनिर्मुक्त है फिर भी अपने को दुःखी की तरह मोहितावस्था में देखने की लालसा से वह विष्णु के साथ स्वयं को प्रकाशित करती है।" सीता जी को जो दुःखादि का अनुभव हुआ था वह सब मिथ्या या केवल प्रदर्शन के लिए ही था।

तत्त्व प्रकाशिका में चेतन और अचेतन शक्ति के अधीश्वर भगवान् का ईक्षण ही गर्भ कहा गया है।

श्री शंकरानन्द ने लिखा है कि प्रकृति से अवच्छिन्न चेतन ईश्वर प्रकृति की अनन्त शक्तियों से सम्पन्न होता हुआ प्रकृति और उसके गुणों के विकारों में क्रियाशीलता उत्पन्न करने के लिए अपने आभास का निक्षेप करता है। ईश्वर के आभास का निक्षेप हो जाने से जो सामर्थ्य प्रकृति में आ जाता है उसी से महत्तत्त्व, भूत, तथा चार प्रकार के प्राणिशरीरों की सृष्टि हो जाती है।

भाष्योत्कर्षदीपिका में 'महद्ब्रह्म' का महत्तत्त्व की बृंहक प्रकृति है ऐसा अर्थ मानना असंगत बतला कर महत् और ब्रह्म दोनों को प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से विशेषण माना गया है जैसा कि उक्त सभी व्याख्याओं में माना है। यह भी प्रश्न उठाया गया है कि हिरण्यगर्भ जो प्रथमोत्पन्न है उसकी उत्पत्ति तो प्रकृति से मानना ठीक है परन्तु सभी भूतों की उत्पत्ति प्रकृति से कैसे बतलायी गई, इसका उत्तर भारत ! इस सम्बोधन से माना है कि भरत का पुत्र ही भारत कहलावेगा, अर्जुन यद्यपि भरत का पुत्र नहीं है, परन्तु भरत के वंश कें आदि पुरुष होने से उस वंश में समुत्पन्न सभी क्षत्रिय भारत शब्द के सम्बोधनीय हो गए। इसी प्रकार यद्यपि प्रकृति से तो हिरण्यगर्भ या महतत्त्व की ही उत्पत्ति होती है, उससे आगे फिर क्रमशः समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है,

परन्तु मूल में प्रकृति से ही उत्पत्ति होने से समस्त भूतों की उत्पत्ति भी प्रकृति से ही कह दी गई है।

राघवेन्द्र की व्याख्या में कहा गया है कि 'महत् ब्रह्म जो चित्प्रकृति है वह मेरी योनि अर्थात् माया है। उसमें मैं गर्भ का आधान करता हूं इसका अभिप्राय है कि २४ तत्त्वों के अंशों से युक्त जीवों का शरीर में निक्षेप करता हूं। इस निक्षेप से समुद्भूत प्राणियों का देहों से संयोग रूप जन्म होता है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार व्यावहारिक आत्मा के अठारह भेद होते हैं जिनका विवरण विगत प्रवचनों में किया गया है। उनमें एक महान् आत्मा भी है। उसके तीन भेद हैं, आकृति महान्, प्रकृति महान्, और अहंकृति महान्। इनमें आकृति महान् का विवरण प्रस्तुत पद्य में है–

**"तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता"**

प्रकृति महान् का निरूपण गीता में अन्यत्र आया है, अहंकृति महान् से अहंकार का ग्रहण होता है जिसे सांख्य शास्त्र में महत्तत्त्व कहा जाता है, आकृति महान् से सभी प्राणियों के आकारों का निर्माण हो रहा है। संसार में सभी जड़ चेतन पदार्थों की असंख्य आकृतियां देखी जाती हैं। देवताओं में भी विविध आकृतियां हैं जिनका वर्णन पुराणादि में सर्वत्र विस्तार से मिलता है। आकृति की सृष्टि क्रम में बहुत बड़ी महत्ता है ! शब्द का संकेत ग्रह भी कई मतों के अनुसार आकृति में ही होता है। ये समस्त संसार में दृष्टिगोचर होने वाली आकृतियां महान् आत्मा नाम के व्यावहारिक आत्मा के आकृति महान् नामक भेद से ही समुद्भूत हैं। विद्यावाचस्पति जी ने सृष्टि विद्या में त्रिपुरुष विज्ञान को मुख्य माना है। क्षर अक्षर और अव्यय ये पुरुष हैं। गीता में इनका वर्णन आया है। इन तीनों पुरुषों की पांच-पांच कलाएं हैं। गीता में भगवान् ने 'अहम्' शब्द से अव्यय पुरुष को ही कहा है जो क्षर अक्षर से अतीत है। यहां भी प्रस्तुत पद्य में 'अहम्' शब्द से अव्यय पुरुष का ही ग्रहण है। उनके मतानुसार पद्य का अर्थ होगा कि अव्यय पुरुष महानात्मा में जो गर्भाधान करता है उससे अक्षर पुरुष की उत्पत्ति होती है और आगे चलकर उसी से सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति होती है। वेदान्त प्रक्रिया में क्षर पुरुष समष्टि व्यष्टि भेद से विश्व और विराट् कहा जाता है और अक्षर पुरुष को तेजस और हिरण्यगर्भ और अव्यय पुरुष को प्राज्ञ और सर्वज्ञ कहा जाता है, इससे यहां हिरण्यगर्भ अर्थ करने वाली व्याख्याओं की संगति हो जाती है। अक्षर पुरुष से क्षर पुरुष बनता है और क्षर पुरुष से सारा जगत् बनता है।

अग्रिम पद्य में भगवान् ने कहा है कि 'देव, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, मनुष्य

पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, आदि योनियों में देहों के आकार रूप जो मूर्तियां हैं उनकी योनि अर्थात् कारण तो महद् ब्रह्म है और गर्भाधान करने वाला पिता मैं हूं"। कहा जा चुका है कि संसार में मूर्ति या आकृति ही मुख्य पहिचान की वस्तु है। आकृतियां अनन्त हैं। पहिले तो प्रत्येक जाति के प्राणियों की आकृतियां अलग-अलग हैं। देवताओं में आकृतियों के अनन्त भेद हैं। विश्वरूप दर्शन के प्रकरण में देवताओं की मूर्तियों का कुछ विवरण हमने दिया है। गन्धर्व, यक्ष आदि देव जातियों की आकृतियां भी पुराणादि साहित्य में विभिन्न प्रकार की वर्णित हैं। राक्षसों का जहां कहीं वर्णन आता है उनकी आकृतियों के वर्णन में विशेष आकर्षण रहता है। इसी प्रकार मनुष्यों की आकृति प्रसिद्ध ही है। पशु पक्षियों की भी प्रत्येक की पृथक् पृथक् आकृतियां हैं। मूर्तियों या आकृतियों के इस जातिगत वैशिष्ट्य से भी अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक ही जाति के एक व्यक्ति की आकृति दूसरे व्यक्ति की आकृति से नहीं मिलती। इसी को कुछ लोग इस प्रकार भी कह दिया करते हैं कि परमेश्वर की सृष्टि में पुनरुक्ति नहीं होती। यदि कदाचित् किसी एक व्यक्ति की आकृति किसी दूसरे व्यक्ति से जैसी की तैसी मिल जाय तो वह संसार में एक आश्चर्य का ही विषय बन जाती है। सारांश यह कि आकृति या मूर्तियां अनन्त हैं। इसीलिए भगवान् ने "या: मूर्तय: संभवन्ति" कह कर संसार में परिदृश्यमान मूर्तियां अनन्त हैं यह दिखाया है। तब जैसे किसी टकसाल या खजाने में सिक्के ढाले जाते हैं वैसे ही इन सभी मूर्तियों का निर्माण करने वाली भी कोई टकसाल है जिसमें निर्मित होकर ये मूर्तियां संसार में प्रादुर्भूत होती हैं। इन सभी मूर्तियों का एक निश्चित सन्निवेश और एक निश्चित विकास क्रम देखकर ऐसा तो माना नहीं जा सकता कि इनकी उत्पत्ति नितान्त आकस्मिक है। अवश्य ही यह सारी मूर्तियां बुद्धिपूर्वक निर्मित नियति के नियमों के आधार पर विकसित हैं, अत: इनका उद्भव किसी निश्चित स्थान से और निश्चित नियम से ही होता होगा। उसी का विवरण भगवान् ने यहां किया है कि ये जितनी मूर्तियां हैं उनकी योनि या कारण या उनका निर्माण स्थान पूर्वोक्त 'महद् ब्रह्म' रूप प्रकृति ही है। प्रकृति में ही इन सभी मूर्तियों का निर्माण हो रहा है और वहीं निर्मित होकर ये मूर्तियां विश्व में प्रकट हो जाया करती हैं। अब साथ ही यह भी प्रश्न सामने आता है कि जिस प्रकार कोई सांचा किसी मूर्ति या आकार को ढाल देता है, परन्तु जिस पदार्थ को वह आकार मिलता है वह पदार्थ उस सांचे के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता है ! पूर्व निर्मित पदार्थ ही सांचे में पहुँच कर विशेष आकार ग्रहण कर सकता है। उसी प्रकार यह प्रकृति को केवल मूर्तियों का निर्माण स्थान मात्र कहा गया है। उन मूर्तियों में जो द्रव्य (Material) भूत पदार्थ है जिसको कि प्रकृति रूपी सांचे में विभिन्न आकार प्राप्त होन

बतलाया जाता है वह पदार्थ कहां से आता है। इसका उत्तर भगवान् ने साथ ही दे दिया है कि उन मूर्तियों में जो मूल व बीजरूप तत्त्व है जिसके आधार पर ही सभी आकारों का निर्माण प्रकृति में हो जाता है, उस बीज का देने वाला स्वयं मैं ही हूं।

श्रीरामानुजाचार्य ने पूर्व पद्य से इस पद्य की आभासित होने वाली पुनरुक्ति को हटाने के लिए कहा है कि सम्पूर्ण संसार प्रपंच की मूल कारणावस्था का परिचय पूर्व पद्य में आया है और उस मूल कारण की उत्पत्ति के अनन्तर आगे की जो भी कुछ दृश्यमान सृष्टि है उसका भी कारण मैं ही हूं इस बात को प्रस्तुत पद्य में बतलाया है। आज भी जो सृष्टि हो रही है और आगे भी जो सृष्टि होगी उसके भी मूल में महद् ब्रह्मरूपा योनि और बीजप्रद पिता मैं ही हूं। प्रश्न हो सकता है कि दोनों पद्यों में वर्तमान काल की क्रिया का ही निर्देश है। वहां 'ददामि' कहा गया था, यहां भी 'संभवन्ति'या अध्याहार करके "अहं बीज प्रदः पिता अस्मि" ऐसा वर्तमान काल का ही निर्देश है। यदि पूर्व पद्य में आदि कारण का निर्देश होता तो अर्जुन के उपदेश काल से पूर्व हो जाने के कारण पूर्व पद्य में भूतकालिक निर्देश होना चाहिए था। "मैंने गर्भाधान किया' ऐसा कहना चाहिए था, कहा तो गया है कि मैं गर्भाधान करता हूं। इसका उत्तर है कि सृष्टि और प्रलय का प्रवाह अनादि और अनन्त है, सर्वदा ही यह क्रम चलता रहता है और सर्वदा ही भगवान् की सिसृक्षा चलती रहती है, वह समाप्त हो गई, अब नहीं होगी या नहीं हो रही है, ऐसा नहीं है। अतः वर्तमानकालिक निर्देश सुसंगत हो जाता है, प्रत्युत यदि भूत कालिक निर्देश किया जाता तो यह शंका उठ सकती थी कि क्या आगे सृष्टि का क्रम रूक जायेगा जो कि भगवान् ने मैंने पहले गर्भाधान किया था ऐसा कहा। महद् ब्रह्म के कारण होने का अर्थ श्री रामानुजाचार्य ने लगाया है कि मेरे द्वारा चेतन वर्ग से संयुक्त महान् से लेकर विशेष पर्यन्त प्रकृति कारण है। भगवान् सर्वत्र कर्मों के अनुसार चेतन वर्ग का संयोग करते हैं यही यहां उनका पितृत्व कहा गया है।

श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि सृष्टि की उत्पत्ति माता और पिता दोनों से होती है। यहां प्रकृति माता है और भगवान् सृष्टि के पिता हैं। इसी प्रकार भगवान् का पुराणादि में जहां कहीं वर्णन आया है प्रकृति के साथ ही आया है। भगवान् की जितनी आराध्य-मूर्तियां हैं उन सभी के साथ संसार की माता के रूप में और भगवान् की अत्यन्त अन्तरङ्ग प्राणवल्लभा के रूप प्रकृति भी नित्य उपास्य है। लक्ष्मीनारायण गौरीशंकर, सीताराम, राधाकृष्ण इत्यादि भगवान् की उपास्यमूर्तियों में शक्ति के रूप में प्रकृति भी उपास्य है।

श्रीपुरुषोत्तम जी ने अपनी अमृततरङ्गिणी में इस श्लोक की व्याख्या के आरम्भ में यह प्रश्न उठाया है कि संसार में दृश्यमान अनेक योनियों में अनन्तता की प्रतीति होती है उन सबका उत्पत्ति स्थान एक ही प्रकृति कैसे होगी। उसी का उत्तर यहां दिया गया है कि प्रकृति से पहले समस्त प्रकार के जड़ चेतनों को उत्पन्न करने वाली सभी योनियाँ उत्पन्न होती हैं और फिर उन योनियों से समस्त मूर्तियां उत्पन्न होती हैं। उन सभी मूर्तियों का उत्पत्ति स्थान प्रकृति है और इच्छा तथा ज्ञान रूप बीज का प्रदाता परमेश्वर स्वयं है। ईश्वर की इच्छा से ही वह महद् ब्रह्म नाना योनियों में भासित हो रहा है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि जैसे पृथिवी से समस्त औषधियां उत्पन्न होती हैं वैसे ही सुर, नर, तिर्यक् और स्थावर इन चारों की मूर्तियां प्रकृति से उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार पुरुष अपनी भार्या में अनुशय से युक्त शुक्र का आधान करता है, भार्या से पिण्ड की उत्पत्ति होती है और शुक्र के अंश से चैतन्य की उत्पत्ति होती है वैसे ही चैतन्य विशिष्ट पिण्ड का पिता ईश्वर है और माता माया है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि भगवान् अपनी विमर्श शक्ति का आलम्बन करके अपने अनादि आत्मा के अणुओं को अनुग्रह के लिए संसार में उत्पन्न करते हैं। पिता भी अपने शरीर के अणुओं को ही माता के शरीर में आहित करता है। सभी योनियों की आदिकारण उनको उपबृंहित करने वाली शक्ति समस्त संसार को उत्पन्न करने का स्वभाव रखने वाली माया है, वही माता है। शक्तिमान् और किसी भी नाम से पूर्णरूपेण सम्बोधन के अयोग्य ईश्वर ही पिता हैं। श्री अभिनवगुप्त ने यहां दैवीमीमांसा-दर्शन का अनुसन्धान कराया है कि सृष्टि के विस्तार के लिए बीज दाता वहां ईश्वर को माना गया है और क्षेत्र रूपिणी प्रकृति ही वहां माया है। जैसे क्षेत्र में अंकुर की उत्पत्ति के लिए बीजवपन किया जाता है वैसे ही प्रकृति रूप क्षेत्र में पुरुष के बीजाधान द्वारा संसार चक्र चलता है। जैसे मनुष्यादि जीव-जगत् की सृष्टि के विस्तार के लिए माता के क्षेत्र में पिता का वीर्याधान आवश्यक है वैसे ही प्रकृति माता के क्षेत्र में परमपिता परमेश्वर के वीर्याधान द्वारा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डात्मक विराट् सृष्टि का उद्भव हो जाता है। यह मातृ शक्ति स्त्री रूपिणी है, इसे वेद स्मृति आदि में कहीं 'संस्त्यानशक्ति' शब्द से कहीं 'अप' 'सलिल' आदि शब्दों से ग्रहण किया जाता है। अव्याकृत अवस्था में स्थित उस महा प्रकृति में परमेश्वर अपने वीर्याधान के द्वारा गर्भ उत्पन्न करता है। उसके अनन्तर महत्तत्त्वआदि के क्रम से सृष्टि का विस्तार होता चला जाता है। यह कौन्तेय ! इस सम्बोधन का आशय लगाया है कि जैसे महेन्द्र के द्वारा अनुगृहीता

कुन्ती से तुम्हारी उत्पत्ति हुई वैसे ही मेरे द्वारा अनुगृहीता प्रकृति से समस्त संसार की उत्पत्ति हो जाती है।

श्री शंकरानन्द ने प्रकृति और ईश्वर के संयोग से उत्पत्ति बतला कर अन्त में लिखा है कि माता प्रकृति और पिता ईश्वर का मोक्ष परब्रह्म के अनुग्रह से ही होता है।

अन्य व्याख्याओं में प्रायः उपर्युक्त विषयों का ही कथन किया गया है। विद्या-वाचस्पति जी के मत का पूर्व श्लोकार्थ में विवरण किया ही जा चुका है कि व्यावहारिक आत्मा के अठारह भेदों में महानात्मा के तीन भेद हैं, उनमें आकृति महान् का यहां वर्णन है। वही बात इस पद्य में और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि सभी आकार महद् ब्रह्म से ही समुद्भूत हैं।

# द्वादश-पुष्प

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।५।।
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ।।६।।
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।७।।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ।।८।।

पहिले के श्लोकों में प्रकृति के समष्टि रूप का वर्णन किया गया। अब यह बतलाया जा रहा है कि प्रकृति से समुद्भूत जो गुण हैं वस्तुतः उन्हीं के द्वारा संसार चक्र चल रहा है। पद्य का अर्थ है कि–

"सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, ये ही शरीर में अव्यय देही को आबद्ध करते हैं"।

श्री शंकराचार्य ने कहा है कि गुण शब्द यहां पारिभाषिक है। न्यायशास्त्र में प्रसिद्ध जो रूप, रस आदि चौबीस गुण हैं उनकी परिभाषा अलग है। जो द्रव्याश्रित हो वह गुण कहलाता है। रूप, रस आदि द्रव्यों के आश्रित हैं अतः वे वहां गुण कहे जाते हैं। यहां सत्त्व, रज, तम को गुण कहने में उस परिभाषा से काम नहीं चल सकता। क्योंकि ये गुण तो प्रकृति रूप हैं और प्रकृति द्रव्य आदि सभी की आश्रय है, ऐसी स्थिति में इन गुणों को द्रव्याश्रित कैसे कहा जा सकता है, प्रत्युत द्रव्यादि सभी पदार्थ इन गुणों के ही आश्रित हैं यही कहना होगा। इसलिए यहां गुण की पृथक् परिभाषा कहनी पड़ेगी। जो गौण या परतन्त्र हो उसे भी गुण कहा जाता है। वही यहां के गुण का भी अभिप्राय है। यद्यपि रूप रसादि में भी गुण का यह अभिप्राय लिया जा सकता है, क्योंकि वे भी द्रव्य के आधीन होकर ही स्थिर रहते हैं, द्रव्य से पृथक् उनकी उपलब्धि नहीं होती, परन्तु वे केवल द्रव्य के ही परतन्त्र हैं, अतः उनकी परिभाषा में द्रव्याश्रित कहना आवश्यक है। ये गुण द्रव्यादि की उत्पत्ति से भी पूर्व विद्यमान रहते हैं अतः इन्हें द्रव्याश्रित नहीं कहा जा सकता। तब ये किस के परतन्त्र हैं। इसका उत्तर श्री शंकराचार्य ने दिया है कि ये क्षेत्रज्ञ के अधीन हैं। बीच में एक

प्रश्न और उठाया गया है कि जैसे रूप रसादि में गुण हैं और जिस द्रव्य के आश्रित रूप रसादि हैं वह द्रव्य गुणी हैं। वह द्रव्य उन गुणों से स्वरूपत: सर्वथा भिन्न है, उसी प्रकार सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृति के हैं अत: प्रकृति को गुणी कहना होगा, तब प्रकृति से गुण पृथक् सिद्ध होंगे। इसका उत्तर यही है कि प्रकृति से गुण पृथक् नहीं हैं, इसीलिए गुण की वह परिभाषा यहां अस्वीकृत कर देनी पड़ी जो रूप रसादि की है। हां, क्षेत्रज्ञ के आधीन होने से क्षेत्रज्ञ से पृथक् सत्ता इनकी मानी जा सकती है। ये गुण क्षेत्रज्ञ के प्रति नित्य परतन्त्र क्यों हैं इसका कारण यह है कि ये अविद्यात्मक हैं। ये क्षेत्रज्ञ को आधार बनाकर ही अपनी स्थिति प्राप्त करते हैं। पद्य में कहा गया है कि ये गुण देह में देही आत्मा को बांधते हैं। भला प्रकृति के द्वारा उत्पादित गुणों में इतनी सामर्थ्य कहां है कि वे आत्मा को बांधे, इसीलिए श्री शंकराचार्य ने बांधने का अर्थ किया है कि बांध सा देते हैं। जैसे कोई बादल आकाश में फैलकर सूर्य बिंब को ढँक सा देता है। वस्तुत: पृथ्वी से भी लाखों गुना बड़े सूर्य में यही बात आती है कि बादल ने सूर्य को ढांक दिया। वही बात यहां भी है कि तीनों गुण आत्मा को क्या बाँधेंगे। परन्तु सामान्य दर्शकों को या संसारी प्राणियों को यही आभास होता है कि गुणों ने आत्मा को बांध लिया। इसीलिए श्री शंकराचार्य ने गुणों के द्वारा आत्मा के बन्धन पर यह शंका की कि आत्मा के लिये तो कहा गया है कि वह लिप्त नहीं होता तब यहां गुणों के द्वारा आत्मा के बन्धन कहने का क्या अभिप्राय है; इसका उत्तर यही है कि ऐसा प्रतीत मात्र होता है कि मानों गुणों ने आत्मा को बांध लिया हो। वस्तु स्थिति में तो गुणों के द्वारा क्षेत्रज्ञ का बन्धन कथमपि संभव ही नहीं है। '**प्रकृति-संभवा:**' का अर्थ है भगवान् की माया से संभूत। सांख्यदर्शन में भी इन तीनों गुणों का विस्तार से वर्णन है, वहां भी ये गुण प्रकृति के ही भेद हैं; परन्तु वहां प्रकृति स्वतन्त्र है। इसीलिए सांख्य सिद्धान्त से गीता के प्रतिपाद्य विषय का पृथक्करण करने के लिए श्री शंकराचार्य ने यहां माया या प्रकृति को भगवान् की शक्ति कहा है।

श्रीरामानुजाचार्य ने इस पद्य के आरंभ में कहा है कि सृष्टि के आरंभ में प्राचीन कर्मों के कारण अचेतन प्रकृति के संसर्ग से देव योनियों में उत्पन्न प्राणियों का पुन: देव भाव से जन्म होता है, उसका कारण क्या है, इसी बात को इस पद्य में कहा गया है। नैमित्तिक सृष्टि के आदि में जो प्राणियों के जन्म होते हैं वे पूर्व सृष्टि में उत्पन्न उन प्राणियों के कर्मों के अनुसार परम पुरुष के संकल्प से उनके अचेतन के साथ संसर्ग होने पर होते हैं। प्राचीन कर्मों का फल उसी से सिद्ध हो जाता है। उस फल की प्राप्ति के अनन्तर वह शरीर नष्ट हो जाता है। रह गया शरीरस्थित आत्मा, वह स्वयं विशुद्ध है। तब फिर यह आत्मा नित्य सृष्टि का विषय कैसे बनेगा। इसी का उत्तर है कि प्रकृति

संभूत गुण देह को आबद्ध करते हैं, गुणों के द्वारा प्रकृति के स्वरूप का परिचय दिया जाता है। प्रकृति का स्वरूप क्या है, उसका स्वरूप परिचय देने के लिए यही कहा जायगा कि वह गुणत्रय रूप है। इसलिए तीनों गुण प्रकृति के स्वरूप निरूपक धर्म हुए, जो वस्तु के स्वरूप में अनुप्रविष्ट धर्म होते हैं वे वस्तु को कभी नहीं छोड़ते। तब यदि गुण प्रकृति के स्वरूप निरूपक धर्म हैं तो प्रकृति के स्वरूप और गुणों के स्वरूप परिचय में वैषम्य क्यों। प्रकृति एक है, गुण तीन हैं। प्रकृति के स्वरूप में अन्य बातें कही जाती हैं, गुणों के स्वरूप में दूसरा परिचय दिया जाता है, ऐसा क्यों। इसका उत्तर है कि यह सब इसलिए बतलाया जाता है कि इन गुणों की उत्पत्ति प्रकृति से विषय भाव से होती है। फिर प्रश्न होता है कि शब्द आदि की तरह सत्त्व आदि गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान क्यों नहीं होता। शब्द आदि भी गुण हैं, उनका तो प्रत्यक्ष से अनुभव हो जाता है, परन्तु वैसा प्रत्यक्ष अनुभव सत्त्व आदि गुणों का तो होता नहीं; अनुमान प्रमाण से भी सत्त्व आदि गुणों को इसीलिए नहीं जाना जा सकता कि जो पदार्थ नित्य है और इन्द्रिय वेद्य नहीं है उसमें अनुमान नहीं चलता ऐसा शारीरिक दर्शन में युक्ति पूर्वक प्रतिपादन किया है। जब प्रकृति के गुण प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से उपलब्ध ही नहीं हो सकते तो उनके उपदेश का भी क्या प्रयोजन रह जायगा। उपदेश का प्रयोजन तो उपदेश्य को उपलब्ध करना ही है। उपलब्धि के साधन प्रत्यक्षादि प्रमाण ही हैं। इनसे गुणों की उपलब्धि संभव नहीं जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। तब गीतादि शास्त्रों में गुणों का उपदेश क्या प्रयोजन रखता है। इसीलिए गुणों की उपलब्धि के लिए गुणों के किसी आधार की कल्पना करनी पड़ेगी। इसका उत्तर देते हुए श्री रामानुजाचार्य ने गुणों को कार्यों के ही द्वारा जानने योग्य कहा है। अभिप्राय यह कि प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह ये गुणों के तीनों कार्य प्रत्यक्ष हैं। इन कार्यों के कारण के रूप में गुणों का अनुमान हो जाता है क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती; वह कारण शास्त्रप्रमाण से सत्त्व, रज, तम नाम के गुण ही हो सकते हैं। जैसे किसी विषमय औषधि की जो शक्ति है, वह अतीन्द्रिय है। फिर भी उसका उपदेश उससे बचनेके लिए किया ही जाता है उसी प्रकार अतीन्द्रिय गुणों का उपदेश भी मुक्ति मार्ग में उनसे बचने के लिए आवश्यक हो जाता है। ये गुण प्रकृति दशा में उद्भूत नहीं होते; महत्तत्त्व आदि में ही ये उद्भूत होते हैं और देव मनुष्यादि के देहों से सम्बन्ध रखने वाले अव्यय देहों को ये तीनों गुण बन्धन में लेते हैं। जब तक देही का देह संबन्ध है तभी तक इनके द्वारा बन्धन होता है। अव्यय में स्वतः गुण सम्बन्ध की योग्यता नहीं है, परन्तु देह में आकर वह गुणों से सम्बद्ध हो जाता है।

आनन्द तीर्थ के माध्वभाष्य में कहा गया है अध्याय के आरम्भ में जिस ज्ञान

को कहने की प्रतिज्ञा की गई है वह ज्ञान तो विगत दो पद्यों द्वारा कह दिया गया। उसके आगे जो कुछ कहा जा रहा है वह किसलिए ? आगे का कथन तो असंगत मालूम होता है। इसका उत्तर दिया गया है कि जो स्वयं के लिए ऐसा समझता है कि मैं बद्ध हूं, वह बन्धन की निवृत्ति के साधनों की जिज्ञासा करके निवृत्ति साधनों का अनुष्ठान करता है। इसलिए बन्धन को दूर करने के साधन का अनुष्ठान करने के लिए उस साधन को कहने से पूर्व गुणत्रय के साधन का अनुष्ठान करने के लिए उस साधन को कहने से पूर्व गुणत्रय के द्वारा किये गए बन्ध का प्रकार पहिले बतलाया गया है।

ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में कहा गया है कि गुणों की साम्यावस्था प्रकृति कही जाती है। उसी प्रकार प्रकृति से परस्पर अङ्गाङ्गि भाव से संपन्न होकर वैषम्य से तीनों गुणों की अभिव्यक्ति होती है। ये गुण प्रकृति के परिणाम रूप देह में तादात्म्य भाव से अवस्थित क्षेत्रज्ञ देही को जो कि वस्तुतः अव्यय और निर्विकार है उसे उसी प्रकार आबद्ध करते हैं जिस प्रकार निष्कम्प सूर्य बिम्ब को सरोवर का चंचल जल कंपित रूप में दिखा देता है।

श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि आगे के चौदह पद्यों में भगवान् बन्ध लीला का प्रतिपादन कर रहे हैं। अपने कार्यों सहित बन्धन करने वाले ये गुण आत्मा के नहीं अपितु प्रकृति के हैं। देहों में चेतन का बन्धन करने वाले ये गुण ही हैं। आत्मा को हीन भाव में पहुँचा देना प्रकृति का ही धर्म है। भगवान् की अंशभूता प्रकृति में जो गुण हैं वे तो सत्ता, चेतना और आनन्द हैं। इनकी गुण संज्ञा भी बन्धन का साधन होने के कारण ही है। बन्धन की साधन रस्सी को गुण कहा जाता है। आत्मा को आबद्ध करने में ये गुण रस्सी के स्थान पर ही हैं, इसी से इनकी 'गुण' यह संज्ञा है। देह का अभिमान रखने वाले ये गुण अणुरूप उस चिदंश को बाँध लेते हैं। हे महाबाहो; विशाल भुजाओंवाले अर्जुन; यह संबोधन इस व्यंजना को लिए हुए है कि तुम अपनी विशाल भुजाओं से गुणों के इस बन्धन को निवृत्त कर सकते हो। विशाल भुजाओं से गुणों का बन्धन यद्यपि निवृत्त नहीं किया जा सकता परन्तु जिस प्रकार रस्सी आदि के बाहरी बन्धन को अपनी सशक्त भुजाओं द्वारा दूर करने की सामर्थ्य तुममें है, उसी प्रकार गुणों के बन्धन को निवृत्त करने की सामर्थ्य भी तुम रखते हो। तुम्हें चाहिए कि तुम गुणों के बन्धन को निवृत्त कर दो।

श्रीनीलकण्ठ ने गुणों द्वारा देही के बन्धन पर एक उपमा दी है कि जिस प्रकार खूंटे से रस्सी के द्वारा बछड़ा बांध दिया जाता है उसी प्रकार ये गुण आत्माका बन्धन करते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य की तत्त्व दीपिका व्याख्या में गुणों के साम्य को प्रकृति कह कर कालरूपी ईश्वर से उसका विक्षोभ होने पर महत्तत्त्व आदि कार्यों में गुण रूप से उसकी अभिव्यक्ति मानी है। अपने वक्तव्य की पुष्टि में उन्होंने विष्णुपुराण के ये पद्य उद्धृत किए हैं–

**प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः**
**क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ**
**स एव क्षोभको ब्रह्मन ! क्षोभ्यश्च परमेश्वरः**
**स संकोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः**
**गुणसाम्यात्ततस्तस्मात्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने !**
**गुणव्यंजनसंभूतः सर्गकाले द्विजोत्तम !**
**सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्''**

(विष्णु पुराण)

अर्थात् सृष्टिकाल के आ जाने पर अपनी इच्छा से भगवान् हरि ने प्रवेश करके व्यय और अव्यय रूप प्रधान और पुरुष को विक्षुब्ध किया। हे ब्रह्मन् ; उस समय विक्षुब्ध करने वालाऔर विक्षुब्ध होने वाला दोनों परमेश्वर के ही रूप थे। संकोच और विकास धर्मों से वह हरि ही प्रधान रूप में भी अवस्थित थे। हे मुने; क्षेत्रज्ञ के द्वारा अधिष्ठित उस गुण साम्यात्मक प्रकृति से गुणों की अभिव्यक्ति से सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का महान् अर्थात् महत्तत्त्व समुद्भूत हुआ। इस प्रकार प्रकृति के परिणाम रूप ये तीनों गुण अपने कार्य महदादि पृथिव्यन्त देहों से सम्बन्ध रखने वाले देही आत्मा को अपने कार्य रूप सुख दुःखादि से संयुक्त करते हैं। यदि ऐसा है तो गीता में पहिले कहा गया है कि–

**''देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत !''**

अर्थात् सभी देहों में स्थित यह देही अवध्य है। यहां गुणों से उसका बन्धन स्वीकार किया जा रहा है, यह परस्पर विरुद्ध उक्ति हो जायगी, उसका उत्तर अव्यय शब्द से देते हैं कि देह में स्थित रहता हुआ भी वह अव्यय है, उसके स्वरूप का अन्यथा भाव नहीं होता। गुण उस अव्यय का देह और उसके अनुबन्धक तत्त्वों में अभिनिवेश कर देते हैं और उसे आबद्ध कर लेते हैं।

श्रीमधुसूदन सरस्वती लिखते हैं कि जड़ प्रकृति रूप होने से गुण नित्य परतन्त्र

हैं, नियम है कि सभी अचेतन पदार्थ चेतन के लिए होते हैं; प्रकृति अचेतन है उसके भेद रूप गुण भी अचेतन हैं वे चेतन क्षेत्रज्ञ के लिए हैं। जब गुण प्रकृति रूप ही हैं तो यहां पद्य में उन्हें "प्रकृतिसंभव" अर्थात् प्रकृति से समुत्पन्न क्यों कहा गया। प्रकृति से संभूत कहने पर तो गुणों की प्रकृति से भिन्नता सिद्ध होती है, इसका उत्तर देते हैं कि प्रकृति से अङ्गाङ्गिभाव से विषम आकार में ये गुण आगे परिणत होते हैं, यहां 'संभव' का अर्थ नवीन उत्पत्ति नहीं अपितु परिणति है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब तक साम्यावस्था में रहे तब तक तो वह प्रकृति है और विभिन्नता अर्थात् पृथग्भाव प्राप्त करने पर एक एक गुण उससे उत्पन्न कहा जाता है। इसी कारण ऐसा भी प्रवाद अन्यत्र शास्त्रों में देखा जाता है कि सांख्य मतानुसार गुणत्रय ही प्रकृति है और वेदान्त मतानुसार गुणत्रयवती प्रकृति है।

श्री शंकरानन्द ने पद्य में कहे गए गुणों के क्रम की संगति लगाते हुए लिखा है कि सत्त्व गुण मुक्ति का परम साधन होने से उत्कृष्ट है अतः उसका सबसे पहिले निर्देश हुआ है। समस्त क्रियात्मक प्रवृत्तियों का कारण होने से रजोगुण का उसके बाद उल्लेख है और सबसे निकृष्ट होने के कारण तमोगुण का अन्त में निर्देश किया गया है। प्रकृति से संभूत हैं अर्थात् इनका उपादान कारण प्रकृति है। कार्य और कारण का अभेद होने से ये प्रकृत्यात्मक हैं, अतः सर्वगत हैं। इसीलिए समस्त जगत् गुणमय है। ये गुण बहिर्जगत् में विषयों के रूप में, तथा अन्तर्जगत् में राग द्वेष, लोभ, निद्रा, आलस्य, प्रमाद, शम, दम, सत्य, दया, दाक्षिण्य आदि रूपों में वर्तमान होते हुए अपने विकारों के आवरणों में आत्मा के स्वरूप को तिरोहित करके देह में ही आत्मा का अध्यास कराते हुए तथा देह के धर्मों और कर्मों में ही अहंता और ममता का अभिनिवेश कराते हुए आत्मा को जन्म मरणादि से संयुक्त करके उसका नाश करते हैं। यद्यपि आत्मा समस्त इन्द्रियों से विवर्जित, असक्त प्रकृति से ही कर्मों को न करने वाला, लिप्त न होने वाला, कूटस्थ और चिद्रूप गीता में सर्वत्र बतलाया गया है, तथापि अज्ञान दशा में उसका गुणों के द्वारा बन्धन अध्यास मूलक है, वस्तुतः उसका बन्धन कभी नहीं होता। यदि उसका वास्तविक बन्धन मान लिया जाय तब तो मोक्ष की कथा ही समाप्त हो जायेगी। जो व्यक्ति नित्य निरन्तर आत्मानुभूति में लीन रहता है दुःखों के अभाव को देखता है, उसको आत्मा के आनन्दरस की अनुभूति होती रहती है, वह गुणों का अतिक्रमण करके विदेह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जो यतिभाव को प्राप्त करके भी गुणों के दोषों से लिप्त होकर कर्म करता है उसके प्राप्त ज्ञान का संकोच होने लगता है, उसके चित्त में विक्षेप आने लगता है और अन्ततः जन्मादि बन्धन को प्राप्त करता है। जड़भरत का उदाहरण देते हुए श्री शंकरानन्द ने लिखा

है कि भरत विद्वान् थे परन्तु सत्त्व गुण के विकास भूत दया के दोष से एक मृग शावक में उनकी पोष्यत्व और ममत्व बुद्धि हो गई और उसके स्नेह पाश से आबद्ध होकर वे पुनः जन्मादि के बन्धन में आ गए।

परमार्थप्रपा व्याख्या में इस श्लोक के समर्थन में अधोलिखित श्रुति और उसकी व्याख्या उद्धृत की गई है–

**''अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्ती सरूपाम्**
**अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः''**

यहां अजा प्रकृति है, लोहित शुक्ल और कृष्ण उसके सत्त्व रज और तम ये तीनों गुण हैं। वह बहुत सी प्रजा को उत्पन्न करती है। उसका इच्छा पूर्वक अनुशयन करने वाला अध्यास भावापन्न क्षेत्रज्ञ है, इसका भोग करके मुक्तावस्था में ब्रह्मभाव को प्राप्त होता हुआ वह इसे छोड़ देता है।

राघवेन्द्र की विवृति में प्रकृति को चेतन कहा गया है, वह महालक्ष्मी है, उससे उत्पन्न गुणों की अभिमानिनी श्रीः, भूः, दुर्गा नाम की तीन शक्तियां हैं। वे देह में स्थित अव्यय चिदंशका बन्धन करती हैं। जीव अनन्त हैं और सभी शक्तियां सभी जीवों का बन्धन करती हैं फिर भी उनके बन्धन में यह विशेष विभाग है कि श्री देवताभावापन्न जीव का बन्धन करती है, भूः मनुष्यभावापन्न जीव का बन्धन करती है और दुर्गा असुरभावापन्न जीव का बन्धन करती है। यहां यह भी ध्यान में ले लेना चाहिए कि सांख्य दर्शन में इन गुणों को द्रव्यरूप माना है। परन्तु विद्यावाचस्पति जी ने युक्तियां और प्रमाण देते हुए इन्हें क्रिया रूप सिद्ध किया है।

अग्रिम पद्य का अर्थ है–'उन गुणों में सत्त्व गुण निर्मल हो ( के कारण प्रकाशक और उपद्रव रहित है, वह सुख तथा ज्ञान के सङ्ग से आत्मा का बन्धन करता है।''

सत्त्व गुण निर्मल अर्थात् स्फटिकमणि के समान स्वच्छ और आवरण को हटाने में सक्षम होता है, वह सुख के संग से आत्मा का बन्धन करता है। ''मैं सुखी हूं'' इत्यादि अनुभव में सुख आत्मा को मिथ्यारूप से लिप्त करता है। यह लेप अविद्या के कारण है। जब आत्मा को सुख का अनुभव हो रहा है तब उसको मिथ्या रूप से लिप्त करना कैसे कहा जाय इसी का उत्तर है कि यह लेपन अविद्या के कारण होने से ही मिथ्या है। फिर प्रश्न होता है कि इच्छा, सङ्ग और अभिनिवेश शब्द एक ही अर्थ के सूचक होते हैं। यहां सङ्ग शब्द का प्रयोग है, उसका भी अर्थ इच्छा ही है। इच्छा आत्मा का धर्म है, तब अपने ही धर्म से बन्धन कैसे होगा। उसका उत्तर है कि

इच्छा आत्मा का धर्म नहीं अपितु मन का धर्म है। मन क्षेत्र के ही अन्तर्गत आता है, अतः इच्छा क्षेत्र का ही धर्म हुआ क्षेत्रज्ञ आत्मा का नहीं। जो धर्म विषय का है वह विषयी का धर्म कैसे हो सकता है। इस बात को गीता में त्रयोदश अध्याय में "**इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं**" इत्यादि पद्य में स्पष्ट कर दिया है कि इच्छा से लेकर धृति पर्यन्त क्षेत्र के ही धर्म हैं। इसलिए आत्मा की धर्म भूता जो अविद्या है, जिसमें विषय और विषयी के पार्थक्य का ज्ञान नहीं रह जाता, उसके द्वारा अपने आत्मभूत सुख में आत्मा लिप्त सा दिखा दिया जाता है। जो असङ्ग है, उसे अविद्या सङ्गयुक्त के समान दिखा देती है। जिसका सुख से कोई सम्बन्ध नहीं है उसको सुखी के समान दिखा देती है। इसी प्रकार ज्ञान से भी सत्त्व गुण आत्मा का बन्धन करता है। यहां भी वही प्रश्न होगा कि ज्ञान तो आत्मा का ही धर्म है; सत्ता, ज्ञान और आनन्द ये तीनों आत्मा के ही धर्म माने गए हैं तब आत्मधर्मभूत ज्ञान के द्वारा आत्मा का बन्धन कैसे होगा। उसका भी उत्तर यही है कि यहां सुख के साथ जो ज्ञान का ग्रहण है इससे यह भी क्षेत्र का ही धर्म है आत्मा का नहीं। यदि यहाँ आत्मा का धर्म जो ज्ञान है, उसका ग्रहण किया जाय तो उससे बन्ध सम्भव नहीं। इसलिए इस प्रकार सुख के सङ्ग से सत्त्व गुण के द्वारा आत्मा का बन्धन बतलाया, वह सुख क्षेत्र का ही धर्म है और अविद्या से आत्मा पर अध्यस्त होता है। इसी प्रकार वह ज्ञान भी क्षेत्र का ही धर्म है इसके सङ्ग से भी सत्त्व गुण आत्मा को आबद्ध के समान प्रदर्शित करता है। यह श्रीशंकराचार्य की व्याख्या है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रकाश का सुख का आवरण न करना ही निर्मलत्व है, सत्त्व गुण में यही निर्मलता है, अतएव वह प्रकाशक है, मणि की तरह उसे बतलाया गया है, मणि यद्यपि प्रकाश युक्त नहीं होती तथापि वह प्रकाश का आवरण नहीं करती। प्रकाश का अर्थ उन्होंने किया है प्रकाश के सुख को देने का कारण, प्रकाश का अर्थ है वस्तु की यथार्थता का ज्ञान। आमय का अर्थ होता है रोग, सत्त्व गुण अनामय है, इसका अर्थ है कि वह नीरोगता का सम्पादक है। यह सत्त्व गुण सुख और ज्ञान के सङ्ग से आत्मा का बन्धन करता है। इसका अर्थ है कि पुरुष के लिए सुख और ज्ञान प्रस्तुत करता है। जब पुरुष ज्ञान और सुख से सम्बद्ध हो जाता तब ज्ञान और सुख प्राप्ति के लोकसिद्ध और वेदोक्त साधनों में प्रवृत्त होता है। इसका तात्पर्य है कि सुख और ज्ञान से परिचित होकर पुरुष यह चाहने लगता है कि मुझे सर्वदा सुख और ज्ञान मिलता रहे। अतः सर्वदा सुख और ज्ञान मिलने के जो साधन वेदों में बतलाए गए हैं और जो साधन लोक में प्रसिद्ध हैं, पुरुष उन साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है। यहां यह शंका होती है कि वेदोक्त जो यज्ञ यागादि

साधन हैं उनके अनुष्ठान से तो उत्तमयोनि की प्राप्ति होती है और उन योनियों में अधिक सुख की भी प्राप्ति होती है। उन साधनों के अनुष्ठान से जो अदृष्ट उत्पन्न होता है वह उत्तम लोकों में ले जाकर अधिक मात्रा में सुख का उपभोग कराता है। परन्तु लौकिक साधनों का तो कोई अदृष्ट फल सुना नहीं जाता। इसका उत्तर दिया गया है कि लौकिक साधन से स्मृति आदि के द्वारा बोधित साधनों का ग्रहण करना चाहिए।

ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में सत्त्व के प्रकाशक होने का अर्थ किया गया है कि वह चैतन्य के आवरण और उसके अन्तिम रूप प्रकाश को उत्पन्न करता है। ऐसा क्यों है, क्योंकि वह निर्मल है, स्फटिक के समान स्वच्छ है, वह चेतना के बिम्ब ग्रहण के योग्य है। वह आमय अर्थात् दुःख का विरोधी है अर्थात् वह सुख का अभिव्यंजक है। ऐसा सत्त्व गुण सुख और ज्ञान के सङ्ग से बन्धन करता है, इसका अभिप्राय है कि सुख और ज्ञान सत्त्व के कार्य हैं। उनके साथ आत्मा का जो सामीप्य होता है, उसी से सत्त्व आत्मा को आबद्ध कर लेता है। मैं सुखी या ज्ञानी बनूँगा ऐसा जो मन का धर्म है उसे मन के अभिमानी क्षेत्रज्ञ पर आरोपित करता है।

वल्लभाचार्य की तत्त्वदीपिका में कहा गया है कि प्राकृत होने के कारण सत्त्व गुण लौकिक सुख और लौकिक ज्ञान के संपर्क से आत्मा को बाँधता है। पुरुष को सुख और ज्ञान में आसक्त कर देता है।

श्रीपुरुषोत्तमजीकी अमृततरंगिणी में कहा गया है कि सत्त्व गुण भगवान् की इच्छा रूप पदार्थों की अवस्थिति का कारण होने से निर्मल होने के कारण प्रकाशक है अर्थात् भगवान् के रमणात्मक सर्वस्वभूत रूप को प्रकट करने में समर्थ है। अनामय का अभिप्राय है कि वह भगवान् की सेवा में प्रतिबन्धक जो राग, द्वेषादि हैं उनसे रहित है। अतः वह भगवत्सेवा का साधनभूत जो उत्तम शरीर है, उसके सङ्ग से और ज्ञानोत्पत्ति के साधक के रूप में बन्धक बनता है। यहां अर्जुन के अनघ; इस सम्बोधन का आशय यह लगाया है कि हे अर्जुन ! तुम मेरे द्वारा अनुगृहीत हो, अतः तुम्हें इस बन्धन का भय नहीं है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि सत्त्वगुण निर्मल है अर्थात् दुःख और मोहादि मलों से रहित है। प्रकाशक का अर्थ है कि वह आलोक के समान सभी अर्थों का द्योतक है। वह अनामय अर्थात् रज और तम से अभिभूत नहीं है, इसलिए वह सुख और ज्ञान के संपर्क से अविद्या के कारण जिसका स्वरूप, ज्ञान और आनन्द तिरोहित हो गया है ऐसे पुरुष को "मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ" ऐसे अनुभव के अभिमान से अन्तःकरण वृत्ति के धर्म सुख और ज्ञान का आत्मा पर आरोप करके बांधता है।

अविगीता में लिखा है कि रजोगुण और तमोगुण का तो बन्धकत्व ठीक है, परन्तु सत्त्वगुण तो प्रकाशक होने से ज्ञान का जनक है, अनामय होने से सुख का जनक है, ऐसे सत्त्वगुण को बन्धक कैसे माना जाय। इसका उत्तर दिया गया है कि सत्त्वगुण ज्ञान और सुख को उत्पन्न करने के अनन्तर उससे पुरुष का 'मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ' अमुक वस्तु मेरे सुख का साधन है, इत्यादि प्रकार के अहंता और ममता रूप संग उत्पन्न करके बन्धन करता है। उदाहरण के लिए सत्त्वगुण की कार्यभूता दया के द्वारा जड़भरत का बन्धन हुआ था, यह कहा गया है, जो हम पहिले लिख आए हैं।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने प्रकाशक का अर्थ किया है कि तमोगुण के द्वारा उत्पन्न किये गए आचरण का तिरोधायक है। चैतन्य के बिम्ब के ग्रहण करने की योग्यता ही उसकी निर्मलता है। उसमें चैतन्य का बिम्ब अनायास गृहीत हो जाता है।

श्रीशंकरानन्द ने कहा है कि सत्त्व के अनामय होने का अभिप्राय है कि दो प्रकार के आमय होते हैं–एक विक्षेप और दूसरी जड़ता। ये दोनों रजोगुण और तमोगुण के कार्य हैं। वे इसके विपरीत हैं परन्तु सत्त्वगुण के स्वरूप में विक्षेप और जड़ता का लेश भी नहीं है। सत्त्व गुण विशुद्ध सुख और विशुद्ध ज्ञान का जनक है। यदि उसमें विक्षेप हो तो उसके द्वारा सुख या आनन्द का प्रतिभास नहीं मिल सकेगा और यदि जड़ता का संपर्क भी वहां है तो उसकी आनन्द जनकता समाप्त हो जायगी। वस्तुतः सत्त्व के कार्यों में दुःख और जड़ता का लेश भी नहीं माना जा सकता। इसीलिए कहीं ऐसा न समझ लिया जाय कि सत्त्वगुण में प्रधान रूप से तो सुख और ज्ञान होता है परन्तु आंशिक रूप से दुःख और जड़ता भी उसके स्वरूप में सम्मिलित है। ऐसा बिलकुल नहीं है। सत्त्व का स्वरूप दुःख या चंचलता और अज्ञान या जड़ता से नितान्त असंस्पृष्ट है। इसीलिए सत्त्व गुण का नितान्त यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए भगवान् ने उसके लिए अनामयम् कहना आवश्यक समझा। उपर्युक्त विश्लेषण से यही सिद्ध हुआ कि सत्त्व गुण का स्वरूप और उसका प्रभाव अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल है। परन्तु इतना स्वच्छ और निर्मल होते हुए भी अन्ततः सत्त्व गुण बन्धक ही है। बन्धन उसी का संभव होता है जो बन्धन से छूटा हुआ हो, बँधा हुआ न हो। बन्धन से छूटना और बन्धन के अभाव के भी दो स्पष्ट रूप हैं, एक तो जो बन्धन में बँधा ही नहीं, वह बन्धन शून्य कहा जायगा, और एक वह जो पहिले एक बार या अनेकों बार बन्धन में आ चुका है परन्तु अब जो सुकृतवश मुक्त दशा में पहुंच चुका है, परन्तु अभी 'चक्रभ्रमवत् धृतशरीर' है, पहिले का उदाहरण सनत्कुमार हैं, जो कि उत्पन्न होते

ही ज्ञानी हो गए और अविद्या के प्रभाव से दूर रहे, और दूसरे के उदाहरण जनक आदि हो सकते हैं। इस प्रकार के पुरुषों का यदि सत्त्व गुण के कार्य सुखादि से संसर्ग होगा तो वे मुक्त होकर भी सुखास्वाद करने लगेंगे। मुक्तावस्था में पहुंचकर फिर बद्धावस्था में चले जायंगे। दूसरा व्याख्यान यह भी है कि सत्त्व गुण की ब्रह्म ज्ञानी पुरुष को शम, दम, दया, अहिंसा, शान्ति जो साधन सम्पत्ति बतलाई गई है उस अपनी कार्यभूता साधन सम्पत्ति से सुख का अनुभव करता हुआ उपासना से साध्य ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि के लोकों का जो पारलौकिक सुख है उसकी कामना उत्पन्न करके बांध देता है। इसी प्रकार ज्ञान सङ्ग से भी बन्धन करता है। ब्रह्मवेत्ता को तर्क, मीमांसा, सांख्य, योग, आगम, तन्त्र आदि के अर्थ ज्ञान में आसक्त कर देता है। ज्ञान सङ्ग का दूसरा अर्थ करते हुए श्रीशंकरानन्द लिखते हैं कि ईश्वर के महत्त्व के प्रतिपादक जो शास्त्र हैं वे भी ज्ञान शब्द से लिए जाते हैं। "ज्ञायते ईश्वरोऽनेन इति ज्ञानम्" इस व्युत्पत्ति से उक्त अर्थ लाभ हो सकता है। उसमें सङ्ग का अभिप्राय है, ईश्वर के गुण, कथा श्रवण, भजन आदि में आसक्त होना। इसी आसक्ति से सत्त्व गुण मुक्त पुरुष का बन्धन करता है। इनके सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति केवल आत्मसाक्षात्कार या ज्ञान से ही संभव है। भक्ति आदि अन्य साधन ज्ञान को ही पुष्ट करने में उपयोगी हैं।

राघवेन्द्र की टीका में कहा गया है कि श्रीः भूः दुर्गा इन तीन शक्तियों के द्वार देव, मनुष्य और असुरों के बन्धन का क्रम बतलाया जा रहा है। उन देवियों में श्रीः या सत्त्व गुण निर्मलता से और व्याधि आदि उपद्रवों के अभाव से प्रकाशक अर्थात् ज्ञान के उत्पादक होने से देवताओं का बन्धन करती है।

सत्त्व गुण का स्वरूप बतलाकर अग्रिम पद्य में भगवान् रजोगुण का स्वरूप और उसके द्वारा बन्धन का प्रकार कहते हैं कि–

"रजोगुण रागात्मक है यह तृष्णा के आसङ्ग से उत्पन्न होता है, हे कौन्तेय; यह रजोगुण देही आत्मा को कर्म सङ्ग से बांधता है।" रागार्थक रञ्ज धातु से रजस् शब्द बनता है। रञ्जधातु रँगने के अर्थ में प्रयुक्त होता है जैसे गैरिक आदि धातुओं से वस्त्रादि रँग दिये जाते हैं वैसे ही रजोगुण से देहाध्यस्त आत्मा रँग सा दिया जाता है। इसे तृष्णा के आसङ्ग से समुद्भूत कहा गया है। अप्राप्तवस्तु की अभिलाषा को तृष्णा कहते हैं, आसङ्ग का अर्थ है प्राप्तवस्तु में मानसिकप्रेमयुक्त संपर्क होना। रजोगुण को तृष्णा और आसङ्ग दोनों से समुद्भूत बतलाया गया है। इस प्रकार से समुत्पन्न होनेवाला यह रजोगुण कर्मसङ्ग से देही का बन्धन करता है, दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजनों के लिए

किया जाने वाला कार्यकलाप यहां कर्म शब्द से अभिप्रेत है। यह श्रीशंकराचार्य का आशय है।

श्रीरामानुजाचार्य ने रागात्मक का अर्थ राग के कारण किया है, राग रूप नहीं। आत्मा का अर्थ कारण भी प्रसिद्ध है। राग का परिचय स्त्री पुरुष में एक दूसरे के लिए स्पृहा के रूप में दिया है। राग के प्रेम रूप अर्थ का उन्होंने यहां ग्रहण किया है। इसी प्रकार तृष्णा और आसङ्ग का भी कारण रजोगुण को माना है, उसे तृष्णा और आसङ्ग से उद्‌भूत नहीं कहा; दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्मों में तत्परता ही कर्म सङ्ग है, जिससे कि वह देही का बन्धन करता है।

श्री आनन्दतीर्थ के माध्वभाष्य में भी रजोगुण को तृष्णा और आसङ्ग का कारण ही बतलाया गया है।

श्री वेंकटनाथ ने राग का अर्थ काम किया है। रजोगुण रागात्मक है अर्थात् कामात्मक है। कर्मसङ्ग का आकार उन्होंने लिखा है "मैं अमुक कार्य करता हूं, और इसके फल का उपभोग करूंगा" ऐसी अभिलाषा ही कर्मसङ्ग है और इसी से अकर्ता आत्मा का बन्धन रजोगुण के द्वारा होता है।

श्रीपुरुषोत्तमजी ने राग का अर्थ किया है अनेक पदार्थों की उत्पत्ति के द्वारा भगवान् का रञ्जन। समस्त वस्तुएं भगवान् के लिए हैं इस बात के अज्ञान से उन पदार्थों की अभिलाषा के सङ्ग से रजोगुण की उत्पत्ति इन्होंने कही है।

श्री नीलकण्ठ ने तृष्णा का अर्थ किया है प्राप्त अर्थों में भी तृप्ति न होना।

राघवेन्द्र की टीका में रजोगुण की अभिमानिनी भू देवी को कहा गया है और उसे मनुष्य का बन्धक माना गया है।

आगे तमोगुण का परिचय देते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"हे भारत ! तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है वह सभी देहधारियों को विमुग्ध करता है वह आत्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बांधता है।"

मोह का अर्थ श्री शंकराचार्य ने अविवेक किया है। तमोगुण प्राणियों के विवेक को नष्ट कर देता है।

'अज्ञानजन्य' का अर्थ करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि ज्ञान से जो अन्य है, वही यहां अज्ञान है। वस्तु की यथार्थता का बोध ही ज्ञान है। अज्ञान वह है जिसमें वस्तु की यथार्थता का ज्ञान न होकर उससे विपरीत ज्ञान होता है। तमोगुण वस्तु के

यथार्थ स्वरूप के विपरीत विषय के ज्ञान से उत्पन्न होता है। कर्तव्य कर्म से अन्य कर्म में प्रवृत्ति रखने के कारण कर्तव्य में जो अनवधान होता है उसे प्रमाद कहा जाता है। कर्मों का आरम्भ न करना ही आलस्य का स्वभाव है, उसे स्तब्धता भी कह सकते हैं। थकावट से कार्यों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति का विश्राम हो जाना ही निद्रा है। बाह्येन्द्रियों का उपरत हो जाना स्वप्न कहलाता है और मन के भी उपरत हो जाने की स्थिति को सुषुप्ति कहा जाता है। प्रमाद आलस्य और निद्रा इन तीनों से तमोगुण आत्मा का बन्धन करता है।

आनन्दतीर्थ के माध्वभाष्य में 'अज्ञानजम्' का अर्थ किया गया है कि जो अज्ञान का जनक है, जहां से अज्ञान उत्पन्न होता है।

श्री वेंकटनाथ ने अज्ञान को आवरण शक्ति प्रधान बतलाया है। श्री वल्लभाचार्य ने तमोगुण को विरुद्ध ज्ञान या अविद्या से उत्पन्न कहा है।

श्रीपुरुषोत्तमजी लिखते हैं कि तमोगुण भगवान् के लीला आदि के अज्ञान से उत्पन्न होता है। वह प्रलयात्मक होने से भगवान् का विस्मरण करा देने वाला है और समस्त प्राणियों का भ्रम जनक है। वह भगवान् की सेवा के प्रतिबन्धक प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बन्धन करता है।

श्रीनीलकण्ठ ने माया की आवरण शक्ति को अज्ञान बतलाया है और उसी माया की आवरण शक्तिरूप अज्ञान से तमोगुण की उत्पत्ति मानी है। प्रमाद सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश का विरोधी है। आलस्य जड़ता है, वह रजोगुण के प्रवृत्तिरूप कार्य का विरोधी है। सत्त्व और रज दोनों के कार्य प्रकाश और प्रवृत्ति की विरोधिनी निद्रा है। इन तीनों से यह तमोगुण देही को बांधता है।

आचार्य श्री अभिनवगुप्त ने अपनी टिप्पणी में प्रमाद पर लिखा है कि जो मनुष्यजन्म सुदुर्लभ है, बहुत काल के शत सहस्र सञ्चित पुण्यों से जिसकी उपलब्धि हुई है, जो मोक्ष की प्राप्ति का एक मात्र साधन है उस मनुष्य जन्म को वृथा गँवाना ही प्रमाद है। प्राचीन उक्ति है—

**आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते**
**स वृथा नीयते येन प्रमादी स नराधमः**

अर्थात् आयु का एक क्षण भी सभी रत्नों से भी नहीं खरीदा जा सकता। आयु के उस क्षण को जो व्यर्थ ही गँवाता है वह नराधम प्रमादी है। शुभ कर्मों में प्रमाद ही आलस्य कहा जाता है।

श्री शंकरानन्द ने लिखा है कि पद्य में 'तु' शब्द का अर्थ है कि यह तमोगुण सत्त्व और रज दोनों से भी अधिक बन्धन करने वाला है। वह अज्ञान से उत्पन्न होता है इसका अभिप्राय है कि जहां ज्ञान अपनी सत्ता ही प्राप्त नहीं करता उस अवस्था से तमोगुण की सृष्टि हो जाती है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं करना चाहिए। क्योंकि अभाव से किसी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। तमोगुणरूप कार्य अज्ञान अर्थात् ज्ञान के अभाव से नहीं माना जा सकता। तमोगुण को यहां अज्ञान से उत्पन्न कहा गया है। अज्ञान, माया या प्रकृति एक ही बात है। ऐसी स्थिति में 'गुणाः प्रकृति-संभवा' यह जब पहिले ही कहा जा चुका है अर्थात् सभी गुण प्रकृति से ही समुद्भूत हैं तब यहां तमोगुण को विशेष रूप से अज्ञान से उत्पन्न कहने का अभिप्राय यह है कि सत्त्व और रज में तो आंशिक रूप से अज्ञान का विरोध भी दिखाई देता है परन्तु तमोगुण में तो अज्ञान का पूर्ण राज्य है, इसीलिए वह ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त अपने संपर्क में आ जाने वाले प्राणियों का बन्धन करता है। श्री शंकरानन्द ने इन तीनों गुणों के परिचय से यह सूचित किया है कि ब्रह्मवेत्ता इन तीनों के प्रभाव से बचने की चेष्टा करे। जब बुद्धि निर्मल हो और विषय सुख की ओर आसक्ति बढ़े तब समझना चाहिए कि सत्त्व गुण का आविर्भाव हो रहा है। जब विषयों में राग का आविर्भाव और कर्मों में आसक्ति हो तब रजोगुण का प्रभाव समझना चाहिए और जब बुद्धि में जड़ता प्रादुर्भूत होने लगे, विपरीत ज्ञान होने लगे तथा प्रमाद आलस्य और निद्रा का प्राबल्य हो तो वह तमोगुण के चिन्ह होंगे। इन सबको सूक्ष्म दृष्टि से समझ कर सर्वदा इनसे बचते रहना ही ब्रह्मवेत्ता का मुख्य कार्य है। इसीलिए यहां इनका उपदेश दिया गया है। ब्रह्मवेत्ता को चाहिए कि वह इन गुणों के विकारों के विपरीत गुणों का विकास करता हुआ आत्मचिन्तन में तत्पर रहे।

श्री राघवेन्द्र की व्याख्या में अज्ञानको तमोगुण से उत्पन्न कह कर दुर्गा को तमोगुण की अभिमानिनी देवता कहा गया है जो कि असुरों का बन्धन करने वाली है।

विद्यावाचस्पति जी ने अपने ग्रन्थों में इन तीन गुणों को क्रियारूप माना है। क्रिया का जब प्रारंभ मात्र हो वह सत्त्वगुण है और क्रिया उत्कट हो जाय वह रजोगुण है तथा अत्युत्कट अवस्था में जब क्रिया पहुंच जाय तब तमोगुण का रूप आ जाता है। तमोगुण को जो क्रिया का प्रतिबन्धक अर्थात् प्रमाद आलस्य आदि का जनक भगवान् ने कहा है वहां उत्कट क्रिया इसी रूप में है कि जैसे समान बल वाले दो पुरुषों से खींची जाती हुई रस्सी अपने स्थान से बिल्कुल नहीं चलती। वहां यह नहीं कहा जा सकता कि रस्सी में क्रिया नहीं है। यदि वहां क्रिया न होती तो इस रस्सी को खींचने

वाले दोनों पुरुष थक क्यों जाते। इससे भी कहना होगा कि वह उत्कट क्रिया है। एक क्रिया के दूसरी क्रिया से प्रतिहत हो जाने के कारण बल प्रकट नहीं होता। इसी को प्रमाद आलस्य आदि कहा जाता है। इस प्रकार सत्त्वगुण में क्रिया अत्यल्प रहने के कारण आत्मा का स्वरूप बहुत कुछ भासित हो जाता है। इसीलिए उसको ज्ञानजनक और सुखजनक भगवान् ने कहा। रजोगुण में क्रिया अधिक बढ़ जाने के कारण आत्मा का स्वरूप तिरोहित हो जाता है और तमोगुण में तो आत्मा के स्वरूप का पता ही नहीं लगता। संसार की आसक्ति ही अत्यन्त बढ़ जाती है। इसलिए सत्त्वगुण को ब्रह्मवेत्ता लोग भी कथंचित् अपनाते हैं और इतर दोनों गुणों को सर्वथा वर्जित करते हैं।

---

# त्रयोदश-पुष्प

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत !
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ।।९।।
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत !
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।१०।।
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।११।।
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! ।।१२।।
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ।।१३।।

अब आगे एक पद्य में भगवान् ने पहिले तीनों गुणों के जो पृथक्-पृथक् पद्यों में कार्य दिखलाए थे उनका संक्षेप भी कर दिया है कि-

"सत्त्व गुण, सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में प्रवृत्त करता है, और ज्ञान को आवृत्त करके तमोगुण प्रमाद में प्रवृत्त करता है"।

अभिप्राय यह कि प्राणी के सामने सुख और दुख की विषम परिस्थितियां सर्वदा आया करती हैं। जब सत्त्वगुण बढ़ता है तो चाहे कितने ही दुःख और पीड़ा का कारण क्यों न उपस्थितहो जाय सत्त्वगुण उसका अनुभव नहीं होने देगा और सुख का ही अनुभव करा कर प्राणी को उसी से आबद्ध रक्खेगा। इसी प्रकार रजोगुण जब वृद्धि को प्राप्त रहेगा तो चाहे कितना भी सुख और अज्ञान हो रजोगुण सर्वदा उसे कार्य में ही लगाए रहेगा। सर्वविध सुख और सुविधा से सम्पन्न होता हुआ भी प्राणी शास्त्र बोधित तथा ऐहलौकिक कर्मों में रजोगुण के कारण ही प्रवृत्त रहता है। इसी प्रकार तमोगुण ज्ञान का आवरण करके मनुष्य को प्रमादी बना देता है। चाहे वह कितना भी ज्ञानवान हो, परन्तु तमोगुण की मात्रा अधिक होने पर उसका ज्ञान विलुप्त होने लगता है और उसमें प्रमाद की मात्रा बढ़ जाती है।

राघवेन्द्र की व्याख्या में श्री देवी को सत्त्व की अभिमानिनी और सुख प्रदान करने वाली; भू देवी को रजोगुण की अभिमानिनी और क्रिया शक्ति प्रदान करने वाली और दुर्गादेवी को तमोगुण की अभिमाननी और प्रमाद की वर्धक कहा गया है।

उक्त तीनों गुण सर्वदा साथ साथ रहते हैं। कोई किसी को सर्वथा छोड़ नहीं सकता। ये तीनों प्रकृति के स्वभाव रूप होते हुए एक दूसरे के आश्रित ही सर्वदा रहते हैं। जब तीनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् है और तीनों के कार्य भी पृथक्-पृथक् हैं तब उनके परस्पर सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित मानने की क्या आवश्यकता ? इसका उदाहरण देते हुए अविगीता में कहा गया है कि जैसे प्रकाश और दाहकत्व दोनों अग्नि के गुण हैं। जलाना और प्रकाशित करना ये दोनों उनके कार्य भी पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी वे दोनों अग्नि के ही आश्रित होकर साथ-साथ रहते हैं। ये दोनों एक दूसरे के आश्रित होते हैं, यह भी मानना ही पड़ेगा। बिना उष्णता के अग्नि का प्रकाश नहीं फैल सकता और बिना प्रकाश के उष्णता की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार प्रकृति के तीनों गुण भी अन्योन्याश्रित होकर ही कार्य करते हैं। जब ये तीनों साथ-साथ रहते हैं तो इनके पृथक्-पृथक् कार्य सम्पादन का क्या क्रम रहता है, इसी बात को भगवान् अग्रिम पद्य में बतला रहे हैं कि "हे भारत ! रज और तम को दबा कर सत्त्वगुण कार्य करता है, सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण तथा रज और सत्त्व को दबाकर तमोगुण कार्य करता है"।

प्रत्येक अवस्था में तीनों गुणों की साथ-साथ स्थिति रहते हुए भी एक गुण प्रबल होता है और शेष दो गुण दबे हुए रहते हैं। यही इनका स्वभाव है। इसी गुणों के स्वभाव को अन्यत्र इस प्रकार उद्धृत किया गया है कि–

**अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथाऽन्योऽन्यानुजीविनः**
**अन्योन्यमाश्रयाश्चैव तथाऽन्योऽन्यानुवर्तिनः**
**अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः ॥**

अर्थात् तीन गुण एक दूसरे के साथ युग्म बनाकर तथा एक दूसरे को उत्पन्न करते हुए स्थित रहते हैं, ये एक दूसरे के अनुजीवी होते हैं"। एक गुण का उदय होने पर दूसरे गुण उसके सहायक के रूप में कार्य करते हैं। जब सत्त्व गुण बढ़ता है तो अपने कार्य ज्ञान और सुख का अनुभव कराता है। रजो गुण के बढ़ने पर कार्य और तृष्णा आदि का अनुभव होने लगता है। और तमोगुण के बढ़ने पर ज्ञान का आवरण आदि होने लगते हैं।

सत्त्व आदि में किसी एक गुण की प्रबलता क्यों होती है ? इसका कारण बतलाते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि यद्यपि तीनों प्रकृति के साथ ही अनुबन्ध

रखते हैं तथापि पुराने कर्मों के कारण तथा आहार आदि के वैषम्य के कारण किसी एक की प्रबलता तथा अन्य का अभिभव होता है।

तत्त्व दीपिका में भागवत के अनुसार आगम आदि दस पदार्थों को सत्त्वादि की वृद्धि का कारण बतलाया गया है। भागवत में आगम आदि का इस प्रकार वर्णन है–

**"आगमोऽप: प्रजा देश: काल: कर्म च जन्म च**
**ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतव:"**

अर्थात् आगम, अप, प्रजा, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार ये दस गुणों के कारण हैं। गुणों के कारण कहने का अभिप्राय गुणों की वृद्धि से है।

आगे के पद्यों में भगवान् यह बतला रहे हैं कि यह बात व्यवहार दशा में किस प्रकार अनुभव में आ सकती है कि कब कौन सा गुण बढ़ा हुआ है। मनुष्य या प्राणिमात्र जिसमें जानने की शक्ति है, यह कैसे समझ सकता है कि उसकी वर्तमान दशा में वह किस गुण के प्रभाव में है। अथवा कोई दूसरा प्राणी यह कैसे जान पावेगा कि उससे सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति इस समय किस गुण के प्रभाव में है। जब तक अनुभव में कोई ऐसी कसौटी न आ जाय कि जिससे निश्चित गुण की वृद्धि का ज्ञान हो सके तब तक उन गुणों से कैसे बचा जाएगा। इसलिए आगे के तीन पद्यों में भगवान् यही पहिचान या अनुभव चिह्न बतला रहे हैं कि जिनके द्वारा हम गुणों के वृद्धि और ह्रासों को समझ सकते हैं। इसमें सर्वप्रथम सत्त्व गुण के प्रभाव को इस प्रकार बतलाते हैं कि–

जब इस शरीर के सभी द्वारों में प्रकाश रूपी ज्ञान फैल जाय तब यह समझना चाहिए कि इस समय सत्त्व गुण बढ़ा हुआ है।"

सत्त्व गुण के बढ़ने का अर्थ है रजोगुण और तमोगुण का दब जाना। मनुष्य में सर्वदा तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु उसकी विभिन्न अवस्थाओं में कभी एक गुण बढ़कर दूसरे गुणों को दबा देता है और कभी दूसरा गुण प्रथम और अंतिम को दबाकर स्वत: प्रधान बन बैठता है तथा कभी अन्तिम गुण पहिले के दोनों गुणों को दबाकर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। इनमें प्रथम जो सत्त्व गुण है वह जब रज और तम को दबाकर प्रधान बनता है तब मनुष्य की सभी इन्द्रियों में ज्ञान रूप प्रकाश फैल जाता है। सभी इन्द्रियाँ निरापद होकर अपने अपने विषयों का ग्रहण करती रहती हैं। इसमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं हो पाती, क्योंकि रज और तम ही इन्द्रियों के इस

ज्ञान में बाधा डालने वाले हैं। जब सत्त्व गुण के प्रभाव से रज और तम दब जाते हैं तब इन्द्रियों को अपने अपने विषयों का अनायास ज्ञान होता रहता है। उनमें शुद्धता और निर्मलता का अनुभव होता रहता है। यही इन्द्रियों का निर्मल ज्ञान इस बात का साक्षी हो जाता है कि ऐसा अनुभव करने वाले मनुष्य में इस समय सत्त्व गुण की वृद्धि हो रही है, इसके रजोगुण और तमोगुण दबे हुए हैं। यह श्रीशंकराचार्य के अनुसार लिखा गया।

श्री रामानुजाचार्य ने प्रकाश का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि प्राणी की चक्षु आदि इन्द्रियां जब वस्तु के भ्रम युक्त स्वरूप को न दिखाकर उसके यथार्थ स्वरूप को दिखावें तब इन्द्रियों में स्फूर्ति या प्रकाश का अनुभव होता है। उस प्रकाश में जो ज्ञान होगा वह यथार्थ ज्ञान ही होगा। इस प्रकार का निर्मल ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा जब उपलब्ध हो रहा हो तब सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है ऐसा समझना चाहिए।

पीछे कहा गया था कि सत्त्व आत्मा को सुख में लिप्त करता है। इन्द्रियों का विषयों के साथ संसर्ग होकर यथार्थ अनुभूति होने से ही सुख प्रतीत होता है, इस प्रकार श्रीवेंकटनाथ ने पूर्वोक्त सुख का भी प्रकाश के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया है।

गीता के प्रकरणों का भक्ति परक अर्थ प्रकट करने वाले श्रीपुरुषोत्तम जी ने अपनी अमृततरङ्गिणी में इस पद्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि श्रोत्र आदि की वृद्धि समझनी चाहिए। कानों से जब भगवान के कथामृत का ही पान हो, नेत्रों से भगवान की अलौकिक मूर्ति ही देखी जाय तब सत्त्वगुण की वृद्धि समझनी चाहिए। इस पर स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि ऐसा अनुभव होना तो प्राणि मात्र को अभीष्ट ही है कि वह भगवदर्पण हो जाय। तब सत्त्व गुण को बन्धक क्यों माना जाय। इसका भी दार्शनिक दृष्टि से यही समाधान होगा कि यह सत्त्व गुण की बन्धकता ही है कि जिससे हमें स्वयं में भगवान् से पृथक् होने का अनुभव होता है। भगवान की कथा का श्रवण करते समय भी 'मैं यह कथा सुन रहा हूं' ऐसा भगवान् से पृथक् अपने आप का ज्ञान श्रोता को बना रहता है। यही सत्त्व गुण की बन्धकता इस व्याख्या के अनुसार कही जा सकती है।

श्रीनीलकण्ठ ने प्रकाश की व्याख्या करते हुए यह आशय व्यक्त किया है कि प्रकाश अन्धकार का विरोधी है। इन्द्रिय द्वारों से प्रकाश का अर्थ भी यही होगा कि इन्द्रिय द्वारों में आत्मा के आवरणरूप का अधिकाधिक विरोधी ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब सत्त्व गुण की वृद्धि समझना चाहिए।

अविगीता में संकलित उपन्यास दर्पण में एक दूसरे प्रकार की व्याख्या भी की

गई है। 'सर्वद्वारेषु' में 'सर्वद्वा' और 'एषु' अलग-अलग करके 'सर्वद्वाः' को 'ज्ञानम्' का विशेषण बना दिया गया है। इसका तात्पर्य हुआ कि गुणों में जब सब ओर द्वार बनने वाला प्रकाश रूप ज्ञान हो जाता है तब सत्त्व गुण की वृद्धि समझना। इस व्याख्या में इन्द्रियों को छोड़ दिया गया है। इसका आशय इस प्रकार समझा जा सकता है कि गुणों के कार्यों में सत्त्व गुण के प्रकाश और ज्ञान ये दो कार्य बतलाए गए थे। सत्त्व गुण जब रज और तम को दबा कर विवृद्ध होगा तो वह अपने कार्य प्रकाश और ज्ञान को रज और तम के कार्यों पर आरोपित कर देगा। तब रज और तम भी ज्ञान से आवृत हो जायँगे यही इनमें सत्त्व की वृद्धि होगी। इनमें सत्त्व गुण तो स्वयं प्रकाश और ज्ञान रूप है ही, रज और तम भी ज्ञान के प्रकाश से आच्छादित हो जाते हैं। सभी कार्यों में इस ज्ञानरूप प्रकाश की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। कोई भी कार्य करने से पूर्व उसका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक होता है। किसी भी कार्य के सम्पादन का क्रम-'**जानाति**', '**इच्छति**', '**यतते**' यही है। अर्थात् पहिले उस कार्य का ज्ञान हो, तब उसमें प्रवृत्त होने की इच्छा हो और अन्ततः उसके लिए प्रयत्न हो तभी कोई भी कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न हो सकता है। जब यह क्रम सभी कार्यों का सर्वत्र है, तब तो सत्त्व गुण सर्वदा ही बढ़ा हुआ रहेगा। कोई न कोई कार्य करते रहना प्राणि मात्र का स्वभाव है और सभी कार्यों के सम्पादित होने का यही उपर्युक्त क्रम है। तब रज और तम के विवृद्ध होने का प्रश्न ही नहीं आवेगा। परन्तु इसका आशय यह नहीं है। सत्त्व गुण का ही उपर्युक्त क्रम बतलाया गया है। यह आवश्यक नहीं कि सभी कार्य उपर्युक्त क्रम से ही किये जांय। बहुत से लोग बिना जाने या कम जानकर भी कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। वह रज और तम का प्रभाव है, उसका फल यही होता है कि-

**"विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्"**

लौकिक भाषा में इसे कह सकते हैं कि "**क्या सोचा था क्या बन गया**"। वह अज्ञान दशा या अल्प ज्ञान दशा में प्रारम्भ कर देने का ही फल होता है। संसार में सर्वत्र इस प्रकार के कार्यों के भी उदाहरण मिलते ही रहते हैं।

अनेक व्याख्याकारों के मतानुसार किसी भी पदार्थ के सन्निकर्ष होने पर अन्तः-करण में एक उस पदार्थ के आकार की वृत्ति का उदय होता है। ये वृत्ति सत्त्व के बढ़ने पर ही समुदित होती है। रज और तम के उत्कट होने पर पदार्थों की अन्तः-करण में वृत्ति का उदय नहीं होता। जब पदार्थों के सन्निकर्ष से अन्तःकरण में तदाकार वृत्ति का उदय होता हो तब सत्त्व गुण को बढ़ा हुआ समझना चाहिए।

इसके अनन्तर जब रजोगुण विवृद्ध होता है तब क्या चिन्ह उसके अनुभव में प्रकट होते हैं यह बात बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, शान्ति का अभाव स्पृहा ये सब हे भारतर्षभ! रजोगुण के विवृद्ध होने पर उत्पन्न होते हैं"।

रजोगुण क्रियाशील है। वही अन्य गुणों का संचालक है। जब वह सत्त्व और तम को दबाकर बढ़ता है तब लोभादि उत्पन्न होते हैं। इनके स्वरूप का विश्लेषण व्याख्याओं में मिलता है। श्रीशंकराचार्य दूसरे के द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा को लोभ कहते हैं। श्रीरामानुजाचार्य अपने द्रव्य का त्याग न करना लोभ का स्वरूप मानते हैं। पैशाच भाश्य का आशय है कि शास्त्रों में त्याग का विधान है, अनेक प्रकार के दानों में त्याग का ही रूप स्पष्ट है। वह शास्त्र विहित दान या त्याग जो नहीं करता, उसमें लोभ की स्थिति समझनी चाहिए। शास्त्रों में जो दान लेना निषिद्ध हो उसको ग्रहण करना भी लोभ ही कहा जाता है। श्रीवल्लभाचार्य ने कृपणता को लोभ कहा है। श्रीपुरुषोत्तम जी ने लिखा है कि भगवत्सेवा के लिए जितने व्यवहार योग्य द्रव्य की अपेक्षा हो उससे अधिक द्रव्य की लौकिक सुखादि के लिए अभिलाषा ही लोभ है। श्रीमधुसूदनसरस्वती प्रतिक्षण धन का लाभ होने पर भी उसकी बढ़ने वाली अभिलाषा को लोभ कहते हैं।

प्रवृत्ति का अर्थ है किसी भी क्रिया में सामान्य रूप से चेष्टा होना। श्रीरामानुजाचार्य बिना प्रयोजन के स्वभाव में जो चलनशीलता आती है, दूसरे शब्दों में स्वभाव की जो चंचलता है उसे प्रवृत्ति कहते हैं। पैशाच भाष्य में प्रवृत्ति का अर्थ 'प्रकर्षेण वर्तन' किया है, अर्थात् किसी भी कार्य में अत्यधिक संरम्भ से लग जाना ही प्रवृत्ति है। श्रीमधुसूदन-सरस्वती कार्यों में निरन्तर लगे रहने को प्रवृत्ति मानते हैं। श्रीपुरुषोत्तमजी प्रवृत्ति को लोभ के साथ जोड़कर कहते हैं कि लौकिक सुखादि के लिए अधिक धन की प्राप्ति की चेष्टा ही प्रवृत्ति है। श्रीनीलकण्ठ अग्निहोत्रादि में प्रवृत्त होना ही प्रवृत्ति का अर्थ मानते हैं।

फल के साधन भूत कर्मों का आरम्भ भी रजोगुण का चिन्ह है। कोई भी फल तदनुकूल कर्मसंपादन से ही प्राप्त होता है।

'अवशम् का' अर्थ है चित्त का हर्ष राग आदि में लिप्त होकर अशान्त बना रहना। इन्द्रियों का अपने विषयों से उपरत न होकर निरन्तर विषयों में प्रवृत्त रहना भी अशम कहा गया है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने 'इस कार्य को करने के अनन्तर वह

कार्य करूँगा' इस प्रकार के निरन्तर कार्यों में प्रवृत्त होने के संकल्प को अशम कहा है। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि कामनाओं और संकल्पों से अन्तःकरण को शान्त न होने देना ही अशम है।

सभी सामान्य वस्तुओं में तृष्णा का होना ही स्पृहा है। श्रीमधुसूदनसरस्वती लिखते हैं कि थोड़ा या अधिक मात्रा में दूसरे का धन देखने मात्र से ही उसके ग्रहण की अभिलाषा करना स्पृहा है। श्रीपुरुषोत्तमजी अपने अयोग्य वस्तु की इच्छा को स्पृहा कहते हैं।

उक्त सभी चिन्ह रजोगुण की वृद्धि के परिचायक होते हैं।

इसके आगे अवशिष्ट तमोगुण के चिन्ह बतलाते हैं कि–"अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह, हे कुरुनन्दन, ये तमोगुण के विवृद्ध होने पर उत्पन्न होते हैं।"

अप्रकाश का अर्थ ही श्रीशंकराचार्य ने अविवेक किया है। तमोगुण के प्रवृद्ध होने पर प्राणी विवेकभ्रष्ट हो जाता है। श्रीरामानुजाचार्य ने ज्ञान का उदय न होना ही अप्रकाश माना है। तमोगुण सत्त्वगुण और रजोगुण का विरोधी है। सत्त्वगुण में ज्ञान होता है, अतः उसके विरुद्ध धर्म रखने वाले तमोगुण में ज्ञान का अभाव होना स्वाभाविक है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने इतना और कहा है कि ज्ञान प्राप्ति के साधनों के सन्निहित रहने पर भी ज्ञान का अभाव होना ही अप्रकाश है।

श्रीवल्लभाचार्य ने लिखा है कि यहाँ तमोगुण के चिन्ह जो बतलाए गए हैं वह पंचपूर्वा अविद्या ही है, जिसे दूसरे शब्दों में कहा गया है। अन्धतामिस्त्र, तामिस्त्र, महामोह और मोह तथा तम ये ही पञ्चपर्वा अविद्या है। आत्मा के स्वरूप का अज्ञान होने पर प्राण, अन्तःकरण, देह और इन्द्रिय आदि पर आत्मा का अध्यास हो जाता है। यह तमोगुण के कारण ही होता है। अप्रवृत्ति का अर्थ है किसी भी कार्य में प्रवृत्ति का अभाव हो जाना, कार्यों में प्रवृत्ति के इस अभाव से मोह अर्थात् जड़ता उत्पन्न हो जाती है। ये सब बातें जब अनुभव में आने लगें तब तमोगुण को बढ़ा हुआ समझना चाहिए। श्रीरामानुजाचार्य ने अप्रवृत्ति का अर्थ स्तब्धता, प्रमाद का अर्थ अकार्य में प्रवृत्त होने के कारण उसके फल स्वरूप अनवधान और मोह का अर्थ विपरीत ज्ञान किया है। पैशाच भाष्य में अप्रवृत्ति का अर्थ आलस्य, प्रमाद का अर्थ प्राप्तवस्तु का अज्ञान और मोह का अर्थ अविवेक किया है। श्री मधुसूदन सरस्वती ने अप्रवृत्ति का अर्थ किया है कि "अग्निहोत्रं जुहुयात्" 'अग्निहोत्र करना चाहिए' इत्यादि शास्त्र की विधियों का ज्ञान रहते हुए भी उन शास्त्र बोधित कार्यों में प्रवृत्ति की नितान्त अयोग्यता होना। प्रमाद का अर्थ वे करते हैं कि जिस समय जिस कार्य का अनुष्ठान आवश्यक है उस समय

उस कार्य को सम्पादित करने का अनुसन्धान न रहना ही प्रमाद है। श्रीपुरुषोत्तमजी अप्रवृत्ति का अर्थ भगवान् के सेवन और भगवान् के सङ्ग आदि में प्रवृत्ति न होना मानते हैं। प्रमाद का अर्थ भगवान् के भजन का अनुसन्धान न करना है। मोह का अर्थ संसार में आसक्ति है।

इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुण के वृद्धि के चिन्हों को बतलाकर आगे के श्लोकों में यह कहा जायगा कि किस गुण के बढ़ने पर मृत्यु होने से किस प्रकार की गति प्राणी की होती है।

# चतुर्दश-पुष्प

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।१४।।
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१५।।
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।१६।।
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।१७।।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।१८।।

"जब सत्त्व गुण के बढ़ने पर प्राणी की मृत्यु हो जाती है तब वह उत्तम तत्त्व जानने वालों के अर्थात् देवताओं के अमल लोकों को प्राप्त करता है।"

श्रीशंकराचार्य ने लिखा है कि मृत्यु के द्वारा भी जो कुछ फल प्राप्त होता है उसका भी कारण संग और राग ही है। अत एव संग और राग से उत्पन्न होने वाले ये फल भी गौण ही हैं। प्रधान फल तो मोक्ष है जो कि असंग और रागादि से विमुक्त होने पर ही मिलता है। श्रीशंकरानन्द ने यहां यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि मरणोत्तर विभिन्न लोकों की जो प्राप्ति शास्त्रों में कही गई है, वह वर्णों और आश्रमों के अनुसार नहीं, अपितु मरण काल में जो गुण बढ़ा होता है, उसी के अनुसार होती है। मरणोत्तर जो गति भेद होता है उसका कारण उस काल में बढ़ा गुण ही है। श्रीपुरुषोत्तमजी लिखते हैं कि जो गुण मरण काल में बढ़ा रहता है आत्मा उसी से गमन करता है और वह गुण जिस लोक में अधिक है उसी लोक में जाता है।

सत्त्व गुण के प्रवृद्ध होने पर तत्त्व वेत्ताओं के अमल लोकों में प्राप्ति होना यहां कहा गया है। महदादि तत्त्वों को जानने वालों को ही यहां तत्त्व वेत्ता कहा गया है यह श्रीशंकराचार्य का आशय है। 'उत्तमविदाम्' का अर्थ श्रीरामानुजाचार्य ने 'आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले' किया है। आत्मा ही सबसे उत्तम है, आत्मवेत्ता ही उत्तम वेत्ता हैं उनके जो लोक हैं वहीं वह देहधारी जाता है। 'लोकान्' में बहुवचन से यह भी ध्वनित होता है कि आत्मवेत्ताओं के अनेक लोक हैं। आगे स्पष्ट होगा कि

वो लोक मर्त्यलोक से ऊपर की ओर स्थित हैं। श्री मधुसूदनसरस्वती ने 'उत्तमविदाम्' का अर्थ 'हिरण्यगर्भादि की उपासना करने वाले' किया है। हिरण्यगर्भ का तात्पर्य विगत प्रवचन में स्पष्ट किया जा चुका है। उन लोकों का परिचय देते हुए श्रीमधुसूदन-सरस्वती ने कहा है कि जहां देवताओं के समान सुखों का उपभोग प्राप्त होता है, वे ही उत्तम तत्त्ववेत्ताओं के लोक हैं। श्रीवल्लभाचार्य ने 'उत्तमविदाम्' का अर्थ 'उत्तम उपायों को जानने वाले योगी' किया है। लोक का अर्थ देह किया है। इसका तात्पर्य है कि सत्त्व-प्रधान पुरुष योगियों के कुलों में शरीर ग्रहण करता है। इस प्रसंग में गीता प्रवचन प्रथम भाग में ।

**"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते"**

स्मरणीय है। श्रीवल्लभाचार्य आगे कहते हैं कि सत्त्व प्रधान व्यक्ति योगी के घर शरीर धारण करके पुण्य कार्य करता है अथवा उत्तम लोकों को जाता है यह व्याख्या भी उन्हें मान्य है। श्रीपुरुषोत्तम जी कहते हैं कि जिन ब्रह्मा-विष्णु आदि के लोकों को उत्तम ज्ञानी लोग ही जान सकते हैं उनको वह प्राप्त करता है। श्री अभिनवगुप्ताचार्य इस पद्य की व्याख्या में लिखते हैं कि केवल मरण काल में अकस्मात ही सत्त्व गुण बढ़ जाय तथा रजोगुण और तमोगुण दब जांय और प्राणी को उत्तम लोकों की प्राप्ति हो जाय ऐसी बात नहीं है। सम्पूर्ण जन्म में जब निरन्तर सात्त्विक व्यापारों का अभ्यास चलता रहे तभी मरण काल में भी सत्त्व गुण बढ़ा रहता है और तभी उक्त लोकों की प्राप्ति भी संभव है। जो ऐसा मानते हैं कि जीवन भर चाहे अन्य गुणों में लिप्त रहे परन्तु अन्त में जिसका सत्त्व गुण बढ़ जाय उसे उक्त लोकों की प्राप्ति हो जाती है उन्हें श्रीअभिनवगुप्ताचार्य ने शरीर के अनुभवों से दूर बतलाया है। उनका कहना है कि मरण काल में तो सबको सर्वदा मोह ही हुआ करता है। जब जीवन में निरन्तर सात्त्विक भावना बनाए रहने का अभ्यास हो तभी अन्तिम समय में भी सात्त्विक भावना बनी रह सकती है। 'अमलान्' की व्याख्या श्रीशंकरानन्द कहते हैं कि जन्म, जरा, व्याधि ही मल हैं, जिन लोकों में जन्म जरा व्याधि नहीं वे ही अमल लोक कहे जाते हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि मरणोत्तर गति के विषय में श्रुति और स्मृतियों का स्पष्ट कथन है कि जैसा कर्म करता है वैसा ही बन जाता है। परलोक गति, पुण्यापुण्य कर्म के ही आधार पर बनती है। तब यहां कर्मों को छोड़कर जो गुणों की वृद्धि के कारण लोकान्तर गति बतलाई जा रही है वह श्रुति विरुद्ध जान पड़ती है। इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि जन्मान्तर तो निश्चित ही पुण्य पाप कर्मों के आधार पर ही होता है, परन्तु पुण्यापुण्य कर्मों के कारण ही मरण काल में तत्तद् गुणों की वृद्धि हो

जाती है यही यहाँ का आशय है। आगे रज और तम में मृत्यु होने पर उसकी गति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"रजोगुण की वृद्धि दशा में मृत्यु होने पर कर्म सङ्गी पुरुषों में जन्म होता है और तमोगुण की वृद्धि में मरण होने पर वह मूढ़ योनियों में समुत्पन्न होता है।" (१५)

यहां कर्मसङ्गी का अर्थ कर्मों में आसक्त पुरुष किया गया है। विहित और निषिद्ध कर्मों में निरन्तर लगे रहने वालों को कर्मसङ्गी कहते हैं। कर्म तो प्राणिमात्र करते रहते हैं, इसलिए श्रीरामानुजाचार्य ने कर्म सङ्गी का अर्थ फलानुसन्धानपूर्वक कर्म करने वाले किया है। मनुष्यलोक में ही फलानुसन्धान पूर्वक अधिक कर्म किया जाता है। इसलिए रजोगुणी व्यक्ति की उत्पत्ति सामान्य मानवों में होती है। इसी प्रकार मूढयोनि का अर्थ पशुयोनि किया गया है। तमोगुणी व्यक्ति का जन्म पशुपक्षि योनियों में होता है।

अग्रिम पद्य में इन तीनों गुणों के फलों का संक्षेप से वर्णन इस प्रकार दिया गया है कि–

"सुकृत कर्म का सात्त्विक निर्मल फल माना गया है, रजो गुण का फल दु:ख और तमोगुण का फल अज्ञान माना गया है।" (१६)

श्रीशंकराचार्य इस पद्य को उपर्युक्त श्लोकों में कथित अर्थ का संक्षेप कथन मानते हैं। श्रीरामानुजाचार्य का कथन है कि ऊपर जो सत्त्वादि गुणों की वृद्धि में मरण के उपरान्त गति बतलाई गई है, उन योनियों में पूर्व जन्म के ये गुण क्या फल देते हैं, यह इस पद्य का आशय होगा। यही सुकृत अर्थात् पुण्य अथवा शुभ कर्मों का फल सात्त्विक और निर्मल बतलाया गया है। आगे रज और तम का फल कहा गया है। तब प्रारंभ में भी सत्त्व का ही फल निर्मल क्यों नहीं कहा गया। वहां सत्त्व के स्थान पर सुकृत कर्मों का फल सात्त्विक होता है ऐसा क्यों कहा, इसका समाधान यह है कि सुकृत कर्म और सात्त्विक कर्म एक ही बात है। सुकृत शब्द का प्रयोग शास्त्रों में बहुत अधिक है, अत: यहां उसका प्रयोग हुआ है। श्रीरामानुजाचार्य का कथन है कि सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु होने पर आत्मवेत्ताओं के कुल में जन्म होता है यह बात विगत प्रवचन में कही गई है। आत्मवेत्ताओं के कुल में समुत्पन्न वह सत्त्व-गुण प्रधान प्राणी उसजन्म में भी फल की इच्छा को छोड़कर ईश्वर की आराधना की बुद्धि से ही कर्मों में प्रवृत्त होगा और उन कर्मों का फल फिर और भी अधिक निर्मल होगा। इस प्रकार दूसरे जन्म में बहुत संभव है कि प्राणी परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर ले।

रजोगुण की वृद्धि में मृत्यु होने पर उसकी गति कर्म सङ्गी पुरुषों के यहां उत्पत्ति के रूप में बतलाई गई है। कर्मसङ्गी पुरुषों के यहां उत्पन्न होकर फिर वह फल की इच्छा से ही कर्मों में प्रवृत्त होता रहेगा और उसके फल स्वरूप आगे भी सांसारिक बन्धनों में ही जकड़ा रहेगा जो कि दुःख रूप हैं। यह दुःख की परम्परा चलती रहेगी। इसीलिए रजोगुण का फल दुःख रूप ही बतलाया गया है। तमोगुणी की उत्पत्ति मूढ़योनियों में कही गई है उन योनियों में ज्ञान का प्रायः अभाव है। यदि उनमें थोड़ा बहुत ज्ञान है भी तो वह भी अपने आहार, निद्रा, भय, आदि तक ही सीमित है जो कि पारमार्थिक दृष्टि से नगण्य है। वह अज्ञान शब्द से ही कहा जायगा। मूढ़ योनियों में समुत्पन्न प्राणी सर्वदा अज्ञान परंपरा में ही चलते रहते हैं। श्रीआनन्दतीर्थ ने लिखा है कि रजोगुण का फल जो दुःख यहां कहा गया है उसका तात्पर्य यही लगाना चाहिए कि वहां सुख की मात्रा अल्प और दुःख की अधिक है। यदि वहां सुख के संस्पर्श से शून्य सर्वथा दुःख ही दुःख माना जाय तो तमोगुण और रजोगुण का फल एक रूप ही हो जायगा। यदि कहा जाय कि तमोगुण का तो अज्ञान रूप फल पृथक् बतला दिया गया है, अतः रजोगुण के फल के साथ तमोगुण के फल के सांकर्य की आशंका व्यर्थ है तो उसका उत्तर है कि सुख के अत्यन्त अभाव को ही अज्ञान कहते हैं, अतः सुख से सर्वथा शून्य दुःख और अज्ञान एक ही बात है। इसलिए रजोगुण के फल दुःख में अत्यल्प सुख और अत्यधिक दुःख कहना उचित होगा। श्रीपुरुषोत्तम जी कहते हैं कि भगवान् के परितोष के लिए किया गया कर्म ही सुकृत कर्म है। उसका सात्त्विक निर्मल फल भगवान् का परितोष ही है। राजस कर्म का फल संसारात्मक दुःख और तामस कर्म का फल भगवान से विमुख हो जाना या अज्ञान है। श्रीनीलकण्ठ ने ज्ञान वैराग्य आदि को सात्त्विक निर्मल फल कहा है। तीनों गुणों के फलों का संकलित कथन भगवान् करते हैं कि–"सत्त्व से ज्ञान होता है, रज से लोभ होता है, प्रमाद, मोह और अज्ञान तमोगुण से होते हैं।" (१७)

श्रीरामानुजाचार्य अपने पूर्व श्लोक के व्याख्यान के अनुसार ही इसका अर्थ करते हुए कहते हैं कि अग्रिम जन्म में जब उत्तम कुल में जन्म लेकर प्राणी फिर सत्त्व गुण की अपने आप में अभिवृद्धि करेगा तो उसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार रूप ज्ञान हो जायेगा। वह अनायास जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार जब रजोगुण की वृद्धि होगी तब लोभ उत्पन्न होगा। यहां स्वर्ग आदि लोकों में निवास का लोभ ही श्रीरामानुजाचार्य ने लोभ माना है। इसी प्रकार तमोगुण जब बढ़ा हुआ होगा तब प्रमाद का उदय होगा। प्रमाद का अर्थ पहिले किया

जा चुका है कि अनवधान के कारण असत्कर्म में प्रवृत्ति होना ही प्रमाद है। इस प्रकार के प्रमाद से मोह होगा। मोह का अर्थ भी किया जा चुका है कि वस्तु का जो यथार्थ स्वरूप है उससे विपरीत ज्ञान होना ही मोह है। प्रमाद बढ़ जाने पर वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होकर उनके स्वरूप से विपरीत स्वरूप का ग्रहण होने लगेगा। इस विपरीत ज्ञान से तमोगुण की मात्रा और भी अधिक बढ़ जायगी और उससे अज्ञान की वृद्धि होती चली जायगी।

श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि यहां जो सत्त्व आदि का फल बतलाया गया है उसमें पूर्वोक्त कारणों का ही अनुसन्धान करना चाहिए। सत्त्व गुण से यहां ज्ञान का उत्पन्न होना बतलाया गया है। इन्द्रिय द्वारों में प्रकाश हो जाना, इन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने विषयों का अनायास ग्रहण किया जाना, यही यहां ज्ञान का अभिप्राय है। पहिले सत्त्व से ज्ञान और सुख दोनों कहे गए थे। उसका अभिप्राय भी वहां स्पष्ट किया गया था कि इन्द्रियां जब बिना किसी व्यवधान के अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में सक्षम हो जाती हैं तब मनुष्य को सुख का अनुभव स्वत: होने लगता है। इसके विपरीत इन्द्रियों के द्वारा विषयों के अनायास ग्रहण में जब किसी प्रकार की बाधा उपस्थित हो जाती है तब उस अनुभव को ही दु:ख कहा जाता है। अनुकूलवेदनीय को सुख और प्रतिकूल वेदनीय को दु:ख जो कहा गया है उसका भी अभिप्राय अब स्वत: स्पष्ट हो जायगा। इन्द्रियों के द्वारा विषयों के ग्रहण में किसी बाधा का न होना ही अनुकूल वेदनीयता है, और विषयों के ग्रहण में बाधा उत्पन्न हो जाना ही प्रतिकूल वेदनीयता है। श्रीमधुसूदनसरस्वती का आशय है कि यहां यद्यपि सत्त्व के फल के रूप में केवल ज्ञान ही कहा गया है परन्तु उपर्युक्त प्रकार के ज्ञान से सुख का होना अनिवार्य है, अत: उसका भी यहां अनुसंधान कर लेना चाहिए। रज से जो लोभ की उत्पत्ति बतलाई गई है उसका विवरण करते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि करोड़ों विषयों की प्राप्ति हो जाने पर भी उन विषयों से अभिलाषा निवृत्त नहीं होती। यह अभिलाषा जब निरन्तर बढ़ती जाती है तब उसका पूरा करना अशक्य होता है और अन्तत: वह दु:ख का ही कारण बनती है। जिस प्रकार सत्त्व के फल में केवल ज्ञान को बतला कर सुख को वहां अर्थलभ्य रक्खा गया था, वही बात यहां दु:ख के विषय में भी समझनी चाहिए।

सत्त्वादि गुणों की वृद्धि के समय मृत्यु होने से क्या गति होती है इसका वर्णन पहिले आ चुका है। उसी का स्थान क्रम से पुन: निर्देश अग्रिम पद्य में किय जाता है कि-

"सत्त्व में स्थित पुरुष ऊपर संस्थित होते हैं। रजोगुणी पुरुष मध्य में जाते हैं और घृणा के योग्य तमोगुण के व्यवहार में स्थित पुरुष अधोगति को प्राप्त करते हैं।" (१७)

यहां श्रीशंकराचार्य ने अन्तिम तमोगुण के साथ जो 'वृत्त' शब्द आया है उसे तीनों के साथ समन्वित किया है। सत्त्व में स्थित होने का अर्थ भी सात्त्विक व्यवहार करने वाले ही होगा। सात्त्विक व्यवहार रखने वाले ऊपर के लोकों अर्थात् देवता आदि के लोकों में उत्पन्न होते हैं। रजोगुणी प्राणी मध्य अर्थात् मनुष्य लोक में ही जाते हैं और जघन्य अर्थात् निन्दित जो तमोगुण है, उसके वृत्त अर्थात् निद्रा, आलस्य आदि में संस्थित प्राणी अधोगति को प्राप्त करते हैं, अर्थात् पशु आदि योनियों में जाते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि सत्त्व गुण में संस्थित प्राणी क्रमशः मुक्ति को प्राप्त करते हैं। 'ऊर्ध्व' का अर्थ उन्होंने मुक्ति किया है। मध्य में जो रजोगुणी प्राणियों की स्थिति पद्य में बतलाई गई है उसका अर्थ उन्होंने किया है कि फलानुसन्धान पूर्वक काम करने वाले पुनरागमन रूप संसार बंधन में पड़ कर कष्ट पाते रहते हैं। तमोगुणी व्यक्ति निकृष्ट व्यवहारों में निरत रहने के कारण पहले पक्षी तथा कीटादि योनियों में जाते हैं फिर गुल्म लता आदि बनते हैं और अन्ततः शिला, काष्ठ आदि रूपों में परिणत होते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य ने ऊर्ध्व का अर्थ ब्रह्मलोकपर्यन्त या मोक्ष दोनों किया है। मध्य का अर्थ आधार भाग स्थिति तथा 'अधः' का अर्थ अतलादि पृथ्वी से नीचे के लोक माना है। यहां यह स्मरण करा देना आवश्यक है कि पृथ्वी को लेकर ऊपर तक सात लोक–भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यलोक हैं, जिनका स्मरण द्विजाति मात्र संध्या वनदन के समय कर लेते हैं। इसी प्रकार अतल, वितल, सुतल, महातल, तलातल, रसातल, पाताल–ये सात लोक पृथ्वी से नीचे स्थित माने गए हैं जिनका वर्णन पुराण आदि में सर्वत्र प्राप्त होता है।

अविगीता में पद्योक्त क्रिया पदों का अभिप्राय इस प्रकार लिखा गया है कि लोक व्यवहार में जैसा कि हम देखते हैं कि अपने स्वामी को प्रसन्न करने के हेतु कार्य करने वाले पुरुषों को उन्नत स्थान पर भेजा जाता है। वे जिस स्थान पर रहते हैं उससे ऊँचे पद पर चले जाते हैं। उसी प्रकार भगवान् सात्त्विक कार्यों से प्रसन्न होते हैं, इसीलिए उनके द्वारा प्रेरित होकर सात्त्विक कार्यों में निरत रहने वाले प्राणी ऊपर के लोकों में जाते हैं। इसीलिए यहां उनके लिए 'गच्छन्ति' इस क्रिया का प्रयोग हुआ। दूसरा लौकिक दृष्टान्त लीजिए कि जो व्यक्ति अपने जघन्य कृत्यों से अपने स्वामी को

अप्रसन्न रखते हैं वे कुपित स्वामी के द्वारा प्रेरित होकर जिस स्थान पर स्थित होते हैं उससे निम्न स्थान को जाते हैं। उनकी पदच्युप्ति हो जाती है। इसी प्रकार अपने जघन्य तमोगुणी कृत्यों से ईश्वर को अप्रसन्न कर देने वाले प्राणी उसके द्वारा प्रेरित होकर अधोगति को जाते हैं, इसीलिए उनके लिए भी यहां 'गच्छन्ति' का ही प्रयोग है। परन्तु जो व्यक्ति न तो कोई उत्कृष्ट कार्य करके अपने स्वामी को प्रसन्न ही करते हैं और न निकृष्ट कार्य करके उसे कुपित ही करते हैं, वे न तो ऊपर ही जाते हैं और न उनकी अधोगति ही होती है, वे जिस स्थान पर हैं उसी पर स्थित रहकर कालयापन करते हैं, इसलिए उनके लिए 'तिष्ठन्ति' यह क्रिया प्रयुक्त की गई है।

लोकमान्य तिलक ने सांख्य कारिका और अनुगीता में भी इस आशय का साम्य दिखाया है और यह भी कहा है कि सत्त्व गुण से स्वर्गादि सुख भले ही प्राप्त हो जांय परन्तु उसे परम पुरुषार्थ इसीलिए नहीं कहा जा सकता कि अन्ततः वह अनित्य ही है। मोक्ष तो प्रकृति और पुरुष के पृथक्-पृथक् ज्ञान के अनन्तर ही सांख्य दर्शन में माना गया है। परन्तु मोक्ष के लिए सत्त्व गुण की अत्यधिक आवश्यकता है। गीता में मोक्ष का स्वरूप प्रकृति पुरुष का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाना नहीं अपितु अविद्या का समूलोन्मूलन हो जाना है। इसी के स्पष्टीकरण के लिए भगवान् ने आगे के श्लोकों में प्रकाश डाला है।

# पञ्चदश-पुष्प

**नाऽन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।**
**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१९।।**
**गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।**
**जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०।।**

अर्जुन उवाच

**कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ! ।**
**किमाचारः कथंचैतान्स्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।।२१।।**

"जब द्रष्टा (देखने वाला) इन गुणों के अतिरिक्त और किसी को कर्त्ता के रूप में नहीं देखता तथा गुणों से भी पर तत्त्व को जान लेता है, तब वह मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है। (१९)

श्रीशंकराचार्य इसकी उत्थानिका में यह सूचना देते हैं कि अब तक गुणों की मीमांसा हुई। पूर्व अध्याय में जो कहा गया था कि पुरुष प्रकृति में स्थिर हो कर मिथ्याज्ञान से सम्बद्ध होता हुआ अपने भोग्य तीनों गुणों में, जो कि सुख दुःख-मोहात्मक बतलाए गए हैं, उनमें "मैं सुखी हूं, मैं मूढ़ हूं" इत्यादि अनुभवों के द्वारा आसक्त है। यही आसक्ति पुरुष के अनेक प्रकार की योनियों में जन्म होने का कारण है। इस अध्याय में अब तक प्रकृति से समुद्भूत गुणों का वर्णन हुआ है। यह सब मिथ्याज्ञान से समुद्भूत होने के कारण पुरुष के बन्धन का ही कारण है, इस बात का भी विस्तार से प्रतिपादन किया गया। अब गुण और परम तत्त्व का सम्यग्दर्शन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है जो कि पुरुष या जीवधारी का परम अभीष्ट है इस बात का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वती का कथन है कि प्रस्तुत चतुर्दश अध्याय में तीन विषयों का कथन करना था। उनमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग ईश्वराधीन है तथा गुणों का स्वरूप और उनके द्वारा बन्धन का क्या प्रकार है ये दो बातें कह दी गई हैं। अब गुणों के उपर्युक्त बन्धन से मुक्ति कैसे मिलती है और गुणों के बन्धन से मुक्त पुरुषों की क्या पहिचान है, यह बतलाना अवशिष्ट रह गया है, अतः आगे के पद्यों में भगवान् ने इसी बात का प्रतिपादन किया है।

पहिले भगवान् ने गुणों के सन्तरण का उपाय बतलाते हुए कहा था कि—

**"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"**

जो लोग मेरा आश्रय लेते हैं वे इस माया का सन्तरण करते हैं। भगवान् का आश्रय भी शास्त्र ज्ञान तथा आचार्य के प्रसाद से होता है। शास्त्र से ब्रह्मवेत्ता यह जान लेता है कि गुणों के सङ्ग में कैसा अनर्थ है, इसी से वह वासना के वश में नहीं रहता। संसार की व्यावहारिक दशा में भी वह परम तत्त्व की ओर से कभी भी अपनी दृष्टि नहीं हटाता। संसार में जो भी कुछ हो रहा है उस सब के कर्ता तीनों गुण ही हैं, आत्मा इनसे सम्बन्ध न रखता हुआ केवल इनका दर्शक या साक्षी है, ऐसा वह सर्वदा समझता रहता है। इस प्रकार अपनी दृष्टि और व्यवहार का सम्यक् परिचालन करता हुआ प्राणी इन गुणों के बन्धन से विमुक्त होकर मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है।

सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण ही कार्य कारण रूप विषयों के आकार में परिणत होते हैं। संसार में जितनी भी अवस्थाएँ और कार्य हैं, उन सबके कर्ता केवल गुण ही हैं। सांसारिक क्रिया कलापों का कर्ता गुणों के अतिरिक्त अन्य और कोई नहीं है। कर्म शरीर से भी किये जाते हैं, वाणी से भी उच्चारण रूप कार्य निरन्तर होते रहते हैं। ये जो कायिक, वाचिक और मानसिक कार्य हैं, उनमें बहुत से कार्य शास्त्र सम्मत और शिष्टानुमोदित होते हैं तथा बहुत से कार्य शास्त्रों में वर्जित और शिष्ट समुदाय में निन्दित भी माने जाते हैं। इन सभी कार्यों के कर्ता शरीर और इन्द्रियां ही हैं। आँखें ही देखने का कार्य करती हैं, कान ही सुनने का कार्य करते हैं, मनन, चिन्तन करना मन का ही कार्य है, ज्ञान प्राप्त करना बुद्धि का ही कार्य है, बोलना वाणी का ही कार्य है, इस प्रकार संसार के समस्त कार्य कलाप देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। ये सब तीनों गुणों के ही कार्य या विकृतियां हैं। तीनों गुण ही अन्तःकरण और बाह्यकरण रूपी शरीरों के रूपों में परिणत होकर सारे कार्यों का संचालन कर रहे हैं। इन तीनों गुणों का इस प्रकार समस्त कार्यों का संचालन करने का यह अर्थ नहीं है कि संसार में जो भी कुछ है वे तीनों गुण ही हैं, इनके अतिरिक्त और कोई तत्त्व है ही नहीं। ऐसा समझना असंगत है। ऐसा भी कोई तत्त्व है जिसमें इन गुणों का किसी प्रकार का संस्पर्श नहीं है। जो आकाश के समान निष्क्रिय और शान्त है और जो इन गुणों और इनके विकार रूप कार्यों का साक्षी है। इस प्रकार गुण और आत्मा के स्वरूप का पृथक्-पृथक् देखना ही सम्यक् दर्शन है। इसी सम्यक् दर्शन से मोक्षरूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है, जिसको यहां भगवान् ने कहा है कि "वह मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है।" यह श्रीशंकराचार्य और तदनुगामी व्याख्याकारों का आशय है। श्रीनीलकण्ठ ने यह भी कहा है कि इस प्रकार का दर्शन करने वाला तो मेरे भाव को प्राप्त करता है और ऐसा सम्यक् दर्शन करने में जो समर्थ नहीं है, वह गुणों को ही सब कुछ समझने के कारण गुण भाव को ही प्राप्त करता है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि सत्त्वगुण के बढ़ने पर ऊर्ध्व गमन होता है, यह पहिले कहा गया था। वह ऊर्ध्वगमन कहां तक होता है अर्थात् ऊर्ध्वगमन का अन्त कहां तक आता है तथा वह ऊर्ध्वगमन किस प्रकार होता है, यह यहां बतलाया जा रहा है। यद्यपि ऊर्ध्वगमन सत्त्वगुण के बढ़ने पर होता है और सत्त्वगुण सात्त्विक आहार और फल की अभिलाषा से रहित सुकृत कार्यों के करते रहने से होता है, यह पहिले ही कह चुके हैं। तथापि सत्त्वगुण का कार्य ऊर्ध्व की ओर प्रवृत्ति करके पूरा हो जाता है। आगे भी ऊपर की ओर उठते जाने में भी सत्त्वगुण सहायक तो अवश्य होता है परन्तु आत्मा का और गुणों का पृथक्-पृथक् संशय रहित ज्ञान ही मुख्य रूप से ऊपर की ओर निरन्तर बढ़ता हुआ अन्ततः ईश्वर भाव में पहुंचा देता है।

माध्वभाष्य में कहा गया है कि यहां गुणों को ही कर्ता कह कर अन्य के कर्तृत्व का जो निषेध किया गया है उसका अर्थ यह नहीं है कि गुण स्वतन्त्र रूप से कर्ता हैं। अपितु गुणों का कर्तृत्व यहां परिणाम सापेक्ष है। सांसारिक परिणामों के कर्ता गुण ही हैं, उनके अतिरिक्त सांसारिक परिणामों का कर्ता अन्य कोई नहीं है। परन्तु श्रुति और स्मृति प्रमाणों से स्वतन्त्र रूप से कर्ता तो ईश्वर ही है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि चतुर्दशाध्याय में अब तक भगवान् ने पुरुष की बन्धलीला बतलाई थी। अब इन आगे के दो पद्यों में उसकी मोक्ष लीला कहते हैं। उनका तात्पर्य है कि जब द्रष्टा गुणों को ही अपनी प्रवृत्तियों का कर्ता और आत्मा को उससे पृथक् समझ लेता है तब वह ब्रह्म भाव या अक्षर भाव को प्राप्त कर लेता है। श्रुति में भी कहा गया है–

**"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" ( मु० उ० ३।२।९। )**

अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।

श्रीपुरुषोत्तम जी लिखते हैं कि गुणों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाली अनेक प्रकार की विचित्रताओं के द्वारा भक्त को यही समझ में आता रहता है कि ये गुण भगवान् के ही हैं और इन गुणों की सम्पूर्ण विचित्रताओं का कारण भगवान् का माहात्म्य ही है। ऐसा समझने वाला मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है।

राघवेन्द्र विवृति में कहा गया है कि "नान्यं" में सन्धिविच्छेद करके "ना" का अर्थ मनुष्य करना चाहिए। पद्य का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए कि जो पुरुष गुणों को कर्ता नहीं समझता अपितु गुणों से अतिरिक्त आत्मा को ही कर्ता समझता है वही वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी है क्योंकि वही मननशील है, वही अन्त में

मेरे भाव को भी प्राप्त करता है। माध्वभाष्य के व्याख्यान में कर्ता के जिस मुख्य अर्थ की यहां व्यावृत्ति की गई थी, इस व्याख्या में वही मुख्य अर्थ ग्रहण करना होगा। माध्वभाष्य में जो आत्मा पर ही कर्तृत्व सिद्ध किया गया उसी का इस व्याख्या में भी समर्थन है। किन्तु भगवद्गीता में तो आत्मा के कर्तृत्व का बहुधा निराकरण मिलता है। इसलिए ये दोनों व्याख्याएं गीता के अन्यत्र उक्त विषयों से संगति नहीं रखतीं। गीता का आशय तो यही है कि गुण ही कर्ता हैं, आत्मा पर कर्तृत्व केवल आरोपित है।

अग्रिम पद्य में यह कह रहे हैं कि मेरे भाव को प्राणी किस प्रकार प्राप्त करता है–

'देह के बीज भूत इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके प्राणी जन्म, मृत्यु, जरा के दु:खों से छूटकर अमृत का उपभोग करता है' (२०)

समस्त शास्त्रों की प्रवृत्ति का मूल कारण दु:खों से छूटना है। सांख्य की प्रथम कारिका में कहा गया है–

**''दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ''**

तीन प्रकार के दु:खों के आक्रमणों से आक्रान्त प्राणिमात्र की अभिलाषा इन दु:खों से छूटने के उपायों को जानने के लिए सर्वदा बनी रहती है। अनेक शास्त्रों में इन दु:खों से छूटने के उपायों का प्रतिपादन हुआ है। परन्तु उन उपायों की निस्सारता दिखाते हुए उसी कारिका के उत्तरार्ध में कहा गया है कि दृष्ट या प्रत्यक्ष उपाय दु:खों का सर्वदा के लिए सर्वथा उन्मूलन नहीं कर सकते। उनके द्वारा दु:खों का उन्मूलन कुछ काल के लिए कुछ मात्रा में होता है। शरीर के रोगों की चिकित्सा करने से कुछ काल के लिए शरीर नीरोग हो जाता है परन्तु सर्वथा और सर्वदा के लिए सुखी जीवन बना देना चिकित्साशास्त्र के सामर्थ्य के बाहर की बात है। अन्तत: जन्म, मृत्यु, जरा के कष्टों से वह कैसे छुड़ा सकता है। कर्मकाण्ड की यज्ञादि विधियों का अनुष्ठान करके स्वर्गादि की प्राप्ति मानी गई है। परन्तु वह भी सर्वदा के लिए नहीं कही जा सकती क्योंकि उसके लिए स्पष्ट सुना जाता है कि–

**''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति''**

यज्ञ यागादि के द्वारा प्राप्त पुण्यों के क्षीण हो जाने पर फिर मर्त्यलोक में प्रवेश करना पड़ता है। मर्त्यलोक में प्रवेश का अर्थ है जन्म, जरा, मृत्यु के क्लेश प्राप्त करना। उपनिषदों में कहा गया है–

**"यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।"**

अर्थात् सुख की उपलब्धि भूमा भाव में ही हो सकती है, अल्पता में सुख की उपलब्धि नहीं होती। भूमा भाव का अर्थ है निस्सीमता और संकोच शून्यता। वही यहां अमृत शब्द से कहा गया है।

बौद्धवाङ्मय में भी जन्म, मृत्यु, जरा की व्याधि से छुटकारा प्राप्त करने की अवस्था को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है और उसे वहां 'निर्वाण' शब्द से कहा गया है। परन्तु वहां निर्वाण जन्म, मृत्यु आदि के क्लेशों से छूट कर आभावात्मक स्थिति का नाम है। गीता को यह अभिमत नहीं। गीता में भी निर्वाण शब्द आया है परन्तु वह "ब्रह्मनिर्वाण" है। दु:खों से छूट कर अभाव की स्थिति नहीं अपितु सर्वदा एक रूप और नित्य रहने की स्थिति में ही सार्थकता मानी गई है। ब्रह्म जो सत्ता, चेतना, आनन्दात्मक है उसमें अवस्थित होने पर ही दु:खों से विनिर्मुक्ति मिलती है।

गुणों को यहां देह का समुद्भव कहा गया है। इसका अभिप्राय सभी व्याख्याकारों ने यही प्रकट किया है कि ये गुण ही देह के कारण हैं या देह इन्हीं से उत्पन्न होता है। श्रीशंकराचार्य ने इन्हें बीज रूप कहा है। जिस प्रकार बीज से विशाल वृक्ष निकलता है उसी प्रकार गुणों से ही शरीर का विकास होता है। श्रीरामानुजाचार्य ने "देहसमुद्भवान्" का अर्थ कियाहै कि देह का कारण जो प्रकृति है, उससे ये समुद्भूत होते हैं। इनका अतिक्रमण जीवित अवस्था में ही करने का अभिप्राय यहां व्याख्याकारों ने प्रकट किया है। अतिक्रमण का अर्थ तत्त्व ज्ञान से इनका बाध कर देना है। ऐसा करने से जीवित अवस्था में ही अमृत का उपभोग प्राणी कर सकता है और इस प्रकार पूर्व के श्लोक में कहे गए ईश्वर भाव को प्राप्त कर लेता है।

श्रीपुरुषोत्तम जी कहते हैं कि यहां 'देही' शब्द के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि इन गुणों का अतिक्रमण करके प्राणी अलौकिक दिव्य देह को प्राप्त करता है और भगवान् के साथ दिव्य भोगों का उपभोग करता है, जिसे उनके दर्शन में नित्य-लीलाप्रवेश कहा जाता है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि निर्विकल्पक समाधि आदि के अभ्यास से गुणों का अतिक्रमण होता है। इस प्रकार अमृत का उपभोग या आनन्द की प्राप्ति ही गुणों के अतिक्रमण का प्रयोजन है।

लोकमान्यतिलक ने लिखा है कि सांख्य की प्रकृति और वेदान्त की माया एक ही पदार्थ है। त्रिगुणातीत अवस्था को ही ब्राह्मीस्थिति कहा जाता है। स्थितप्रज्ञ का

विवरण सुनकर द्वितीय अध्याय में (२-५४) अर्जुन ने जैसे प्रश्न किया था वैसे ही वह यहां त्रिगुणातीत का लक्षण सुनकर भी प्रश्न करता है कि–

"हे प्रभो ! किन लिङ्गों से यह जाना जा सकता है कि प्राणी इन तीनों गुणों से अतीत हो गया ? उसका आचरण कैसा होता है और किस प्रकार वह इन गुणों का अतिक्रमण करता है ? (२१)

तीनों गुणों के चिन्ह तो भगवान् ने पहिले कह ही दिये हैं। अब जब प्राणी इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर लेता है तब उसका कैसा व्यवहार हो जाता है, यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा है। क्योंकि संसार में जितने प्राणी हैं उनमें अधिकांश तीनों गुणों के प्रभाव में ही स्थित रहते हैं। गीता के श्रोता अर्जुन को भी उपदेश श्रवण से पहिले और इस समय उपदेश श्रवण काल में भी गुणों के प्रभाव में ही परिस्थित मानना पड़ेगा। अन्यथा वह उपदेश सुनने का अधिकारी ही नहीं रह जायगा। गुणत्रयातीत पुरुष तो उपदेष्टा की कोटि में ही आता है। हां, उपदेश्य व्यक्ति में सत्त्वगुण की अधिक मात्रा होने के कारण ही वह उपदेश्य बना है। परन्तु वह गुणातीत अवस्था में नहीं है। उसे गुणातीत व्यक्तियों की पहिचान होना भी कठिन है। क्योंकि वह स्वयं जिस अवस्था में स्थित है उसी को अन्यत्र भी वह पहिचान लेता है। परन्तु जिसका उसे कोई अनुभव नहीं उसका उसे परोक्षज्ञान भले ही हो जाय, प्रत्यक्ष होने पर उसे गुणातीत रूप में वह तब तक नहीं पहिचान सकेगा जब तक कि उसे उस अवस्थावालों के निश्चित चिन्ह न मालूम हों। भगवान् ने पिछले पद्यों में गुणों का प्रभाव और गुणातीत अवस्था का महत्त्व इतने विस्पष्ट भाव से व्यक्त कर दिया है कि सभी श्रोताओं की गुणातीत अवस्था के प्रति एक स्पृहणीय भावना उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए अर्जुन अपनी जिज्ञासा को न रोक सका और उसने भगवान् से प्रश्न कर ही दिया।

पद्योक्त सम्बोधन प्रभो ! का आशय है कि अर्जुन यह प्रकट कर रहा है कि आप मेरे ही नहीं प्राणिमात्र के सन्देहों के निराकरण करने में पूर्ण समर्थ ज्ञान विज्ञान के भण्डार हैं। किसी विद्वान् मनुष्य से कोई गम्भीर बात पूछने में यह निराशा संभावित हो सकती है कि उसे उस गंभीर बात का ज्ञान न हो। परन्तु ज्ञान की राशि रूप भगवान् कृष्ण के विषय में तो ऐसी निराशा का गन्ध भी अर्जुन को नहीं आ सकता था। इसलिए अपनी भगवान् में इस सुदृढ़ निष्ठा को यहाँ अर्जुन ने प्रभो ! इस सम्बोधन में व्यक्त किया है।

यहाँ अर्जुन के तीन प्रश्न हैं। प्रथम तो यह कि वे कौन से लक्षण या चिन्ह हैं जिन्हें देखकर गुणातीत पुरुष को देखने मात्र से पहिचान लिया जाय। जिस प्रकार

कहीं भी धुआँ देख कर यह जान लिया जाता है कि वहाँ अग्नि है, धुआं अग्नि की पहिचान है, क्योंकि धुएँ का और अग्नि का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है। जहाँ धुआं होगा वहां अग्नि अवश्य होगी, जहां अग्नि नहीं होगी वहां धुआं कदापि नहीं मिलेगा। जहां इस प्रकार का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध होता है वहां पहिचान के साधन को देख लेने से परोक्ष पदार्थ का भी निश्चित ज्ञान हो जाता है। गुणातीत व्यक्ति स्वरूपत: अपनी गुणातीत अवस्था को नहीं दिखा सकते, परन्तु उसमें ऐसी पहिचान तो अवश्य होगी जिसका अनुभव करके यह ज्ञान हो जाय कि अमुक पुरुष गुणातीत अवस्था में है। दूसरा प्रश्न यह है कि गुणातीत पुरुष का आचरण किस प्रकार का होता है। क्या उसकी चेष्टाएँ भी अन्य व्यक्तियों के समान नियन्त्रित होती हैं अथवा वह यथेच्छरूप से चेष्टाएँ करता है। वह वैदिक या लौकिक विधियों का पालन भी करता है अथवा नहीं। तीसरा प्रश्न यह है कि समुद्र के समान चारों ओर फैले हुए इन गुणों का अतिक्रमण वह किन उपायों से करता है।

अविगीता में कहा गया है कि यहां लिङ्ग शब्द से गुणातीत पुरुष के आन्तरिक असाधारण धर्मों के विषय में प्रश्न है और आचार शब्द के उसके बाह्य कर्मानुष्ठान किस प्रकार के होते हैं यह पूछा गया है। यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि आन्तरिक असाधारण धर्म तो दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में आ नहीं सकते। तब उनके पूछने का यहाँ क्या प्रयोजन हो सकता है। इसका उत्तर अविगीता में यह दिया गया है कि अपने भीतर गुणातीत अवस्था की पहिचान करने के लिए आन्तरिक असाधारण धर्मों को अर्जुन ने पूछा है तथा अन्य व्यक्ति में गुणातीत अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाह्य आचरण का प्रश्न किया है।

---

# षोडश-पुष्प

श्रीभगवानुवाच–

**प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।**
**न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।।२२।।**
**उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।**
**गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।२३।।**
**समदुःखसुखः स्वस्थः सम लोष्टाश्मकाञ्चनः ।**
**तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।२४।।**
**मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।**
**सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।२५।।**

"हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह जब प्रवृत्त होते हैं तब गुणातीत पुरुष इनसे द्वेष नहीं करता और जब ये निवृत्त होते हैं तब वह इनकी आकाङ्क्षा नहीं करता।।२२।।

यह गुणातीत अवस्था का स्वानुभववेद्य स्वरूप है। गुणातीत का अर्थ यह नहीं हैकि उससे गुणों का किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं रहा। गुणों से सब प्रकार के सम्बन्ध छूट जाने की स्थिति तो विदेहकैवल्य में ही प्राप्त होती है। जब तक आत्मा का देह-सम्बन्ध बना हुआ है तब तक व्यवहार में तो तीनों गुण आवेंगे ही। परन्तु गुणातीत अवस्था में पहुंचा हुआ पुरुष गुणों में आसक्ति शून्य होकर ही प्रवृत्त होगा। उसके विचार में यह बात अविचल रूप से स्थिर रहेगी कि गुण ही व्यवहार का परिचालन कर रहे हैं, मैं केवल इनका द्रष्टा हूँ। वह आत्मा पर इनका लेप कभी नहीं होने देगा। आत्मा पर गुणों का लेप तभी होता है जब गुणों के जो कार्य हैं उनमें किसी गुण में अभिलाषा और किसी में अनिच्छा उत्पन्न हो। गुणातीत पुरुष अपने व्यवहार में गुणों से न तो द्वेष ही करेगा और न उसकी अभिलाषा ही रखेगा। स्पष्ट ही है कि प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह सत्त्व, रज और तम के कार्य रूप हैं। श्रीशंकराचार्य ने इनके द्वेष और आकाङ्क्षा का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि–मुझमें तमोगुण का स्पर्श हो गया, इससे मूढ़ता आ गई, दुःखात्मक राजसी प्रकृति के उदय से मैं अपने स्वरूप से चलायमान हो गया, यह मेरे लिए कष्ट का विषय है कि मैं अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो गया। प्रकाशात्मक सात्त्विक गुण मुझमें विवेकशीलता का प्रादुर्भाव करता हुआ मुझे

आबद्ध कर रहा है, इस प्रकार संसारी पुरुष गुणों से द्वेष करते रहते हैं। परन्तु त्रिगुणातीत अवस्था में पहुंचा हुआ व्यक्ति इस प्रकार के गुणों के द्वेष से अपने को दूर रखता है। इसी प्रकार जैसे सत्त्वादि गुणों में संस्थित पुरुष सत्त्व आदि गुणों को आत्मा के प्रति प्रकाशित करके फिर यह चाहते हैं कि ये गुण अब निवृत्त हो जांय, ऐसा वह पुरुष नहीं चाहता। यह दूसरे व्यक्ति के जानने योग्य चिन्ह नहीं अपितु स्वयं अनुभवकरने योग्य बातें हैं।

श्रीरामानुजाचार्य का यहां यह आशय है कि आत्मा के अतिरिक्त दो प्रकार की वस्तुएँ मिलती हैं। एक वे जो इष्ट हैं और दूसरी अनिष्ट हैं। जब अनिष्ट वस्तुएँ, अथवा अनिष्ट वस्तुओं को उपस्थित करने वाले साधन सामने आते हैं तो उनमें हेयता के कारण द्वेष बुद्धि होती है। इसी प्रकार जब इष्ट वस्तुएँ अथवा उनको उपस्थित करने के साधन सामने से हट जाते हैं तब उनके प्रति आकाङ्क्षा होती है, ऐसा सभी का अनुभव है। उनमें अनिष्ट साधन जब सामने आवें तब गुणातीत अवस्था में स्थित पुरुष उनसे द्वेष नहीं करता। मृत्यु अनिष्ट है, मृत्यु का साधन सर्प, व्याघ्र आदि हैं, जब ये सामने आते हैं तो उसके व्यवहार में इनके प्रति कोई द्वेष भावना उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार जो इष्ट वस्तुएँ हैं उनके हट जाने पर यह उनकी आकाङ्क्षा नहीं करता। तीनों के तीनों कार्य इष्ट साधन भी हैं तथा अनिष्ट साधन भी। प्रकाश जो सत्त्व गुण का कार्य है, वही तब अनिष्ट साधन बन जाता है जब वह भय आदि के साधनों को प्रकाशित करे। भय का साधन सिंह आदि हैं। यदि सिंह की समीप उपस्थिति के समय घना अन्धकार रहे तो सिंह मनुष्य को देख नहीं सकेगा। अत: उस समय अन्धकार ही इष्ट साधन होगा। इस प्रकार तीनों गुण विभिन्न परिस्थितियों में इष्ट साधन और अनिष्ट साधन दोनों बन जाते हैं। इनके विषय में गुणातीत मनुष्य का क्या व्यवहार है यह बतलाया गया है।

आनन्दतीर्थ के माध्व भाष्य का आशय है कि सत्त्वादि गुण स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें स्थूल सत्त्वादि गुणों से लौकिक प्रकाश प्रवृत्ति और मोह उत्पन्न होते हैं और सूक्ष्म गुणों से परमेश्वर विषयक यह होते हैं। इनमें से गुणातीत पुरुष स्थूल गुणों से उत्पन्न प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह की आकाङ्क्षा और उनके प्रति द्वेष से मुक्त रहता है। परन्तु सूक्ष्म भगवद्विषयक गुणों के कार्यों में तो उसकी आकाङ्क्षा ही रहती है। इसीलिए माध्वभाष्य में श्लोक के "न द्वेष्टि, न काङ्क्षति" का अर्थ करते हुए 'प्राय:' और जोड़ दिया है कि वह प्राय: इनकी आकाङ्क्षा नहीं करता। अर्थात् स्थूल गुणों के कार्य लौकिक प्रकाश आदि के प्रति उसके आकाङ्क्षादि नहीं होते।

सूक्ष्म गुणों के प्रकाशादि कार्यों के प्रति तो उसकी आकाङ्क्षा बनी ही रहती है। अपने कथन के समर्थन में सामवेद की भाल्लवेय शाखा का यह मन्त्र उन्होंने लिखा है–

**रजस्तमस्सत्त्वगुणान् प्रवृत्तान् प्रायो न च द्वेष्टि न चापि काङ्क्षति ।**
**तथापि सूक्ष्मं सत्त्वगुणं च काङ्क्षेत् यदि प्रविष्टं सुतमश्च जह्यात् ।।**

इसमें सूक्ष्म सत्त्व गुण की आकाङ्क्षा का विधान है। महाभारत मोक्षधर्म प्रकरण का भी पद्य उद्धृत किया गया है–

**"न हि देवा ऋषयश्च सत्त्वस्था नृपसत्तम !**
**हीनाः सत्त्वेन सूक्ष्मेण ततो वैकारिका मताः**
**कथं वैकारिको गच्छेत्पुरुषः पुरुषोत्तमम्"**

इसका आशय है कि यदि देवता और ऋषि सूक्ष्म सत्त्व गुण से विहीन हो जांय तब वे सत्त्वस्थ नहीं कहे जा सकते अपितु उन्हें स्थूल-गुण-विकारों में स्थित रहने से तथा सूक्ष्म सत्त्व से विहीन होने के कारण वैकारिक ही कहना पड़ेगा। वैकारिक होने पर वे पुरुषोत्तम भाव को कैसे प्राप्त कर सकेंगे, अर्थात् उनका मोक्ष कैसे होगा। गीता में जो गुणों का विवेचन हुआ है उसमें इस प्रकार का स्थूल सूक्ष्म विभाग नही देखा जाता। अतः इस स्थूल विभाग के अनुसार गीता में स्थूल गुण और उनके कार्यो का ही विवेचन हुआ है यही मानना होगा।

श्रीपुरुषोत्तमजी ने लिखा है कि गुणातीत पुरुष गुणों की प्रवृत्ति और निवृत्ति को भगवदिच्छा से प्रेरित समझता है, अतः उसका गुणों के प्रति स्वतः इच्छा और द्वेष का भाव निवृत्त हो जाता है।

श्रीनीलकण्ठ का आशय है कि गुणातीत पुरुष समाधि में निरत रहता है। समाधि को छोड़ने की दशा को व्युत्थान कहते हैं। जब व्युत्थान दशा में गुणों का सम्पर्क होता है तब वह इनसे द्वेष नहीं करता। समाधि अवस्था में जब गुणों का आविर्भाव होता है तब वह इनकी आकाङ्क्षा नहीं करता। समाधि अवस्था में गुणों के द्वारा अनेक चमत्कार अनुभूत होते हैं। वे समाधि के प्रतिकूल योगशास्त्र में माने गए हैं। समाधि-स्थित पुरुष इन चमत्कारों का अनुभव करते हुए भी उनकी आकाङ्क्षा नहीं रखता। भागवत् का पद्य भी उन्होंने उद्धृत किया है कि–

**"देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा**
**सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्**

**दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं**
**वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः''**

(श्री मद्भागवत ११।१३।३६)

अर्थात् समाधि में संस्थित सिद्ध पुरुष जो कि आत्मस्वरूप को प्राप्त कर चुका है वह नश्वर शरीर की निश्चेष्ट रूप से स्थिति और उसकी चल अवस्था को उसी प्रकार नहीं देखता जिस प्रकार कि मदिरा के मद से अन्ध व्यक्ति भाग्य से प्राप्त अथवा अप्राप्त वस्त्र का ज्ञान नहीं रखता। शरीर को वस्त्र के रूप में तो भगवान् ने भी दूसरे अध्याय में कहा ही है।

श्रीनीलकण्ठ ने यहां योग वासिष्ठ में कही गई सात योग की भूमिकाओं को भी इस प्रकार उद्धृत किया है कि–

**ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता**
**विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा**
**सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका**
**पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता**

इनमें मुमुक्षु अवस्था तक की साधन सम्पत्ति प्रथम है। श्रवण और मनन रूप विचार की दूसरी अवस्था है। तीसरी अवस्था निदिध्यासन है। ये तो समाधि की साधनभूत अवस्थाएं हैं। चौथी अवस्था समाधि के फल के रूप में हैं जिसमें कि सत्त्वगुण की अभिवृद्धि होकर ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। इस अवस्था में योगी कृतार्थ हो जाने पर भी पुष्कल मात्रा में जीवन्मुक्ति के सुख का अनुभव नहीं कर पाता। योग की पंचम अवस्था में वह स्वयं स्थित भी रहता है और स्वयं उत्थित भी होता है। छठी अवस्था में वह दूसरे के प्रयत्न से ही उठाया जाता है और सातवीं अवस्था में न स्वतः वह उठता है और न दूसरे के द्वारा ही उठाया जा सकता है। श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि नित्यसमाधि में स्थित पुरुष की इस अवस्था को ही इस पद्य में कहा गया है।

इस प्रकार अनुभव योग्य गुणातीत अवस्था का विवरण करके आगे गुणातीत पुरुष के आचरण के विषय में जो अर्जुन का प्रश्न था उसका उत्तर भगवान् अग्रिम पद्य के द्वारा देते हैं कि–

''वह उदासीन के समान स्थिर रहता है, गुणों के द्वारा वह चलायमान नहीं होता, गुणों का गुणों के साथ व्यवहार हो रहा है ऐसा वह समझता है। (२३)

दो व्यक्तियों के परस्पर कलह में प्रवृत्त होने पर जो तीसरा व्यक्ति उन दोनो में से किसी का पक्ष ग्रहण नहीं करता, केवल उनका अवलोकन करता है, वह उदासीन या तटस्थ माना जाता है। इसी प्रकार शास्त्रीय अथवा लौकिक वाद विवाद में भी जब दो व्यक्ति तर्क प्रतितर्क प्रस्तुत करते हैं, तब एक तीसरा व्यक्ति उन विवाद में पड़े हुए लोगों में से किसी का पक्ष न लेता हुआ साक्षि रूप से अवस्थित रहता है, वह भी उदासीन कहलाता है। गुणातीत अवस्था में पहुँचा हुआ व्यक्ति भी इसी प्रकार उदासीन की भांति स्थित रहता है। प्रश्न होगा कि यहां कौन सा कलह या विवाद है जिसके लिए उसे उदासीन के समान रहना पड़ता है, अथवा किसके द्वारा विचलित किये जाने की यहां आशंका होती है। इसका समाधान है कि प्रतिक्षण व्यवहार में आने वाले जो गुण हैं, वे ही परस्पर कलहायमान अवस्था में रहते हैं और उन्हीं की उस अवस्था से यह पुरुष उदासीन रहते हैं। एक दूसरे का अभिभव आदि करते रहना गुणों का स्वभाव बतलाया गया है। आत्मवेत्ता को आत्मा से पृथक् गुणों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। वह चिरकाल तक निरन्तर समाधि अवस्था में संस्थित रहता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, वह यह स्पष्ट जान जाता है कि पूर्वजन्म या इस जन्म के कर्मो से प्रेरित होकर देह, इन्द्रिय आदि अपने-अपने भोजन शयनादि कार्यों में लगे रहते हैं, मैं इनका द्रष्टा इनसे सर्वथा पृथक् हूँ।

श्रीरामानुजाचार्य के कथन का आशय है कि उदासीन भाव दो प्रकार से आता है। एक तो जब किसी कार्य को करने की क्षमता नहीं होती तब मनुष्य उदासीन हो जाया करता है। दूसरा जब पूर्ण तृप्त हो जाने पर किसी कार्य में उसकी इच्छा ही नहीं रहती तब वह उदासीन हो जाता है। यहाँ दूसरे प्रकार की उदासीनता ही ग्राह्य है। गुणातीत पुरुष आत्म ज्ञानी होने पर आप्त काम हो जाता है। अत: वह गुणों से उदासीन हो जाता है।

श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि भगवान् की इच्छा से ही गुणों का परस्पर व्यवहार चल रहा है यह समझ कर वह तटस्थ रहता है।

श्रीनीलकण्ठ ने समाधि की छठी भावना का विवरण करके इस पद्य को लगाया है कि गुणातीत पुरुष समाधि में उदासीन के समान स्थिर रहता है। वह समाधि से उठने में कोई प्रयोजन नहीं देखता। क्योंकि किसी वासना के मन में न रहने से 'मेरा अमुक कर्तव्य है' ऐसी कोई भावना उसके मन में नहीं रहती। यदि कोई अन्य व्यक्ति उसे उठने को प्रेरित न करे तो केवल गुणों के द्वारा वह समाधि से विचलित नहीं किया जाता। दूसरे के द्वारा उठाया जाने पर भी वह यही देखता है कि गुणों का परस्पर

व्यवहार चल रहा है। ऐसा समझता हुआ वह स्तब्ध रहता है। वह गुणों के द्वारा उत्पादित इष्ट और अनिष्ट का स्पर्श नहीं होने देता। एक उदाहरण देकर उन्होंने इसे स्पष्ट किया है कि जैसे कोई भोजन करने वाला व्यक्ति अपनी मूढ़ता के कारण भोज्य पदार्थों के रसों को नहीं जानता। किसी दूसरे व्यक्ति के समझाने पर भी उनकी विशेषता के अनुभव न होने से वह उनका स्वाद नहीं लेता और उनके सुख दुःखों का भी अनुभव नहीं करता। उसी प्रकार गुणों के प्रति गुणातीत पुरुष की स्थिति हो जाती है।

अग्रिम पद्य में गुणातीत पुरुष के अन्य लक्षण कहते हैं कि–

"वह दुःख और सुख में समान बुद्धि रखता है, उसके लिए लकड़ी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह प्रिय और अप्रिय विषयों में एक ही भाव रखता है, वह धीर है, अपनी निन्दा और स्तुति को भी वह समान भाव से सुनता है। सम्मान और अपमान में भी उसका तुल्य भाव रहता है। मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष दोनों में वह तुल्य भाव रखता है, वह सभी कार्यों के आरंभ का परित्याग कर देता है, जो इस प्रकार के आचरणों से युक्त हो जाता है वह गुणातीत कहलाता है" (२४, २५)

मित्र और अरि पक्ष में उदासीनता का अभिप्राय लिखते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि बहुत से लोग स्वतः तो दोनों पक्षों से उदासीन रहते हैं, परन्तु दूसरों के लिए वह किसी पक्ष का ग्रहण कर लिया करते हैं। उदाहरण के रूप में यहां किरातार्जुनीय महाकाव्य में व्यासजी की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है कि–

**वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः**

(किरातार्जुनीय)

अर्थात् वीतराग और मुक्ति मार्ग का अवलम्बन करनेवाले पुरुषों को भी उत्तम पक्ष में पक्षपात होता ही है। परन्तु गुणातीत अवस्था वास्तव में वही है जहां किसी भी ओर पक्षपात सर्वथा न हो। 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ वे करते हैं कि दृष्टार्थक या अदृष्टार्थक समस्त विधियों का परित्याग करके केवल शरीर यात्रा निर्वाहार्थ कर्म को स्वीकार करने वाला ही गुणातीत पुरुष होता है।

'स्वस्थ' का अर्थ है कि जो अपने में अर्थात् आत्मा में ही सर्वदा संस्थित रहता है, पुत्रादि के जन्म मरण से जन्य सुख-दुःखादि में जिसकी समान बुद्धि रहती है। मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण आदि में उसकी समान बुद्धि बतलाई गई है। इसका आशय यह है कि किसी भी प्रकार के प्रलोभन से वह विचलित नहीं किया जा सकता। निन्दा और स्तुति आदि शरीर और उसके धर्मों की ही हुआ करती है। बहुत से लोग राग, द्वेषादि

का विजय कर लेते हैं परन्तु यह न्यूनता उनमें देखी जाती है कि अपनी स्तुति सुन कर उन्हें बड़ा हर्ष होता है और अपनी निन्दा सुनकर क्लेश का अनुभव करते हैं। गुणातीत पुरुष की उक्त धारणा बड़ी दृढ़ रहती है कि निन्दा या स्तुति उसकी अपनी नहीं अपितु शरीर और उसके धर्मों की हैं। अतः वह इनमें अपनी समचित्तता का पूरा निर्वाह करता है। स्तुति और निन्दा के ही कारण मान या अपमान होता है। मान से स्तुति और अपमान से निन्दा होती है। इनको स्तुति और निन्दा का फल भी कहा जा सकता है। जब वह स्तुति और निन्दा में समान भाव रखता है तो मानापमान में भी उसका समान भाव रहना स्वाभाविक ही है। भेद यही है कि स्तुति और निन्दा वाणी से होती है तथा मानापमान व्यवहारों से प्रकट होता है। धीर का अर्थ व्याख्याकारों ने धीमान् या बुद्धिमान् किया है। महाकवि कालिदास ने धीर की सुन्दर परिभाषा लिखी है कि–

**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः**

(कुमारसंभव ३ सर्ग)

चित्त विकार के हेतु के उपस्थित होने पर भी जिनका चित्त चंचल नहीं होता वे ही धीर कहलाते हैं।

श्रीनीलकण्ठ के अनुसार इन दोनों श्लोकों में समाधि की चौथी और पांचवीं अवस्थाओं का विवरण है। पहिले पांचवीं और फिर चौथी यह ऊपर से नीचे की ओर का क्रम उन्होंने यहां माना है। पांचवीं असंसक्ति नाम की योग की भूमिका का वर्णन करते हुए वह कहते हैं कि उस अवस्था में योगी को सुख और दुःख में समभाव प्राप्त हो जाता है। वह स्वस्थ रहता है अर्थात् अपनी इच्छा से ही स्थित रहता है। समाधि में जब इच्छा का अभाव हो जाता है तब वह स्वयं ही उठता है। अपनी उत्थित अवस्था में भी लोष्ट, अश्म और काञ्चन में वह सम बुद्धि ही रखता है। निन्दा और स्तुति में अपनी धीरता के कारण वह समानता रखता है। जैसे कोई शूर पुरुष तीव्र प्रहार की वेदना से भी चेतना शून्य नहीं होता, अपने धैर्य से वह वेदना का अनुभव या उसे सहन करता है उसी प्रकार हर्ष और विषाद का अनुभव करता हुआ भी यह समाधिस्थित गुणातीत पुरुष अपने धैर्य से विचलित नहीं होता। इससे पहिले की जो स्थितियां बतलाई गई हैं उनमें वेदना का अनुभव होने पर भी हर्षादि का उदय नहीं होता तथा उसके भी पूर्व की अवस्था में वेदना का ही अनुभव नहीं होता।

आगे के श्लोक में चतुर्थ सत्त्वापत्ति नामक अवस्था का विवरण है। उसमें

विद्वान् पुरुष द्वैतभाव को मरुमरीचिका के समान असत्य समझता हुआ मान और अपमान में तुल्य भाव रखता है, वह किसी पक्ष का ग्रहण करने के लिए कोई यत्न नहीं करता।

इस प्रकार इन उपर्युक्त चार पद्यों में भगवान् ने गुणातीत पुरुष के लिङ्ग और आचरणों का परिचय दिया। आनन्द गिरि तथा लोकमान्य तिलक और डा० राधाकृष्णन् ने अपनी टिप्पणियों में यहां द्वितीय अध्यायोक्त स्थितप्रज्ञ के चिन्हों से इसे समान बतलाया है। लोकमान्य ने १२वें अध्याय में भक्तिमान के लक्षणों से भी यहां की समानता बतलाई है। 'सर्वारभपरित्यागी', 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' 'उदासीनः' इत्यादि विशेषण यहां पूर्वोक्त प्रकार से ही प्रयुक्त देखे जाते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकला है कि सिद्धि के विभिन्न मार्गों का आश्रय लेने पर भी सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेने वाले पुरुषों के लक्षण एक से ही हो जाते हैं। लोकमान्य ने यह भी लिखा है कि प्रारंभ के अध्यायों से यह सिद्ध हो जाता है कि कर्म किसी भी स्थिति में नहीं छोड़े जा सकते। इस प्रकार उनका कहना है कि स्थितप्रज्ञ त्रिगुणातीत और भक्ति, ये सब कर्मयोग के ही मार्ग हैं।

# सप्तदश-पुष्प

**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते**
**स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।२६।।**
**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च**
**शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।२७।।**

अर्जुन के दो प्रश्नों का उत्तर विगत चार पद्यों में भगवान् ने दिया। उसने तीन प्रश्न किये थे। किन लिङ्गों से गुणातीत पुरुष युक्त रहता है, उसके क्या आचरण होते हैं तथा वह किस प्रकार इन गुणों का अतिक्रमण करता है। तीसरे प्रश्न का उत्तर यहां है कि–

'जो अविचल भक्तियोग से मेरी सेवा करता है वह इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। (२६)

यहाँ अविचल भक्तियोग से भगवान् नारायण की सेवा को गुणों के अतिक्रमण का और मोक्ष का उपाय कहा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि केवल प्रकृति और आत्मा के पृथक् पृथक् ज्ञान मात्र से गुणों का अतिक्रमण या मुक्ति नहीं होती, अपितु निग्रह और अनुग्रह में समर्थ सत्य सङ्कल्प जो भगवान् हैं, जो कि आश्रित पुरुषों के प्रति वात्सल्य के समुद्र हैं, उनकी एकान्त भक्ति से ही इन गुणों का अतिक्रमण और मोक्ष की प्राप्ति संभव है।

आनन्दतीर्थ कहते हैं कि भक्ति योग से भगवान् की सेवा करने वाला प्राणी प्रकृति के समान भगवान् को प्रिय हो जाता है। 'ब्रह्मभूय' में ब्रह्म शब्द का अर्थ उन्होंने प्रकृति किया है, पहिले भी "मम योनिर्महद् ब्रह्म" आदि में ब्रह्मशब्द का प्रकृति अर्थ किया ही जा चुका है। जैसे प्रकृति भगवान् को अत्यधिक प्रिय है, उसी प्रकार भगवान् की सेवा करने वाला प्राणी भी भगवान् का प्रिय होता हुआ गुणों का अतिक्रमण कर जाता है, यह इस व्याख्या का आशय है।

आनन्दगिरि ने उपसंहार के इस पद्य के आधार पर ब्रह्मभाव को प्राप्त करना ही इस अध्याय का मुख्य तात्पर्य है, यह प्रकट किया है।

श्री वल्लभाचार्य ने ब्रह्मभूय का अर्थ अक्षरभाव किया है।

श्रीनीलकण्ठ ने यहां तीसरी तनुमानसा नाम की योगावस्था का विवरण माना है। इसमें योगी किसी दूसरी वृत्ति के वशीभूत न होकर भगवान् में तैलधारा के समान

अनवच्छिन्न मनोवृत्ति का अर्पण करता है, यही 'अव्यभिचारेण भक्ति' है। इस प्रकार अपने चित्त को सूक्ष्म बनाकर वह गुणों का अतिक्रमण कर जाता है और अपने ध्यान के परिपाक के अनन्तर सत्त्व गुणका भी बाध करके ब्रह्मभाव में पहुंचने की योग्यता प्राप्त करता है।

श्रीशंकरानन्द ने भक्तियोग का लक्षण बतलाते हुए ये पद्य उद्धृत किए हैं–

**मत्कथाश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये**
**मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ**
**अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे**
**लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्**

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य ने पद्योक्त चकार को अवधारणार्थक माना है। इसका तात्पर्य है कि वह भगवान् की ही सेवा करता है। इससे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि जो फलानुसन्धान पूर्वक भगवान् की भक्ति करते हैं वे फल को ही प्रधान मानते हैं, भगवान् को अङ्ग समझते हैं, अतः उनको ब्रह्मसायुज्य की प्राप्ति नहीं होती। फलेच्छा के बिना भक्ति में निरत रहने वाले प्राणी को ही वह पद मिलता है। फलेच्छा शून्य होकर जब कोई भगवद्भक्ति में विलीन होता है और कोई उससे यह प्रश्न करता है कि भाई तुम इस प्रकार के निष्फल मार्ग में प्रवृत्त क्यों हुए हों; तब वह निरन्तर भगवद्भक्ति में विलीन रहने के कारण विद्रुत अन्तःकरण वाला व्यक्ति भक्तिरस के सात्त्विकभावों से व्याप्त होता हुआ केवल मौन रहकर सारा उत्तर दे देता है।

अविगीता में श्री वामन का आशय लिखा है कि ज्ञान का फल मोक्ष ही होता है। ज्ञानी दो प्रकार के होते हैं, निर्गुणोपासक और सगुणोपासक। इनमें से निर्गुणोपासकों का गुणातीत होने के कारण ब्रह्मभाव हो जाना ही मोक्ष है। जो सगुणोपासक हैं उनका भगवान् के साथ साधर्म्य हो जाना मोक्ष है। इस प्रकार जिनको आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ है परन्तु जो भगवान् की भक्ति में निरत हैं वे भी भगवान् का सारूप्य प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु वे नव वैकुण्ठ जो कि अमुक्त स्थल है वहां ही रहते हैं और जय विजय की भांति उनकी स्थानच्युति भी होती है। जो ज्ञानी हैं वे कभी कल्पना में भी च्युत नहीं होते। यह बात पहिले–

**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः**
**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**

इस पद्य के द्वारा बतलाई गईहै। प्रस्तुत पद्य में सगुण मोक्ष को 'ब्रह्मभूय' कहा गया है। आपकी भक्ति से ब्रह्मभाव कैसे प्राप्त हो जायगा, इस संभावित प्रश्न का उत्तर देते हुए आगे भगवान् कहते हैं–

"क्योंकि मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूं। अमृत, अव्यय, शाश्वत धर्म, और एकान्त सुख की भी मैं प्रतिष्ठा हूं।"

जिसमें जो प्रतिष्ठित हो उसे उसकी प्रतिष्ठा कहा जाता है। श्रीशंकराचार्य के अनुसार 'अहम्', (मैं) का अर्थ यहां प्रत्यगात्मा है। प्रत्यगात्मा परमात्मा की प्रतिष्ठा है, अर्थात् परमात्मा प्रत्यगात्मा पर प्रतिष्ठित है। परमात्मा और प्रत्यगात्मा एक ही हैं, माया-विमुक्त होने पर प्रत्यगात्मा ही परमात्मा हो जाता है। किस प्रकार के ब्रह्म की प्रतिष्ठा मैं हूं, इसी का उत्तर है कि जो अमृत है अर्थात् अविनाशी है, और जो अव्यय अर्थात् विकारों से परे है। इसके अतिरिक्त जो शाश्वत नित्य धर्म और उसके समुद्भूत स्थायी सुख है, उसकी भी प्रतिष्ठा भगवान् ही हैं। अमृत अव्यय स्वभाववाले परमानन्द रूप परमात्मा की प्रतिष्ठा प्रत्यगात्मा है। प्रत्यगात्मा ही सम्यक् ज्ञान के द्वारा परमात्मा के रूप में गृहीत होता है। इस प्रकार का ज्ञान 'ब्रह्मभूय' अर्थात् मोक्ष के लिए उपयुक्त है। ईश्वर की जिस शक्ति से भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ब्रह्म प्रवृत्त होता है वह शक्ति भी ब्रह्म ही है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न रहते हैं।

एक दूसरे प्रकार से भी इस पद्य की व्याख्या श्रीशंकराचार्य ने प्रस्तुत की है। ब्रह्म का अर्थ सविकल्पक ब्रह्म है और 'अहम्' का अर्थ निर्विकल्पक ब्रह्म है। सविकल्पक ब्रह्म की प्रतिष्ठा निर्विकल्पक ब्रह्म है अर्थात् सविकल्पक ब्रह्म निर्विकल्पक के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहता है।

वह सविकल्पक ब्रह्म अमृत और अव्यय है, मरण धर्म से मुक्त और व्यय रहित है। शाश्वत और नित्य जो ज्ञान निष्ठात्मक धर्म है तथा जो सर्वदा स्थायी रहने वाला सुख है उसकी भी मैं ही प्रतिष्ठा हूं।

श्रीरामानुजाचार्य शाश्वत धर्म का अर्थ भगवान् का ऐश्वर्य करते हैं, क्योंकि धर्म तो साधन है, यहां साध्य का कथन किया जा रहा है। एकान्त सुख का तात्पर्य तो स्पष्ट ही है कि सांसारिक सुख तो नष्ट होने वाला होता है, वह सर्वदा स्थायी नहीं रहता। उससे हटाने के लिए यहां एकान्त सुख कहा गया। माध्व भाष्य में यहां ब्रह्म का अर्थ माया किया गया है जैसा कि त्रयोदशाध्याय में–

**"मम योनिर्महद् ब्रह्म"**

में किया गया था। मैं प्रकृति की प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय हूं यह अभिप्राय स्पष्ट ही है।

श्रीश्रीधराचार्य ने लिखा है कि प्रतिष्ठा का अर्थ प्रतिमा है। मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा अर्थात् प्रतिमा हूं, घनीभूत ब्रह्म हूं। जिस प्रकार घनीभूत प्रकाश ही सूर्यमण्डल है।

एक नवीन व्याख्याकार का आशय है कि प्रतिष्ठा का अर्थ है पर्याप्ति, मैं ब्रह्म की पर्याप्ति हूं, अर्थात् ब्रह्म ही हूं। आनन्द गिरि ने अमृत का अर्थ मोक्ष किया है, मैं अमृत की प्रतिष्ठा हूं अर्थात् मुक्ति का आश्रय हूं। मोक्ष मेरे आधीन है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि पृथ्वी-आकाश आदि का आश्रय जो अक्षर है वही यहां ब्रह्म शब्द से कहा गया है, उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् मूल स्थान मैं ही हूं। अथवा वह अक्षर जिससे प्रतिष्ठित है वह मैं ही हूं। क्योंकि वह ऐश्वर्य का निधान है, वह ऐश्वर्य मेरा ही रूप है। ब्रह्मानन्द रूप मोक्ष ही अमृत है उसकी भी मैं ही प्रतिष्ठा हूं। धर्म का अर्थ है मोक्ष रूपी फल का देने वाला भगवान् का शाश्वत धर्म, उसकी भी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय मैं ही हूं। ऐकान्तिक सुख का अर्थ भजनानन्द, पद्य में प्रतिपादित पृथक्-पृथक् पदों के जो वाच्यार्थ हैं उन अलग-अलग अधिकारियों की प्रतिष्ठा अर्थात् गम्य स्थान मैं ही हूं।

श्रीनीलकण्ठ ने इस पद्य के द्वारा योग की विचारणात्मक द्वितीय भूमिका का उल्लेख माना है। ब्रह्म का अर्थ उन्होंने वेद किया है। मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूं अर्थात् वेदों के तात्पर्य का पर्यवसान मुझमें ही है। कर्म और ब्रह्म दोनों के दर्शन के द्वारा अमृत अर्थात् मृत्युतरण का साधन वेद ही है। अव्यय भी वेद का ही विशेषण है, इसका तात्पर्य है कि अपौरुषेय होने के कारण उसमें अप्रामाण्य की कभी शङ्का नहीं हो सकती, वह स्वतः प्रमाण है। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि अशेष संशयों का उच्छेद करने वाला जो वेद है, उसके उपक्रम और उपसंहार का पर्यालोचन करके मुझमें समग्र वेद का अन्तिम तात्पर्य मुमुक्षु पुरुष को समझ लेना चाहिए, यही विचारणा नामक योग की द्वितीय भूमिका है।

श्लोक के उत्तरार्ध में हेतु और फल दिखलाते हुए 'शुभेच्छा' नाम की प्रथम भूमिका को कहकर अध्याय का उपसंहार भगवान् ने किया है। शाश्वत धर्म का अर्थ भगवान् में अर्पित नित्य धर्म है, जो कि काम्य कर्मों के समान फलप्रदान करने के अनन्तर क्षीण नहीं हो जाता। उस धर्म के आधार पर परमज्ञान प्राप्त करने की इच्छा का प्रारंभ होता है और उससे शाश्वत फल रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो परा भूमिका को प्राप्त करने में अशक्त है उसके लिए पूर्व-पूर्व भूमिकाएं यहां कही गई हैं।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूं' इसका अर्थ करते हैं कि मेरी सेवा करने से ब्रह्म भाव प्राप्त हो जाता है। अन्यथा जड़रूप से ब्रह्म की उपासना करने पर

जो मोक्ष होता है वह सुषुप्ति अवस्था के समान ही होता है, जिससे कि उत्थान होने पर पुनः पूर्वावस्था में पहुंचना पड़ता है।

भगवान् ने यहां स्वयं को जो ब्रह्म की प्रतिष्ठा आदि कहा है उसको पुष्ट करते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती ने श्रीमद्भागवत के ब्रह्मस्तुति और शुक्राचार्य के पद्य उद्धृत किये हैं–

**एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः**
**सत्यः स्वयंऽयोनिरनन्त आद्यः ।**
**नित्योऽक्षरोऽजस्त्रसुखो निरञ्जनः**
**पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ।।**

(भागवत ब्रह्मस्तुति)

यहां श्रीकृष्ण भगवान् को समस्त उपाधियों से शून्य आत्मा या ब्रह्म कहा है। श्रीशुकदेव जी ने कहा है–

**सर्वेषामेव वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः**
**तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ।।**

अर्थात् संसार की समस्त वस्तुओं का भावार्थ सत्ता रूप से अवस्थित सोपाधिक ब्रह्म है, उसकी भी परमसत्ता भगवान् कृष्ण हैं, अतः उनसे भिन्न कौनसी वस्तु है जिसका वर्णन किया जाय।

श्रीशंकरानन्द ने यहां अमृत शब्द से आद्यन्त विकारों का अभाव, अव्यय शब्द से वृद्धि और विपरिणाम का अभाव और शाश्वत शब्द से अपक्षय और विनाश का अभाव माना है। उन्होंने श्लोक का यह भी अर्थ लिखा है कि निर्विशेष ब्रह्म की प्रतिष्ठा 'अहम्' अर्थात् आत्मा है।

परमार्थप्रपा में मेरी सेवा करने वाला मेरे भाव को प्राप्त करता है यह लिख कर अध्यात्ममीमांसा का श्लोक लिखा है कि–

**"कृष्णाकारेण साक्षादिह हि विजयते सूत्रसंज्ञः परात्मा**
**ज्योतिर्विश्वप्रकाशं व्रजति दिनकराकारतां यद्वदत्र ।**
**यत्स्वे गात्रेऽथ वक्त्रेऽर्जुनजननिकृतेऽदर्शयद्विश्वरूपं**
**तं नत्वा स्वानुभूतिप्रदमुपनिषदां हार्दमर्थं ब्रवीमि"**

राघवेन्द्र टीका में ब्रह्म का अर्थ महालक्ष्मी किया है और मुझसे अवियुक्त महालक्ष्मी को प्राप्त कर लेने वाला मुझे ही प्राप्त कर लेता है ऐसा पद्य का आशय व्यक्त किया है।

लोकमान्य तिलक ने कहा है कि द्वैतवादी सांख्य के मत को छोड़ देने पर सर्वत्र एक ही सत्ता की स्वतः सिद्धि हो जाती है। सिद्धान्त रूप से सर्वत्र एक ही सत्ता के स्वीकार कर लिए जाने पर उसकी प्राप्ति के साधन के रूप में अनेक उपायों में से किसी एक ही उपाय को स्वीकार करने में गीता का कोई आग्रह नहीं है। भक्ति को अवश्य यहां सर्वजन सुलभ कहा गया है परन्तु उसका कहीं भी ऐसा आशय गीता के प्रकरणों में नहीं लगाया जा सकता कि भक्ति के अतिरिक्त अन्य उपाय त्याज्य हैं। उपासना सम्प्रदाय के आचार्यों ने गीता के उस अनभिमत सिद्धान्त को गीता में दिखाकर जबर्दस्ती उसे गीता पर मढ़ा है। लोकमान्य के अनुसार किसी भी मार्ग का आश्रय ले लेना अधिकारानुसार सर्वथा उचित होते हुए भी मुख्य बात यह है कि ज्ञान हो जाने पर लोक संग्रहार्थ सांसारिक कर्म छोड़ दिये जांय या किये जांय। कर्मयोग की श्रेष्ठता बतलाते हुए गीता में इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी "अहम्" शब्द का अर्थ प्रायः गीता में अव्यय पुरुष ही मानते हैं, यह कई बार कहा जा चुका है। यहां "अहम्" शब्द का अर्थ उन्होंने 'ईश्वराव्यय' माना है। ईश्वराव्यय सर्वव्यापक है। उसी में सब जीवाव्यय भी अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसी प्रकार यहां ईश्वराव्यय को ही सबकी प्रतिष्ठा बतलाया गया। ब्रह्म अर्थात् निर्विशेष और अव्यय अर्थात् तीनों पुरुष और अमृत अर्थात् मोक्ष और शाश्वतधर्म अर्थात् संसार में फैले हुए धर्म और ऐकान्तिक सुख अर्थात् मोक्ष में प्राप्त निरन्तर सुख की प्रतिष्ठा मैं ही हूं अर्थात् ईश्वराव्यय के आधार पर सब कुछ प्रतिष्ठित है। उसके बाद कुछ भी नहीं हो सकता, यही पद्य का आशय उनके मतानुसार हुआ।

इनके अतिरिक्त एक तन्त्रशास्त्र के अनुसार व्याख्या और भी है। वहां 'अ' शब्द का अर्थ ब्रह्म, 'ह' शब्द का अर्थ ब्रह्म की शक्ति मानी जाती है, उन दोनों का समुदाय ही 'अहम्' शब्द का वाच्य अर्थ है। 'अहम्' अर्थात् शक्ति सहित ब्रह्म, वह ही सबकी प्रतिष्ठा है। अर्थात् सब कुछ उसी में प्रतिष्ठित है। शक्ति सहित ब्रह्म से बाहर कुछ भी नहीं हो सकता।

एक आधुनिक विद्वान् व्याख्याकार ने यहां यह आक्षेप किया है कि "गीता में कहीं श्रीकृष्ण और 'ब्रह्म' पर्याय हैं, कहीं 'श्रीकृष्ण' 'ब्रह्म' के मार्ग निर्देशक हैं, और कहीं 'श्रीकृष्ण' ही 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा हैं—यह सचमुच बड़ा ही चिन्त्य विषय है।" गीता पर यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि सब ही व्याख्याकारों के अनुसार भगवान् कृष्ण को परब्रह्म ही माना गया है।

---

# पञ्चदश अध्याय

# अष्टादश-पुष्प

**ऊर्ध्वमूलमधश्शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।**
**छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।१५,१।**

पन्द्रहवें अध्याय में क्षर, अक्षर और अव्यय, इन तीन पुरुषों का निरूपण होगा। गीता में अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा यह महत्व की बात है कि इसमें त्रिपुरुष विज्ञान का विस्पष्ट रूप से प्रतिपादन हुआ है। विगत अध्याय में तीन गुणों का विस्तार से प्रतिपादन हुआ। अब इस अध्याय के प्रारंभ में उन तीनों गुणों से समुत्पादित जो संसार है, उसका क्या स्वरूप है इस बात को अश्वत्थ वृक्ष के रूपक से समझाते हैं कि–

ऊपर की ओर जिसका मूल है, नीचे की ओर जिसकी शाखाएं (टहनियां) फैली हुई हैं ऐसा यह जो संसार है, इसे ऋषियों ने अव्यय अश्वत्थ कहा है। छन्द ही जिसके पत्ते हैं, उसको जो जान गया वही वेदवेत्ता है" (१)

यहां 'ऊर्ध्वमूलम्' का अर्थ है ऊपर की ओर जिसकी जड़ें हैं। जड़ के ऊपर की ओर होने का अर्थ है कि वह मूलस्थान कालतः सूक्ष्म है, वह सबका कारण है, वह नित्य है, वह महान् है, वह मायाशक्ति से युक्त ब्रह्माव्यक्त है, वही इस संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष का मूल है। नीचे की ओर शाखा का अभिप्राय यह है कि पाँच तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा आदि आगे की सृष्टि का संपूर्ण प्रपंच ही इस अश्वत्थ वृक्ष की शाखाएं हैं। इनके नीचे की ओर होने का अभिप्राय उत्पत्ति क्रम में इनकी बाद में उत्पत्ति होना है। ऐसा यह जो वृक्ष है उसे अश्वत्थ कहते हैं, अश्वत्थ का अर्थ होता है जो कल भी न रहे 'न **श्वोऽपिस्थाता**' अर्थात् जो क्षण मात्र में नष्ट हो जाने वाला हो। इस वृक्ष के पत्ते वेद हैं। पत्ते वृक्ष को चारों ओर से ढंक कर वृक्ष की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार वेद भी कर्तव्याकर्तव्य, विधि, निषेधों का बोधन करते हुए इस संसार की रक्षा करते हैं, इस संसार वृक्ष को जान लेने वाले को वेदवेत्ता कहते हैं। वेद का अर्थ ज्ञान है और वेदवित् का अर्थ ज्ञानवान् है, यहां वेदवित् कहने का तात्पर्य उस व्यक्ति की प्रशंसा करने में है अर्थात् मूल सहित संसार वृक्ष के ज्ञान के अतिरिक्त और कोई भी ज्ञातव्य पदार्थ संसार में शेष नहीं बचता। अतः इस ज्ञान का धारण करने वाला श्रेष्ठ ज्ञानी है यह बात युक्तिसंगत हो जाती है। पद्य में जो 'प्राहुः' अर्थात् पहिले विद्वानों ने कहा है यह कथन है उसके समर्थन में कठोपनिषद् का यह मन्त्र टीकाओं में उद्धृत हुआ है–

**ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। ( कठोपनिषद् ६।१। )**

श्री शंकराचार्य ने महाभारत के निम्न श्लोक भी इसी प्रसंग में उद्धृत किये हैं–

**अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः**
**बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः।**
**महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा**
**धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः।।**
**आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।**
**एतद् ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माचरति नित्यशः।**
**एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना**
**ततश्चात्मरतिं प्राप्य यस्मान्नावर्तते पुनः।।**

(म० भा० १४।३५।२०-२२)

अर्थात् अव्यक्त रूपी मूल से उत्पन्न होकर उसी के अनुग्रह से यह बढ़ा है, बुद्धि इसका स्कन्ध है, इन्द्रिय कोटर हैं, महाभूत इसकी शाखाएं हैं, विषय पत्ते हैं, धर्म और अधर्म पुष्प हैं, सुख और दुःख फल हैं, सभी भूत अर्थात् प्राणियों का आश्रय है ऐसा यह सनातन वृक्ष है, ज्ञान रूपी तलवार से इस वृक्ष को काटकर आत्मरत होता हुआ प्राणी फिर लौटकर वापस नहीं आता।

श्रीरामानुजाचार्य ऊर्ध्व मूल का अर्थ सप्तलोकों के ऊपर स्थित चतुर्भुज ब्रह्मा करते हैं। अव्यय का अर्थ उन्होंने किया है कि ज्ञान के उदय होने से पूर्व अच्छेद्य होने के कारण यह अव्यय है। छन्दों को जो पत्ता कहा गया है उसका अर्थ वे करते हैं कि श्रुति के द्वारा प्रतिपादित काम्य कर्मों से यह संसार वृक्ष बढ़ता है अतः छन्द इसके पत्ते हुए। वेद संसार वृक्ष के छेदन का उपाय बतलाता है, जब तक उच्छेद्य पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तबतक उसका उच्छेद कैसे किया जायगा इसलिए संसार वृक्ष के ज्ञाता को यहां वेदवित् कहा गया है।

माध्वभाष्य में ऊर्ध्व का अर्थ विष्णु किया गया है। ऊर्ध्वमूल का अर्थ विष्णु जिसका मूल है यह किया गया है। पत्ते फल का कारण होते हैं, बिना पत्तों के कभी फल नहीं निकलता। वेद बोधित कर्तव्यों को करने के अनन्तर ही स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति मानी गई है। इसीलिए यहां वेदों को पत्तों के रूप में कहा है।

आनन्दगिरि व्याख्या में कहा गया है कि ऊर्ध्व और अध: शब्द उत्कृष्ट और अपकृष्ट के वाचक हैं। मूल उत्कृष्ट है और शाखाएं अपकृष्ट हैं। मूल ब्रह्म है, अत: बह सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्मा को जो मूल कहा गया वह भी इस व्याख्या में इस प्रकार संगत हो जाता है कि वह प्रथम है–**'स वै शरीरी प्रथम:'**, प्रथम होने के कारण वह उत्कृष्ट है।

यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि संसार की वृक्ष के रूप में कल्पना क्यों की गई। यह ठीक है कि समस्त संसार को कोई एक साथ नहीं देख सकता और इसीलिए उसके सम्पूर्ण स्वरूप को एक साथ पूरा समझने के लिए किसी काल्पनिक उपमान की आवश्यकता हुई। परन्तु फिर भी यह प्रश्न तो अवश्य उपस्थित होगा ही कि वृक्ष को ही क्यों यहां उपमान बनाया गया। उसका उत्तर है कि जिस प्रकार वृक्ष कुल्हाड़ी आदि से काटने योग्य होता है वैसे ही यह संसार भी ज्ञान की तीक्ष्ण तलवार से काट देने योग्य है, उसी को उपर्युक्त पद्य में असंग शस्त्र कहा गया है। इस पर फिर प्रश्न होगा कि क्या वृक्ष होना ही काटने की योग्यता का सूचक है। क्या जितने भी वृक्ष हैं सबकी एक ही विशेषता है कि वे काटे जाने योग्य हैं। ऐसी तो कोई बात नहीं। देखा तो यह जाता है कि हरे भरे वृक्षों की छाया और उनके फल प्राप्त करने के लिए उनकी रक्षा की जाती है, तब संसार एक वृक्ष रूप है इसीलिए वह काटने योग्य हो गया यह बात कैसे युक्ति संगत होगी। इसका उत्तर देते हुए एक व्याख्याकार ने लिखा है कि यदि कोई पथिक किसी निश्चित स्थान पर पहुंचने के उद्देश्य से चला और मार्ग में नदी के तट पर उसे एक ऐसा विशाल वृक्ष दिखाई दिया जो आधा उखड़ कर गिर गया है और आगे जाने का मार्ग उसके गिरने से बन्द हो गया है, तो अपने निश्चित स्थान पर पहुंचने का दृढ़ संकल्प रखने वाले पथिक के सामने केवल यही उपाय रह जाता है कि वह शस्त्र से उस वृक्ष का छेदन करके आगे जाने का मार्ग बनावे। इसी प्रकार मोक्ष रूपी गन्तव्य स्थान पर पहुंचने के लिए जिस व्यक्ति ने प्रस्थान कर दिया है और जो उस गन्तव्य स्थान के श्रवण, मनन आदि के मार्ग पर चल रहा है, उसे प्रकृति और उसके विकारों से बना संसार रूपी महावृक्ष मार्ग को रोके हुए पड़ा हुआ दिखाई देगा। उसे देखकर इस मार्ग के पथिक को घबड़ाना नहीं चाहिए, क्योंकि इस वृक्ष को काट कर रास्ता साफ कर लेने के लिए असंग रूपी शस्त्र उसके पास उपस्थित रहेगा। उसे इस शस्त्र का उपयोग करना चाहिए। शस्त्र भी हो और उससे गिरे हुए वृक्ष को काटना भी प्रारंभ कर दिया हो, परन्तु वृक्ष के कटने से पहले कमजोर होने के कारण कहीं वह शस्त्र ही टूट गया तब क्या होगा, इसी के

समाधान के लिए पद्य में शस्त्र का 'दृढेन' यह विशेषण दिया गया है। यदि शस्त्र दृढ़ होगा तो वह नहीं टूटेगा। इसी प्रकार असंग या आसक्ति शून्यता भी दृढ़ होनी चाहिए। बहुधा देखा जाता है कि कुछ पदार्थों से कुछ समय के लिए आसक्ति हट जाने पर भी अन्य पदार्थों में आसक्ति बनी रहती है अथवा उन्हीं पदार्थों में कुछ काल के उपरान्त फिर आसक्ति हो जाती है। यह दृढ़ असंग शस्त्र है, इसे ही संन्यास कहा जाता है। संसार वृक्ष को काटने में यही दृढ़ शस्त्र का काम देता है।

संसार की स्थिति में तो दिखाया जा चुका है कि उसका मूल परब्रह्म ऊपर है और उसकी शाखाएं नीचे की ओर हैं, परन्तु उसका उपमान जो वृक्ष है उसका मूल ऊपर हो और शाखाएं नीचे हो ऐसा वृक्ष तो देखने में आता नहीं। उपमान को उसी रूप में कहीं उपलब्ध होना चाहिए जिस रूप में उससे उपमेय पदार्थ का सादृश्य दिखाया जा रहा है। इसीलिए श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि व्याख्याकारों ने उपमान के रूप में एक ऐसे ही वृक्ष का वर्णन किया है जिसका मूल ऊपर की ओर है और शाखाएं नीचे की ओर हैं। नदियां अपने जल के वेग से किनारे के नीचे के भाग को काट देती हैं, बाकी बचा हुआ तट अनेक स्थानों पर बहुत ऊंचा रह जाता है। वहां जो विशाल वृक्ष होते हैं उनकी जड़ के स्थान के कट जाने से, तथा वायु के प्रबल वेग का आघात लगने से वे वृक्ष या तो गिर जाते हैं या मूल से आधे उखड़ कर नीचे की ओर झुक जाते हैं। नदियों में वर्षाकाल में जलधारा का वेग बहुत बढ़ जाता है और उसी समय बहुत से वृक्ष उखड़ कर तट पर गिर जाते हैं। किसी कवि ने नदी को उपालम्भ देते हुए कहा है–

**यास्यति जलधरसमयस्तव च समृद्धिर्लघीयसी भविता**
**तटिनि ! तटद्रुमपातनपातकमेकं चिरस्थायि**

नदी को सम्बोधन है कि हे तटिनि (नदी) वर्षाकाल के चले जाने पर तेरी यह जल की समृद्धि क्षीण हो जायगी, परन्तु अपने तट के वृक्षों को गिराने का जो पाप तूने अपने समृद्धिकाल में किया है, वह चिरस्थायी रहेगा।

यहां इसी प्रकार का वृक्ष उपमान रूप से गृहीत है जिसका कि मूल नदी के वेग से उखड़ गया है और वायु के आघात से जो अपने मूल से टूटा तो नहीं है परन्तु उलट कर नीचे की ओर झुक गया है, ऐसी स्थिति में उसका मूल भाग ऊपर की ओर रहेगा और शाखाएं नीचे की ओर चली जाएंगी।

यहां फिर यह शंका की जाती है कि अश्वत्थ वृक्ष का ही ग्रहण क्यों है। अश्वत्थ,

पीपल वृक्ष का नाम है, उसके अतिरिक्त भी तो अनेक बड़े-बड़े वृक्ष हैं। उनमें से किसी को भी उपमान बनाया जा सकता था, इसका समाधान यह किया जाता है कि यद्यपि अन्य वृक्ष भी यहां उपमान के रूप में लिए जा सकते हैं, परन्तु अश्वत्थ इस संज्ञा का यौगिक अर्थ भी संसार में घटित हो जाता है। 'जो कल स्थिर न रहे' यह अश्वत्थ का अर्थ हम दिखा चुके हैं। यह विनश्वर संसार का स्वरूप परिचय भी हो जाता है। जो कल भी न रहेगी, ऐसी वस्तु के लिए 'अव्यय' विशेषण असंगत है यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसे प्रवाह नित्य माना जाता है, जिसका निरूपण प्रसंगानुसार पहिले अनेक बार किया जा चुका है।

श्रीवल्लभाचार्य ने संसार रूपी अश्वत्थ के मूल को भगवान् रूपी अश्वत्थ कहा है। जैसा मूल वृक्ष है, उससे उत्पन्न वृक्ष भी वैसा ही है। अश्वत्थ आदि एक वृक्ष में कोटिशः फल होते हैं और एक फल में असंख्य बीज होते हैं। यह ब्रह्माण्डात्मक वृक्ष एक बीज से निकला है। इस प्रकार अनादि अनन्त भगवान् वृक्ष के मूल हैं, अक्षर उसका फल है और अक्षर के तत्त्व उसके अंश हैं। ब्रह्माण्ड का निर्माण भगवान् अपने अंश के द्वारा करते हैं।

श्रीनीलण्ठ आनन्द रूप अद्वय तत्त्व को संसार का मूल बतलाते हैं। यह संसार मिथ्या होने के कारण 'अश्वत्थ' है। जो वस्तु मिथ्या होती है उसी के लिए कहा जाता है कि यह कल नहीं रहेगी। तो भी अज्ञानियों के लिए यह अव्यय है, अर्थात् अज्ञानी पुरुष इसको सर्वथा स्थिर रहने वाला समझते हैं। उस संसार रूपी अश्वत्थ को जो जानता है वह वेद-वित् है अर्थात् इस संसार का यथार्थ स्वरूप जो इसका मिथ्या या अनित्य होना है इस बात को जिसने जान लिया वह सब कुछ जान गया।

श्रीशंकरानन्द ने इस पद्य की व्याख्या में लिखा है कि यद्यपि यह संसार वृक्ष अनित्य है, क्षणस्थायी है, परन्तु फिर भी इसे अव्यय कहने का अभिप्राय यह है कि मीमांसकों ने कहा है-'न कदाचिदनीदृशं जगत्' अर्थात् जगत् सर्वदा एक रूप रहता है। वेदों को संसार वृक्ष के पत्ते बतलाया गया है। उसका अभिप्राय श्री शंकरानन्द लगाते हैं-पत्ते अपनी सुन्दरता से वृक्ष को ढंग देते हैं, उसी प्रकार वेदों में देवलोक आदि की प्राप्ति बतलाई गयी है, उन प्ररोचना वाक्यों से संसार की वास्तविकता को ढँक दिया जाता है। पत्तों से ढँके रहने के कारण वृक्ष के दोष दिखाई नहीं देते, उसी प्रकार पुराण और इतिहास के सहित वेदों के द्वारा अनेक प्रकार से यज्ञ-यागादि कर्मों, उपासनाओं तथा योग और तन्त्र की क्रियाओं से संसार के सभी दोष आवृत से हो जाते हैं। पत्ते वृक्ष की वृद्धि में भी सहायक होते हैं। उसी प्रकार वैदिक विधियों के द्वारा

भी संसार का क्रिया कलाप आगे बढ़ता रहता है। इस प्रकार के संसार वृक्ष को जानने वाला व्यक्ति वेदवेत्ता कहा गया है। प्रश्न होता है कि जो मिथ्या है, जड़ है, दु:खात्मक है, अपने गुणों से बुद्धि को मोहित करता है, जो जन्म मरण आदि अनर्थों का हेतु है, ऐसे संसार वृक्ष को जानकर कोई वेदवेत्ता कैसे हो जायेगा ? वेद तो सत्य, ज्ञान और आनन्दमय ब्रह्म का प्रतिपादन करता है और संसार वृक्ष उससे विपरीत गुण धर्मों वाला है, तब संसार वृक्ष का ज्ञाता वेदवेत्ता कैसे हो गया ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि–जिस बीज से जो वृक्ष उत्पन्न होता है उस वृक्ष में बीज का रस अवश्य जाता है। बीज का जैसा रस रहेगा, वृक्ष का भी वैसा ही रस होगा। संस्कृत में प्रसिद्ध न्याय है–"**कारणगुणा: कार्यगुणानारभन्ते**" अर्थात् कारण के गुण ही कार्य के गुण का आरम्भ करते हैं। नीम के कडुवे बीज से उत्पन्न होने वाला नीम का वृक्ष भी कडुवा ही होगा। इसी प्रकार यह न्याय सर्वत्र घटित है। यहां भी ब्रह्म रूपी मूल से जगद्वृक्ष की उत्पत्ति बतलाई गई है। ब्रह्म ही यहां बीज रूप है। यह चैतन्यगुण विशिष्ट है। इसीलिए संसार वृक्ष भी चैतन्यगुण विशिष्ट होगा। इसीलिए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियां भी संसार वृक्ष को चेतनामय बतला रही हैं। इसीलिए संसार के ज्ञाता को वेदवेत्ता कहा गया है।

श्रीधरी व्याख्या में वेद को पत्ता बताने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पत्ते छाया बना देते हैं उसी प्रकार वेद भी धर्म और अधर्म के प्रतिपादन द्वारा उनके फलों के सुख से संसार को आकर्षक बना देते हैं।

भाष्योत्कर्षदीपिका में वृक्ष के जल में गिरने वाले प्रतिबिम्ब को यहां उपमानरूप अश्वत्थ वृक्ष कहा है। प्रतिबिम्ब उलटा ही गिरता है। जैसे जल में प्रतिबिम्बित वृक्ष वास्तविक नहीं, मिथ्या होता है, उसी प्रकार संसार भी वास्तविक नहीं, मिथ्या है, यही बात इस रूपक से स्फुट की गई है। उस पर यह शंका उठाई गई है कि प्रतिबिम्बित वृक्ष की वास्तविक सत्ता ही नहीं। जिसकी वास्तविक सत्ता का ही अभाव है उसको उपमान के रूप में कैसे समझा जा सकता है। इसका उत्तर है कि जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित वृक्ष की वास्तविक सत्ता नहीं उसी प्रकार संसार की भी वास्तविक सत्ता नहीं है। काल्पनिक और मायारूप जगत् के उपमान के रूप में अवास्तविक जल में प्रतिबिम्बित वृक्ष को समझने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

परमार्थप्रपा में 'अश्वत्थ' का अर्थ किया है कि जो 'श्व:' अर्थात् प्रबोध के अनन्तर स्थित न रहे। प्रबोध का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान प्राप्त हो जाने के अनन्तर ज्ञानी के लिए संसार की स्थिति नहीं रहती। परन्तु प्रबोध अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त

कठिन है, अतः उसे 'अव्यय' कहा गया है, अर्थात् जो प्राणी दृढ़तर अज्ञान में आबद्ध हैं, उनके लिए यह निरन्तर चलता रहता है। इस व्याख्या में छन्द का अर्थ वासनाएं भी किया गया है।

लोकमान्य तिलक ने इस पर एक लम्बी टिप्पणी लिखी है। उन्होंने विश्ववृक्ष, जगद्वृक्ष, वारुणवृक्ष, सुपलाश वृक्ष आदि अनेक वृक्षों से अश्वत्थ वृक्ष का साम्य दिखाया है। अश्वत्थ की व्युत्पत्ति में उन्होंने अश्व अर्थात् घोड़े को ही लिया है। घोड़ा जहां ठहरे उसे अश्वत्थ कहेंगे। सूर्य के घोड़े पितृयाण की लम्बी रात्रि में इस अश्वत्थ वृक्ष के नीचे विश्राम किया करते हैं इसलिए इसकी अश्वत्थ संज्ञा प्राप्त हुई। उन्होंने श्व अर्थात् कल 'जो स्थिर न रहने वाला हो' इस व्युत्पत्ति को बाद की व्युत्पत्ति माना है। पहले पीपल को ही अश्वत्थ कहते थे, परन्तु प्राचीन धर्म ग्रन्थों में वटवृक्ष को ही संसार वृक्ष माना गया है क्योंकि उसके पाये ऊपर से नीचे की ओर लटक जाते हैं। 'गोभिल गृह्य सूत्र' में इसे न्यग्रोधवृक्ष कहा गया है। न्यक् का अर्थ होता है नीचे, रोध अर्थात् बढ़ने वाला। जो नीचे की ओर बढ़े उसे न्यग्रोध कहेंगे। वह वरुण का वृक्ष है। महाभारत के अनुसार मार्कण्डेय ऋषि ने भगवान् बालमुकुन्द को प्रलय काल में न्यग्रोध वृक्ष की टहनी पर देखा था। "छान्दोग्य उपनिषद्" में न्यग्रोध के बीजों का वर्णन है। पीपल और वट के अतिरिक्त संसार वृक्ष के लिए औदुम्बर वृक्ष की कल्पना भी की गयी है। इसे गूलर कहते हैं और पुराणों में इसे दत्तात्रेय का वृक्ष माना गया है। इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में संसार वृक्ष के लिए वट, पीपल या गूलर के वृक्षों का औपम्य मिलता है। लोक में भी इन तीनों ही वृक्षों को देवतात्मक और पूजने योग्य माना जाता है। समय-समय पर इन वृक्षों की पूजाएं लोक में देखी जाती हैं। महाभारत के अन्य सन्दर्भों के साथ तुलना करते हुए यहां लोकमान्य ने पीपल का वृक्ष लिया है। गूलर या बरगद का नहीं।

डाक्टर राधाकृष्णन् ने पाश्चात्य विद्वानों के मतों का भी इस श्लोक के अर्थ से साम्य दिखाया है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के अनुसार अश्वत्थ दो प्रकार का है–

१. ब्रह्माश्वत्थ और दूसरा कर्माश्वत्थ। उपनिषद् में ब्रह्माश्वत्थ का विवरण है। अमृत ब्रह्म और शुक्र ये तीन मिलकर एक अश्वत्थ बनता है। ईश्वर की वृक्ष के रूप में भावना करके उसकी उपमा श्रुतियों में उपलब्ध होती है–

**तस्मात्परं नापरमस्ति किंचित् तस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।**
**वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।।**

यह ब्रह्म वृक्ष उपासकों की इच्छानुसार तीन प्रकार का माना गया है। ब्रह्मा के उपासक उदुम्बर, विष्णु के अश्वत्थ और शिव के उपासक वट वृक्ष के रूप में उपासना करते हैं। परन्तु मुख्य रूप से यह अश्वत्थ ही कहलाता है। इस अश्वत्थ की एक हजार बल्शा होती हैं। हमारी पृथ्वी के रूप में एक बल्शा है। उसमें पांच पुण्डीर हैं। स्वयं भू प्रजापति प्रथम पुण्डीर है, अक्षर पुरुष उसकी आत्मा है। दूसरी पुण्डीर परमेष्ठी प्रजापति है। तीसरी पुण्डीर हिरण्यगर्भ प्रजापति है। चतुर्थ पुण्डीर चन्द्रमा रूपी प्रजापति है। पांचवाँ पुण्डीर अग्नि रूपी प्रजापति है। इस प्रकार का यह ब्रह्म वृक्ष उपासकों के द्वारा उपास्य होता है।

किन्तु यहां भगवद्गीता में इस वृक्ष को छेद्य अर्थात् काटने योग्य कहा गया है, इसलिए यहां कर्माश्वत्थ ही विवक्षित है। कर्मजाल को असंग शस्त्र से काट कर ही परम पद प्राप्त किया जाता है।

---

# उन्नीसवां-पुष्प

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्चमूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके १५।२
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा १५।३
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी १५।४
निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ा पदमव्ययं तत् १५।५

"उस (वृक्ष) की शाखाएँ नीचे तथा ऊपर की ओर फैली हुई हैं, गुणों से वे बढ़ रही हैं, विषय रूपी पत्ते उनमें निकलते हैं, उसकी जड़ें जो कि कर्मों से अनुबद्ध हैं नीचे मनुष्य लोक की ओर व्याप्त हैं।"

पहिले के पद्य में कहा गया था कि वृक्ष का मूल ऊपर है और शाखाएं नीचे की ओर फैली हैं, यहां कहा जा रहा है कि मूल नीचे की ओर हैं और शाखाएं नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं। यह असंगति नहीं है, ये दो वृक्ष हैं। पहिले ब्रह्माश्वत्थ था, यह कर्माश्वत्थ है। ब्रह्माश्वत्थ का मूल ऊपर है कर्माश्वत्थ का उसकी अपेक्षा नीचे की ओर है। संसार का जैसा निर्माण हम देखते हैं वह हमारा बनाया हुआ नहीं, वह अनादि है, वह ब्रह्माश्वत्थ है। हम जो अपने कर्मों के द्वारा अपना अलग संसार बना रहे हैं, वह कर्माश्वत्थ है। अपने कर्मों के अनुसार हम उन्नत भी होते हैं और अवनत भी होते हैं। इसी को श्रुति में भी कहा गया है कि–

**"तद्य इह कपूयाचरणास्ते कपूयां योनिमापद्येरन,**
**रमणीयाचरणाः रमणीयां योनिम्"**

इस संसार में जो निन्दित आचरण करने वाले हैं वे मृत्यु के उपरान्त निन्दित योनियों में जाते हैं और जो रमणीय आचरण वाले हैं उन्हें सुन्दर योनियों में जन्म मिलता है। इस प्रकार मिली हुई सुन्दर तथा असुन्दर योनियों में पुनः शुभाशुभ कर्मों का आरम्भ होता है। यही शुभाशुभ कर्मों के द्वारा आवागमन की परंपरा इस कर्मवृक्ष की शाखाएं हैं। मनुष्य लोक का नाम ग्रहण करना यह संकेत करता है कि मनुष्यों का ही शुभाशुभ कर्मों में पूर्ण अधिकार है, मनुष्यों में ज्ञान परिपूर्ण मात्रा में रहता है,

अन्य प्राणियों में ज्ञान बहुत थोड़ी मात्रा में है और ऊपर की देव आदि योनियों में ज्ञान की मात्रा अधिक होते हुए भी वेदशास्त्रों के द्वारा विहित कर्मों में उनका अधिकार नहीं माना गया है। इसीलिए उन्हें केवल भोग योनि कहा गया है, इसी प्रकार निकृष्ट पशु, पक्षि आदि योनियां भी भोग योनियां ही हैं जिनमें निकृष्ट भोगों की प्राप्ति होती है। अधिकतर दुःख का भोग वहां होता है। मनुष्य योनि में ही जिन अच्छे या बुरे कर्मों का अनुष्ठान होता है, उसी के अनुसार ऊपर की उच्च योनियों की अथवा नीचे की निकृष्ट योनियों की प्राप्ति होती है। इसलिए मनुष्य लोक में कर्मवृक्ष की जड़ों को फैला हुआ कहा गया है। इस पर अन्य धर्मावलम्बी यह शंका किया करते हैं कि यदि मनुष्य योनि को ही कर्म करने वाला माना जाय तो मनुष्यों की तो संख्या संसार में बहुत ही न्यून है। इसके अतिरिक्त कीट पतंग आदि संसार के प्राणी बहुत विस्तृत हैं। तब मनुष्य ही कर्म करेगा तो भोक्ता इतने विस्तृत कैसे हो जाएंगे। इसका समाधान बहुत से विद्वान् इस प्रकार करते हैं कि मनुष्य जितने कर्म करता है उनका फल भोगने को उसे बार-बार अनन्त जन्म लेने पड़ते हैं। इस प्रकार कर्म एक मनुष्य जन्म में किए जाने पर भी उनके फल भोग के लिए अनन्त प्राणियों का संघटन बन जाता है और कई विद्वान् इसका यह भी आशय लगाते हैं कि मनुष्य योनि में ही कर्म होता है इसका आशय यही है कि बुद्धि पूर्वक कर्म मनुष्य ही करता है और सब प्राणी प्रकृति के बन्धन में रहते हैं। इसलिए उन्हें कर्म करने वाला नहीं माना जाता। जैसा कि सिंह को प्रकृति ने मांस भक्षक बनाया है। अब यदि उसको भी मांस भक्षण का पाप लगे तो उस पाप से कभी छुटकारा ही नहीं होगा। इसलिए ऐसे स्वाभाविक कर्मों का फल उन जन्तुओं को नहीं भोगना पड़ता और यदि वे भी रागद्वेष पूर्वक कोई कर्म करें तो उन कर्मों का फल उन्हें भी भोगना ही पड़ता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रकृतिवश जो जन्तु कर्म करते हैं उनका फल उन्हें नहीं भोगना पड़ता किन्तु रागद्वेष पूर्वक किये हुए कर्मों का फल तो भोगना उनको भी आवश्यक ही होता है। मनुष्य लोक में तो इस वृक्ष की जड़ों को बतलाया और नीचे तथा ऊपर उसकी शाखाओं को फैला हुआ कहा। नीचे से अभिप्राय निकृष्ट मृगादि योनियों से है और ऊर्ध्व या ऊपर से अभिप्राय देवादि योनियों से है। ये योनियां ही इस परिकल्पित वृक्ष की शाखा रूप हैं।

पैशाच भाष्य में मनुष्य लोक के ग्रहण को उपलक्षणार्थ माना है। उनका आशय यह मालूम होता है कि जहां-जहां भी कर्म करने की शक्ति है उन सभी लोकों में इस वृक्ष का मूल समझना चाहिए।

आनन्द गिरि कहते हैं कि यथोक्त प्रकार से उपवर्णित यह वृक्ष अन्य प्रसिद्ध

वृक्षों से विलक्षण है, पैर से लेकर मस्तक तक इसकी शाखाएं व्याप्त होने से यह प्रबल है।

अमृत तरंगिणी में लिखा है कि पूर्व पद्य में भगवान् के क्रीडात्मक वृक्ष का वर्णन है और इस पद्य में उसी क्रीडात्मक वृक्ष से समुद्भूत संसार वृक्ष का निरूपण है।

श्रीनीलकण्ठ ने पद्योक्त 'अनुसंततानि' का अर्थ प्रवाह नित्य किया है। जो मनुष्य लोक में इस वृक्ष के मूल बतलाए गए हैं वे प्रवाह नित्य हैं। वासनाओं से कर्म होते हैं और कर्मों से वासनाएं होती रहती हैं यही इनका परस्पर अनुबन्ध है।

श्रीशंकरानन्द ने पूरे श्लोक का तात्पर्य लिखते हुए कहा है कि ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इस क्षणिक शरीर के विनष्ट हो जाने पर स्वतः ही मुक्ति हो जायगी। उसके लिए पुरुष को किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है क्योंकि देह के विनष्ट हो जाने पर भी पूर्व के तथा इस जन्म के कर्म जो संचित होते रहते हैं, वे पुण्य पाप रूप रहते हैं और उनके विषय में यह शास्त्रीय सर्वमान्य सिद्धान्त है कि–

**''नाभुक्तं क्षीयते कर्म''**

अर्थात् 'बिना भोग के कर्म का क्षय नहीं होता है।'

**''अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्''**

'अपने द्वारा किये गए शुभ और अशुभ कर्मों का भोग अवश्य होता है।'

**''प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः''**

'जिन कर्मों का प्रारंभ हो चुका है उनका क्षय उनके फल भोग करने के अनन्तर ही होता है।' उपर्युक्त सर्वतन्त्र समस्त वचनों के अनुसार जो कर्म किये जाते हैं उनके फल भोग के अनन्तर ही मुक्ति होती है। उन कर्मों का फल भोगने के लिए ही नाना प्रकार के उत्कृष्ट और निकृष्ट शरीरों को ग्रहण करना होता है, उसे ही योनियां कहते हैं जिनकी संख्या चौरासी लाख तक पुराण आदि में प्रसिद्ध है। प्रस्तुत पद्य इसी विषय का संकेत है कि ऊपर और नीचे इस वृक्ष की शाखाएं फैली हैं, अर्थात् मनुष्य लोक में किए हुए कर्मों का फल भोगने के लिए उत्कृष्ट और निकृष्ट योनियों की प्राप्ति होती है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिए जिससे आगे की योनियां न प्राप्त हों। उसका उपाय कर्मों का परित्याग कर संन्यासी हो जाना ही है। यही इस

वृक्ष का छेदन है जिसे आगे के पद्य में कहा गया है। यद्यपि संन्यास अवस्था में भी कर्मों से छुटकारा तो नहीं मिलता, वह तो शरीर के साथ लगा ही रहेगा। भगवान् पहिले ही कर चुके हैं–

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"

अर्थात् कोई भी व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। इसलिए अनासक्ति पूर्वक निष्काम कर्म करते जाना मुक्ति का उपाय है ऐसा लोकमान्य तिलक ने स्थिर किया है। यहां जो भगवान् ने असंग शस्त्र से उस वृक्ष का छेदन बतलाया उसका भी यही अभिप्राय है कि अनासक्ति पूर्वक निष्काम कर्म करते रहने से मुक्ति हो सकती है। श्रीशंकराचार्य का अभिप्राय भी यहां स्पष्ट ही हो जाता है कि कर्मरूपी वृक्ष का ही असंग शस्त्र से पूर्णतया छेदन यहां अभीष्ट बतलाया गया जिससे कर्म संन्यास ही प्रतिफलित हो जाता है।

लोकमान्य तिलक ने यहां लिखा है कि उक्त दो श्लोकों में वेदान्त सम्मत दृश्य सृष्टि का, जो कि वेदों में भी पुरुष शक्ति आदि में उपवर्णित है और सांख्य शास्त्रोक्त ब्रह्माण्ड वृक्ष का मेल कर दिया गया है। सांख्य में प्रकृति पुरुष दो मूल तत्त्व हैं,दोनों स्वतन्त्र हैं, परन्तु वेदान्तानुयायिनी गीता को यह अभीष्ट नहीं। अतः यहां दोनों प्रक्रियाओं का एकीकरण साभिप्राय है। गुण यहां जल सेचन के स्थान पर हैं। जिस प्रकार जल को सेचन से वृक्ष की शाखाएं वृद्धि को प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार इस वृक्ष की शाखाओं को भी 'गुणप्रवृद्धा', अर्थात् सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से बढ़ा हुआ कहा गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए इस त्रिगुणात्मक वृक्ष के फैलाव से मुक्त हो जाना आवश्यक है। परन्तु यह वृक्ष इतना विशाल है कि इसके ओर छोर का पता नहीं मिलता, अतः आगे उस तीव्र शस्त्र का संकेत है जिससे कि इस वृक्ष को काट डाला जाय।

अग्रिम पद्यों का अर्थ है–

'इस वृक्ष का ऐसा रूप यहां उपलब्ध नहीं होता, इसका आदि और अन्त भी उपलब्ध नहीं होता, इसकी प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति का भी पता नहीं चलता, ऐसे इस अश्वत्थ वृक्ष को सुदृढ़ 'असंग' शस्त्र से काटने के उपरान्त उस स्थान का पूर्ण रूप से अन्वेषण करना चाहिए जहां पहुंच कर लौटने की स्थिति नहीं आती, उसी आदि पुरुष की शरण को अन्वेषक प्राप्त कर लेता है जहां से यह पुरानी संसार की प्रवृत्ति प्रारंभ हुई है। (३-४)

इसका रूप उपलब्ध न होने का कारण बतलाते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि

यह वृक्ष स्वप्न, मृगमरीचिका तथा माया से निर्मित गन्धर्व नगर के समान मिथ्या है। स्वप्न जो हम देखते हैं उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती यह सर्वानुभव सिद्ध बात है। मृग-मरीचिका अर्थात् प्रचण्ड धूप में तपते हुए बालू रेत के ढेर में प्यास से व्याकुल मृग को सरोवर का भ्रम हो जाता है। बालू के ढेर में जैसे मृग को सरोवर का ज्ञान हो जाना, उसका मिथ्या ज्ञान है, उसी प्रकार यह संसार वृक्ष भी मिथ्या है। इसी प्रकार जादूगर अपनी माया से आकाश में गन्धर्व नगर दिख देते हैं, वह भी सर्वथा मिथ्या है, उसी प्रकार से इस संसार वृक्ष को समझना चाहिए। जैसे स्वप्न के पदार्थों की वास्तव में उपलब्धि नहीं होती, जैसे सारे जीवन दौड़ते रहने पर भी मृग को बालू के ढेर में जल की उपलब्धि नहीं हो सकती, जैसे माया की गन्धर्व नगर की कोई वास्तविक उपलब्धि कभी नहीं हो सकती, उसी प्रकार इस संसार वृक्ष का रूप, इसका आदि अन्त, इसकी प्रतिष्ठा अर्थात् मध्य भाग का भी कभी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उसकी यथार्थ में जब कोई सत्ता ही नहीं तो उसके रूपादि की उपलब्धि का प्रश्न ही नहीं होता। स्वप्न आदि का ज्ञान जैसे भ्रमात्मक है, वैसे ही संसार का ज्ञान भी भ्रमात्मक है। जाग्रत अवस्था में पहुंचने पर जैसे स्वप्नादि भ्रम तिरोहित हो जाते हैं, वैसे ही परम तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार होने से संसार वृक्ष भी विलीन हो जाता है। परंतु यह संसार रूपी अश्वत्थ बड़ा गहरा है, इसकी जड़ें बहुत नीचे तक फैली हुई हैं। इसको काटना ही इसके पार जाने का एकमात्र उपाय है। काटने के लिए जिस सुदृढ़ हथियार की आवश्यकता है, वह असंग है। पुत्र, धन, लोकैषणा आदि से सर्वथा विमुख ही असंग कहलाता है, जिसे पहले ही भगवान् बतला चुके हैं।

उक्त वस्तुओं से अपनी चित्तवृत्ति को हटाना तो असंग शस्त्र हुआ, उसकी सुदृढ़ता कैसे होती है, इस बात को श्रीशंकराचार्यजी लिखते हैं कि चित्तवृत्ति को परमात्मा की ओर अभिमुख करने का निश्चय करके दृढ़ किया जाता है। बार-बार विवेक के अभ्यासरूपी पत्थर पर रगड़ कर उस शस्त्र पर धार लगाई जाती है और उससे संसार वृक्ष को काट डाला जाता है।

श्रीनीलकण्ठ ने यहां प्रत्येक पद की सार्थकता पूर्वपक्ष उठाकर अपनी व्याख्या में दिखाई है। पहिले तो अश्वत्थ शब्द की व्युत्पत्ति से यह ध्वनित किया कि वह वृक्ष क्षणस्थायी है, फिर अव्यय पद से यह प्रकट किया कि वह प्रवाह नित्य है। ऐसी स्थिति में वासनाओं तथा कर्मों के बीज और अंकुर के समान एक दूसरे को निरन्तर उत्पन्न करते रहने से यह वृक्ष कभी नष्ट नहीं किया जा सकता, इस आशंका से इसका उत्तर देते हुए प्रस्तुत पद्य में यह दिखाया जा रहा है कि यह संसार वृक्ष अनिवर्चनीय है, न इसे सत्तायुक्त ही कहा जा सकता है और न इसे असत् ही कह सकते हैं। यही

बात इस रूप में कही गई है कि इसका कोई रूप उपलब्ध नहीं होता और आदि, मध्य, अन्त का भी पता नहीं लगता। जिस प्रकार रज्जु में दिखाई देने वाला सर्प सम्यक् प्रकार से देखने में उपलब्ध नहीं होता, उसी प्रकार सम्यक् विचार पूर्वक देखने पर संसार वृक्ष का भी कोई रूप उपलब्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि अज्ञान दशा में जिस प्रकार संसार दिखाई देता है, ज्ञान दशा में उस प्रकार दिखाई नहीं देता अत: इस संसार वृक्ष का मिथ्या होना केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। इसके रूप की अनुपलब्धि बतलाकर स्वप्रकाश जो ज्ञान है, जो कि यथार्थ अनुभव में उपलब्ध होता है, उसकी व्यावृत्ति कर दी गई तथा बीज आदि जो रूपवान् पदार्थ हैं उनसे भी इसका पूर्ण साधर्म्य नहीं यह बात भी बतलाई गई है। ऐसा होने पर खरगोश के सींग के समान यह तुच्छ वस्तु होगी, इसके लिए इसे आदि अन्त शून्य बतलाया गया। इसका अभिप्राय यह है कि इस संसार का उपादान कारण जो अज्ञान है उसका कोई आदि अन्त प्रतीति में नहीं आता, अतः उस अज्ञान से समुत्पन्न यह संसार वृक्ष भी वैसा ही है। यदि यह आद्यन्त शून्य है तब तो आत्मा की ही तरह यह भी अत्याज्य होगा, इसका उत्तर देने के लिए इसकी 'संप्रतिष्ठा' का अभाव बतलाया गया। जिस प्रकार उपमान रूप वृक्ष अपने आधार भूमि में विलीन हो जाता है उस प्रकार इस संसार वृक्ष के विलीन होने का कोई स्थान नहीं है। आत्मा तो सर्वाधिष्ठानसद्रूप है, अत: यह आत्मा के समान नहीं है। इस पर कहा जा सकता है कि यह ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है, परन्तु यह वृक्ष ब्रह्म में लीन नहीं होता। लीन कोई पदार्थ उसी में होता है जिसका वह विकार हो। संसार वृक्ष को ब्रह्म का विकार मान लेने पर तो ब्रह्म कूटस्थ नहीं रह जायगा। अत: यह ब्रह्म का विकार होने से ब्रह्म में विलीन हो जाता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। तब अन्ततः संसार की गति क्या होती है इसका समाधान यही है, अत्यन्त तुच्छ जो अज्ञान है वही इस संसार का मूल है। श्रुति कहती है–'**तुच्छेनाभ्वपिहितं तदासीत्।**' ज्ञान के द्वारा मूल-भूत अज्ञान ही विनष्ट हो जाता है। यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म जगत् का सुषुप्ति (गहन निद्रा) में आत्मा से स्वतः ही असंग हो जाने से सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि संसार से आत्मा असंग है परन्तु इस प्रकार की नित्य अनुभूयमान आत्मा की असंगता के द्वारा संसार का उन्मूलन इसलिए नहीं हो पाता कि वह अनुभूयमान असंग भी अविद्या जन्य ही है और अविद्या से अविद्या का उच्छेद नहीं हो सकता। इसीलिए निर्विकल्पक समाधि के द्वारा कारण शरीर से भी आत्मा की असंगता का बोध करना आवश्यक होता है। उस प्रकार के असंग शस्त्र से इस संसार का उसी प्रकार विच्छेद या विलोप कर देना चाहिए जिस प्रकार कि रज्जु के ज्ञान से सर्प का विलोप हो जता है।

श्रीशंकरानन्द ने 'सका वैसा रूप उपलब्ध नहीं होता' इसका तात्पर्य यह लगाया है कि मीमांसा दर्शन के अनुसार जो अनेक प्रकार के प्ररोचना कथन वेदों में माने जाते हैं, '**ध्रुवाद्यौः, ध्रुवा पृथिवी**', स्वर्ग ध्रुव अर्थात् अटल है, पृथिवी ध्रुव है, '**स्वर्गा लोका अमृतत्वं भजन्ते**', स्वर्गलोक में रहने वाले अमर होते हैं, इत्यादि बातें प्रत्यक्ष जगत् में नहीं दिखाई देतीं। यहां जो भी कुछ मिलता है, नाशवान् अवस्था में ही मिलता है। जो पदार्थ सावयव होता है, वह नित्य या ध्रुव नहीं हो सकता, अतः स्पष्ट है कि स्वर्गादि लोकों का जैसा वर्णन मिलता है, वह सब प्ररोचनार्थक होने के कारण मिथ्या है। इसीलिए वह यथावर्णित रूप उपलब्ध नहीं होता यह कहा गया। आगे उन्होंने लिखा है कि यदि यह संसार अनित्य और दुःखस्वरूप है ऐसा निश्चय है तब वह बादल की छाया के समान क्षणिक है, तब कुछ काल दुःख भोगने के अनन्तर फिर शाश्वत सुख भोगने की आशा की जा सकती है, इसका उत्तर देने के लिए कहा जाता है कि उसका अन्त नहीं है।

श्रीरामानुजाचार्य इसके रूप की उपलब्धि न होने का अर्थ यह लगाते हैं कि जैसा रूप अभी गत श्लोकों में इसका बतलाया गया कि चतुर्मुख ब्रह्मा इसका आदि मूल है, मनुष्य लोक तक इसकी शाखाएं फैली हैं, इस रूप में यह संसार वृक्ष उपलब्ध नहीं होता। इतना ही ज्ञान होता है कि मैं मनुष्य हूं, देवदत्त का पुत्र तथा यज्ञदत्त का पिता हूं, उसी के अनुरूप हूं इत्यादि। आगे गुणमय भोगों के असंग से इस संसार का नाश हो जाता है, यह बात भी उपलब्ध नहीं होती। यह उपलब्धि का विषय नहीं अनुभव का ही विषय है, क्योंकि उपलब्धि तो दूसरे पदार्थ की होती है, वृक्ष के नष्ट हो जाने पर दूसरा कुछ बचता ही नहीं जिसकी कि उपलब्धि हो।

माध्व भाष्य में विमर्श को ही संसार वृक्ष का छेदन बतलाया गया है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि माया से मोहित जो वादीगण हैं, वे जब वेदोक्त प्रकार से वेदोक्त रूप में इस वृक्ष का अन्वेषण करने चलते हैं तब यह उस रूप में उन्हें नहीं मिलता। ब्रह्मसूत्र में कहा गया है–

**"मायामात्रं तु कार्त्स्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" ( ब्र०सू० ३।२।३ )**

अर्थात् इसके पूर्णस्वरूप की अभिव्यक्ति न होने से यह संसार माया मात्र है। जिस पदार्थ का पूरा रूप प्रतीत न होता हो उसका द्रष्टा उसे माया कह देता है। माया से विमुग्ध वादीगण इसके आदि अन्त को भी नहीं समझते और इसकी प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति का भी निषेध कर देते हैं। जिसे आगे–

**'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' ( १६।८ )**

आदि पद्यों में बतलाया जायगा। परन्तु इसकी असत्यता माया मात्र है। यह जगत् वास्तविक दृष्टि से असत्य नहीं है। यदि ऐसा है, तब सत्य होने से यह संसार त्याज्य नहीं हो सकता, फिर इसका छेदन करने का आगे विधान क्यों है, इसका उत्तर देते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि संसार यद्यपि सत्य ही है, परन्तु इस संसार पर जीव के द्वारा परिकल्पित एक बड़ा भारी दोषपूर्ण आवरण उसी प्रकार का छाया हुआ है, जिस प्रकार निर्मल जल सुवर्ण के कलश के आवरण से युक्त है। वह जीव कल्पित होने के कारण कार्यभूत संसार कहलाता है। संसार में देखा जाता है कि एक बालक उत्पन्न हुआ, उस एक ही को सहस्रों व्यक्ति पुत्र, मित्र, शत्रु आदि के रूपों में लेते हैं। यही आवरण है, यही माया कृत है और अनादि, अनन्त है, आसुरी सम्पत्ति वाले मायाग्रस्त व्यक्तियों को यह इसी रूप में उपलब्ध होता है। परम शान्ति की प्राप्ति के अभिलाषी को असंग शस्त्र से इसी ममतामय संसार का छेदन करना है। इसके उच्छेद के अनन्तर भगवान् का धाम रूप जो संसार है उस नित्यलीला में प्रवेश होता है, जहां से लौटना नहीं पड़ता। वल्लभाचार्य ईश्वर की ही भांति जीव को भी अनादि मानते हैं। जब ममतामय संसार का उच्छेद हो गया तो उसे फिर जीव कैसे कहा जायेगा। उसका उत्तर देते हुए श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि यद्यपि यह सत्य है कि जीव व्यवहार संसार सम्बन्ध के कारण ही है, परन्तु जैसे कोई दण्ड धारण करने वाला पुरुष है, उसे दण्डी कहा करते हैं, यदि उसका दण्ड नष्ट हो गया तो अब उसे दण्डी नहीं कहना चाहिए, परन्तु उसकी पूर्व स्थिति का स्मरण करके उसे फिर भी दण्डी कह दिया जाता है, उसी प्रकार असंग शस्त्र से दोष रूपी संसार को दूर कर देने पर भी पहिले की स्थिति का स्मरण करके उसे जीव कह दिया जाता है, वह जीव ईश्वर का अंश रूप है और जीव तथा ईश्वर का परस्पर अंशाशिभाव सम्बन्ध है, यह श्रीवल्लभाचार्य का सिद्धान्त है।

संसार वृक्ष को काटकर जहां से वापस नहीं लौटा जाता, वह पद वैष्णव अर्थात् विष्णु सम्बन्धी स्थान है, वहीं से यह संसार रूपी पुरातन माया वृक्ष प्रकट होता है, यह श्रीशंकराचार्य का कथन है।

श्रीनीलकण्ठ ने प्रथम पद्य के व्याख्यान में निर्विकल्पक समाधि को असंग शस्त्र कहा है, आगे वे कहते हैं कि केवल निर्विकल्पक समाधि की अवस्था तक पहुंच जाने मात्र से अभीष्ट सिद्धि नहीं होती अपितु उसके अनन्तर '**अहं ब्रह्मास्मि**' आदि श्रुति प्रतिपादित स्थान का अन्वेषण आवश्यक होता है, श्रुति और तर्क युक्तियों से उसी का

अन्वेषण करना चाहिए। उसी स्थान पर पहुंचने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। यहां 'प्रपद्ये' यह उत्तम पुरुष के एकवचन की क्रिया है, यह वक्ता के साथ अन्वित होनी चाहिए, जिसका यहां अर्थ होगा कि वक्ता जो भगवान् श्रीकृष्ण हैं वे अपने लिए उस परम पद के आश्रय लेने को कह रहे हैं। परन्तु गीता में उपदेष्टा भगवान् कृष्ण तो स्वयं ब्रह्म रूप हैं, परब्रह्म के पूर्णावतार हैं, वे स्वयं अपना ही कैसे आश्रय ग्रहण करेंगे, इस अनुपपत्ति को मिटाने के लिए व्याख्याकारों ने विभिन्न बातें कही हैं। श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि यहां जीव को ही भगवान् कह रहे हैं कि तुम ऐसी कामना करो कि मैं भी उसी शाश्वत पद को प्राप्त करूं। '**अहमपि तदेव पदं प्रपद्य इति कामयेत्।**' इसमें '**अहमपि**', तथा '**इति कामयेत्**' आदि का ऊपर से अध्याहार करना पड़ता है। उन्हीं ने इसको बिना अध्याहार किये यह भी व्याख्या की है कि भगवान् अपने ही लिए उस पद को प्राप्त करने के लिए कह रहे हैं। वे यद्यपि स्वयं परब्रह्म रूप ही हैं परन्तु पहिले उन्होंने अपने लिए कहा है कि '**वर्त एव च कर्मणि**' मैं भी कर्म में प्रवृत्त ही हूं, अतः जीव का जो परम कर्तव्य है उसकी शिक्षा देने के लिए वह स्वयं भी उस मार्ग का ग्रहण कर रहे हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने दो प्रकार से इसको लगाया है। पहिले तो उन्होंने 'प्रपद्ये' को 'प्रपद्येत्' के अर्थ में मानकर उसे जीव के साथ अन्वित कर दिया है और फिर यथादृष्ट रूप में 'प्रपद्य, इयतः' इस प्रकार सन्धि विच्छेद करते हुए यह विलक्षण अन्वय किया है कि 'आद्यं तमेवपुरुषं प्रपद्य इयतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता' अर्थात् उसी आदि पुरुष का आश्रय लेकर आज से पुरानी शिष्टों की प्रवृत्ति अर्थात् व्यवहार चलता था। उस आदि पुरुष से ही जगत् रूपी प्रवृत्ति ने प्रसार प्राप्त किया है, इस कथन की पुष्टि में–

**'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'**

**'अहं सर्वस्य प्रभावो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'**

**'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय'**

इत्यादि पद्यांशों को श्री रामानुजाचार्य ने उपस्थित किया है। श्रीशंकरानन्द ने यहां '**तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये**' इस समानार्थक श्रुति को भी उद्धृत किया है।

लोकमान्य तिलक ने यहां उक्त क्रियापद के अन्वय का विचार किया है जिसका सारांश हम ऊपर कह आए हैं, उन्होंने अध्याहार करके अन्वय करने का ही समर्थन किया है।

पुराणी प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए डाक्टर राधाकृष्णन् ने लिखा है कि उस आद्य चेतना से ही विश्व की ऊर्जाएं निकलती हैं और शिष्य अपने आपको वस्तु रूप से पृथक् करके उस आद्य चेतना में शरण लेता है। किस प्रकार के व्यक्ति उस पद को प्राप्त करते हैं--यह बतलाने के लिए अग्रिम पद्य कहते हैं कि--

'जो मान और मोह से रहित है, संग रूपी दोष पर जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है, जो सर्बदा अध्यात्म भाव में ही निरत रहते हैं, सुख दुःखादि के द्वन्द्व से जो विमुक्त हो चुके हैं ऐसे अमूढ़ अर्थात् विद्वान् लोग ही उस अव्यय पद को प्राप्त करते हैं। (५) मान मोह आदि का विवेचन अनेक बार हो चुका है।

# बीसवां-पुष्प

**न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः**

**यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम १५। ६**

जिस परम पद का संकेत पूर्व पद्य में कर चुके हैं उसी का निषेधमुखेन गुण वर्णन प्रकृत में किया जाता है कि—

'सूर्य भी उसको प्रकाशित नहीं करता, चन्द्रमा तथा अग्नि भी उसे प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है, मेरा स्थान या तेज वह है कि जहां प्राप्त होकर पुनः लौटना नहीं पड़ता। (६)

सूर्य यद्यपि सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने की सामर्थ्य रखता है, परन्तु वह भी अपना प्रकाशन सामर्थ्य उसी परमतत्त्व से ग्रहण करता है, अतः वह उसे कैसे प्रकाशित कर सकता है। जब सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता तो चन्द्रमा और अग्नि तो सूर्य से कम प्रकाशशील है, वे कैसे प्रकाशित करेंगे, फिर उनका निषेध क्यों, इसका उत्तर यह है कि जब रात्रि में सूर्य नहीं रहता और कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा भी नहीं रहता तथा प्रगाढ़ निद्रा आदि की स्थिति में अग्नि आदि के प्रकाश की भी कोई संभावना नहीं रहती, तब भी आत्मा का प्रकाश निरन्तर फैलता रहता है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि ज्ञान ही सबका प्रकाशक होता है और आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है। बाह्य प्रकाश तो विषयों और इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध में बाधक जो अन्धकार है उसे ही मिटा सकते हैं। योग के द्वारा इस ज्ञान का प्रकाश होता है, अनादि कर्मों के द्वारा इस योग का निराकरण होने से इस योग की प्राप्ति नहीं हो पाती। भगवान् की शरण में चले जाना ही योग की प्राप्ति का उपाय है, जहां से फिर लौटकर नहीं आना पड़ता। उस ज्योति को 'परम धाम' भी इसीलिए कहा जाता है कि वह सूर्य आदि का भी प्रकाशक है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं—जिस पद को प्राप्त करने का वर्णन विगत पद्य में आया है, वह सर्वोन्नत पद यदि है तो वहां से पतन भी अवश्यंभावी है। एक श्लोक प्रसिद्ध है—

**सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।**

**संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवनम् ।।**

अर्थात् जितने संचय हैं सबका अन्त में क्षय ही होता है, जितनी उन्नतियां हैं

सबका अन्त पतन में ही होता है, संयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त ही मरण है। अतः यह परम पद परमोन्नत होने से ही परम है, तब तो वहां से पतन होना भी अवश्यंभावी है, इस आशंका को निर्मूल करने के लिए ही भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी है कि यह जो लौकिक न्याय उन्नति के विषय में तुम समझते हो वह यहां नहीं लगाना चाहिए। यह स्थान ऐसा है कि यहां पहुंचने वाला वापस लौटकर आता ही नहीं। ऐसा वह कैसा स्थान हो सकता है जो परमोन्नत होने पर भी अवनति शून्य है। जहां से कोई कभी रिटायर नहीं होता। इस जिज्ञासा के उपशम के लिए ही उस तेज के जगत् में परिदृश्यमान रूपादि से विलक्षण रूपादि का वर्णन यहां किया जा रहा है कि उसे सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता। सूर्य रूपवान् पदार्थ को नेत्रों के द्वारा देखने योग्य बनाता है, यही उसके द्वारा किया हुआ भासकत्व है। परमतत्त्व तो नीरूप अर्थात् रूप रहित है, तब उसे सूर्य कैसे प्रकाशित करेगा। रूपरहित पदार्थ भी मानसिक चिन्तन के विषय बन जाते हैं, अतः आत्मा का भी मन के घेरे में आ जाना संभव है, इस आशंका को हटाने के लिये '**न शशांकः**' कहा है, अर्थात् चन्द्रमा भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकता। चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ है–'**चन्द्रमा मनसो जातः**', अतः वह मन का अनुग्राहक है। इसलिए '**न शशांकः**' का अर्थ यहां यही लगाया जायगा कि जो पदार्थ मानसिक प्रसन्नता के कारण होते हैं उसे चन्द्रमा के प्रकाश की परिधि में मानकर उनका चन्द्रमा से प्रकाशित होना स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु आत्मतत्त्व के विषय में तो–

## 'यन्मनसा न मनुते'

'**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियों में यही बतलाया गया है कि वह मन और वाणी दोनों ही का विषय नहीं है, इसलिए यहां चन्द्रमा भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकता यह स्पष्टोक्ति है। तब संभव है वाणी के द्वारा ही उसका प्रकाश हो सकता हो। इस आशंका को भी दूर करने के लिए '**न पावकः**' कहा गया है। पावक अर्थात् अग्नि वाणी का अनुग्राहक माना गया है। वाणी का जो विषय होगा वह वाणी के अनुग्राहक अग्नि के द्वारा भासित होगा। परन्तु '**यद्वाचाऽनभ्युदितम्**' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा वह परमतत्त्व वाणी का भी विषय नहीं है, यह स्पष्ट है, अतः यहां अग्नि के द्वारा भी उसके प्रकाश्यत्व का निषेध है। इसके अतिरिक्त श्रुतियों में आत्मा को प्राणमय, मनोमय, और वाङ्मय कहा गया है। उनका तीनों का ही यहां निवारण किया गया है। सूर्य प्राणरूप है, जैसा कि–'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**' इत्यादि अनेक श्रुतियों में स्पष्ट हैं। चन्द्रमा का मनोमय होना

भी श्रुतियों में स्पष्ट है और वाक् का यहां स्पष्ट ही उल्लेख है। इससे वह तीनों भी इसी आत्मा की प्रेरणा से ही चलते हैं। इसलिए आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद के ज्योतिब्राह्मण में जो ज्योतियां बतलाई गई हैं, प्रथम सूर्य ज्योति आगे उसके अभाव में चन्द्रज्योति दोनों ही जहां न हो वहां अग्नि ज्योति और तीनों के अभाव में वाक् ज्योति बतलाई गई है। उसमें अग्नि और वाक् को एक कर यहां आत्मा में चारों का ही अनुपयोग बतला दिया। इसलिए यह सिद्ध कर दिया कि आत्मा स्वयं प्रकाश है। उसी आत्मा को भगवान् अपना धाम कहते हैं। अर्थात् आगे जो पद्य में कहा जायगा कि जीव मेरा ही अंश है, वही बात यहां ध्वनित कर दी गई। इस व्याख्या में नेत्र, मन और वाणी के अनुग्राहक के रूप में सूर्य, चन्द्र, अग्नि का उपस्थापन हुआ है ऐसा मानना होगा। नेत्र, मन और वाणी तीनों से अगम्य होने के कारण ही वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों से पृथक् है यह बात भी प्रतिफलित हो जाती है।

**'नाऽन्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञम्'' ( मुण्डको० ७ )**

**'अस्थूलमनणु' ( बृ०उ० ३।८।८ )**

इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परम तत्त्व के इस निर्विशेष या सर्वविशेष शून्य रूप का ही प्रतिपादन हुआ है। 'परम धाम' में जो धाम शब्द है उसके दो अर्थ प्रसिद्ध हैं जैसा कि कहा जा चुका है, एक 'घर' और दूसरा तेज या ज्योति। श्रीनीलकण्ठ दूसरा अर्थ लेते हुए उसका अर्थ ज्ञान ज्योति करते हैं। उसका 'परम' यह जो विशेषण है, उसके साथ मिलाने पर अर्थ होगा, 'परम ज्ञान ज्योति'। ज्ञान का तेज रूप होना अनेक बार कहा गया है कि ज्ञान कोई सूर्य चन्द्र आदि की तरह अपने तेज को चक्षुग्राह्य या इन्द्रियों से संवेद्य रूप में बाहर नहीं फैलाता, अपितु ज्ञान का तेज या प्रकाश सभी इन्द्रियों का प्रकाशक है। इन्द्रियों में रूपादि ग्रहण की जो शक्ति है, वह ज्ञान का ही प्रकाश है। यदि यह प्रकाश पास में नहीं है, तब सूर्य चन्द्र आदि कोई प्रकाश काम न देगा। मूर्छित या मृत पुरुष के लिए सूर्य चन्द्र आदि सम्पूर्ण प्रकाश व्यर्थ हैं। मूर्छित या मृत पुरुषों में भी अवस्थान रूप इन्द्रियां तो हैं, परन्तु उन सबका अनुग्राहक ज्ञानरूप प्रकाश नहीं है। निष्कर्ष यह कि ज्ञान का प्रकाश ही मुख्य प्रकाश होता है। अन्य सभी ज्योतियों से ज्ञान ज्योति की श्रेष्ठता सिद्ध होने पर अब 'परम धाम' या परम ज्ञान की गुत्थी भी सुलझ जायगी, ज्ञान भी दो प्रकार का है। एक अपरम ज्ञान और दूसरा परम ज्ञान। प्रत्येक पदार्थ का पृथक्-पृथक् जो ज्ञान है वह वृत्ति रूप ज्ञान है। वह तत्तत्पदार्थों के आकार प्रकार में सीमाबद्ध होने के कारण परिच्छिन्न है। सांसारिक व्यवहार का

परिचालक यही ज्ञान है। इससे भिन्न, वृत्ति रहित और परिच्छेद शून्य जो ज्ञान है वह परम ज्ञान है जो संसार व्यवहार का निवर्तक है। उस ज्ञान का प्रकाश मिलते ही संसार व्यवहार का परिचालक वृत्तिरूप ज्ञान विगलित हो जाता है, और फिर अपरमज्ञान की सीमा से परे चला जाता है, फिर संसार की सीमा में नहीं लौटना होता। यद्यपि सांसारिक व्यवहार दशा में भी सर्वविशेषशून्य इस परम ज्ञान का आभास होता है। सुषुप्ति, अवस्था तो इसका उदाहरण है ही, काव्य नाटकादि के द्वारा होने वाली रसानुभूति की अवस्था में भी इसी परम ज्ञान की स्थिति अभिनवगुप्त, मम्मट, जगन्नाथ आदि साहित्य के आचार्यों ने दार्शनिक प्रक्रिया से सिद्ध कर दिखाई है और '**रसो वै सः**' आदि श्रुतियों के आधार पर यह भी सिद्ध कर दिया है कि काव्य नाटकादि से होने वाली रसचर्वणा से प्रकाशित होने वाला ज्ञान भी वृत्तिरूप ज्ञान नहीं है अपितु परम ज्ञान ही है, परन्तु सांसारिक दशा में प्रतीयमान यह परम ज्ञान स्थायी नहीं होता और इसके विषय में '**यद्गत्वा न निवर्तन्ते**' नहीं कहा जा सकता। गहन निद्रा से उठने के बाद और नाटक आदि देखने के उपरान्त मनुष्य अपनी पूर्ववस्था में ही पहुंच जाता है। जहां से पुनरावर्तन नहीं होता उस स्थान को प्राप्त करने के लिए तो योग मार्ग के द्वारा समाधि का ही आश्रय लेना होता है और उसी के अनन्तर वह भी स्थिति प्राप्त हो सकती है जबकि मनुष्य सांसारिक व्यवहारों से युक्त होता हुआ भी उनसे निर्लिप्त रह सकता है।

यहां यह एक आंशका उपस्थित हो सकती है कि परम ज्ञान तो स्वयं भगवद्रूप ही है, फिर यहां 'वह मेरा धाम है' ऐसा उसे मेरा कह कर क्यों निर्दिष्ट किया गया। इसका उत्तर यही है कि यह समझाने के लिए औपचारिक कथन है। वास्तव में तो परम धाम या परमज्ञान भगवद्रूप ही है। अमृत पाने के समय मोहिनी रूप धारी भगवान् ने देवताओं में छद्म रूप से प्रविष्ट होकर जिस असुर का चक्र के द्वारा शिरश्छेद कर दिया था, उसका नाम राहु था। सिर के कट जाने पर उसका मस्तक भी सजीव ही रहा और धड़ भी क्योंकि वह अमृतांश का पान कर चुका था, धड़ का नाम केतु पड़ा और केवल शिर का राहु। ऐसा होने पर भी व्यवहार में 'राहु का सिर' कहना व्यर्थ है। परन्तु समझाने के लिए उसे औपचारिक शैली के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। इसी को '**राहोः शिरः**' न्याय भी कह दिया करते हैं। यहां भी जो परमधाम है, वही परमतत्त्व या परमेश्वर परब्रह्म है। वहां पहुंच कर पुनरावृत्ति का मूल जो अज्ञान है परम तत्त्व तक पहुंच जाने पर उसका अभाव हो जाता है। जब संसार में पुनरागमन का मूल कारण ही समाप्त हो गया तो फिर संसार में आगमन भी नहीं होगा और सांसारिक दुःखों की सर्वदा के लिए निवृत्ति हो जायगी। यहां 'परम धाम' की व्याख्या

में सूर्य आदि के द्वारा अप्रकाश्य, अर्चि आदि के मार्ग से जाने योग्य, सत्य लोक के भी ऊपर प्रतिष्ठित अप्राकृत नित्य विष्णु लोक है, वहां पहुंच कर पंचभूतों के आकर्षण से बाहर हो जाने के कारण पृथ्वी आदि स्थानों में पुनरावृत्ति नहीं होती ऐसा किसी व्याख्याकार का आशय है, उसका श्रीनीलकण्ठ ने यह कह कर खण्डन किया है कि इस प्रकार के 'विष्णु लोक' को स्थान विशेष रूप में 'परमधाम' मान लेने पर उसका कोई रूप भी अवश्य होगा, तब उसका कोई रूप उपलब्ध नहीं होता यह कथन समीचीन नहीं होगा। अतः वह 'परमधाम' 'परमज्ञान' रूप ही माना जा सकता है।

तत्त्व प्रकाशिका में 'मम धाम' का अर्थ मेरा शक्ति रूप धाम करके वह शक्ति ब्रह्म से अभिन्न या एक रूप भी नहीं है और न उससे भिन्न है, उसी प्रकार जिस प्रकार की अग्नि की दाहकत्व शक्ति को अग्नि से भिन्न या अग्नि रूप नहीं कहा जा सकता।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने इस श्लोक की समानार्थक–

**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं**
**नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।**
**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं**
**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।**

यह श्रुति उद्धृत करके परज्योति के प्रतिपादन का समर्थन किया है।

वल्लभ संप्रदाय के बहुत से विद्वान् धाम शब्द का यह भी अर्थ करते हैं कि पुरुषोत्तम भगवान् का अक्षर पुरुष धाम है, अक्षर पुरुष का अर्थ व्यापी वैकुण्ठ है। वही भगवान् का धाम अर्थात् निवास स्थान है। पुरुषोत्तम भगवान् अक्षर पुरुष के भी अधिष्ठाता बनकर उस पर निवास करते हैं। यह भी मत यहां समझ लेना चाहिए।

# इक्कीसवां-पुष्प

**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।**
**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति १५। ६७**

विगत श्लोक की श्रीनीलकण्ठ की व्याख्या लिखते हुए हमने कहा था कि सभी उन्नतियां अन्ततः पतन की ओर ही जाती हैं। जिस धाम में जाने की बात कही गई है वहां से लौटना नहीं होता यह बतलाया गया। श्रीशंकराचार्य ने प्रस्तुत पद्य को उसी पूर्वोक्त अपुनरावृत्ति का उपपादक माना है। पद्य का अर्थ है–"जीवलोक में सनातन रूप से जीव के रूप में अवस्थित मेरा ही एक अंश है, जो कि मन के सहित प्रकृति में स्थित इन्द्रियों को खींचता है।

यहां श्रीशंकराचार्य ने यह शंका भी उठाई है कि पद्य में जीव को परमात्मा का अंश कैसे कहा गया। परब्रह्म तो निरवयव है, उसका अंश कथन कैसे संगत हो सकता है और यदि इसी पद्य को इस विषय में प्रमाण मानकर परमात्मा में अंशों की कल्पना कर ली जाय तब यह नियम भी अवश्य बाधक बनेगा कि जो पदार्थ सावयव होते हैं, उनका विनाश भी अवश्य होता है। तब परमेश्वर के भी अंश या अवयव मान लेने पर उसका विनाश भी मानना होगा। परन्तु परमेश्वर की सत्ता स्वीकार करने वाले किसी भी आस्तिक मत में उसे विनाशी नहीं माना गया है। तब यह अंशांशि भाव की उक्ति कैसे समीचीन मानी जायगी। इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि परमेश्वर में यह अंश कल्पना पारमार्थिक दृष्टि से नहीं, अपितु औपाधिक है। अविद्या की उपाधि से परिच्छिन्न चैतन्य में ही जीवबुद्धि होने से उस उपाधि के विनष्ट होते ही जीव बुद्धि जाती रहती है, उसी प्रकार जिस प्रकार जलरूप उपाधि के न रहने पर सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं रहता, और घट रूप उपाधि के विनष्ट हो जाने पर घटाकाश की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। ये उपाधियां मिथ्या हैं अतः परमेश्वर में भी अंश की परिकल्पना वास्तव में संसार दशा में ही है, संसारातीत दशा में तो परब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' है, उसमें किसी प्रकार का अवयव विभाग माना ही नहीं जाता। भगवान् के अंश के रूप में परिकल्पित जीव किस प्रकार संसरण और उत्क्रमण करता है, इसको दिखलाते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि वह जीव अपने-अपने स्थानों में प्रतिष्ठित कान, नाक आदि इन्द्रियों को मन सहित खींचता है। इसका अभिप्राय यही है कि आत्मा के बिना केवल मन या इन्द्रियां किसी भी विषय का ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। चेतन आत्मा के रहने पर ही इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग किया जा सकता है।

आनन्द गिरि व्याख्या में कहा गया है कि यहां जीव को ब्रह्म का अंश ही कह

दिया गया तब जिस प्रकार अंश और अंशी सर्वदा संयुक्त ही रहते हैं उसी प्रकार जीव को ब्रह्म नित्य ही प्राप्त है, फिर उसकी प्राप्ति के लिए इतना समाधि आदि का प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता। इसका उत्तर देते हुए वहां कहा गया है कि दो प्रकार की प्राप्ति होती है। एक अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति, दूसरी प्राप्त पदार्थ की प्राप्ति। अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति तो प्रसिद्ध ही है। किसी के पास रुपये नहीं हैं, उसे रुपये प्राप्त हो गए यह अप्राप्त की प्राप्ति कही जायगी। परन्तु प्राप्त पदार्थ की भी तब प्राप्ति ही मानी जाती है जब प्राप्त पदार्थ को मनुष्य भूल जाय। जब उस भूले हुए पदार्थ का उसे स्मरण आवे या कोई अन्य व्यक्ति उसे उसका बोधन करे तब उसे जो प्रसन्नता होती है वह भी नए पदार्थ मिलने की प्रसन्नता से कम नहीं होती। इसके बोधन के लिए कई प्रकार के न्याय दर्शनों में प्रसिद्ध हैं, उनमें से एक है '**कण्ठचामीकरन्याय**' किसी व्यक्ति के गले में सोने की जंजीर पड़ी है, भ्रम या प्रमाद से उसे यह ध्यान नहीं रहा और उसने जंजीर खो गई समझकर उसका अन्वेषण प्रारंभ किया। जब किसी पुरुष ने उसे बतलाया कि मूर्ख, जंजीर तो तेरे गले में है, तब उसे उसका ज्ञान होता है। यही प्राप्त की प्राप्ति कही जाती है। ब्रह्म रूप होते हुए भी अपने ब्रह्म भाव को जो प्राणी ने विस्मृत कर रक्खा है, उसी से वह क्लेश में है। जब कोई उपदेष्टा उसे यह बोधन करा देता है कि तू तो नित्य शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला ब्रह्म ही है–

**'तत्त्वमसिश्वेतकेतो।'**

तब उसे नित्य प्राप्त ब्रह्म भाव की भी प्राप्ति होती है। अतः कोई आपत्ति नहीं आती।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने कहा है कि सुषुप्ति में ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाती है परन्तु जाग्रत अवस्था में पुनः व्यवहार दशा में जीव भाव में आना पड़ता है, वह अज्ञान दशा में ब्रह्मभाव में जाना हुआ। परन्तु जो ज्ञान से अज्ञान को निवृत्त करके ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है वह पुनः संसार दशा में नहीं आता।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि यह पुरुष सच्चिदानन्द रूप पुरुषोत्तम का ही अणु रूप अंश है। यह चेतना स्वरूप है और परमेश्वर की इच्छा से उससे पृथक् हुआ है, इसका वास्तविक स्वरूप नित्य है, अतः यह सनातन कहा गया है। श्रीवल्लभाचार्य जीव और ब्रह्म का अंशांशि भाव मानते हैं, वह जीव ब्रह्म का अंशांशि भाव इस पद्य में स्फुट हो गया है। इसके समर्थन में उन्होंने यहां अनेक श्रुति और स्मृतियों को उद्धृत कर दिया है। यह संभावित पूर्वपक्ष भी उन्होंने लिखा है कि ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा गया है, जिसका अभिप्राय है कि ब्रह्म निरवयव है। तब उसके अंश की कल्पना ही कैसी। इसका उत्तर देते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि ब्रह्म

निरवयव है या सावयव है यह केवल शब्द प्रमाण वेद्य विषय है, प्रत्यक्ष और अनुमान आदि के द्वारा इसे नहीं बतलाया जा सकता। ऐसी स्थिति में अनेक श्रुतियां और स्मृतियां समुद्धृत करके उन्होंने यह दिखाया है कि श्रुतियों और स्मृतियों के वचनों के आधार पर ब्रह्म सावयव ही सिद्ध होता है। तब उसके निरवयव होने की कल्पना क्यों की जाय। 'एकमेवाऽद्वितीयम्' का सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य होना जो अभिप्राय निकाला जाता है, उसमें सजातीय और विजातीय भेद तो ब्रह्म में नहीं है, परन्तु परब्रह्म के अंश के रूप में जीव को स्वीकार कर लेने पर अंशांशि भावापन्न परब्रह्म और जीव में स्वगत भेद तो आ ही जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उन्होंने उठाया है कि जीव और ब्रह्म को पृथक्-पृथक् मान लेने पर जीव अलग इकाई हुई और ब्रह्म अलग और फिर उनमें अंशांशिभाव भी रहा, तब स्वगत भेद नहीं सजातीय भेद भी उनमें सिद्ध हो गया। इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि ब्रह्म में आनन्द की जो मुख्यता है, वह जीव भाव में तिरोहित हो जाती है, अतः ब्रह्म और जीव सजातीय नहीं रह जाते। हां, जो अवान्तर धर्म हैं उनकी समानता तो अंश और अंशी में इष्ट ही है।

**'पुरुष एवेदं सर्वम्'**

**'पादोऽस्य विश्वाभूतानि', ( ऋग्वेद )**

इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म का सावयव होना प्रतिपादित है। यदि जीव ईश्वर का अंश है तब यह शंका होगी कि जिस प्रकार अंश के सुख दुःखानुभव से अंशी को भी उसका अनुभव होता है, मनुष्य के हाथ या पैर को पीड़ा होने पर मनुष्य को भी पीड़ा होना अनुभव सिद्ध है, उसी प्रकार जीव के सुख दुःखानुभव करने पर ईश्वर में भी सुख दुःखों का अनुभव प्राप्त हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि, अंश की अंशी से पृथक् सत्ता नहीं होती। पुरुष के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से हाथ पैर आदि उसके अंश या अवयव पृथक् नहीं कहे जा सकते। ऐसा भी अनुभव नहीं होता कि अंशी को जो ज्ञान नहीं होता वह अंश को हो जाता हो। अतः जीव के सुख दुःख से परमेश्वर के सुख दुःख का अनुमान विपरीत अनुमान है। होना यह चाहिए कि परमेश्वर के सुख दुःख से जीव के सुख दुःख की कल्पना की जाय। ऐसा होने पर जीव को जो कष्टानुभव होता है, वह कैसे युक्तियुक्त होगा। ईश्वर में तो दुःख का संश्लेष है नहीं, इसका उत्तर यह है कि यह द्वैत भावना से होता है। अंश और अंशी मिलकर एक होते हैं। अंशी प्रधान और अंश गौण होता है। परन्तु अविद्या से समुत्पादित द्वैत बुद्धि के चक्र में पड़ने वाला जीव ब्रह्म के साथ अपने अंश भाव को विस्मृत करके अपनी स्वतन्त्र स्थिति

का अनुसंधान करने लगता है और इसी से क्लेश प्राप्त करता है। जीव में ब्रह्म के आनन्दांश का तिरोधान हो गया है। यहां उन्होंने इस बात का खण्डन किया है कि जीव और ब्रह्म का विभाग अविद्या कृत है। ये उसे ब्रह्मकृत ही मानते हैं। यदि जीव और ब्रह्म के विभाग को अविद्या कृत माना जाय तब सृष्टि के आरम्भ में अविभक्त जो ब्रह्म है, वह संसारी नहीं है, और जो विभाग है वह संसार के बिना हो नहीं सकता। तब सृष्टि में दिखाई देने वाले भेद को सिद्ध करने पर अन्योन्याश्रय दोष का वारण कठिन हो जायगा। संसार के होने पर तो भेद गृहीत होगा, और पहिले भेद के बिना संसार आयेगा ही कहां से। अतः इस अनुपपत्ति का भी यही समाधान है कि जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न और अनादि हैं। यदि भेद अविद्या के द्वारा कल्पित माना जाय तब अविद्या का कोई स्वरूप निर्वचन संभव नहीं है, अतः उसका भ्रान्ति रूप या मिथ्यात्व सिद्ध हो गया, तब द्वैत भाव को मिथ्या आधार पर प्रतिष्ठित कहना होगा। जो बात श्रुति स्मृति और अनुभव से सिद्ध है उसके आधार को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है। यदि ब्रह्म को ही उसका आधार मानें तब ब्रह्म भी संसारी है, ऐसा कहना पड़ेगा जो कि अभीष्ट नहीं है। तब मूल में जीव और ईश्वर ये परस्पर अंशांशि भावापन्न दो पृथक्-पृथक् तत्त्व मानने होंगे। जीव तो अनन्त हैं और पद्य में **'जीवभूतः सनातनः'** यह एक वचन कहा गया है, इसका समाधान करते हुए श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि यहां समष्टि में एक वचन है। जीव समष्टि से यहां तात्पर्य है। इस सिद्धान्त में यह सबसे बड़ी शंका रह जाती है कि यदि ब्रह्म सावयव है, तो सावयव पदार्थ विनाशशील होते हैं यह सर्वतन्त्र सम्मत सिद्धान्त है, इसके अनुसार ब्रह्म को भी विनाशवान् मानना होगा। इसका समाधान वे यह करते हैं कि ब्रह्म परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय है, यह बात श्रुति स्मृति से सिद्ध होती है। वह सावयव होता हुआ भी नाशवान् नहीं है, सावयवत्व और विनाशशून्यत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म ब्रह्म में रहते हैं जैसा कि 'तदेजति तन्नैजति' तद्दूरे तदुअन्तिके' इत्यादि श्रुतियों में विरुद्ध धर्माश्रय ब्रह्म को बतलाया गया है।

श्रीनीलकण्ठ यहां यह पूर्वपक्ष उठाते हैं कि विगत पद्य में कहा गया था कि वह धाम सूर्य आदि के द्वारा प्रकाश्य नहीं है, वह अक्षर रूप है और सर्वत्र व्यापक है। तब स्वप्रकाश अक्षर तत्त्व के सर्वत्र अनुस्यूत होने पर किसी भी पदार्थ को इन्द्रियों से ग्रहण करने के लिए हमें सूर्य आदि अन्य प्रकाशों की आवश्यकता क्यों होती है। क्यों नहीं स्वप्रकाश आत्मा को स्वतः तत्तत्पदार्थों का ग्रहण हो जाता। स्वयं जोतिरूप को अपने विषय को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य ज्योति की अपेक्षा नहीं होती। इसी का उत्तर देने के लिए आगे के तीन पद्य कहे गए हैं। जगत् का स्रष्टा ईश्वर ही

शरीर में अनुप्रविष्ट होता है–'**तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्।**' ईश्वर ही इस प्राण धारण रूप उपाधि का परित्याग करते समय उत्क्रमण करने वाला कहा जाता है। इसीलिए यहां भगवान् कहते हैं कि जीव लोक में जो सनातन जीव है वह मेरा ही अंश है। इसकी उपमा वेद में दी गई है कि जैसे अग्नि के महान् समूह से स्फुलिंग छिटक कर अलग गिरते रहते हैं, वैसे ही जीव ईश्वर से पृथक् होता है। जैसे विस्फुलिंग अग्नि समूह से पृथक् होकर फिर नया अग्नि समूह बना लेता है, वैसे ही जीव भी ईश्वर से पृथक् होकर अपनी नई सृष्टि बना लेते हैं। जैसे अग्नि समूह से पृथक् होकर भी स्फुलिंग में और अग्नि में कोई भेद नहीं होता वैसे ही ईश्वर से पृथक् होने पर भी जीव और ईश्वर में कोई वास्तविक भेद नहीं होता। जो कुछ भी भेद अवभासित होता है, वह औपाधिक भेद ही है।

द्वैतवाद की तत्त्व प्रकाशिका व्याख्या में अद्वैतवाद के इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है कि जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है, क्योंकि प्रतिबिम्ब सनातन नहीं हो सकता और यहां जीव को सनातन कहा गया है।

श्रीशंकरानन्द ने द्वैतवाद की आशंका उपस्थित करने वाले पूर्वपक्षी से प्रश्न किया है कि यदि जीव और ब्रह्म में भेद है तो क्या ब्रह्म से अतिरिक्त कोई जीव है; या ब्रह्म ही जीव बनता है, अथवा जीव है ही नहीं यह आपका आशय है। यदि जीव है ही नहीं यह आप कहें तब तो कहने वाले आप स्वयं ही अभावग्रस्त हो जायेंगे। यदि आप कहें कि हां, हम वस्तुतः हैं ही नहीं, तब प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोध होगा। प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु को कोई अनुन्मत्त पुरुष अस्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए जीव का अभाव तो कहा नहीं जा सकता। अब यदि आप कहें कि जीव है, और वह ब्रह्म से पृथक् है, तब यह पूछना होगा कि ब्रह्म से पृथक् वह जीव चेतन है अथवा अचेतन। यदि आप उसे अचेतन कहें तब तो आपको जो ज्ञान होता है, वह कैसे होगा। अचेतन पदार्थ को ज्ञान नहीं होता। यदि आप कहें कि वह चेतन है तो श्रुति विरोध होगा, क्योंकि श्रुतियों में चेतन केवल ईश्वर को ही माना जाता है। "**नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नाऽन्योऽतोऽस्ति विज्ञाता**" उस ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा और विज्ञाता नहीं है। इसलिए ब्रह्म और जीव पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते। अब रह गया तीसरा पक्ष कि ब्रह्म ही जीव है, यह पक्ष भी संभव नहीं। यदि ब्रह्म ही जीव हो तो जीवों को ब्रह्म की पूर्णता और असंसारिता का अनुभव होना चाहिए, ऐसी स्थिति में फिर संसार की स्थिति ही अवरुद्ध हो जायगी। अतः यही कहना उपयुक्त होगा कि अविद्या रूप उपाधि से आच्छन्न होकर ब्रह्म ही जीव भावापन्न हो गया है। फिर प्रश्न होगा कि ब्रह्म तो असंग

और अविकारी है, उसका अविद्या से सम्बन्ध ही कैसे होगा, और अविद्या से सम्बद्ध होजाने पर वह अविकारी कैसे कहा जायगा, इसका उत्तर है कि सफेद शंख पीले रंग से असम्बद्ध रहता हुआ भी पीलिया रोग के रोगी को पीला नजर आता है। पीला दिखाई देने पर भी शंख के अपने रूप में कोई विकार नहीं आता। उसी प्रकार ब्रह्म के ऊपर संसार उपाधि से आरोपित होने के कारण मिथ्या है। अविद्यावश जीव को अपना पृथक् भाव भासित हो जाता है।

# बाईसवां-पुष्प

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् १५। ८
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। १५।९
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते
उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्
विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः। १५।१०
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्
यतन्तोऽप्यकृतात्मनो नैनं पश्यन्त्यचेतसः। १५।११

"यह जीव रूप ईश्वर जब शरीर ग्रहण करता है और जब शरीर को छोड़कर उत्क्रमण करता है, तब वह मन के सहित इन्द्रियों को लेकर उसी प्रकार जाता है जिस प्रकार वायु किसी स्थान से चलते समय वहां का गन्ध अपने साथ ले लेता है।" (८)

आत्मा एक शरीर को लेता है और एक को छोड़ता है, इसे ही जीवन और मृत्यु कहते हैं। छोड़ते समय और नया शरीर लेते समय वह अकेला नहीं रहता अपितु मन और इन्द्रियां भी उसके साथ रहती हैं, जिन्हें सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। श्राद्ध का विवेचन करते समय हम इसका विवेचन कर चुके हैं कि शारीरिक सूत्रों के अनुसार सूक्ष्म अंश भी आत्मा के साथ जाता है। शरीर का जो ग्रहण श्लोक में कहा गया उसका तात्पर्य एक व्याख्या में यह भी लिखा गया है कि सुषुप्ति से उठने पर आत्मा शरीर को प्राप्त करता है अर्थात् मन और इन्द्रियों का ग्रहण करता है। वायु में जो गन्ध मालूम होता है वह वायु का अपना नहीं है अपितु वायु के संसर्ग में जो पदार्थ जाते हैं, उन्हीं का गंध वायु ले लेता है। इससे जीवात्मा इन्द्रिय और मन के कर्षण में स्वतन्त्र नहीं, परमेश्वर की प्रेरणा ही उसमें हेतु भूता है, ऐसा आशय भी कुछ व्याख्याकारों का है। अग्रिम पद्य में यह कहा गया है कि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा यह जीवात्मा विषयों का सेवन करता है–

"कान, नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका और मन पर अधिष्ठित होकर यह (जीवात्मा) विषयों का उपसेवन करता है। (९)

उक्त इन्द्रियों पर अधिष्ठित होने का अर्थ श्रीनीलकण्ठ ने किया है कि इन इन्द्रियों

को व्यापारवान् बनाकर वह विषयों का ग्रहण करता है। जिस प्रकार दीपक अपनी प्रभा को प्राप्त करने के लिए तेल और बत्ती की अपेक्षा रखता हुआ भी वस्तुओं को प्रकाशित करने में किसी की अपेक्षा नहीं रखता, स्वयमेव पदार्थों को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार आकार विशेष को प्राप्त करने के लिए जीव इन्द्रिय मन आदि की अपेक्षा करता है, परन्तु विषयों का अवभास तो वह स्वयं ही करता है। श्रीशंकरानन्द ने पद्योक्त चकार से इन्द्रिय और मन के साथ ही बुद्धि का भी ग्रहण माना है।

जब सभी इन्द्रियों पर अधिष्ठित होकर आत्मा ही विषयों का सेवन कर रहा है तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती। अनुभव में तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार के अतिरिक्त विषयों का उपभोक्ता आत्मा मिलता नहीं, तब यह कैसे समझा जाय कि यह सभी विषयोपभोग जीवात्मा कर रहा है। इसका उत्तर देने के लिए भगवान् आगे का श्लोक कहते हैं कि–

"उत्क्रमण करते हुए, या स्थित रहते हुए, या भोजन करते हुए, गुणों से संयुक्त होते हुए आत्मा को ज्ञानरूपी नेत्रों वाले ही देखते हैं, विमूढ़ पुरुष नहीं देख सकते।"(१०)

परमेश्वर हमारे प्रत्येक कर्म का नित्य साक्षी है, यह बात गीता के इस पद्य से सुस्पष्ट है। हमारे प्रत्येक कार्य का देखने वाला परमात्मा है, यह दृष्टि भारत में सर्वदा से रही है। पारमार्थिक दृष्टि तो बिना इस विचार के बन ही नहीं सकती, लौकिक दृष्टि में भी इस विचार की बड़ी आवश्यकता है। बहुधा बुराइयों में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति एकान्त या एकाकीपन देखकर यह समझ लेता है कि इस समय इस कुकर्म को कोई नहीं देख रहा है, इसका साक्षी कोई नहीं है, मुझे इस कर्म का उत्तर किसी के सामने नहीं देना होगा। यदि वह यह समझ जाय कि जो भी कुछ कार्य मनुष्य कर रहा है, उसका साक्षी उसकी अन्तरात्मा के रूप में अवस्थित परमेश्वर है, जिसके समक्ष उसे इसका उत्तर देना होगा तो बहुत सी बुराइयां दूर हो जायं, परन्तु ऐसा होता नहीं। विषयों में विक्षिप्त चित्त वाले पुरुष जिन्हें यहां भगवान ने विमूढ़ कहा है, वे अपने में अवस्थित तथा सर्वत्र प्राणियों में प्रतिष्ठित आत्मसत्ता को नहीं देख पाते। अधिक सँख्या नहीं देखने वालों की ही है, इसीलिए उन्हीं का भगवान् ने पहिले निर्देश किया है। परन्तु जिनके ज्ञान नेत्र उद्घाटित हो चुके हैं, उन्हें तो साक्षी के रूप में सभी कार्यों में भगवान् की सर्वत्र सत्ता का अनुभव होता रहता है। जब किसी की मृत्यु होती है, तो आत्मा ही उस मृत के शरीर को छोड़ता है, जिसे उत्क्रमण कहते हैं। वही शरीर का परम विधारक होने से उसमें स्थित कहा गया है। भोजनादि व्यापार में भी वह

सर्वत्र मौजूद है, सुख दुःख मोहादि में भी वह साक्षी रूप से सर्वत्र अनुगत है। ज्ञान प्राप्त व्यक्तियों की ऐसी ही दृष्टि दृढ़ हो जाती है और उन्हें आत्म-सत्ता का सर्वत्र साक्षात्कार हो जाता है।

शरीरादि पिण्डों में आत्मा का अभिमान रखने वाले विमूढ़ हैं और शरीरादि को नाशवान समझकर उसके परिचालक के रूप में उससे पृथक् आत्मसत्ता का अनुभव करने वाले ज्ञानी हैं, यह श्रीरामानुजाचार्य का आशय है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि इन्द्रियों और मन पर अधिष्ठित आत्मा उनके शरीर से उत्क्रमण करने पर उत्क्रान्त होता है, स्थित रहने पर स्थित होता है। वस्तुतः उसका उत्क्रमण या स्थिति वास्तविक नहीं अपितु इन्द्रियादि उपाधियां के कारण है, वैसे ही जैसे घड़े के चलने पर घड़े का आकाश भी चलता हुआ मालूम होता है। विमूढ़ लोग इन क्रियाओं में उसके तात्त्विक रूप को नहीं जान पाते। वह यही समझते हैं कि आत्मा ही यह सब कर रहा है। जो ज्ञानी हैं वे समझ जाते हैं कि ये उपाधि के धर्म आत्मा पर आरोपित हो रहे हैं, वस्तुतः तो आत्मा अकर्ता है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न कर लिया है उन्हें तो सर्वत्र आत्मदर्शन होता है, परन्तु जिनका ऐसा प्रयत्न नहीं हुआ है, वे यदि सब कार्यों में आत्मदर्शन का प्रयास भी करें तो क्योंकि उनके राग-द्वेष, काम, क्रोधादि का शमन नहीं हुआ है, अतः उन्हें इस प्रयत्न से कोई लाभ नहीं हो सकता। शरद ऋतु में जल के होने पर भी बीज बो देने से फल नहीं निकलेंगे। अकृतात्मा पुरुष यदि अनेक प्रकार की दीक्षाएं ले लेता है तो भी किसी संप्रदाय की दीक्षा ले लेने मात्र से उसके बाहरी वेश विन्यास में भले ही विशेषता आ जाय, उसे कोई पारमार्थिक विशेष लाभ उससे हो जायगा इसकी संभावना तो व्यर्थ है।

आगे आत्मदर्शी योगी और अनात्मदर्शी अकृतात्मा का ही विवरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि–

'प्रयत्न करने वाले योगीगण अपनी बुद्धि में अवस्थित आत्मा को देखते हैं, जो अकृतात्मा हैं वे यत्न करते हुए भी इसे नहीं देख पाते। (११)

योगी समझ लेता है कि 'यह मैं हूं।' उसे आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। परन्तु जो अकृतात्मा हैं, जिनकी आत्मा का संस्कार नहीं हुआ, जो अपने दुश्चरित्रों से उपरत नहीं हुए, जिनके दर्पादि शान्त नहीं हुए वे अविवेकी पुरुष इसे नहीं देख पाते।

श्रीरामानुजाचार्य ने योगियों को देखने का अभिप्राय लिखा है कि वे शरीर से पृथग्भूत आत्मा का दर्शन करते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य ने योगी का अर्थ चित्तवृत्ति का निरोध करने वाले किया है। योग का अर्थ होता है चित्तवृत्ति का निरोध '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**'

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि योगी गण आत्मा को उत्क्रान्ति आदि क्रियाओं से हीन देखते हैं। उन्होंने 'अकृतात्मानः' का अर्थ किया है कि जिनका चित्त यज्ञादि से शुद्ध नहीं हुआ है।

# तेईसवां-पुष्प

**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्**
**यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् । १२।**
**गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा**
**पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः । १३।**
**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।**
**प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् । १४।**
**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**
**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् । १५।**

'जो तेज सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में संस्थित रहता हुआ समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, उसे हे अर्जुन तुम मेरा तेज समझो' (१२)

पहिले यह कहा गया था कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि परमतत्त्व को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। वे असमर्थ क्यों हैं, उसका कारण यहां बतलाया जा रहा है कि इनमें जो तेज है, वह परमेश्वर का ही तेज है, वह उन्हें ही क्या प्रकाशित करेगा। क्या दीपक से सूर्य दिखाई देता है। श्रीशंकराचार्य ने आगे के चार पद्यों में भगवान् की विभूतियों का संक्षेप से वर्णन माना है। सूर्य, चन्द्र आदि में जो चैतन्यात्मक ज्योति है, वह भगवान् का ही रूप है। श्रीशंराचार्य ने यह प्रश्न उठाया है कि चैतन्यात्मक ज्योति तो स्थावर और जंगम सभी पदार्थों में समान है, फिर यहां सूर्य, चन्द्र आदि विशेष पदार्थों का परिगणन क्यों किया। क्या इनके अतिरिक्त स्थानों में चैतन्यात्मक ज्योति नहीं है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य लिखते हैं कि आदित्य आदि में सत्त्व गुण की अत्यन्त प्रखरता होने से वहां चैतन्य अत्यन्त स्फुटित है, अतः उदाहरण के रूप में उन्हें ही उपस्थित किया है। जैसे मुख का प्रतिबिम्ब शीशे में ही गृहीत होता है, लकड़ी, पत्थर आदि में नहीं, यद्यपि मुख लकड़ी पत्थर आदि के भी सामने जाता है, उसी प्रकार आदित्य आदि सत्त्व प्रमुख पिण्डों में चैतन्य ज्योति की प्रस्फुटितता अत्यधिक है। वैसे चैतन्य ज्योति सर्वत्र समान रूप से ही परिव्याप्त रहती है।

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने भी कहा है–''प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना''।

यदि आदित्य आदि में प्रकाशित होने वाला तेज परमेश्वर का है तो वह आदित्य आदि को कैसे प्राप्त हो गया, इसका उत्तर देते हुए श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं कि आदित्य आदि ने परमेश्वर की आराधना से वह उनसे प्राप्त किया है। सूर्य चन्द्र आदि में प्रतिष्ठित तेज परमेश्वर का ही है इस आशय की अनेक श्रुतियां भी व्याख्याकारों ने उद्धृत की है।

श्रीपुरुषोत्तम जी ने "वह मेरा ही तेज है", इसका यह भी आशय लिखा है कि परमेश्वर की इच्छा के बिना सूर्य-चन्द्र आदि भी प्रकाश फैलाने में असमर्थ हैं।

उपनिषद् में एक आख्यायिका आती है कि एक बार असुरों पर विजय प्राप्त कर इन्द्र, अग्नि, वायु इन देवताओं को यह अभिमान हो गया कि असुरों को हमने ही परास्त किया। ये तीनों आपस में अपने को बड़ा तथा अधिक शक्तिशाली सिद्ध करने के लिए विवाद करने लगे। उसी समय इनके सामने एक यक्ष प्रकट हुआ जिसकी आकृति से यह न जाना जा सके कि वह मनुष्य, देव आदि कौन हैं, उसे ही संस्कृत में यक्ष कहा जाता है। इन्द्र आदि भी उसे देखकर पहिचानने में समर्थ न हो सके। तब इन्द्र ने अग्नि से उसके समीप जाकर उसका पता लगाने को कहा। अग्नि के समीप जाने पर यक्ष ने प्रश्न किया कि तुम कौन हो और क्या शक्ति रखते हो। "मैं अग्नि हूं और समस्त संसार को पल भर में जला देने की शक्ति रखता हूं," अग्नि का उत्तर था। यक्ष ने एक तिनका उसके सामने रखकर कहा कि इसे जला दो। अग्नि अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भी तिनके को न जला सका और वापस लौटकर यक्ष के पहिचानने में अपनी असमर्थता प्रकट करने लगा। इस बार इन्द्र ने वायु को भेजा। वायु ने भी यक्ष के प्रश्न पर कहा कि "मैं वायु हूं, समस्त संसार को क्षण भर में उड़ा देने की शक्ति रखता हूं," परन्तु यक्ष के दिये हुए तिनके को वह न उड़ा सका। तब इन्द्र स्वयं गया। इन्द्र ज्ञान का अधिष्ठाता माना गया है। उसे यह अभिमान है कि संसार में जो भी कुछ है वह उसके ज्ञान से बाहर नहीं रह सकता। उसके जाने पर वह यक्ष गायब हो गया और यह दिखा दिया कि तुम ज्ञान का अभिमान रखते हो परन्तु मुझे नहीं जान सकते। इसके बाद उमा भगवती के द्वारा उनको यह ज्ञान हुआ कि तुम अपनी अपनी शक्ति का अभिमान करके व्यर्थ विवाद करते हो, शक्ति का परमाधार तो परब्रह्म है। उसी की शक्ति की कुछ मात्रा तुमको मिली हुई है।

इस आख्यायिका से भी यही स्पष्ट होता है कि परमात्मा ही शक्ति या तेज का धन है, और उसी से थोड़ी थोड़ी शक्ति प्राप्त करके सूर्य चन्द्र आदि सम्पूर्ण चराचर को प्रकाशित करते हैं।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि आदित्य आदि शब्दों के द्वारा पिण्ड और उसके अभिमानी देवता दोनों का ग्रहण करना चाहिए।

श्रीशंकरानन्द ने लिखा है कि भगवान् तो स्वयं ही तेजो रूप हैं, तब 'मामकम्' का अर्थ सुसंगत करने के लिए 'राहु के सिर' वाला न्याय यहां भी लगा लेना चाहिए। अपने व्यापक रूप का वर्णन करते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि–"मैं अपने ओज से पृथ्वी में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण भूतों को धारण करता हूं, और रसात्मक सोम बनकर सभी औषधियों को पुष्ट करता हूं" (१३) "मैं वैश्वानर होकर प्राणियों के शरीर का आश्रय लेता हुआ प्राण और अपान से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूं"(१४) काम-रागादि से विवर्जित उस ईश्वरीय शक्ति के आधार पर ही पृथ्वी इतनी भारी होने पर भी नीचे गिरकर विदीर्ण हो जाने से बची हुई है। श्रुतियों में कहा गया है–

"**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा** (तै०सं० ४१।८)

"**सदाधारपृथिवीम्**" (ऋ० ८।७।३।१)

सभी औषधियों का पोषक सोम तत्त्व है। वही सर्व रसात्मक और सभी रसों का खजाना है। भगवान् स्वयं सोम बनकर सारी औषधियों को पुष्ट कर रहे हैं। सोम अमृत रसमय होता है, जिससे कि समस्त औषधियों को संजीवनी शक्ति प्राप्त होती है। श्रीनीलकण्ठ ने सोम का अर्थ जल किया है, जिस जल का सारभूत अंश रस कहलाता है।

उदरस्थ अग्नि का नाम वैश्वानर है। उपनिषद् में लिखा है–

"**अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते**"

(बृ०उ० ५।९।१)

अग्नि प्राण ओर अपान से संयुक्त होकर ही अन्न को पचाता है। भोज्य, भक्ष्य; लेह्य और चोष्य ये चार प्रकार के अन्न होते हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने खाद्य चोष्य, लेह्य और पेय ये चार अन्न कहे हैं। अपूप आदि जो दांतों से खाये जांय वह भक्ष्य हैं, जो केवल जिह्वा से आलोडन कर निगल जाया जाता है, वह सूप आदि भोज्य अन्न कहा गया है। जीभ पर रखकर जिसके रसमात्र का आस्वाद लिया जाय वे फल आदि लेह्य कहे जाते हैं। दाँतों से विदीर्ण करके रसमात्र का स्वाद लेकर अवशिष्ट जो फेंक दिया जाता है, वे गन्ना आदि चोष्य कहे जाते हैं।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि उपर्युक्त प्रकार से भोक्ता को भगवान् और भोज्य पदार्थों को सोमरूप समझने वाला व्यक्ति भोज्य पदार्थ के दोषों से उपलिप्त नहीं होता। श्रीशंकरानन्द ने पार्थिव, तैजस, आपोमय और वायव्य ये चार प्रकार के अन्न बतलाए हैं। उनमें मनुष्य आदि के लिए पार्थिव अन्न काम में आता है। चातकादि पक्षियों के लिए जलमय अन्न होता है। बालखिल्य आदि के लिए तैजस अन्न होता है, और सर्प आदि के लिए वायु ही अन्न के रूप में है। सभी प्राणियों के इन विविध प्रकार के अन्नों को उनकी जाठराग्नि के रूप में अवस्थित परम कृपालु भगवान् पचाते रहते हैं।

अग्रिम पद्य में भगवान् कहते हैं कि–

"मैं सभी प्राणियों के हृदय में सन्निविष्ट हूं। मुझ से ही स्मृति और ज्ञान तथा उनका अपोहन अर्थात् नाश भी होता है। सम्पूर्ण वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूं, वेदान्तों का कर्ता मैं हूं और वेदों का वेत्ता भी मैं ही हूं।' (१५)

पुण्य कर्मों वाले पुरुषों को अपने कर्मवश ज्ञान और स्मृति रहती है, और पाप कर्म वालों को उनका अपोहन अर्थात् नाश होता है। हृदय सभी प्राणियों के मध्यदेश में अवस्थित है, वहीं से ज्ञान का उदय होता है। 'सभी वेदों के द्वारा वेद्य मैं ही हूं', इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं कि वेदों में अग्नि, वायु, सोम, इन्द्र आदि देवताओं के मन्त्र बहुत अधिक हैं, और इन देवताओं का नियामक परमेश्वर ही है, अतः उन मन्त्रों के प्रतिपाद्य देवताओं का भी अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परब्रह्म ही वेदों के द्वारा परमवेद्य सिद्ध होता है। 'वेदान्तकृत्' का अर्थ करते हुए श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं कि वेदों के अन्त को करने वाला मैं ही हूं। अन्त का अर्थ होता है फल, वेद का अन्त अर्थात् वेद का फल। **'इन्द्रं यजेत्', 'वरुणं यजेत्'** इत्यादि जो वैदिक विधियां हैं, उन विधियों का फलप्रदाता परमेश्वर ही है, अतः वह 'वेदान्तकृत्' हुआ। माध्व भाष्य में वेदों के अर्थों के निर्णय करने वाले वेदान्त दर्शन को ही वेदान्त माना है, और उसी का कर्ता परमेश्वर को स्वीकार किया है। पूर्वानुभूत विषयों के संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं, विषयों और इन्द्रियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क से समुद्भूत ज्ञान को यहां ज्ञान कहा गया है। अपोहन का एक अर्थ तो स्मृति और ज्ञान का विनाश पहले दिखाया ही जा चुका है। कुछ विद्वान् अपोहन का अर्थ अज्ञान निवृत्ति भी मानते हैं। श्रीवल्लभाचार्य अपोहन का अर्थ करते हैं–अपकृष्ट ऊहन, उसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं कि यह प्रमाण इस प्रकार प्रवर्तित हो सकता है, ऐसी प्रमाणों की प्रवृत्ति की योग्यता और विषय सामग्री

के निरूपण से उत्पन्न प्रमाणों को पुष्ट करने वाला जो ज्ञान है वह अपोहन कहलाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये मुख्यत: चार प्रमाण माने गए हैं, जो यथार्थ ज्ञान के जनक होते हैं। इनमें से किस प्रमाण की प्रवृत्ति कब होती है यह निश्चय करना ही 'अपोहन' है।

वेदों के द्वारा वेद्य मैं ही हूं' इस अंश में श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि वेद प्रतिपादित इन्द्र आदि देवताओं में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित होने के कारण वेद मेरे ही प्रतिपादक हैं। परन्तु वे इस मत का खण्डन करते हैं कि अन्य देवता आदि के वेद वेद्यत्व को हटाकर केवल एक ब्रह्म का बोधन श्रुति को अभीष्ट है। जीव को ईश्वर का शाश्वत अंश मानने वाले श्री वल्लभाचार्य जी के सिद्धान्त में ब्रह्मज्ञान से अन्य देवताओं आदि के ज्ञान को बाधित करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे भगवान् के अंश रूप में अवस्थित हैं। उनका कथन है कि अध्यारोप और अपवाद जीव कल्पित हैं, वास्तविक नहीं। ब्रह्मसूत्रों में भगवान् बादरायण ने अध्यारोप और अपवाद की स्थापना की है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म पर संसार उसी रूप में आरोपित है जिस प्रकार रज्जु में सर्प। संसार पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या है। अत: संसार में से संसारत्व बुद्धि को हटाना अपवाद कहलाता है। इसी को यहां पद्य में अपोहन अर्थात् निकृष्ट तर्क कहा गया है। यह निकृष्ट तर्क इसलिए है कि भगवान् के द्वारा उत्पादित जो संसार है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है, उस संसार में मिथ्यात्व की बुद्धि करना, यह निकृष्ट तर्क ही है। भगवान् कहते हैं कि यह अपोहन भी मुझसे ही प्रादुर्भूत हुआ है। उसका तात्पर्य श्रीवल्लभाचार्य ने लगाया है कि भगवान् ने ही बादरायण के रूप में ब्रह्म सूत्रों का निर्माण कर इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है और अध्यारोप और अपवाद को प्रतिष्ठित किया है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए आगे उन्होंने अपने आपको '**वेदान्तकृत्**' भी कहा है। इसी प्रकार यहां श्री वल्लभाचार्य ने संसार को वास्तविक और संसार के मिथ्यात्व सिद्धान्त को अपोहन कहा है। इस पर प्रकारान्तर से विचार करते हुए वे कहते हैं कि अध्यारोप और अपोहन जीवकल्पित है या नहीं। नहीं है ऐसा कहने पर श्रुति विरोध होगा। श्रुतियां उन्हें जीवकल्पित कह रही हैं। इनको जीवकल्पित मान लेने में इष्टापत्ति है, संसार को मिथ्या कहना या संसार का मिथ्या रूप जीवकल्पित है। परमेश्वर के द्वारा विनिर्मित संसार मिथ्या कैसे हो सकता है। संसार के दो रूप हैं, एक ईश्वरोत्पादित और दूसरा जीव के द्वारा समुत्पादित। जीव कल्पित संसार अध्यारोपापवाद रूप है। ईश्वरोत्पादित संसार सत्य है, वह मिथ्या नहीं हो सकता। उसका ईश्वर के द्वारा उत्पादित होना ही इसके लिए यथेष्ट प्रमाण है। यदि कहो कि वह ईश्वर के द्वारा नहीं अपितु माया के द्वारा उत्पादित है, यह समीचीन नहीं,

क्योंकि ब्रह्मवाद में माया कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, वह स्वतः ईश्वर से ही प्रादुर्भूत है। ब्रह्मसूत्रों और उसके श्रीवल्लभाचार्यकृत भाष्य में माया की पृथकता का खण्डन कर दिया गया है। यह 'वेदान्तकृत्' पर श्रीवल्लभाचार्य का आशय है। श्रीनीलकण्ठ ने कहा है कि वेदान्तकर्ता और वेदवेत्ता का नाम ग्रहण कर भगवान् ने यह अभिव्यंजित किया है कि ये मेरे विभूति रूप हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार गीता का व्याख्यान करने वाले श्री अभिनव गुप्ताचार्य ने लिखा है कि परमात्मा के विमर्श से जो संसार समुत्पन्न होता है, वह विश्व की महासृष्टि ही ज्ञान है। अपोहन विकल्प ज्ञानात्मक है जो पाशव सृष्टि रूप मायामय प्रमाता के लिए होता है। ईश्वर की शक्तियां जीव में संकुचित होकर आती हैं, यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सिद्धान्त है। ईश्वर में जो ज्ञान शक्ति है, उसे यहां ज्ञान शब्द से ही कहा गया, जीव में वह ज्ञान शक्ति संकुचित होकर पहुंचती है, उसे यहां अपोहन कहा गया है। स्मरण का तात्पर्य प्रतिसंहृत जो विश्व है, उसका पुनः अवभास होना है। इस प्रकार स्मृति, ज्ञान और अपोहन इन तीन शब्दों से सभी प्रकार का ज्ञान ले लिया गया है। इससे भगवान् सर्वज्ञ हैं और वे संसार के स्वतन्त्रकर्ता हैं, यह बात प्रतिफलित हो जाती है। वेद और वेदान्त के कर्ता का अभिप्राय यह है कि कर्म उनके फल और उनके सम्बन्ध के द्वारा समस्त संसार के निर्माण और उनके उन्मूलन में भगवान् ही समर्थ हैं। किसी व्याख्याकार ने यहां पद्य में पठित 'एव' शब्द को चार प्रकार से लगाया है–'**वेदैरेवाहं वेद्यः**' मैं वेदों के ही द्वारा वेद्य हूं, अर्थात् वेदों के अतिरिक्त और प्रकार से वेद्य नहीं हूं। '**सर्वैरेव वैदैरहं वेद्यः**' 'सभी वेदों से मैं वेद्य हूं', वेद चार हैं, उनमें से किसी एक वेद के द्वारा नहीं अपितु सभी वेदों के द्वारा मैं वेद्य हूं। '**सर्वैर्वेदैरहमेव वेद्यः**' सब वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूं' अर्थात् मेरे अतिरिक्त वेदों के द्वारा और कुछ भी वेद्य नहीं। '**सर्वैर्वेदैरहं वेद्य एव**' सभी वेदों के द्वारा मैं अवश्य वेद्य बनता हूं अर्थात् मेरे ज्ञान के लिए वेदों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने पद्य का पूर्वार्द्ध जीवात्मा की ओर तथा उत्तरार्ध परमात्मा की ओर लगाया है। जीवात्मा ही प्राणियों के हृदय में प्रवेश करता है, आत्मा के हृदय में प्रविष्ट हो जाने के कारण ही प्राणी को पूर्व जन्म की स्मृति हो जाती है। योगी गण जन्मान्तर का भी स्मरण कर लेते हैं। विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न ज्ञान भी हृदय प्रविष्ट आत्मा के द्वारा ही होता है। योगियों को विप्रकृष्ट देश काल का भी जो ज्ञान हो जाता है उसका कारण भी हृदयनिविष्ट आत्मा ही है। उत्तरार्ध में सभी वेदों के द्वारा वेद्यता और वेदान्तकर्तृत्व और वेदवित् होना परब्रह्म का निरूपक है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि वेदान्त के लिए तो भगवान् ने अपने आप को कर्ता कहा,

परन्तु वेद के लिए वेत्ता ही कहा है। इससे वेद के निर्माता भगवान् अपने आपको नहीं कहते यह वेदों के प्रति अनादिता और अपौरुषेयता का पोषक है। जो विद्वान् वेदों को महर्षिकृत् कहते हैं वे भी यह तो मानते हैं कि ईश्वर कृपा से ही महर्षियों के हृदय में वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। इसलिए उनके मत में भी वेद पुरुष विनिर्मित नहीं होते। 'वेदविदेव', इसका दूसरा तात्पर्य यह भी हो सकता है कि वेद किसका विधान करता है और किसका अनुवाद करता है इत्यादि बातों को मैं ही जानता हूं। जैसा कि श्री भागवत में लिखा गया है कि वेद क्या विधान क्या अविधान करता है, इसको मेरे से अतिरिक्त कोई नहीं जानता। वहां यह भी कहा गया है कि सब जगह मेरा ही विधान है, मेरा ही अविधान है, इस तरह मेरा प्रतिपादन करके वेद अन्त में मुझ में ही सबका निषेध करके कृतकृत्य हो जाता है। वह यहां भी कहा गया है कि "वैदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यादि।

इसका तात्पर्य है कि परमार्थ दृष्टि से वेद परब्रह्म के भी प्रतिपादक हैं, अवान्तर तात्पर्य से उनके द्वारा इन्द्र, वरुण आदि देवताओं को भी वेदों में प्रतिपाद्य मान लिया जाता है। इस सब प्रकरण का तात्पर्य अद्वैतवाद में ही है, अर्थात् भगवान् यह अपने मुख से कह रहे हैं कि सब कुछ मैं ही हूं, अर्थात् मेरे से पृथक् कुछ भी नहीं है।

---

# चौबीसवां-पुष्प

**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**
**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।१५ । १६,**
**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**
**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः । १५ । १७**

'लोक में क्षर और अक्षर ये दो ही पुरुष हैं, समस्त भूत क्षर पुरुष हैं, कूटस्थ को अक्षर पुरुष कहा जाता है। १६ । उत्तम पुरुष तो परमात्मा नाम से उदाहृत इनसे पृथक् है जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका भरण करता है।' १६। इस प्रकार प्रकृति का वर्णन अनेक प्रकार से करते हुए अन्त में रहस्य विषय का स्पष्ट कथन यहां कर देते हैं।

श्रीशंकराचार्य पूर्व से प्रस्तुत पद्यों की संगति लगाते हुए कहते हैं कि पहिले सूर्य चन्द्र आदि विशेष विभूतियों का वर्णन किया गया था और अब प्रस्तुत पद्यों के द्वारा उपाधि शून्य परमेश्वर का तात्त्विक या स्वरूपतः वर्णन किया जा रहा है। यद्यपि ब्रह्म का स्वरूप वर्णन संभव नहीं है, यह वेदान्त सम्मत सिद्धान्त है, उसका कार्यों के द्वारा परिचय देते हुए तटस्थ लक्षण ही किया जा सकता है। परन्तु क्षर, अक्षर, अव्यय पुरुषों की वैज्ञानिक व्याख्या, जिसका अभी आगे चलकर हमें विवरण करना है, उसके अनुसार जगत् के मौलिक तत्त्वों के रूप में इन पुरुषों को गृहीत कर लेने पर बिना उनका विश्लेषण कर समझे सृष्टि विज्ञान समझ में ही नहीं आ सकता। हां, इतना फिर भी कहना ही पड़ेगा कि शाब्दिक ज्ञान की सीमा अवश्य है। उससे वस्तु का पूरा विवरण नहीं किया जा सकता। वह तो केवल अनुभवैक वेद्य है।

भगवान् ने दो पुरुष बतलाए जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है कि जगत् के सम्पूर्ण दृश्य रूप को यदि हम दो राशियों में विभक्त करें तो वे नामतः क्षर और अक्षर कहलाएंगे। क्षर का अर्थ है क्षरणशील, नष्ट होने वाला। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये जो पांच महाभूत हैं, इन्हीं को भगवान् ने क्षर कहा है। ये भूत विनाशशील होते हैं। पृथ्वी या पृथ्वी से बने पदार्थ, जल या उससे बने पदार्थ, तेज या उससे बने पदार्थ, वायु, आकाश ये सब विनाशशील होने के कारण ही क्षर कहे गए हैं। जब इनकी उत्पत्ति होती है तो इनका विनाश भी निश्चित है। '**यज्जन्यं तदनित्यम्**' जो उत्पन्न होता है, वह विनष्ट भी अवश्य होता है यह दर्शनों का सर्वमान्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार उत्पत्तिशील भूतों का विनष्ट होना निश्चित होने के कारण वे विनाशशील,

अतएव क्षरणशील या क्षर पुरुष कहे गए। जगत् में इस क्षर पुरुष के अतिरिक्त दूसरा तत्त्व भी मिलता है, जिसे पद्य में अक्षर कहा गया और उसका परिचय देने के लिए उसे कूटस्थ बतलाया गया। वह क्षर से विपरीत धर्म वाला है। क्षर तो विनाशशील है और अक्षर विनाश रहित। श्रीशंकराचार्य अक्षर को भगवान् की मायाशक्ति मानते हैं। मायाशक्ति ही क्षर पुरुष की उत्पत्ति का बीज है। उसी मायाशक्ति से समस्त क्षर पुरुष प्रादुर्भूत होता है। माया भगवान् की शक्ति होने के कारण नित्य ही मानी जाती है। परब्रह्म जब नित्य है तो परब्रह्म की शक्ति भी नित्य ही होगी। इसीलिए यहां उसे क्षर से विपरीत स्वभाव वाली कहा गया। भगवान् की माया ही अक्षर पुरुष है। वही माया या अक्षर पुरुष संसार के समस्त प्राणिवर्ग के द्वारा सम्पादित होने वाले विविध काम्य-कर्मों से समुत्पन्न संस्कारों का आश्रय बनती है। कूटस्थ के श्रीशंकराचार्य ने दो अर्थ किये हैं। कूट का एक अर्थ होता है राशि। जो राशि के समान स्थित हो वह कूटस्थ कहा जाता है। इसका यहां तात्पर्य यही होगा कि अक्षर पुरुष और क्षर पुरुष ये प्रत्यक्ष परिदृश्य-मान संसार की दो पृथक् पृथक् राशि के रूप में परिस्थित हैं और उनमें भी अक्षर पुरुष क्षर के ऊपर प्रतिष्ठित है, अत: वह क्षर पुरुष की राशि या ढेर पर प्रतिष्ठित होने के कारण कूटस्थ कहा गया है। दूसरा अर्थ कूटस्थ का श्रीशंकराचार्य ने कुटिलता किया है। कूट, माया, वंचना, जिह्मता, कुटिलता ये सब पर्याय एक ही बात को बतलाने वाले हैं। इसके अनुसार अनेक प्रकार की माया वंचना या विविध मिथ्या रूपों में स्थित रहने वाला कूटस्थ हुआ। भगवान् की जो माया शक्ति है जिसे अभी अक्षर कहा गया है, वह तो माया ही है, उसका जितना भी विजृम्भण है, सब मिथ्या है। क्योंकि वह सदैव एक रूप से समवस्थित ब्रह्म को विभिन्न रूपों में दिखाती है, इसी से उसके कार्यों का मिथ्या होना स्पष्ट है। श्रीशंकराचार्य ने उसकी अक्षरता या क्षरणशीलता के अभाव का हेतु बतलाते हुए लिखा है कि संसार के बीजों के अनन्त होने से वह क्षीण नहीं होता। संसार के बीजों की कोई इयत्ता नहीं है। संसार के इन समस्त बीजों का खजाना ही अक्षर है। वह अक्षर है क्योंकि वह अक्षय है। संसार के दृश्यमान अनन्त रूपों से ही संसार बीजों के भण्डार की अक्षरता या अक्षयता का आसानी से पता लग जाता है। क्षर और अक्षर नामक दोनों पुरुषों से विलक्षण जगत् का निर्माता एक तीसरा पुरुष और है, जिसे पद्य में परमात्मा, अव्यय और ईश्वर शब्दों से कहा गया है। प्रतिबिम्बभूत जीवात्मा से पृथक् बिम्ब रूप होने के कारण वह उनसे परम अर्थात् उत्कृष्ट है, अत: वह परमात्मा कहा गया है। वह विनाश या व्यय से सर्वथा विरहित है, अत: उसे अव्यय कहते हैं। उसके लिए ही उपनिषदों में कहा गया है–

## "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"

'पूर्ण का पूर्ण निकालने पर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।' यही उसका अव्ययत्व है। वह इनसे अन्य है, इसका अर्थ है, क्षर और अक्षर नाम की दोनों उपाधियों से वह शून्य है। इसीलिए वह इन उपाधियों के दोषों से भी असंस्पृष्ट ही रहता है। वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला है। क्षर और अक्षर इन दोनों पुरुषों से उत्कृष्ट होने के कारण उसे उत्तम पुरुष कहा गया है। वेदान्त अर्थात् उपनिषद् और सूत्रों में परमात्मा का ऐसा ही स्वरूप निर्दिष्ट हुआ है। भूः, भुवः और स्वः इन तीनों लोकों में वह अपनी चैतन्य शक्ति से प्रवेश करके इनके स्वरूप का विधारण करता है, वह अव्यय है, अर्थात् विनाश रहित है, और सबका ईशन करने के कारण वह ईश्वर कहा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य के अनुसार अचेतन या जड़ पदार्थों में प्रतिबिम्बित जो जीवात्मा है, उसे ही क्षर पुरुष कहते हैं जो कि ब्रह्म से लेकर स्तम्ब तक फैला हुआ है। वह सभी भूतों से संसृष्ट है, अतः जीवात्मा से संसृष्ट जो भूत हैं उन्हें ही यहां क्षर पुरुष कहा गया है। भूत यद्यपि अनेक हैं, तो भी उनकी संसर्गरूप उपाधि एक ही है, अतः पुरुष में एकत्व का निर्देश है। इसके अतिरिक्त जो अक्षर पुरुष यहां बतलाया गया है वह अचेतन के संसर्ग से सर्वथा शून्य है, वह मुक्तात्मा कूटस्थ कहा गया है। मुक्तावस्था को हो या मुक्तात्मा को ही इनके मत में यहां अक्षर कहा गया है। वह कूटस्थ क्यों है इसका स्पष्टीकरण करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि वह अचेतन या जड़ के संसर्ग से दूर रहने के कारण अचेतन के ही परिणाम विशेष जो ब्रह्मा आदि हैं, उनके देह से विलक्षण स्वरूप वाला होने के कारण ही कूटस्थ कहा जाता है। मुक्तात्मा भी अनेक हैं, परन्तु अचेतन की अभाव रूप एक उपाधि से संयुक्त होने के कारण ही यहां भी एकत्व निर्देश है। क्योंकि मुक्तात्मा तो सृष्टि से अबतक अनेक हुए होंगे। स्वयं भगवान् ने पहिले उनके लिए बहुवचन का निर्देश किया है–

**"बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः"**

**"मम साधर्म्यमागताः**
**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च"**

इन पद्यों में भगवत्स्वरूप बन जाने वाले व्यक्तियों के लिए बहुवचन का प्रयोग यह बतलाता है कि मुक्तावस्था भी अनेकों को प्राप्त हो चुकी थी। अतः अचेतन के संसर्ग के अभाव की एक उपाधि से युक्त होने के कारण ही यहां एकवचन का प्रयोग

करना सुसंगत है। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्य के अनुसार बद्ध पुरुष को क्षर और मुक्त पुरुष को अक्षर कहा जाता है। इन दोनों बद्ध और मुक्त पुरुषों से भी विलक्षण तीसरा जो पुरुष है, उसे परमात्मा कहते हैं। सभी श्रुतियों के द्वारा यही प्रतिपादित होता है, वह उत्तम पुरुष परमात्मा बद्ध और मुक्त पुरुषों से विलक्षण है। अचेतन, उसमें संसृष्ट चेतन और मुक्त ये ही तीनों लोक पद्य में कहे गए हैं। अव्यय पुरुष तीनों लोकों का भरण करने वाला बतलाया गया है, अतः वह इन तीनों से पृथक् है। इनके साथ उसका व्यय नहीं होता अत: वह अव्यय है और इनका ईशन करने के कारण ईश्वर है यह तो स्पष्ट हो ही चुका है।

माध्वभाष्य में भूतों को क्षर और प्रकृति को अक्षर कहा गया है।

पैशाच भाष्य में उत्तम पुरुष की व्याख्या में लिखा है कि इस उत्तम पुरुष से जगत् पूर्ण रहता है।

ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में अन्य व्याख्याओं की आलोचना की गई है। श्रीधरस्वामी ने अक्षर को चेतन जीव बतलाया है, परन्तु आनन्दगिरि के अनुसार जीव ही पुरुषोत्तम है। अत: अक्षर चेतन जीव नहीं हो सकता। उन्होंने श्रीरामानुजाचार्य के इस व्याख्यान को भी असंगत बतलाया है कि क्षर पुरुष बद्ध जीव है और अक्षर मुक्त जीव है। क्षर को भूत कहा गया है। भूत पंच महाभूत का वाचक शब्द है। बद्ध जीव का यह अर्थ माना जाय कि जो अचेतन पदार्थ हैं वही बद्ध जीव है, तो ऐसा अर्थ करना कहीं भी युक्ति युक्त नहीं कहा गया। अक्षर को जो मुक्त जीव कहा गया है उसका भी खण्डन करते हुए ब्रह्मानन्द गिरि व्याख्या में कहा गया है कि मुक्त जीव तो परमेश्वर के साथ एक रूप हो जाते हैं ऐसा श्रीरामानुजाचार्य भी मानते हैं। फिर यदि अक्षर पुरुष का अर्थ मुक्त जीव किया जायगा तब परमेश्वर को उससे अन्य उत्तम पुरुष अव्यय और परमात्मा कहना कैसे संगत होगा। क्योंकि मुक्त जीव और परमात्मा तो एक ही हैं। **'निरंजनः परमं साम्यमुपैति'** (मु०उ० ३।१।३) इत्यादि श्रुतियों में मुक्तात्मा परमेश्वर के साथ परम साम्य को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसा कहा गया है। यदि यह कहो कि मुक्तात्माओं की भी अनेक श्रेणियां हैं। उच्च श्रेणी के मुक्तात्मा परमेश्वर से अभिन्न हो जाते हैं, और उनसे नीची श्रेणी में संस्थित मुक्तात्मा क्षर पुरुष की परिधि से तो ऊपर उठ जाते हैं परन्तु परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त नहीं करते, मध्यम अवस्था में ही स्थित रहते हैं, उन्हें ही अक्षर कहा जाता है तो इस प्रकार के कथन में कोई प्रमाण नहीं मिलता। मुक्तात्माओं में भी श्रेणियों के तारतम्य की कल्पना कहीं नहीं देखी जाती। यदि यह कहा जाय कि श्रुति में जो मुक्तात्मा और परब्रह्म का साम्य माना गया

है वह केवल आनन्दांश को लेकर ही है, न कि पूरे अंशों में उन दोनों का साम्य विवक्षित है। क्योंकि प्रलय काल में समस्त प्रपंच के लीन हो जाने पर मुक्तात्मा भी लीन हो जाते हैं, परन्तु परब्रह्म शेष रहता है। इसी प्रकार संसार की रचना करना भी परमेश्वर का ही कार्य है अन्य का नहीं। इन बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुक्तात्मा और परब्रह्म में जिस साम्य का प्रतिपादन श्रुतियों में हुआ है, वह केवल आनन्दांश में ही है, सर्वांश में नहीं और ऐसा होने पर परमात्मा और मुक्तात्मा में आनन्दांश के अतिरिक्त अन्य अंशों को लेकर तो वैषम्य बना ही रहा, अतः मुक्तात्मा को अक्षर पुरुष के रूप में समझना युक्तियुक्त है और परमात्मा को उससे भिन्न कहने का अभिप्राय भी आनन्दांश के अतिरिक्त अन्य अंशों की दृष्टि को ध्यान में लेने से समझ में आ जाता है। इसका खण्डन करते हुए उक्त व्याख्याकार लिखते हैं कि ऐसा मान लेने पर तो राजा और उसके भृत्य की तरह ही आनन्दांश में भी तारतम्य अवश्य माना होगा। राजा के भृत्य को भी आनन्द तो अवश्य प्राप्त होता है परन्तु राजा की अपेक्षा उसका आनन्द कम ही रहेगा। राजा के और भृत्य के आनन्द की एकता तो तभी होगी जब भृत्य भी राजा हो जाय और राजा के सभी अधिकार उसे भी प्राप्त हो जायं। यही बात यहां भी है कि मुक्तात्मा को परमेश्वर का आनन्द तभी होगा जब वह परमेश्वर ही हो जाय। अन्य बातों में तो वह परमेश्वर के समान न हो और आनन्द उसे परमेश्वर का ही मिले यह संभव नहीं है। अतः मुक्तात्मा के विश्य में श्रीरामानुजाचार्य का जो सिद्धान्त है वह ठीक नहीं, ऐसा उक्त व्याख्या का आशय है।

इसी प्रकार माध्व भाष्य में अक्षर को महालक्ष्मी बतलाया गया है वह भी अयुक्त है। क्योंकि महालक्ष्मी परमात्मा से अभिन्न ही है, ऐसी स्थिति में उससे अतिरिक्त परमात्मा का उत्तम पुरुष के रूप में पृथक् निर्देश करना उपयुक्त नहीं होगा। यदि अक्षर पदवाच्या महालक्ष्मी को परब्रह्म से अभिन्न न मानकर पृथक् ही माना जाय तब वह भी जीव रूप ही सिद्ध होगी और तब उसे क्षर पुरुष के अन्तर्गत ही मानना उपयुक्त होगा। यदि यह कहो कि अन्य जीवों से उत्कृष्ट होने के कारण महालक्ष्मी का अक्षर के रूप में पृथक् निर्देश किया गया है, तो यह कथन भी समीचीन नहीं, क्योंकि उसके रूप में तो यहां भगवान् का ही निर्देश करना प्रकरण प्राप्त है और उन्हीं का निर्देश पुरुषोत्तम के रूप में हुआ भी है। अतः श्रीशंकराचार्य के अनुसार माया की कारण रूप उपाधि ही अक्षर पुरुष को मानना युक्तियुक्त है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि ये पुरुष न तो स्त्री प्रकृति वाले हैं और न केवल जड़ प्रकृति वाले हैं, क्योंकि इनका निर्देश यहां पुरुष शब्द से हुआ है। समस्त जीव

जो कि भगवान् के अंश हैं और अचेतन प्रकृति से संसृष्ट हैं, यहां क्षर कहे गए हैं। भूत वे इसलिए हैं कि भवन अर्थात् उत्पत्ति आदि क्रियाओं के वे विषय बनते हैं। भगवान् का जो धाम है, वही अक्षर पुरुष कहा गया है। वह कूटस्थ है, इसका तात्पर्य है कि वह विशुद्ध है, उसमें सांसारिक दोषों का संस्पर्श नहीं है। वही समस्त संसार का मूल है। धाम को पुरुष कहने का एक अभिप्राय यह भी है कि वह सच्चिदानन्द रूप है। वह भूत समुदाय रूप कूट अर्थात् समूह में स्थित है इसलिए भी उसे कूटस्थ कहा गया है। यह मुक्ति के द्वारा प्राप्त होता है।

**"बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः"**

इत्यादि पद्यों में आध्यात्मिक रूप से उस अक्षर का निर्देश हुआ है। इनसे अन्य जो अव्यय पुरुष बतलाया गया है, वह ईश्वर है अर्थात् विभिन्न और परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय भूत है, जैसा कि पूर्व प्रवचनों में कहा गया है कि श्रीवल्लभाचार्य परमेश्वर को परस्पर विरुद्ध विभिन्न धर्मों का आश्रय मानते हैं। वह पुरुषोत्तम इसलिए है कि समस्त संसार में, जिसे पद्य में तीन लोक कहा गया है, उसके कण-कण में प्रविष्ट होकर उसका वह धारण कर रहा है। पुरुष शब्द की '**पुरिशेते**', 'जो पुर में शयन करे वह पुरुष होता है' यह व्युत्पत्ति है। उसके अनुसार वह समस्त संसार रूपी पुर में शयन करता है। शयन का अर्थ धारण करना ही है। किसी मकान में कोई पुरुष शयन करता है तो इसका यह तात्पर्य होता है कि वह उस मकान के स्वामित्व को धारण किये हुए है। यद्यपि धारण करने के अर्थ में अन्य शब्दों का भी व्यवहार हो सकता है, परन्तु अत्यन्त आत्मीयता को अभिव्यक्त करने के लिए 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति में शयन का ही निवेश मिलता है। श्लोक में तो धारण करने के अर्थ को बतलाने के लिए '**बिभर्ति**' शब्द स्पष्ट रूप से आ ही गया है। आगे उन्होंने यह भी प्रश्न उठाया है कि अक्षर पुरुष को अभी भगवान् का धाम बतलाकर उसे सच्चिदानन्द रूप कहा गया, तब अक्षर पुरुष और परब्रह्म में भेद ही क्या रहा। इसका उत्तर देने के लिए उन्होंने परमात्मा शब्द को उपस्थित किया है और कहा है कि अक्षर तो धाम है और परमात्मा उसके अधिदेवता हैं। उदाहरण के लिए जिस प्रकार जल प्रवाह रूप गंगा को तो नदी कहा जाता है, वह तो उसका बाह्य रूप है, परन्तु उसके अधिदेवता के रूप में गंगा की अधिष्ठात्री देवी का ध्यान सर्वत्र विहित है। उसी प्रकार यहां भी समझ लेना चाहिए। पुरुषोत्तम शब्द का यह भी आशय अन्य व्याख्याओं के समान उन्होंने भी प्रकट कर दिया है कि नित्यबद्ध और मुक्त पुरुषों से अव्यय पुरुष की उत्कृष्टता दिखाने में इसका तात्पर्य है।

श्रीपुरुषोत्तम जी की अमृत तरंगिणी के अनुसार क्षर और अक्षर का निर्देश

भगवान् के पुरुषोत्तम रूप को अभिव्यक्त करने के लिए ही यहां किया गया है। क्षर पुरुष भगवान् की लीला का उपायभूत है, और अक्षर उनमें अनुप्रविष्ट भगवान् का चरण रूप है। उत्तम पुरुष का तात्पर्य है कि वह सबसे अज्ञात है और सबसे अतिरिक्त है। उसे श्रुति आदि में सबसे उत्कृष्ट अतः परमात्मा कहा गया है। वह रसों का अनुभव करने के लिए तीनों लोकों में आविर्भूत होता है, उनका धारण और पोषण करता है। इस कार्य में उसके स्वरूप में कोई न्यूनता या वृद्धि नहीं होती इसीलिए उसे अव्यय कहा गया है। न्यूनता या वृद्धि के बिना धारण कैसे हो सकेगा इसका उत्तर देने के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका कि अर्थ है कि वह सभी प्रकार से कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि सब भूतों में ईश्वर के प्रतिबिम्ब के रूप में अनुप्रविष्ट और भूतों का विनाश होने पर विनष्ट हो जाने वाला, जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान क्षर पुरुष है। अक्षर पुरुष माया रूपी उपाधि वाला है। वह कर्मों से समुत्पन्न न होने के कारण कूटस्थ कहा गया है। वह भूतों के विनष्ट होने पर विनाश को प्राप्त नही हो जाता। वह क्षरण को अर्थात् स्वरूप से विच्युति को प्राप्त नहीं, इसीलिए अक्षर कहा गया है। इन दोनों, कार्योपाधिक्षर और कारणोपाधि अक्षर से अतिरिक्त सर्व उपाधियों से शून्य जो पुरुष है, वह अव्यय पुरुष है, वही परमात्मा कहा गया है। वही माया का ईशन करता हुआ उत्तम, मध्यम और अधम शरीर रूप तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर इनका धारण करता है। इस पर भी सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व जो ईश्वर और जीव के धर्म हैं उनसे उसका व्यय नहीं होता, अतः वह अव्यय है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि संसार में अप्रबुद्ध स्वभाव वाले मूर्ख पुरुष भी पृथ्वी आदि पांच भूतों से विनिर्मित शरीर को चेतन और क्षर रूप समझते हैं, अतः इस संसारी जनों की मूढ़ता के कारण उनकी द्वैत बुद्धि निवृत्त नहीं होती।

भगवान् तो सभी पर अनुग्रह करने के कारण द्वैत बुद्धि को विनष्ट करके सम्पूर्ण लोक में व्यापक के रूप में ज्ञातव्य हैं। इसीलिए उन्हें क्षर से अतीत कहा गया है। क्योंकि क्षर जो भूत हैं, वे जड़ हैं। वे अक्षर से भी अतीत इसलिए हैं कि आत्मा का प्रबुद्ध होना ही अक्षर का अतिक्रमण है। यदि आत्मा को प्रबुद्ध न माना जायगा तो वह सर्व व्यापक कैसे होगा। इस प्रकार सब कुछ मुझे ही समझते हुए मूर्ति क्रिया और ज्ञानात्मक रूप से ब्रह्म तत्त्व की उपासना करने वाला पुरुष मेरा ही भजन करता है यह भगवान् का यहाँ आशय है।

# पच्चीसवां-पुष्प

## वैज्ञानिक विवेचन

श्रीविद्यावाचस्पतिमधुसूदन जी ने अपने ग्रन्थों में प्राय: इन्हीं तीन पुरुषों को आधार बनाया है। इसलिए उनके मत का भी संक्षेप यहां देना आवश्यक प्रतीत होता है। उसका सारांश लिखा जाता है। जैसा कि हम पूर्व प्रवचन में कह आये हैं, अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष भारतीय सृष्टि विज्ञान के मूलाधार हैं। इनमें से प्रत्येक की पांच-पांच कलाओं का वर्णन श्रुतियों में प्राप्त होता है।

अव्यय पुरुष की पांच कलाओं के नाम आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् हैं। इनमें शक्ति के द्वारा परिच्छिन्न होने पर सबसे पहले मन का प्रादुर्भाव माना गया है। जिसको हम मन समझते हैं, वह तो बहुत पीछे उत्पन्न होने वाली स्थूल अवस्था है। यहां जो मन बतलाया जाता है, वह अति सूक्ष्म सबकी आदिभूत अवस्था है। इनमें नामों में भ्रम न हो जाय, इसलिए इस सर्वप्रथम मन का श्वोवसीयस मन नाम से श्रुतियों में व्यवहार है। बृहदारण्यक, उपनिषद् में "तन्मनोऽकुरुत" कहकर मूलतत्त्व आत्मा से सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव बतलाया गया है और ऋग्वेद संहिता के नासदीय सूक्त में भी-

**"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं तदासीत्"**

इत्यादि मन्त्र के द्वारा सर्वप्रथम मन और फिर उसकी इच्छावृत्ति का उद्भव बतलाया गया है। मन में रस और बल दोनों तत्त्व हैं। जिन्हें आनन्द और क्रिया शक्ति नाम से भी कहा जाता है। इसमें दोनों प्रकार का आरम्भ होता है। एक खोलने वाला तथा दूसरा बांधने वाला। स्मरण रहे कि गांठ लगाने के लिए जिस प्रकार बल काम में आता है, खोलने के लिए भी वैसे ही बल की आवश्यकता हुआ करती है। खोलनेवाले बल से मन के अनन्तर विज्ञान और उसके अनन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसलिए, आनन्द, विज्ञान और मन ये तीनों मुक्तिसाक्षिक कलाएं कही जाती हैं। इनका सृष्टिप्रक्रिया में उपयोग नहीं होता। इनमें तो सृष्टि का अत्यन्त लय-रूप मुक्ति होती है। किन्तु बांधनेवाले बल से जो कलाएं निर्मित होती हैं, उनके नाम है मन, प्राण और वाक्। मन को दोनों तरफ लिया गया है। वह बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण है। उसी से उत्पन्न होनेवाले हमारे मन के लिए भी कहा जाता है-

**"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:"**

अर्थात्, हमारी अध्यात्म-दशा में भी मन ही बन्ध या मोक्ष की ओर ले जाने

वाला है। जब वह संसार की ओर झुकता है, तब अधिक-से-अधिक बांधता चला जाता है और श्रेयोमार्ग में परमात्मा की ओर चला गया, तब सारे बन्धनों से मुक्त कराकर मोक्ष-पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। अस्तु, अव्यय पुरुष की इन पांच कलाओं का निरूपण तैत्तिरीय-उपनिषद् में हुआ है। वहां 'वाक्' का नाम 'अन्न' है। वह वाक् की स्थूल अवस्था है, जो आगे स्पष्ट होगी। इनमें तीन कलाएं मुक्तिसाक्षिक और तीन सष्टिसाक्षिक हैं। मन को दोनों ओर ग्रहण करने से ६ होती हैं, यह कह चुके हैं। सृष्टि के विषय में जहां कहीं आत्मा शब्द आया है, वहां शतपथ आदि ब्राह्मणों में सर्वत्र '**सोऽयमात्मा मनोमयः प्राणमयो वाङ्मयः**', यह बार-बार स्मरण कराया है। अर्थात्, अव्यय पुरुष की कला-रूप ये तीन तत्त्व ही आत्मा-रूप से सम्पूर्ण प्रपंच में अवस्थित हैं। प्रपंच का यदि हम विश्लेषण करने लगें, तो तीन ही वस्तु हाथ लगती है—ज्ञान, क्रिया और अर्थ। उनके मूल ये तीन माने गए हैं—सम्पूर्ण ज्ञान का मूलतत्त्व मन है, क्रिया का मूलतत्त्व प्राण और अर्थों का मूलतत्त्व 'वाक्'। यह 'वाक्' शब्द 'अवाक्' से निकला है। 'अव्' उपसर्ग के अकार का लोप व्याकरण में माना गया है। इसलिए अवाक् का 'वाक्' ही शेष रह जाता है। अवाक् शब्द का अर्थ है सबसे नीचे श्रेणी की वस्तु। इसका तात्पर्य यही है कि स्थूल रूप में आ जाने के कारण यह मन और प्राण की अपेक्षा छोटी श्रेणी की वस्तु मानी जाती है। दूसरा निर्वचन यह भी है कि 'उ', 'अ' और 'अक्' इन तीनों से मिलकर वाक् शब्द बनता है। इनमें 'अ' विशुद्ध तत्त्व, अर्थात् मन का वाचक है और 'उ' प्राण का। इन दोनों से यह अनुविद्ध अर्थात् मिली हुई रहती है, इसलिए भी 'वाक्' कहलाती है। इससे आशय यही निकला कि मन और प्राण के बिना 'वाक्' का मिलना असम्भव है। भूतों की सूक्ष्मावस्थारूप 'वाक्' में मन और प्राण सर्वत्र व्यापक है। प्राण की व्यापकता समझ में आ सकती है, क्योंकि जड़चेतनात्मक सम्पूर्ण प्रपंच में क्रियाशक्ति सर्वत्र ही दिखाई देती है, किन्तु मन की व्यापकता में बहुत विचारकों को सन्देह होगा। मन से निकला हुआ ज्ञान तो केवल चेतनों में ही दिखाई देता है, जड़ वस्तुओं में उसका अभाव है। तब उसे सर्वत्र व्यापक कैसे माना जा सकता है। किन्तु इसके समाधान के लिए यह पहिले दृढ़ता से समझ लेना चाहिए कि वैदिक दर्शन में जड़-चेतन-व्यवहार केवल काल्पनिक है। जड़ों में ज्ञान का अभाव कभी नहीं होता। जड़-चेतन की उपपत्ति तो आयुर्वेद के परमाचार्य महामुनि चरक ने लिखी है कि—

**"सोन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्"**

अर्थात्, जहां इन्द्रियों का विकास हो गया, वह चेतन कहलाने लग गया, जहां

इन्द्रियां गुप्त ही रह गईं, विकास न पा सकीं, वह जड़ कहा गया। मन या उसके प्रकट होनेवाला ज्ञान तो सर्वत्र ही है, किन्तु इन्द्रियों के अभाव में उसका विकास नहीं हो पाता। इसलिए जड़ पदार्थ में भी किंचित् विलक्षणता उत्पन्न होकर यदि इन्द्रियों का विकास हो जाय, तो वह चेतन-रूप में परिणत हो जाता है, जैसे, फलों के सड़ जाने पर वहां सैकड़ों कृमि चेतन उत्पन्न हो जाते हैं। मिट्टी और लकड़ी में भी आर्द्रता आते ही कृमि और घुन उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार, चेतन में भी इन्द्रियों का विकास न रहे, अर्थात् वे शिथिल या विलुप्त हो जायँ, तो उनमें जड़ता की प्रतीति होने लगती है। जैसे मृत, प्रसुप्त अथवा मूर्च्छित शरीर में। अस्तु, प्रस्तुत यही था कि 'वाक्' समस्त भूतों की जननी है और मन तथा प्राण उसके गर्भ में अवश्य रहा करते हैं। सांख्य-दर्शन की प्रक्रिया में भी भौतिक प्रपंच में शब्द-तन्मात्रा की उत्पत्ति सर्वप्रथम मानी जाती है। उसके आगे ही क्रम से अन्य तन्मात्राएँ और पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इससे दार्शनिक प्रक्रिया में भी 'वाक्' की भूतजनकता सिद्ध है।

इन तीनों कलाओं में प्राण के आधार पर अक्षर पुरुष का विकास होता है। वह प्राणप्रधान या क्रियाप्रधान है और वाक् के आधार पर क्षर पुरुष विकसित होता है। वह अर्थप्रधान है। इसकी प्रक्रिया यह है कि जब एक व्यापक तत्त्व को परिधि के भीतर ले लिया जाय, तब वह स्वभावतः उस परिधि को तोड़कर बड़ा बनने की ओर प्रवृत्त रहता है, सजातीयाकर्षण का यही सिद्धान्त है कि मिट्टी का ढेला आकाश में फेंके जाने पर भी हमारे हाथ के द्वारा दी हुई शक्ति समाप्त हो जाने पर अपने-आप अपने घन पृथ्वी पिण्ड की ओर आता है। तैजस दीपक की शिखा अपने घन सूर्यमण्डल की ओर ऊपर स्वभावतः चलती है, ऐसे भूमा में से निकलता हुआ वह पुरुष भूमारूप ही बनना सतत चाहता है और इसका प्रकार यही है कि वह अपने से बाहर के व्यापक तत्त्व को भी अपने भीतर लेता जाय। इसलिए बाहर व्याप्त तत्त्व को अपने भीतर लेने की एक प्रवृत्ति उसमें उत्पन्न होती है। जिसे शतपथ-ब्राह्मण में 'अशनाया' नाम दिया गया है। अशनाया का अर्थ है भूख, अर्थात् उसे सबको अपने भीतर ले लेने की भूख होती है। वह अशनाया भी एक प्रकार का बल है और रस तथा बल के लिए 'अमृत' और 'मृत्यु' शब्दों का श्रुतियों में पारिभाषिक प्रयोग है, अर्थात् वहां रस को अमृत कहते हैं और बल को मृत्यु। इसलिए अशनाया को भी वहां मृत्यु कहा गया है। अशनाया को मृत्यु कहने का अभिप्राय श्रुति का यही है कि वह अशनाया एक प्रकार का बल है। अशनाया बल उत्पन्न होने पर तीन अंश हो जाते हैं, जिनके नाम उक्थ, अर्क और अशिति श्रुतियों में प्रसिद्ध हैं। अशनाया से अपना अन्न लेने को उस बलविशिष्ट रस का एक अंश उठता है, वह उठने के कारण 'उत्थ' या 'उक्थ' कहा

जाता है। उत्थ से ही उक्थ बना है। तब वह बाहर से अन्न लेने को चलता है। इस चलन को श्रुति में 'अर्चन' कहा गया है और चलनेवाले अंश से जो वस्तु बनती है, उसे कहा गया है—अर्क। तब वह अपने से बाहर के जिस तत्त्व को अपने भीतर ले लेता है, वह बाहर का तत्त्व उसकी 'अशिति', अर्थात् खुराक बन जाता है। इस प्रकार, यह आकर्षण-विकर्षण-प्रक्रिया चल पड़ती है और उन परिच्छिन्नता को प्राप्त पुरुषों के बलों का एक प्रकार संघर्ष-सा मच जाता है। यही क्रिया प्रधान अक्षर पुरुष का प्रादुर्भाव है।

## अक्षर पुरुष

यह अक्षर पुरुष प्राण प्रधान है और क्रिया प्रधान है। इसकी भी पांच कलाएं हैं। जिनके नाम हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। ये ही पांचों ईश्वर के कल्पित रूप माने गए हैं। दूसरे शब्दों में अक्षर पुरुष-रूप ईश्वर के ये पांच रूप हैं।

परिधि के भीतर के तत्त्व को बाहर फेंकनेवाली शक्ति का नाम इन्द्र है और बाहर फेंकने से जो स्थान रिक्त हो गया, इसकी पूर्ति के लिए बाहर से तत्त्व लेकर पालन कर देने वाली शक्ति का नाम विष्णु है। इस प्रकार आवागमन होते रहने पर भी वस्तु की एक रूप में दिखने वाली प्रतिष्ठा शक्ति का नाम ब्रह्मा है। प्रतिष्ठा स्थिरता रखने के कारण यही सबका उत्पादक कहलाता है। ये तीनों शक्तियां केन्द्र में रहती हैं। केन्द्र का नाम वैदिक परिभाषा में 'नाभि' है। उस नाभि में रहने के कारण उस अक्षर की ये तीनों कलाएं 'नभ्य' कही जाती हैं। अब केन्द्र से फेंके हुए रस का प्रतिष्ठा-प्राण की सहायता से बाहर एक पृष्ठ बन जाता है। उस पृष्ठ पर भी दो तत्त्व रहते हैं, बाहर जानेवाले और बाहर से आकर भीतर केन्द्र की ओर जानेवाले। इनमें बाहर जानेवाले तत्त्व का नाम अग्नि है और बाहर से वस्तु के केन्द्र की ओर जानेवाले तत्त्व का नाम सोम है। ये दोनों कलाएं पृष्ठ पर रहने के कारण 'पृष्ठ्य' कहलाती हैं। स्मरण रहे कि अव्यय पुरुष की अन्तिम प्राण और वाक् नाम की कलाएं यहां अग्नि और सोम के रूप में विकसित हुई हैं। इसलिए अग्नि को 'प्राण' और सोम को 'वाक्' नाम भी दिया जा सकता है। इन दोनों पृष्ठ की कलाओं का विकास तत्त्वों के बाहर निकलने के कारण ही हुआ है। इसलिए बाहर फेंकनेवाली 'इन्द्र'-शक्ति का इनके साथ विशेष सम्पर्क है और इन तीनों 'इन्द्र', 'अग्नि' और 'सोम' को मिलाकर एक ही रूप में इनकी उपासना पुराणों में प्रसिद्ध हो गई और तीन रूप सम्मिलित होने के कारण बहुत बड़ा महत्त्व हो जाने से वे तृतीय देवता महेश्वर नाम से उपास्य हो गये। "**वन्दे सूर्यशशांकवन्हिनयनम्**" आदि महेश्वर का ध्यान भी इस रूप में संगत हो जाता

है और अपने परम भक्त उपमन्यु को शंकर ने पहिले इन्द्र रूप में दर्शन दिया है, इस कथा के अनुसार भी महेश्वर की इन्द्र रूपता व्यंजित होती है।

इन्द्र का अधिष्ठान सूर्य-मण्डल है, सोम का चन्द्र-मण्डल, अग्नि अपने रूप में पृथ्वी में व्याप्त है ही। इन्हीं तीनों को भगवान् महेश्वर का नेत्र कहा गया है। यह संक्षेप में अक्षर पुरुष के विकास का वर्णन किया गया। सबके आदिभूत ब्रह्मा के नाम से ही समस्त शक्तियों का वर्णन ब्राह्मणों में अधिक मिलता है और अग्नि सोम का प्रपंच भी विस्तार से है। विष्णु और इन्द्र, इन दोनों शक्तियों के कार्य स्थान-स्थान पर संकेतित हैं।

इन्द्र और विष्णु दोनों ही असुरों को जीतते रहते हैं। कभी नहीं हारते। ये दोनों परस्पर भी स्पर्धा, अर्थात् युद्ध कर एक-दूसरे को दबाने की इच्छा करते हैं, किन्तु इनमें से कोई भी नहीं हारता। दोनों मिलकर तीन प्रकार के सहस्र प्रेरित करते हैं। ऋक्संहिता के मन्त्रों में इन्द्र और विष्णु की स्पर्धा स्पष्ट वर्णित है। ये जो तीन सहस्र प्रेरित करते हैं, उनसे ही साम-मण्डल बनता है, इन अक्षर पुरुष की कलाओं का विवरण शतपथ ब्राह्मण के ११वें काण्ड में मिलता है।

श्रुतियों में प्रतिपादित हुआ है कि प्रजापति का अर्धभाग तो अमृत रहता है और आधार मर्त्य हो जाता है। इसका आशय है कि अक्षर पुरुष अंशत: अपने स्वरूप में भी बना रहता है और उसी का अंश भूतों के रूप में भी विकसित होता जाता है। भूतों के रूप में विकसित होना ही संसार की उत्पत्ति है। इसलिए कहा जा सकता है कि भूत-रूप में परिणत क्षर पुरुष ही संसार है। उस क्षर पुरुष की भी अक्षर की सहायता से पांच कलाएं बनती हैं, जिनके नाम हैं—प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न। शतपथ-ब्राह्मण के षष्ठ काण्ठ के आरम्भ से ही इन कलाओं की उत्पत्ति का क्रमिक विवेचन है और आगे के काण्डों में भी वह विस्तृत होता गया है। षष्ठ काण्ड के आरम्भ में प्राणों का नाम 'ऋषि' लिखा है तथा उन्हीं का विकास तीनों वेदों को माना है, आगे प्राण से 'आप्' की उत्पत्ति बतलाई गई है। अस्तु, आगे इन कलाओं का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूप में विस्तृत विकास हो जाता है। सबके उत्पादक तत्त्व आधिदैविक प्रकरण में आते हैं और उनसे दोनों प्रकार की धाराएं चलती हैं—आधिभौतिक और आध्यात्मिक। प्रत्येक प्राणी का पृथक्-पृथक् शरीर-रूप जो एक-एक पिण्ड बनता जाता है, उसका बाह्य और आन्तर विस्तार आध्यात्मिक रूप कहा जाता है और, ब्रह्माण्ड की एक-एक शाखा में जड़-चेतन-रूप समस्त तत्त्वों को उत्पन्न करनेवाले जो पांच पिण्ड हैं, उन्हें अधिभौतिक रूप कहते हैं। इससे यह सिद्ध

हुआ कि सबके मूल में आधिदैविक रूप है। उनसे उत्पन्न या विकसित होते हैं आधिभौतिक रूप और उनसे फिर विकसित होते हैं आध्यात्मिक रूप। आधिदैविक स्थिति में क्षर कलाओं के भी वे ही नाम रहते हैं, जो अक्षर पुरुष की कलाओं के थे, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। आधिभौतिक रूप में पांच मण्डलों के नाम होते हैं– स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा। इनके परस्पर संयोग से उत्पन्न होने वाली प्राणिशरीरों की पांच कलाओं के नाम हैं–बीज-चिति (कारण-शरीर), देव-चिति (सूक्ष्म-शरीर), भूत-चिति (स्थूल-शरीर), प्रजा, (सन्तति) और वित्त (सम्पत्ति)। इन तीनों प्रकार की पांच-पांच कलाओं की मूलभूत कलाएं वे ही पूर्वोक्त पांच हैं–प्राण, अप्, वाक्, अन्नाद और अन्न।

अक्षर पुरुष की कलाओं से क्षर पुरुष का विकास होने के लिए मध्य में एक नया तत्त्व उत्पन्न होने की और आवश्यकता होती है, जिसे वैदिक परिभाषा में 'शुक्र' नाम दिया गया है। लौकिक भाषा में उसे 'वीर्य' भी कहा जाता है। जैसे, प्रत्येक प्राणिशरीर की उत्पत्ति वीर्य से देखी जाती है, वैसे ही इस सम्पूर्ण प्रपंच की उत्पत्ति जिससे होती है, वह भी एक वीर्य या शुक्र नाम की वस्तु है। उक्त तीन पुरुषों में केवल अव्यय पुरुष को पुरुष या अमृत शब्द से कहते हैं। अक्षर और क्षर को प्रकृति नाम देते हैं। श्रुतियों में इन्हें ब्रह्म शब्द से भी कहा गया है। इन पुरुष और प्रकृति के योग से उत्पन्न होने वाला है–शुक्र। ये तीनों एक ही मूल तत्त्व के रूप हैं।

**''तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते''**

श्रीभगवद्गीता में भी यही क्रम निर्धारित हुआ है। वहां अव्यय पुरुष को पुरुष और क्षर तथा अक्षर को उसकी अपरा और परा प्रकृति माना (सप्तम अध्याय) है। यही त्रिपुरुष विज्ञान भगवद्गीता के प्रस्तुत संदर्भ में सुस्पष्ट हो गया है। यह त्रिपुरुषविज्ञान का संक्षेप संकेत मात्र बतलाया गया, अधिक जानने वालों को विद्यावाचस्पति जी के 'विज्ञान विद्युत', आदि ग्रन्थों को देखना चाहिए।

# छब्बीसवां-पुष्प

**यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तमः**
**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।१८।**
**यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्**
**स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ।१९।**
**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ! ।**
**एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ! ।२०।**

'क्योंकि मैं क्षर पुरुष से अतीत अर्थात् बिलकुल पृथक् हूं, और अक्षर से भी उत्तम हूं अतः लोक और वेद में पुरुषोत्तम के रूप में विख्यात हूं (१८)

जिस ईश्वर की पहले व्याख्या की गई है, उसका पुरुषोत्तम यह नाम प्रसिद्ध है। पुरुषोत्तम इस नाम के निर्वचन के लिए ही यह पद्य कहा गया है। पुरुषोत्तम का यथाश्रुत अर्थ है पुरुषों में उत्तम, अर्थात् पुरुषों में श्रेष्ठ। पुरुष मनुष्य का भी पर्याय शब्द है, अतः पुरुषोत्तम का अर्थ नरश्रेष्ठ भी किया जा सकता है। परन्तु पुरुषोत्तम इस नाम का रहस्य वास्तव में उसके नरश्रेष्ठ होने में नहीं है, अपितु संसार में व्याप्त जो क्षर, अक्षर और अव्यय के रूप में तीन पुरुष बतलाए गए हैं उनमें क्षर और अक्षर से अतीत और उत्तम होने के कारण ही अव्यय पुरुष को पुरुषोत्तम कहा गया है।

'क्षर से अतीत हूं' इसका अर्थ करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं कि संसार रूपी वृक्ष के बीज अश्वत्थवृक्ष से मैं अतीत हूं। अक्षर का अर्थ है कि संसार रूपी वृक्ष का जो बीज है वही अक्षर है, मैं उससे भी उत्तम हूं। उत्तम का अर्थ श्रेष्ठ भी हो सकता है।

श्रीरामानुजाचार्य अपनी विगत पद्यों की व्याख्या के अनुसार ही इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि क्षर पुरुष अर्थात् बद्ध जीव से मैं अतीत हूं, और अक्षर पुरुष अर्थात् मुक्त जीव से भी मैं उत्तम हूं। इसीलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम रूप से प्रसिद्ध हूं। लोक का अर्थ श्रीरामानुजाचार्य ने स्मृति किया है क्योंकि स्मृतियां अपने अर्थ की पुष्टि के लिए श्रुति का अवलोकन करती हैं। छान्दोग्य उपनिषद् का मन्त्र है–

**'परं ज्योतिरपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः'**

(छां उ० ८।१२।३)

**'अंशावतारं पुरुषेत्तमस्य ह्यनादिमध्यान्तमजस्य विष्णोः'**

(वि०पु० ५।१७।३३)

आदि पुराणों में तथा

**हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः'      ( रघुवंश ३ )**

इत्यादि काव्यों में सर्वत्र पुरुषोत्तम रूप से भगवान् विख्यात हैं।

आनन्दगिरि व्याख्या में क्षर का अर्थ कार्य रूप से अवस्थित विश्व किया गया है। भगवान् कार्य रूप से अवस्थित विश्व से तथा माया नाम से अक्षर पुरुष से उत्कृष्ट हैं, उनके अधिष्ठाता होने के कारण उनके दोषों से असंस्पृष्ट हैं, अतः पुरुष की उपाधियां जो क्षर और अक्षर हैं उनमें जो एकता का अध्यास है, अतः जो पुरुष शब्द से कहे जाते हैं, ऐसे उन दोनों से वे उत्कृष्ट हैं, इसीलिए संसार में और वेदों में उन्हें पुरुषोत्तम कहा गया है।

श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि 'अहम्' शब्द से यहां भगवान् स्वयं अपने को कह रहे हैं कि मैं जो यहां तुम्हें उपदेश कर रहा हूं वह मैं स्वयं भी क्षर और अक्षर से ऊपर का पुरुषोत्तम हूं। जो मुझे इससे अतिरिक्त समझते हैं, वे माया से विमोहित हो रहे हैं। अन्यत्र भी इसी बात को कहा है कि–

**अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्**
**परं भावमजानन्तो ममाऽव्ययमनुत्तमम्**

श्रीपुरुषोत्तम जी ने लोक और वेद के अतिरिक्त श्लोक से पठित 'चकार' से सूत्र स्मृति आदि का भी ग्रहण किया है।

तत्त्व प्रकाशिका में लोक का उदाहरण सहस्र नाम में दिया गया है 'केशवः पुरुषोत्तमः'। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने पुरुषोत्तम के कुछ अन्य उदाहरण भी दिये हैं।

श्रीशंकरानन्द ने पुरुषोत्तम का उत्कर्ष निष्कलत्व, नित्यत्व, निर्गुणत्व, चेतनत्व आदि धर्मों से बतलाया है। प्रस्तुत विषय को समझाते हुए उन्होंने भित्ति चित्र का उदाहरण दिया है। चित्र को छोड़कर भित्ति की पृथक् सत्ता है। सूक्ष्म दृष्टि से सोचने पर भित्ति की सत्ता के बिना चित्र की पृथक् सत्ता उपलब्ध नहीं हो सकती। उसी प्रकार क्षर और अक्षर से अव्यय पुरुष पृथक् रहता हुआ उनका आधार बनता है। परमार्थप्रपा में कहा गया है कि देहाभिमानी जीव की पुरुष यह संज्ञा होती है। उससे उत्कृष्ट मैं हूं, अर्थात् मुझे देहाभिमान नहीं है। यह बात पुरुषोत्तम से व्यक्त की गई। अग्रिम पद्य का अर्थ है कि–

इस प्रकार जो असम्मूढ़ व्यक्ति मुझे पुरुषोत्तम रूप से जानता है वही सर्व वेत्ता है, और हे भारत ! वह मुझे सभी भावों से भजता है (१९)

यह प्रस्तुत निरूपण की फलश्रुति है। आखिर क्षर, अक्षर और अव्यय के स्वरूप को जानने का कोई फल भी तो होना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि सबसे बड़ा फल तो यही है कि उक्त विषय को जानने वाला व्यक्ति सब कुछ जान जाता है। उसके लिये श्लोक में 'सर्ववित्' शब्द है। उससे भी उत्कृष्ट फल जो कहा गया है वह है सर्व-भाव से भगवान् का भजन करना। उक्त पुरुषत्रय का ज्ञाता सर्ववेत्ता कैसे हो गया। संसार में तो ज्ञान का कोई थाह है नहीं। बड़े से बड़ा ज्ञानी पुरुष भी अपने ज्ञान की सीमा को जानता है और उससे यह भी स्पष्ट भासित होता है कि जो कुछ वह जानता है, उससे हजारों गुना अधिक विषय अभी जानने के लिए बाकी पड़ा है। तब सर्ववेत्ता तो संसार में कोई हो ही नहीं सकता। इसका उत्तर यही दिया जाता है कि कारण के ज्ञान से सभी कार्यों का ज्ञान अपने आप हो जाता है। उपनिषद में भी यह प्रसंग आता है कि श्वेतकेतु जब अपना अध्ययन समाप्त करके अपने पिता उद्दालक के आश्रम में लौटे और पिता के सामने उन्होंने अपनी पढ़ी हुई समस्त विद्याओं का वर्णन किया तब उद्दालक ने उनसे प्रश्न किया कि तुमने वह विद्या पढ़ी या नहीं जिसके कि जान लेने से जानी हुई, या बिना जानी हुई सभी विद्याएं अपने आप अन्त:करण में भासित हो जाती हैं। उत्तर में जब श्वेतकेतु ने ऐसी विद्या के जानने का निषेध किया और अपने पिता से उस विद्या को सिखा देने की प्रार्थना की, तो उन्होंने यही सिखाया कि कारण का यदि ठीक ज्ञान हो जाय तो कार्य का ज्ञान अपने आप हो जाया करता है। जैसे मिट्टी से बने हुए सभी पदार्थों की कारण मृत्तिका ही है। मिट्टी के बने हुए सभी पदार्थों को कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में देख भी ले, यह भी असम्भव ही है, परन्तु यदि उसे मिट्टी का ठीक प्रकार से ज्ञान हो गया तो वह बिना देखे मिट्टी के पदार्थों को भी देखकर पहिचान जायेगा कि यह मिट्टी का बना पदार्थ है। उसी प्रक्रिया से मनुष्य सर्ववेत्ता भी बन सकता है कि सम्पूर्ण जगत् के मूल कारण का ज्ञान यदि उसे हो गया तो संसार में फिर उसके लिए ज्ञातव्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता, वह 'सर्ववित्' हो जाता है, सभी कुछ जान जाता है। यहां जो तीनों पुरुषों का विवरण किया गया है वे तीनों पुरुष, और उनमें भी अव्यय पुरुषोत्तम समस्त जगत् का मूलकारण है। उसी मूलकारण को यहां भगवान् ने समझाया है। उसके ज्ञाता को सर्ववित् कहना युक्तियुक्त है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् के मूलकारण का ज्ञान उसे हो चुका है। सर्वभावेन भजन का अभिप्राय यह है कि ऐसे ज्ञान से सम्पन्न पुरुष जो भी कुछ करता है वह भगवान् का भजन ही होता है, क्योंकि सभी कार्यों को करते समय उसका ध्यान पुरुषोत्तम भगवान् की ओर ही रहता है। शिवस्तोत्र में इस आशय का एक सुप्रसिद्ध पद्य है–

**''आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्**
**पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः**
**संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वागिरो**
**यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो ! तवाराधनम्''**

शंकर भगवान् का भक्त कह रहा है कि 'हे भगवान् ! आप तो मेरे आत्मरूप हैं, भगवती गिरजा ही मेरी बुद्धि है, मेरे प्राण ही आप के सहचर हैं, मेरा शरीर ही आपका मंदिर है, मैं जो निरन्तर अनेक प्रकार के विषयों का उपभोग करता रहता हूं वही आपकी पूजा है, मेरी निद्रा ही समाधि अवस्था है, मेरे चरणों में जो संचार हो रहा है अर्थात् मैं जो कहीं भी भ्रमण करता हूं वही आपकी प्रदक्षिणा है, जो भी कुछ मैं बोलता हूं वह सब आपकी स्तुति है, इस प्रकार हे शंभो ! जो भी कुछ मैं कर रहा हूं, वह आपकी आराधना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' यही सर्व भावेन भगवद् भक्ति कही जा सकती है।

श्रीरामानुजाचार्य का कथन है कि पद्योक्त **'एवम् पुरुषोत्तमं जानाति'** का तात्पर्य है कि क्षर और अक्षर पुरुषों से, व्यापन, भरण; ऐश्वर्य आदि योगों के कारण जो व्यक्ति मुझे पृथक् समझ लेता है, वह इस प्रकार के ज्ञान के मेरी प्राप्ति का उपाय होने के कारण जो कुछ जानने योग्य है वह सब जान जाता है। सब भावों से भजन करने का तात्पर्य यह है कि मेरी प्राप्ति के साधनों के रूप में जो मेरे भजन करने के अनेक प्रकार बतलाये गए हैं, उन सभी भजन के प्रकारों से वह सर्ववेत्ता पुरुष मेरा भजन करता है। भगवान् के भजन के अनेक प्रकार शास्त्रों में वर्णित हैं। श्रवण, कीर्तन, अर्चन आदि नवधा भक्ति तो भक्ति संप्रदाय में प्रसिद्ध ही है। उन सभी प्रकारों से भजन को सर्वभावेन भजन यहां कहा गया है ऐसा श्रीरामानुजाचार्य का आशय है। भगवान् की सर्वतो भावेन भक्ति के लिए भगवान् के स्वरूप का ज्ञान और भक्ति के प्रकारों का ज्ञान आवश्यक होता है। इस प्रकार के ज्ञान के अभाव में वैसी भक्ति कैसे संभव हो सकती है। सर्ववेत्ता पुरुष को ही ऐसी भक्ति प्राप्त होने का सौभाग्य मिलता है, क्योंकि सर्ववेत्ता होने के कारण वह भगवान् के स्वरूप और भक्ति के प्रकारों को जान जाता है। श्रीरामानुजाचार्य ने यह भी कहा है कि भगवान् की दो प्रकार की प्रीति का सम्पादन उक्त ज्ञान से होता है। एक तो भगद्विषयक सभी ज्ञातव्य बातों को जानने से भगवान् की प्रीति मिलती है और सब प्रकार से उनकी सेवा से भी उनकी प्रीति मिलती है। उपर्युक्त ज्ञान से सम्पन्न पुरुष दोनों प्रकार की भगवत्प्रीति को प्राप्त कर लेता है। भक्ति के आचार्य यहां यह भी कहते हैं कि गीता के इस पद्य के द्वारा ज्ञान

को भक्ति के अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। 'सर्ववित्' होने के अनन्तर उसका उपयोग भक्ति या भजन में बतलाया गया है। वस्तुतः ज्ञान और भक्ति एक दूसरे के पोषक होते हैं। बिना ज्ञान के भक्ति नहीं बनती और बिना भक्ति के पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता। चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीनों मार्ग भारतीय संस्कृति में स्वीकार किये गए हैं, परन्तु सर्वत्र ये तीनों परस्पर में एक दूसरे के पोषक होते हैं। किसी एक को हेय दृष्टि से देखने पर दूसरे उपाय की पूर्णता में पूर्ण सन्देह रहता है, यह भारतीय संस्कृति की मौलिक बात है। विशेषकर भगवद्गीता में तो तीनों के समन्वय पर भगवान् ने सर्वत्र बल दिया है।

पैशाच भाष्य में कहा गया है कि नाम, कर्म, स्वरूप, बल, वीर्य और तेज से जो भगवान् को जानता है वही सर्ववित् है।

आनन्दगिरि व्याख्या में असम्मूढ़ का अर्थ किया गया है कि भगवान् परिच्छिन्न नहीं हैं यह ज्ञान हो जाना ही असम्मूढ़ता है। सर्ववित् के प्रमाण में–

**''यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति''**

यह श्रुति, और सर्वभाव के लिए

"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः"

यह स्मृति उन्होंने उद्धृत की है। श्रीवल्लभाचार्य ने इस मार्ग को अन्य मार्गों से विलक्षण कहा है। जिस किसी देवता की उपासना से सर्ववित् होना संभव नहीं, परन्तु पुरुषोत्तम तत्त्व को जानने पर एक के विज्ञान से सर्वविज्ञान होने से वह सर्ववित् हो जाता है, यही प्रस्तुत में विलक्षणता का आशय है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि जो भगवान् के यथोक्त पुरुषोत्तमत्व में असम्मूढ़ अर्थात् संशय विपर्यास आदि से विहीन है, वही सर्ववित् है और इसके फलस्वरूप वह भगवान् का सब प्रकार से भजन करने में समर्थ होता है।

अविगीता की टिप्पणी का आशय है कि सामान्य रूप से सर्ववित् होने या सर्व शब्द के कोश के आधार पर ज्ञान होने से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती, इसीलिए सर्ववित् कहकर फिर 'जानाति' भी कहा–जो सर्ववित् होकर मुझे पुरुषोत्तम के रूप में जानता है। इसका तात्पर्य यही है कि ज्ञान के दोषों को दूर कर जो मेरे पुरुषोत्तम भाव को अपरोक्ष रूप से जानता है वही सर्वभाव से मेरा भजन कर सकता है।

तत्त्व प्रकाशिका में सर्वभावेन भजन का तात्पर्य बतलाया है कि मन, वाणी और शारीरिक कर्मों से वह भगवान् का भजन करता है। उन्होंने यह कहा है कि पुरुषोत्तम

भाव को जानने वाला व्यक्ति ही मेरा भजन करता है, अन्य व्यक्ति अन्य देवताओं का भजन करते हैं। उन्होंने इस प्रसंग में महाभारत के ये पद्य उद्धृत किये हैं–

**" रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः**
**ब्रह्मा मामाश्रितो राजन्नाहं कंचिदपाश्रितः**
**ममाश्रयो न कश्चित्तु सर्वेषामाश्रयोह्यहम्**
**ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः**
**प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यतः परिमितं फलम्"**

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने सर्वभाव का अर्थ प्रेमपूर्ण भक्तियोग किया है।

श्रीशंकरानन्द ने इस प्रकार के भजन का प्रयोजन ज्ञान और उसके फल के प्रतिबन्ध की निवृत्ति माना है।

अग्रिम पद्य का अर्थ है–

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार का यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मैंने बतलाया है, मनुष्य को चाहिए कि इसको जानकार बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाय' (२०)

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि वैसे तो पूरी गीता ही एक शास्त्र है, परन्तु उसमें भी पन्द्रहवें अध्याय का क्षर, अक्षर और अव्यय का प्रकरण एक स्वतन्त्र शास्त्र कहने योग्य है, यह इस प्रकरण के विशेष महत्व को बतलाने के लिए कहा गया है। इस प्रकरण का महत्व तो इसके विषय पर ध्यान देने से ही सुस्पष्ट हो जाता है, क्योंकि इसमें संसार के मूल तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। इसी प्रकरण की विशेषता को ध्यान में लेने के बाद भगवान् की इस घोषणा का रहस्य भी खुलता है कि–

**" ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः**
**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते"**

'हे अर्जुन ! मैं तुझे विज्ञान सहित ऐसे ज्ञान को समझा देता हूं जिस ज्ञान को प्राप्त करने के अनन्तर और कुछ जानने को अवशिष्ट रह ही नहीं जाता।' भगवान् की इस प्रकार की यह घोषणा अवश्य ही पहिले तो कुछ सन्देह में डालती है कि जैसे आजकल के विज्ञापनकर्ता किसी अपनी बनाई हुई वस्तु के गुण को हजार गुना बढ़ा चढ़ा कर लोगों को आकर्षित करते हैं, कहीं उसी प्रकार यहां भगवान् भी अपने उपदेश के प्रति अर्जुन का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करने के लिए अपने उपदेश के महत्व को प्रदर्शित करने में अतिशयोक्ति से तो काम नहीं ले रहे हैं, क्योंकि ज्ञान का अन्त किसी

को मिला ही नहीं, तब छोटी सी गीता में ज्ञान और विज्ञान का अन्त बतलाने की बात आपाततः कुछ अतिशयोक्ति मालूम होती है, परन्तु जब यह स्पष्ट होता है कि गीता में क्षर, अक्षर और अव्यय का प्रतिपादन हुआ है, जो संसार के मूल तत्त्व हैं, तब एक के ज्ञान से सम्पूर्ण का ज्ञान होने की जो उपनिषद् की युक्ति है वह समर्थित होती है और तभी सहस्रों दर्शनों और नीतिग्रन्थों के रहते हुए भी गीता का जो संसार में इतना महत्वपूर्ण स्थान है, उसका रहस्य समझ में आता है। इसीलिए यहां भगवान् ने इस मूर्धन्य प्रकरण के महत्व को स्थिर करते हुए इसे गुह्यतम शास्त्र कहा है।

शास्त्र का अर्थ तो उपर्युक्त प्रकरण के महत्व के साथ स्पष्ट हो जाता है, परन्तु गुह्यतम अर्थात् अत्यन्त छिपा हुआ यह अंश ध्यान देने योग्य है। अन्य देशों से भारत में विद्या के विषय में जो विशेषताएं मिलती हैं उनमें यह भी एक है कि यहां महत्वपूर्ण विषयों को गुप्त रखने का आग्रह पाया जाता है। इस बात को लेकर बहुत से पश्चिमी विद्वान् तथा उनके अनुयायी भारतीय विचारक भी यह आक्षेप करते देखे जाते हैं कि इन विद्याओं को गुप्त रखने में विशेष वर्ग तथा विशेष व्यक्तियों की स्वार्थपरता ही कारण है। कुछ लोग यह भी कहते देखे गए हैं कि किसी विद्या को गुप्त कहने के भीतर अपने अज्ञान को छिपाये रखना भी एक कारण हो सकता है। यदि वे बातें सर्वसाधारण के सामने उपस्थित कर दी जाय तो उनके अज्ञान की पोल खुल जाने का डर रहता है। परन्तु यह सब आक्षेप इन विद्याओं के महत्व को बिना समझे किये जाते हैं। प्रत्येक महत्वपूर्ण बात तब सर्वथा निरर्थक या निष्प्राण हो जाती है जब उसे अनधिकारी को बतलाया जाता है। जिस विद्या को समझने में अधिक बुद्धि या परिश्रम करना पड़े अल्पप्रज्ञ व्यक्ति उससे घबड़ाता है, और अन्ततः-

**'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते'**

अर्थात् उस स्थान पर पहुंचने में अशक्त होने के कारण उसकी निन्दा करते हैं, इस उक्ति को चरितार्थ करने लग जाते हैं। फलतः जिनकी उन विषयों में जिज्ञासा और श्रद्धा होती है, वे भी अपनी श्रद्धा से डिगने लग जाते हैं। इसीलिए किसी भी श्रेष्ठ विद्या को उपयुक्त अधिकारी को ही देने के लिए भारतीय आचार्यों का आग्रह देखा गया है। यहां गीता का श्रोता अर्जुन इस विषय को जानने का उपयुक्त अधिकारी है, इसे तो बतलाने की आवश्यकता ही नहीं, भगवान् ने उसे अपना विश्वरूप भी दिखा दिया था, अतः उसे शास्त्रों का रहस्य भी खोलकर समझाना उपयुक्त समझ भगवान् ने यह गुह्यतम शास्त्र भी उससे कह दिया। भारत और अनघ, इन सम्बोधनों से भगवान् ने स्वयं अर्जुन की योग्यता को प्रकट कर दिया है। इस ज्ञान को प्राप्त करके बुद्धिमान हो,

इसका तात्पर्य श्रीरामानुजाचार्य बतलाते हैं कि भगवान् को प्राप्त करने के लिए जिस बुद्धि या बुद्धियोग की अपेक्षा होती है, वह इस ज्ञान से प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो भी कुछ कर्त्तव्य कर्म है वह भी इस ज्ञान से पूरा हो जाता है। अन्यत्र भगवान् ने कहा है–

**"सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते"**

अर्थात् हे पार्थ, ज्ञान में समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं। कर्मों के चित्त शुद्धि प्राप्त करके ज्ञान प्राप्ति की योग्यता सम्पादन की जाती है। ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर कृतकृत्यता हो जाती है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि सभी कर्म परमात्मा के ज्ञान होने तक ही उपयोगी हैं, परमात्मा की अवगति में ही सभी पुरुषार्थों की परिसमाप्ति हो जाती है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य कहते हैं कि इस सर्वाद्वय प्रतिपादक ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर ही बुद्धिमान् कहलाता है न कि व्यावहारिक बुद्धि से। इसके ज्ञानमात्र से ही कृतकृत्यता हो जाती है। श्रीअभिनवगुप्ताचार्य का यह भी कथन है कि इस श्लोक के प्रारंभ में जो इति शब्द आया है, उससे यह सूचित होता है कि जो भी कुछ वक्तव्य या उपदेष्टव्य बात थी वह यहां समाप्त कर दी गई। इस पर यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि फिर आगे के अवशिष्ट अध्यायों में क्या कहा गया है। इसका उत्तर देते हुए श्रीअभिनवगुप्ताचार्य कहते हैं कि आगे के षोडष अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन करते हुए भगवान् ने अर्जुन की पात्रता का ही निरूपण किया है–

**"मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि भारत ! ।"**

उस अध्याय में कोई उपदेश की बात नहीं आती। शिष्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए ही प्रसंगागत और भी कुछ बातें कह दी गई हैं, इसलिए दो अध्याय हो गए हैं अन्तिम अध्याय में अर्जुन की कुछ शंकाओं का ही विस्तार से समाधान है। अतः गीता के वक्तव्य की यहीं परिसमाप्ति है, ऐसा उक्त आचार्य का कथन है।

'बुद्धिमान् स्यात्' यह एक परोक्ष निर्देश है, केवल अर्जुन के लिए नहीं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवान् ने समस्त अधिकारी पुरुषों के लिए अर्जुन के माध्यम से यह उपदेश दिया है।

# षोडश अध्याय

# सत्ताईसवां-पुष्प

## दैवी और आसुरी सम्पत्तियां

शास्त्रों के रहस्यभूत क्षर, अक्षर, अव्यय पुरुषों का निरूपण विगत अध्याय में हुआ। अब प्रस्तुत षोडशाध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्ति का सविस्तार विवरण भगवान् प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय के श्लोक की व्याख्या के प्रारंभ में व्याख्याकारों ने अनेक प्रकार से इस अध्याय की संगति लगाई है। श्रीशंकराचार्य मोक्ष प्राप्ति को ही गीता का प्रधान प्रतिपाद्य मानते हैं। अत: उन्होंने कहा है कि दैवी संपत्ति का अनुष्ठान या उसका प्राप्त होना मोक्ष का उपायभूत है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुष को दैवी संपत्ति को प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा करनी चाहिए, तभी दैवी संपत्ति से संपन्न होने के अनन्तर वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। मोक्ष के अधिकार की सिद्धि के लिए यद्यपि दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करना ही परम उपयोगी है, परन्तु साधक साधनों के साथ ही बाधक साधनों का भी ज्ञान होना परमावश्यक हुआ करता है। जैसे मोक्ष को प्राप्त करने के लिए दैवी सम्पत्ति सम्पन्नता साधक साधन है, वैसे ही आसुरी सम्पत्ति मोक्ष की बाधक भी सर्वदा प्रस्तुत रहती है। आसुरी सम्पत्ति से बचना भी मुमुक्षु के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि दैवी सम्पत्ति का ग्रहण करना। यदि साधक पुरुष मोक्ष की विघातक आसुरी सम्पत्ति से बचता चला जाय तो उसमें दैवी सम्पत्ति के लक्षण अपने आप ही प्रकट होने लग जाते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि आसुरी सम्पत्ति जिसका त्याग करना अभीष्ट है उसके स्वरूप का विस्पष्ट ज्ञान हो। कई बार मनुष्य जिस बात को दैवी सम्पत्ति के रूप में गृहीत करके अपने व्यवहार में उसका ग्रहण कर लेता है वही आगे चलकर परिणाम में आसुरी सम्पत्ति प्रमाणित होने लगता है और जब मनुष्य को उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है और वह उससे अपना पीछा छुड़ाना चाहता है तो वह पूर्ण रूप से उसे इस प्रकार अपने प्रभाव में ले लेती है कि मनुष्य चाहते हुए भी उससे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता। प्राचीन कथावाचक गण इस प्रसंग में एक रोचक बात सुनाया करते थे कि बरसात की बढ़ी हुई गंगा जी में कोई गुरु और शिष्य स्नान करने गये। स्नान करके पूजा पर बैठते हुए गुरुजी ने देखा कि गंगा जी में एक काला कम्बल बहता आ रहा है। उन्होंने अपने समीपस्थ शिष्य से पानी में तैर कर उस कम्बल को ले आने को कहा। आज्ञाकारी शिष्य जल में कूद पड़ा और तैर कर उस कम्बल को उसने हाथ से पकड़ लिया। वह कम्बल नहीं भालू था जो पानी के बहाव में बहा जा रहा था। उसने अपने मुख

से शिष्य का हाथ पकड़ लिया। यह शिष्य भी उसके साथ बहने लगा। उसे बहता देख कर गुरुजी ने आवाज देकर कहा कि कम्बल को छोड़ दे, तू चला आ। शिष्य ने बहते हुए कहा गुरुजी मैं तो इसे छोड़ रहा हूं, परन्तु इसने मुझे पकड़ लिया, यह मुझे नहीं छोड़ता। यह दृष्टान्त यही बतलाने के लिए दिया जाता है कि हम आसुरी सम्पत्ति को भी दैवी सम्पत्ति समझकर पहिले तो अपना लेते हैं, बाद में उसका परिणाम देखकर जब उसे छोड़ना चाहते हैं तब वह हमें नहीं छोड़ती। आसुरी सम्पत्ति के चक्कर में पड़ने का कारण उसका स्वरूप विषयक अज्ञान ही है। यदि स्वरूप का ठीक ज्ञान नहीं है तो भालू को कम्बल समझ कर उसे लेने पर अपना सर्वनाश ही होगा। इसीलिए दैवी सम्पत्ति के स्वरूप ज्ञान से भी अधिक आवश्यक आसुरी सम्पत्ति का पूर्ण ज्ञान होना है जिससे कि उसके प्रभाव से सर्वथा बचा जा सके। इसीलिए भगवान् ने प्रस्तुत अध्याय में जहां दैवी सम्पत्ति का वर्णन केवल तीन श्लोकों में ही पूरा कर दिया है वहां आसुरी सम्पत्ति का अध्याय के अन्त तक वर्णन किया है। उन्होंने आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुषों के मनोभावों, उनके व्यवहारों, यहां तक उनके भोज्य आहारों का भी विशद वर्णन करके पूरी तरह उसकी पहिचान कर उससे बचने का उपदेश दिया जिसका निरूपण आसुरी सम्पत्ति के विवरण करते समय आगे प्रस्तुत किया जायगा।

श्रीशंकराचार्य तथा अन्य व्याख्याकारों ने यहां यह भी लिखा है कि प्रस्तुत अध्याय में जो दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन है वह विगत नवमाध्याय में जो तीन प्रकार की प्रकृतियां बतलाई गई हैं इन्हीं का विशद रूप है। वहां के श्लोक हैं–

**मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः**
**राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।।१२।।**
**महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः**
**भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।१३।।**

इनमें राक्षसी, आसुरी और दैवी प्रकृतियों का वर्णन आया है। यहां प्रस्तुत प्रसंग में दैवी और आसुरी दो ही सम्पत्तियां वर्णित हुई हैं। राक्षसी और आसुरी में परस्पर यह भेद है कि यद्यपि दोनों ही वेद बोधित कार्यों की अवहेलना करती हैं परन्तु राक्षसी प्रकृति में द्वेष-मूलिका हिंसा का प्रधान स्थान है और आसुरी सम्पत्ति में राग के प्राबल्य के कारण विषय भोग की प्रधानता रहती है। यहां राक्षसी प्रकृति का पृथक् विवरण नहीं किया गया। उसका कारण व्याख्याकारों ने यह बतलाया है कि मोक्ष की विघातिका दैवी के अतिरिक्त दोनों हैं, अतः दैवी सम्पत्ति को मोक्ष के साधन के रूप में और

आसुरी तथा राक्षसी इन दोनों मोक्ष की अवरोधिनी सम्पत्तियों को एक करके परिवर्जनीय और मोक्ष की बाधिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

श्रीरामानुजाचार्य अध्याय की संगति लगाते हुए कहते हैं कि विगत अध्याय में जो क्षर, अक्षर, अव्यय का अतिगंभीर निरूपण किया गया, उसकी स्थिरता के लिए ही यहां दैवी और आसुरी सम्पत्ति का विशकलन हुआ है। दैवी सम्पत्ति शास्त्रों के वश में रहती है और आसुरी सम्पत्ति शास्त्र आदि के नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं समझती। यही इन दोनों में महान् अन्तर है कि एक नियन्त्रित है, दूसरी सर्वथा अनियन्त्रित। जो नियन्त्रित रहती है वह निश्चित ही कल्याणदायिनी होगी और जो अनियन्त्रित है उसकी अनर्थकारिता में किस विचारक को सन्देह हो सकता है ? आसुरी सम्पत्ति के प्रकरण में आगे चल कर स्पष्ट होगा कि संसार का नियन्ता जो परमेश्वर है, आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुष उसका भी सर्वथा निषेध कर देते हैं। वे अपनी प्रकृति के अनुसार किसी भी प्रकार का नियन्त्रण सहन ही नहीं कर सकते। इसीलिए श्री रामानुजाचार्य ने इनको शास्त्र के विपरीत आचरण करने वाला माना है और अव्यय ईश्वर के ज्ञान की स्थिरता के लिए शास्त्रानुकूल दैवी सम्पत्ति की उपादेयता स्वीकार की है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि पूर्व अध्याय के अन्त में कहा गया था कि–

**'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्**
**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'।**

इसमें जो असम्मूढ़ शब्द आया है उसी का विवरण इस अध्याय में उपक्रान्त हुआ है। जो दैवी सम्पत्ति से अनुगृहीत पुरुष हैं वे असम्मूढ़ हैं और जो आसुरी सम्पत्ति वाले हैं वे सम्मूढ़ हैं, यही इस देवासुर सम्पत्ति के विभाग का प्रयोजन है यह श्रीवल्लभाचार्य का यहां आशय है।

अमृत-तरंगिणी के रचयिता श्री पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि पूर्वाध्याय के अन्त में कहा गया था कि–

**'एवं बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत'**

अर्थात् इसी ज्ञान को प्राप्त करके बुद्धिमत्ता और कृतकृत्यता की प्राप्ति होती है। इस पर यह शंका होती है कि संसार में इतने बुद्धिमान् लोग हैं, एक से एक बढ़कर अपनी बुद्धिमत्ता का दावा रखते हैं, वे सभी इस ज्ञान को प्राप्त करके कृतकृत्य क्यों नहीं हो जाते, इसी प्रश्न का उत्तर यहां दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति का विवरण करते हुए दिया जा रहा है कि यद्यपि मानव तथा मानवेतर प्राणियों में भी बुद्धि है,

मनुष्य तो मुख्य रूप से बुद्धिजीवी ही माना गया है, परन्तु सभी बुद्धि रखने वाले न तो इस ज्ञान को समान रूप से प्राप्त ही कर सकते हैं और न समान रूप से उन्हें कृतकृत्यता की ही प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि सभी का इस विषय में समान अधिकार नहीं रहता। जिनका जन्म ही दैवी सम्पत्ति में हुआ है और जन्म के अनन्तर जो दैवी सम्पत्ति में ही पोषण प्राप्त करते हैं उन्हीं का इस विज्ञान को जानने में अधिकार है, इसी बात को बतलाने के लिए यहां दैवी और आसुरी सम्पत्ति का विवरण किया जा रहा है और आगे चलकर–

**"मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि भारत"**

कह कर अर्जुन का जन्म ही दैवी सम्पत्ति में हुआ है अतः अर्जुन की दैवी सम्पत्ति से परिपूर्णता बतलाते हुए उसे ज्ञान विज्ञान का पूर्ण अधिकारी भगवान् ने बतलाया है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि वेद में कहा गया है–

**"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च"**

अर्थात् प्रजापति की दो सन्तान हुई देव और असुर ! इससे यह सिद्ध हुआ कि गीता का दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का निरूपण वेदों के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अपनी चित्तवृत्ति को अभय, सत्वसंशुद्धि आदि की ओर ले जाने वाले देवता होते हैं और दम्भ, दर्प आदि की ओर ले जाने वाले असुर होते हैं। अर्जुन को पहिले ही अनघ कह कर भगवान् सम्बोधित कर चुके हैं अतः उसके दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होने में कोई सन्देह नहीं है।

तत्त्व प्रकाशिका में कहा गया है कि गुह्यतम शास्त्र के अधिकार निर्णय के लिए नवमाध्याय में प्रक्रान्त दैवी और आसुरी सम्पत्ति का यहां विस्तार से विवरण दिया जा रहा है। श्रीमधुसूदनसरस्वती का कथन है कि पूर्वाध्याय में–

**'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्म्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'**

इत्यादि पद्य के द्वारा यह बतलाया गया था कि पूर्व जन्म के कर्मों के द्वारा समुत्पादित जो वासनाएं होती हैं वे ही संसार वृक्ष की अवान्तर मूल बनती हैं। उनमें जो शुभ और सात्विक वासनाएं होती हैं उन्हें ही दैवी सम्पत्ति के अन्तर्गत माना जाता है अतः पूर्वजन्म की शुभ और सात्विक वासनाएं इस जन्म की दैवी सम्पत्ति का कारण बनती हैं, इसी प्रकार वेदों और शास्त्रों में जिन कर्मों के करने का निषेध है, उन निषिद्ध कर्मों के करते रहने से और शास्त्रों के निषेधों का अतिक्रमण करने से आसुरी सम्पत्ति का उदय होता रहता है। यह आसुरी सम्पत्ति रागद्वेष पर अवलम्बित

रहती है और यह सारे अनर्थों की मूलभूता है। स्पष्ट है कि इनमें दैवी शास्त्रों के द्वारा विहित है, समस्त शास्त्र एक स्वर से दैवी सम्पत्ति का ग्रहण करने के उपदेश देते हैं अतः वही शास्त्रों के द्वारा सम्मत आदृत, और विहित है, इसके विपरीत आसुरी सम्पत्ति समस्त शास्त्रों में निन्दित और प्रतिषिद्ध मानी गई है। जहां कहीं दैवी सम्पत्ति का विवरण मिलेगा वहीं साथ में आसुरी सम्पत्ति का भी विवरण प्राप्त होगा। परन्तु दैवी सम्पत्ति का विवरण ग्रहण करने के लिए किया जायगा और आसुरी का परिवर्जन या बचने के लिए। उदाहरण के लिए काव्य शास्त्र को ही लीजिए। काव्य शास्त्र कान्तासम्मित उपदेश प्रदान करते हैं, यह हम गीता प्रवचन के प्रथम भाग के आरम्भ में स्पष्ट कर चुके हैं। रामायण महर्षि वाल्मीकि का आदि काव्य है। उसमें दैवी सम्पत्ति शाली भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का भी पुण्यमय पावन चरित्र अंकित है, और साथ ही दम्भ दर्प अभिमान् की साक्षात् मूर्ति राक्षस राज रावण का भी चरित्र अंकित है। परन्तु उस काव्य का यह विस्पष्ट निष्कर्ष है कि–

**''रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्''**

अर्थात् राम आदि की तरह ही व्यवहार करना चाहिए रावण आदि की तरह नहीं। इस प्रकार दोनों सम्पत्तियों का वर्णन होने पर भी काव्य शास्त्र के द्वारा आदरणीय और अनुकरणीय के रूप में केवल दैवी सम्पत्ति का ही ग्रहण हुआ करता है। आसुरी सम्पत्ति का विवरण सर्वदा बाध्य और त्याज्य के रूप में ही होता है। श्री अभिनवगुप्ताचार्य अध्याय की अवतरणिका में लिखते हैं कि पहिले जो ''एतद् बुध्वा बुद्धिमान् स्यात्'' कहा गया है उसमें श्रुतिविहित कर्मों का अनुष्ठान ही बोध रूप माना गया है। इसके साथ ही अविहित का त्याग भी आवश्यक है। आत्म लाभ के लिए शास्त्रों के अध्ययन से, 'इदम्' 'इत्थम्' और 'एवम्' का प्रत्येक कर्मानुष्ठान के पूर्व ज्ञान आवश्यक है। वह कर्म किस रूप का है, उसके सम्पादन का प्रकार क्या है और अन्ततः उसका परिणाम क्या है, यह विचार विमर्श और परामर्श से निश्चय कर लेना चाहिए। इससे जीवन में जो कुछ अभ्यास किया जाता है उसका फल आत्मलाभ होने लगता है। इस प्रकार की युक्ति, चिन्ता और भावना से युक्त पुरुष में शिष्य बनने और गंभीर ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है। विगत अध्याय के अन्तिम पद्य की व्याख्या करते हुए हमने श्री अभिनवगुप्ताचार्य के मत का विवरण दिया था कि वे उस अध्याय में गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का उपसंहार मानते हैं और आगे के इस षोडश और सप्तदश अध्याय को शिष्य की योग्यता के विवरण के रूप में तथा अन्तिम अठारहवें अध्याय को अर्जुन की शंकाओं के विस्तृत समाधान और उपसंहार के रूप में स्वीकार करते

हैं। उसी के अनुसार यहां दैवी सम्पत्ति–सम्पन्न पुरुष गंभीर ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी होता है तथा आसुरी सम्पत्ति वाला पुरुष उसका सर्वथा अनधिकारी है, अर्जुन दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न होने से ही इस ज्ञान का अधिकारी बना इसी का विवरण करने के लिए अग्रिम अध्यायों का उपस्थापन आचार्य को अभीष्ट है।

वस्तुत: समस्त शास्त्रों का अन्तिम तात्पर्य इसी दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के विवरण में ही हुआ करता है। इन सम्पत्तियों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। सम्पूर्ण जीवन के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी कार्यों में उनका परीक्षण होना चाहिए। यह बात नहीं कि कोई पुरुष सर्वथा दैवी शक्ति से ही सम्पन्न होगा, उससे कोई निन्दित कार्य होगा ही नहीं, ऐसे पुरुष संसार में सुदुर्लभ हैं। इसी प्रकार सर्वथा आसुरीभाव से वेष्टित पुरुष भी अनेकधा प्रशंसनीय कार्य करते देखे जाते हैं। इन सम्पत्तियों का गहन सम्बन्ध यद्यपि अध्यात्म जगत् से ही होता है, परन्तु अध्यात्म जगत् ही व्यावहारिक जगत् का भी परिचालक है, अत: इन सम्पत्तियों की पहिचान बाह्य आहार विहारों में भी पूर्ण रूप से हो जाती है। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता है जिसका विस्तार से वर्णन हम गीता प्रवचन प्रथम भाग के आरम्भिक प्रवचनों में कर चुके हैं कि यहां कर्तव्य, अकर्तव्य का निर्णय आध्यात्मिक जगत् पर पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। इसलिए गीता का यह दैवी आसुरी सम्पत्ति का वर्णन व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है।

आगे के श्लोकों में दैवी सम्पत्ति का वर्णन किया गया है।

---

# अट्ठाइसवां-पुष्प

**श्री भगवानुवाच**

**अभयं सत्त्व-संशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**
**दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।१।**
**अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्**
**दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।२।**
**तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता**
**भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ।३।**

श्री भगवान् कहते हैं–हे भारत !

'अभय, सत्त्व अर्थात् अन्तःकरण की सम्यक् शुद्धि, ज्ञान और योग में स्थित हो जाना, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप ऋजुता, अर्थात् सरलता (१) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, अर्थात् पर निन्दा से निवृत्त होना, भूतों पर दया, लोलुपता का अभाव होना, मृदुता, लज्जाशीलता, चपलता का अभाव (२) तेज, क्षमाशीलता, धैर्य, शुचिता, अर्थात् पवित्रता, द्रोह न करना, अतिमानी, अर्थात् अभिमानी न होना ये सब गुण दैवी सम्पत्ति में समुत्पन्न पुरुष को प्राप्त होते हैं।

इन दैवी सम्पत्ति के लक्षणों में से अनेक लक्षण तेरहवें अध्याय में कहे गए ज्ञान के साधनों के समान ही हैं। वहां सम्यक् ज्ञान किस प्रकार का होता है और इसके साधन क्या हैं यह बात बतलाई गई थी। इस प्रकरण में भी उसी का बहुत कुछ साम्य है, क्योंकि दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होना मोक्ष प्राप्ति का साधन या उपाय है, और मोक्ष प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। अतः मोक्ष प्राप्ति के उपाय भूत जो साधन हैं, वे ज्ञान के लक्षणों के से हो जायं तो उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं होती। दो दो बार उन बातों को उतने ही विशद रूप में समझाने का अभिप्राय भी स्पष्ट है कि इन गुणों का जितना भी अधिक स्पष्टीकरण किया जाय उतना ही कम है। किसी भी आदर्श पुरुष के लिए यह आवश्यक है कि वह सर्वदा इन्हें अपने सामने रखे, क्षण भर के लिए भी इनका परित्याग न करे। दैवी सम्पत्ति में तो ये ही सर्वतो भावेन आदरणीय गुण हैं। सम्पत्ति अर्थात् धन से भरा हुआ कोई करोड़पति व्यक्ति जैसे निरन्तर अपने धन पर ही दृष्टि रखता है, उसकी और अधिक वृद्धि के उपाय ही सर्वदा सोचता है, उसके क्षीण न होने देने का प्रत्येक प्रबन्ध रखता है, उसी प्रकार दैवी सम्पत्ति का स्वामी इसकी

देखभाल करता है। यह सम्पत्ति सर्वदा बढ़ती रहे और इसका अपक्षय न हो इसके लिए वह निरन्तर जागरूक रहता है, और इस सम्पत्ति का बार-बार अनुध्यान और निरीक्षण करता रहता है। इस प्रकार का निरीक्षण करते रहने से ही यह सम्पत्ति रहती है। जैसे कण कण संचय करने से धन बढ़ता चला जाता है, वैसे ही इन गुणों का भी कण कण संचय करते रहना दैवी सम्पत्ति शाली का स्वभाव हो जाता है। वह दूसरे के गुणों के परमाणुओं को अपने में पर्वत के समान बढ़ा चढ़ा कर विकसित करता रहता है जिससे उसे ऐसी सन्तुष्टि प्राप्त होती है जो करोड़पति या चक्रवर्ती सम्राट को भी स्वप्न में भी सुलभ नहीं हो सकती।

## अभय

दैवी सम्पत्ति में सर्वप्रथम स्थान भगवान् ने अभय को दिया है। भय के कारण के उपस्थित होने पर भय के प्रभाव में आ जाना प्राणिमात्र का स्वभाव है। परन्तु दैवी सम्पत्ति वाले प्राणी कभी भयभीत नहीं होते। श्री रामानुजाचार्य ने लिखा है कि अपनी इष्ट वस्तु के वियोग और अभीष्ट वस्तु की अनुपलब्धि से प्राणि मात्र को कष्ट पहुंचता है, उस दुःख का जो कारण है उसे देखकर भय होता है, उससे निवृत्त हो जाना ही अभय कहलाता है। दुःख के कारण को देखकर ही भय हुआ करता है। जब तक इष्ट का वियोग न हुआ हो, केवल यह प्रतीत हो कि अमुक वस्तु मेरे अमुक इष्ट का विघात करने वाली है, तभी तक उससे भय होता है। जब इष्ट का विघात होने लगता है तब भय की स्थिति समाप्त होकर दुःख की स्थिति आती है। एक सुभाषित में इसी बात का चित्रण है कि–

**"तावद् भयेन भेतव्यं यावद् भयमनागतम्**
**आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम्"**

अर्थात् भय से या भय के कारण उपस्थित होने पर तभी तक डरना उचित है जब तक कि भय का वह कारण सामने उपस्थित नहीं हो जाता, जब भय सामने आ ही पहुंचा तब डरने से कोई लाभ नहीं, तब तो उसका यथोचित प्रतीकार करने के लिए सन्नद्ध हो जाना चाहिए। आनन्द गिरि व्याख्या का आशय यह है कि भय तब उत्पन्न होता है जब कोई ऐसा कार्य हो जाय जिस कार्य के औचित्य पर सन्देह हो कि मेरे द्वारा किया गया अमुक कार्य उचित है या अनुचित। इसीलिए दैवी सम्पत्ति शाली पुरुष स्वेच्छा से कोई कार्य करता ही नहीं। वह अपने प्रत्येक कार्य का आधार शास्त्र और महापुरुषों के उपदेश को बनाता है। शास्त्रों को शास्त्र इसीलिए कहा जाता है कि वह

शासन करता है, अर्थात् दूषित मार्ग में जाने से रोकता हुआ सन्मार्ग में प्रवृत्त करता है। इसलिए शास्त्र बोधित कार्यों के औचित्य पर सन्देह हो ही नहीं सकता। जब सन्देह नहीं रहा तो भय का कारण भी नहीं रहा और अभय की प्राप्ति हो गई। इसी अभय की प्राप्ति के लिए शास्त्रों का आश्रय लेना परमावश्यक है। शास्त्रों के उपदेशों को छोड़ कर अपनी इच्छा से आचरण करने वाले पुरुषों के सिर पर सर्वदा भय की छाया बनी रहती है क्योंकि उन्हें अपने कार्यों पर सर्वदा सन्देह रहता है कि हमारा अमुक कार्य कहीं अनुचित तो नहीं हुआ। श्री पुरुषोत्तम जी ने जो लिखा है उसका आशय यह है कि सबसे बड़ा भय प्राणी को काल का होता है। एक न एक दिन काल हमें अपने इष्ट जनों से वियुक्त कर देगा यह मृत्यु से भय सभी को होता है। इससे किसी की मुक्ति नहीं हो पाती क्योंकि मृत्यु एक अनिवार्य बात है और मृत्यु के उपरान्त की स्थिति का शाब्दिक परोक्ष ज्ञान भले ही हो जाय, प्रत्यक्ष अनुभव उस स्थिति का किसी को नहीं होता या अनुभव करने वाला अपने अनुभव को सुनाकर दूसरों को सचेत करने नहीं आता। प्रतिदिन संसार में सहस्त्रों प्राणियों की मृत्यु होती है और सबको यह विदित है कि हमारी भी मृत्यु निश्चित है। वह एक ध्रुव सत्य है–**''जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः''**, परन्तु उससे भय इतना है कि अपनी वर्तमान दशा से अत्यन्त असन्तुष्ट पुरुष भी मृत्यु के भय से इतना त्रस्त रहता है कि वह मरना नहीं चाहता। तात्पर्य यह है कि काल का भय ही सबसे बड़ा भय होता है। परन्तु ज्ञान सम्पन्न मुमुक्षु पुरुष को जब यह ज्ञात हो जाता है कि परमेश्वर कालादि सभी का नियामक है, उसी के शासन में मृत्यु को भी चलना पड़ता है **''मृत्युर्धावति पंचमः''** तब वह सबसे बड़े इस काल के भय से भी मुक्त हो जाता है और उसे अभय प्राप्त हो जाता है। श्रीनीलकण्ठ इसी बात को इस रूप से कहते हैं कि अपने स्वरूप के नाश की बुद्धि का अभाव हो जाना, अर्थात् हम कभी नहीं रहेंगे यह बुद्धि मिट जाना ही अभय है। आत्मज्ञानी पुरुष की यह बुद्धि निवृत्त हो जाती है कि हम नहीं रहेंगे। क्योंकि आत्मा का अभाव कभी नहीं होता। श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि मुमुक्षु पुरुष जब सभी सांसारिक वस्तुओं का परित्याग कर संन्यासी हो जाता है तब उसे इस बात का भय नहीं रहता कि समस्त वस्तुओं का परित्याग कर देने पर अकेला रहकर मैं कैसे जीवित रहूंगा। सर्वात्मदर्शी बनकर वह अपने एकाकीपन को भुला देता है और सभी में आत्मदर्शन करने के कारण उसे भय नहीं रह जाता। श्रीशंकरानन्द कहते हैं कि अभय की बात तब उठती है जब भय का कारण उपस्थित हो। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आदि भय के कारणों के उपस्थित होने पर भी दैवी सम्पत्ति वाला

पुरुष भीत नहीं होता। वह अपनी उपस्थिति से अन्य लोगों को भी निर्भय बना देता है। विभीषण की शरणागति के अवसर पर वाल्मीकि रामायण में भगवान् श्री रामचन्द्र की उक्ति लिखी है कि–

**सकृदेव प्रपन्नाय तवाऽस्मीति च वादिने**
**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।**

अर्थात् एक बार शरण में जो आ गया और जिसने यह कह दिया कि "मैं तेरा हूं" ऐसे प्राणी को मैं समस्त भूतों से निर्भय बना देता हूं, यह मेरा व्रत है।" दैवी सम्पत्ति जहां है वहां पहुंचने वाले प्राणी भय शून्य हो जाते हैं। प्राचीन काल में जिन ऋषियों के तपोवनों और आश्रमों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है, वे दैवीसम्पत्ति सम्पन्नता के जीते जागते चित्र हैं, वहां परस्पर विरुद्ध प्रकृति रखने वाले गो, व्याघ्र आदि में भी किसी को एक दूसरे से भय नहीं रहता था। भारत टीका में आत्मचिन्तन के लिए पर्वतों की गुफाओं में रहने पर भी भीत न होने आदि को अभय कहा है। राघवेन्द्र विवृति में कहा गया है कि दूसरों को उद्विग्न करने से उनसे भय की आशंका होती है–परन्तु मुमुक्षु पुरुष के लिए भगवान् पहिले ही कह आए हैं कि–

**"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।"**

जिससे लोक उद्विग्न नहीं होता और जो स्वयं लोक से उद्विग्न नहीं होता ऐसे पुरुष को भय किससे होगा।

विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझा ने अपने 'ब्रह्मविज्ञान' ग्रन्थ में भय का विवेचन किया है। वह प्रकरण बड़े महत्व का है अतः हम उसे यहां उद्धृत करते हैं। पहिले उन्होंने भय का कारण ज्ञान है अथवा अज्ञान यह विचार करते हुए लिखा है–

**"भयं ततोऽज्ञानवशात्प्रजायते भयस्य मात्रा तदबोधमात्रया**
**प्रशान्तिमात्राऽपि च बोधमात्रया सर्वत्र दृश्येतविवेकशलिनाम्"**

(ब्रह्म विज्ञान, श्लोक २५१)

अज्ञान से भय होता है, जितना अज्ञान होगा उतना ही भय होगा, जितना ज्ञान हो जायगा उतने अंश में भय निवृत्त हो जायगा।

**प्रज्ञाभयेऽस्मिन्विचलत्यवश्यं शान्तौ पुनः सा स्थिरतामुपैति**
**प्रज्ञा यदुत्सीदति चात्मनः सा भयस्य काष्ठा म्रियते तदासौ**

(ब्रह्म विज्ञान, श्लोक १५२)

अर्थात् भय होने पर बुद्धि विचलित हो जाती है, भय के शान्त होने पर वह शान्त होती है। बुद्धि में जब विवेक का बल होता है तब प्रज्ञा विचलित नहीं होती, इसीलिए स्थितप्रज्ञ पुरुष को भय नहीं होता। भय की पराकाष्ठा में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

इसके अनन्तर यह बतलाया गया है कि शरीर के किन किन तत्त्वों पर भय के क्या क्या प्रभाव होते हैं। यदि भय युक्त पुरुष का प्राण कम्पित हो जाता है तब चाहे वह कितना ही दुर्बल हो अपने स्थान से भाग जाता है। भय के प्रभाव से वाणी में कम्पन होने पर टूटी टूटी आवाज निकलने लगती है। भय से यदि शरीर के वायु में कम्पन हो तब शरीर के अंग थरथराने लग जाते हैं और अधिक श्वास आने लगता है। यदि भय के कारण शरीरस्थ तेज में कम्पन हो तो मुख में शुष्कता आ जाती है। यदि शरीरस्थ जल में भय से कम्पन हो तो सारे शरीर में पसीने आ जाते हैं। यदि पार्थिव तत्त्व में कम्पन हो तो शरीर निश्चेष्ट हो जाता है जिसका परिणाम मूर्छा में होता है। यदि अधिक समय तक शरीर में भय का प्रभाव रहे तो मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार भय के प्रभावों का वर्णन करने के उपरान्त आगे वह पूर्व पक्ष रूप में उठाई गई इस बात का खण्डन करते हैं कि भय अज्ञान से होता है। ऐसा नहीं है अपितु भय ज्ञान से ही होता है, अज्ञान से तो भय नहीं होता यही देखा जाता है। किसी व्यक्ति को यदि यह ज्ञान हो जाय कि अमुक वृक्ष में भूत रहता है, तो वह वहां जाने से डरेगा, जिसको इसका ज्ञान नहीं है वह तो रात्रि को उस वृक्ष के नीचे निर्भय होकर सो जाता है और दिन में भी उसकी शीतल छाया में सानन्द विश्राम करता है। इस प्रकार ज्ञान से ही भय सिद्ध होता है। तब यदि ज्ञान से भय हो तो आत्मा को ज्ञान और आनन्दमय कैसे बतलाया जाता है, इसका उत्तर देते हुए भय का वास्तविक निरूपण करते हैं कि—

**अत्राहुरज्ञानकृतं न तद्भयं नत्वेव विज्ञानकृतं क्वचिद्भयम्**
**ज्ञानं यदज्ञानकृतं तदागमान्मुह्यन्ति सर्वे भयहेतुरस्ति तत्**

(ब्रह्म विज्ञान २६६)

अर्थात् भय न तो अज्ञान से उत्पन्न होता है और न ज्ञान से। उसका कारण अज्ञान से आवृत ज्ञान है जब अज्ञान से ज्ञान आवृत हो जाता है तभी भय होता है।

जो ज्ञानवान् पुरुष है उनका ज्ञान कभी अज्ञान से आवृत नहीं होता अतः उनको कभी भय भी नहीं होता।

सत्व संशुद्धि का अर्थ श्री शंकराचार्य ने अन्तःकरण की शुद्धि किया है। अन्तःकरण जब शुद्ध नहीं होता तो मनुष्य दूसरों को धोखा देता है, उनसे कपट, छल, दंभ करता है, मिथ्या भाषणादि करता है। विशुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष कभी ऐसा नहीं करता इसी बात को श्री रामानुजाचार्य ने इस रूप से कहा है कि अन्तःकरण का रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से बचे रहना ही सत्व संशुद्धि है। संशुद्धि का अर्थ आनन्द गिरि ने किया है सम्यक् शुद्धि। शुद्धि में सम्यक्ता दिखाते हुए वे लिखते हैं कि भगवान् के स्फुरण होने की योग्यता अन्तःकरण से हो जाना ही सत्व संशुद्धि है। श्रीनीलकण्ठ ने चित्त की निर्मलता को सत्व संशुद्धि कहा है। अन्तःकरण के निर्मल न रहने से ही व्यवहार में बड़े बड़े अनाचार होने लगते हैं, अतः दैवी सम्पत्ति वाला पुरुष सत्व संशुद्धि को अनिवार्य मानता है–

'**ज्ञान योग व्यवस्थिति**' का अर्थ करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि शास्त्रों के द्वारा तथा आचार्य के उपदेश से आत्मादि पदार्थों का अवगमन ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार का जो अवगमन होता है वह केवल शाब्दिक होने के कारण परोक्ष रूप से ही होता है, अतः उसके प्रायोगिक रूप को ही योग कहा जाता है जिसके कि बिना केवल शाब्दिक ज्ञान अधूरा रह जाता है। समस्त इन्द्रियों को अपने विषयों से समेट कर अपने शास्त्र आदि के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान को अनुभूति में एकाग्र होकर उतारना ही योग है। ज्ञान और योग में अर्थात् शास्त्रों और आचार्य के द्वारा आत्मा आदि पदार्थों का सम्यक् प्रकार से अवगमन करना और इन्द्रियों को एकाग्र कर इस अवगत ज्ञान को अनुभूति का विषय बनाना इन दोनों प्रयत्नों में सर्वदा अपने को लगाये रहना ही 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' कहलाती है। श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप प्रकृति से पृथक् है, इस प्रकार के ज्ञान योग में प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न कर लेना ही 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' है। पैशाच भाष्य में अष्टाङ्ग योग के अनुष्ठान से आत्मा आदि प्रमेय पदार्थों के अपरोक्ष साक्षात्कार को योग कहा गया है। आनन्द गिरि कहते हैं कि विज्ञात पदार्थों को चित्त की एकाग्रता से अनुभवारूढ़ कर देना ही योग है।

दान का अर्थ श्रीशंकराचार्य करते हैं कि अपने पास जो अन्न आदि है उसका यथाशक्ति संविभाग करना अर्थात् उसे वितरित करना ही दान है। वही दान दान कहलाने योग्य है जो कि अपने द्वारा न्यायपूर्वक उपार्जित द्रव्य का सत्पात्र में निक्षेप होता है। यदि किसी अन्याय बेईमानी आदि से बहुत सा धन उपार्जित कर लिया और उसका कुछ अंश वितरित कर दिया वह दान निकृष्ट या तामस दान है जैसा कि आगे भगवान् ने दान के सात्त्विक, राजस, तामस भेद स्वयं करके उनका स्वरूप भी समझाया है वहीं दान पर विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

अपनी उच्छृंखल चित्त वृत्तियों पर अंकुश लगाना ही दम कहा जाता है। इन्द्रियां अपने विषयों के आकर्षण में चित्त को ऐसा बांध सा देती हैं कि उन क्षण स्थायी विषयों के पीछे पीछे चित्त भटकता रहता है। दम से चित्त के इस चांचल्य की उपरति होती है। इन्द्रियों को अपने विषयों से अलग करने का अभ्यास इसमें आवश्यक होता है। योग मार्ग में यम, नियम आदि की प्रक्रिया में दम का ही साधन बतलाया जाता है। यहाँ कुछ व्याख्याकारों ने अन्तःकरण के शमन करने को दम माना है जबकि अन्य व्याख्याकारों ने बाह्य इन्द्रियों के विषयों से पृथक् करण को ही दम कहा है। उनका कहना है कि अन्तःकरण की उपरति को आगे शान्ति पद से भगवान् ने पृथक् बतला दिया है। दैवी सम्पत्ति शाली पुरुष के लिए इन्द्रिय दमन अनिवार्य है।

इससे आगे यज्ञ कहा गया है। श्रीशंकराचार्य ने श्रुतियों में विहित अग्निहोत्रादि तथा स्मृतियों में विहित विष्णु, रुद्र, देवी आदि सभी यज्ञों का संग्रह किया है। यद्यपि असुर लोग भी यज्ञ करते थे ऐसा वर्णन सर्वत्र मिलता है परन्तु वह यज्ञ दैवी सम्पत्ति का सूचक नहीं। बिना किसी फल की अभिलाषा के भगवत्प्रीत्यर्थ सर्वभूतहित कामना से जो यज्ञ विधिपूर्वक किये जाते हैं वे ही दैवी सम्पत्ति के अन्तर्गत आते हैं यह श्रीरामानुजाचार्य का आशय है। हम कह चुके हैं कि यज्ञ एक सृष्टि क्रम को निरन्तर निर्बाध रूप से परिचालित करने वाली प्रकृति सिद्ध वैज्ञानिक प्रक्रिया है। प्रकृति के उपकारक अंश को अपनी अनुकूलता के लिए आकृष्ट कर लेना ही मानवीय यज्ञों का मुख्य प्रयोजन है। जनता में व्याप्त कष्ट को दूर करना इन यज्ञ कर्त्ताओं का प्रधान उद्देश्य रहता है। पैशाच भाष्य में स्मृति विहित पञ्चमहायज्ञों और श्रुतिविहित अग्निष्टोम आदि यज्ञों का यहां संग्रह किया है। पुरुषोत्तमजी ने पद्योक्त चकार से यह ध्वनि निकाली है कि भगवान् की विभूति के रूप में ही यज्ञों का अनुष्ठान करने पर दैवी सम्पत्ति का लाभ होता है। भारतवर्ष में यज्ञों का इतना अधिक महत्त्व माना गया है कि प्राचीन वाङ्मय यज्ञों के वर्णनों से ओत प्रोत है। यज्ञों की विधियों को बतलाने के लिए एक पूरा शास्त्र "मीमांसा" के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् ने भी यहाँ उस हमारी संस्कृति के महत्वपूर्ण अङ्ग को दैवी सम्पत्ति के स्वरूप में परिगणित कर दिया है।

आगे स्वाध्याय का कथन है। श्रीशंकराचार्य ने बिना किसी लौकिक उन्नति की अभिलाषा के केवल अदृष्ट उत्पन्न करने के लिए वेदों के अध्ययन को स्वाध्याय कहा है। वेद में भगवान् की समस्त विभूतियों की आराधना के प्रकारों को बतलाया है ऐसा समझकर वेदों के अभ्यास में अपनी निष्ठा रखना ही स्वाध्याय है ऐसा श्री रामानुजाचार्य का आशय है। स्वाध्याय करना भारतीय संस्कृति का आवश्यक अंग बतलाया गया है। समावर्तन संस्कार के समय गुरु अपने शिष्य को यह उपदेश देता था कि–

**"स्वाध्यायान्मा प्रमदः"**

अर्थात् स्वाध्याय में कभी प्रमाद नहीं करना। स्वाध्याय भी विशेष रूप से वेदों के अभ्यास को ही कहा जाता है क्योंकि वेद ही असन्दिग्ध और सुनिश्चित अर्थों का बोधन करते हैं। वेदों के आधार पर विरचित जो साहित्य है उसे भी स्वाध्याय के विषयों में आचार्यों ने परिगणित कर लिया है। आधुनिक दृष्टि से तो किसी भी प्रकार का अध्ययन स्वाध्याय कहा जा सकता है। आज तो समाचार पत्रों का अवलोकन भी एक प्रकार का स्वाध्याय ही कहा जाता है, परन्तु प्राचीन काल में स्वाध्याय की एक विशेष मर्यादा होती थी और उसके लिए विशेष प्रकार के आचार विचार और विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का संगठन करना होता था। उसी को यहाँ भगवान् ने दैवी सम्पत्ति के निरूपण में स्थान दिया है।

आगे तप का निरूपण है। तप का भी हमारे यहाँ बहुत बड़ा स्थान रहा है। अपने शरीर को कष्ट सहिष्णु बनाना ही तप का मुख्य उद्देश्य है। कृच्छ्र, चान्द्रायण, एकादशी आदि के उपवास आदि अनेक प्रकार के तप भारतीय संस्कृति में विहित हैं। तपस्या से प्राचीन काल में अनेक प्रकार की सिद्धियों के प्राप्त करने का वर्णन सर्वत्र मिलता है। पैशाच भाष्य में कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार की तपस्याओं का उल्लेख किया गया है।

आर्जव का अर्थ है सरलता। इसका निरूपण प्रकरणानुसार पहले ही आ चुका है। श्रीरामानुजाचार्य ने मन, वाणी और कार्यों के एक सूत्र में चलने को आर्जव कहा है। वस्तुतः आर्जव नम्रता का ही पर्याय है, नम्रता में विलक्षण आकर्षण रहता है उसी को नीतिकारों ने शील शब्द से भी कहा है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध पद्य है–

**"वन्हिस्तस्य जलायते जलनिधिःकुल्यायते तत्क्षणा-**
**न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिस्सद्यः कुरङ्गायते ।**
**व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते-**
**यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ।।'**

अर्थात् शीलवान् व्यक्ति के सम्मुख अग्नि जल के समान शीतल हो जाता है, समुद्र छोटी कुल्या बन जाता है, सुमेरु पर्वत छोटी शिला के समान हो जाता है, अत्यन्त क्रूर प्रकृति वाला मृगपति भी शीलवान् पुरुष के सम्मुख आते ही सीधा सा मृग बन जाता है, विषधर सर्प भी माला के समान आचरण करने लगता है। गरल का रस भी पीयूष की वर्षा करने लगता है। इतने विलक्षण प्रभाव वाले आर्जव, नम्रता या शील को दैवी सम्पत्ति में स्थान देना उचित है।

अहिंसा तो प्रसिद्ध ही है। सत्य का स्वरूप भी यद्यपि सभी को ज्ञात रहता है, परन्तु आचरण में सत्य को उतारना प्रारम्भ से ही बहुत कठिन माना गया है। वस्तुतः मन, वाणी और कर्म की एकरूपता रहने से ही सत्य का परिपालन सम्भव है। जिस प्रकार खिले हुए पुष्प की दूर से ही गन्ध प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार सत्य का आचरण करने वाले मनुष्य का प्रभाव बहुत दूर दूर तक व्याप्त रहता है। सत्य को भगवान् का रूप भी बतलाया गया है। सत्य की व्यवहारिक मर्यादा नीतिकारों ने अनेक प्रकार से बनाई है। वास्तव में जो बात जिस तरह घटी हो अथवा जिस घटना का जो परिणाम होनेवाला हो उसको उसी रूप में प्रकाशित कर देना, उसी को सत्य कहते हैं। वेदों में कहा गया है–

**''एतद्धि मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः''**

अर्थात् नेत्र ही मनुष्य के लिए सत्य है जब कोई बात आंख से देखी जाती है तो उसकी सत्यता पर सन्देह नहीं रह जाता। परन्तु सत्य की व्यावहारिक सीमा में उसका प्रिय होना भी आवश्यक है। एक सूक्ति प्रसिद्ध है कि–

**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।**
**प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।**

अर्थात् प्रिय सत्य का ही कथन करना चाहिए, कटु सत्य का नहीं, फिर भी व्यवहारिक रूप में सत्यनिष्ठ होना दैवी सम्पत्तिशाली के लिए आवश्यक माना गया है, वह प्रियता का विचार नहीं करता, चाहे किसी को कटु भी लगे किन्तु अपने सत्य को वह नहीं छोड़ना चाहता।

अक्रोध का अर्थ है दूसरे के द्वारा पीड़ित होने पर भी अपने चित्त को विचलित न करके शान्त रखना। क्रोध आने पर मनुष्य दूसरे को पीड़ित करने लगता है। इस प्रकार के विकार को हटा देना अक्रोध है, यह श्री रामानुजाचार्य का आशय है। श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि यदि कोई बिना किसी कारण के ही ताड़ना करने लगे उस समय भी अपने चित्त पर उस पुरुष के व्यवहार से किसी प्रकार के विकार को उत्पन्न न होने देना ही अक्रोध है।

त्याग का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने संन्यास किया है। त्याग का अर्थ अपने स्वामित्व में आई हुई वस्तु को छोड़ना ही हो सकता है, लोक में त्याग का यही अर्थ प्रसिद्ध भी है, परन्तु श्री शंकराचार्य उक्त अर्थ को यहाँ इसलिए नहीं लेते क्योंकि वह बात दान शब्द से पहिले ही कह दी गई है। समस्त संसार का त्याग करना ही संन्यास

कहा जाता है। श्रीरामानुजाचार्य ने आत्महित के प्रतिकूल जो वस्तुएं हैं उनको दूर कर देना यहाँ त्याग माना है। वस्तुतः त्याग शब्द का अर्थ अठारहवें अध्याय में स्वयं भगवान् करेंगे।

शान्ति का अर्थ है अन्तःकरण का उपशम। इन्द्रियों का अपने विषयों की ओर जो स्वाभाविक आकर्षण है उससे उन्हें रोक देना ही शान्ति है।

दूसरों के प्रति दूसरे के छिद्रों को प्रकाशित करना पिशुनता कहलाती है। यह बहुत बड़ा अपराध है इसे सबसे बड़ा पाप कहा गया है–

**''पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः''**

अर्थात् यदि किसी मनुष्य को पिशुनता या चुगलखोरी की आदत है तो उसे और पातकों की क्या आवश्यकता है क्योंकि पिशुनता तो सभी पापों की अधिष्ठात्री है। इस प्रकार की पिशुनता से दूर रहना अपैशुन कहा जाता है। श्री रामानुजाचार्य दूसरे के लिए अनर्थकर वाक्यों को न बोलना अपैशुन कहते हैं। पैशाच भाष्य में दूसरों के छिद्रों को आवृत कर देना अपैशुन माना गया है। पुरुषोत्तम जी ने सर्वत्र भगवद् बुद्धि से परनिन्दा से विरत हो जाना अपैशुन कहा है।

दुःखितों पर कृपा करना दया कही जाती है। पैशाच भाष्य का आशय है कि भगवान् की सृष्टि में प्रत्येक प्राणी रक्षणीय है, इस बुद्धि से प्राणिमात्र के साथ ममत्व स्थापित करना ही दया है। माध्व भाष्य में दूसरे को दुःखी देखकर उसके दुःख को सहन न करते हुए उसके दुःख निवारणार्थ प्रयत्न करना दया कहा गया है।

अपने विषयों के समीप आने पर इन्द्रियों का चञ्चल हो उठना ही लोलुपता है। ऐसे प्रसङ्ग पर इन्द्रियों में विकार न उत्पन्न होने देना ही अलोलुप्त्व है। श्रीरामानुजाचार्य ने विषयों से निस्पृह रहने को अलोलुप्त्व कहा है।

मार्दव या मृदुता क्रूरता के अभाव का नाम है। मृदुता रहने पर सज्जन पुरुषों की स्नेह भाजनता प्राप्त होती है।

अकार्य या खराब काम करने में लज्जा का अनुभव होना 'ह्री' कहा गया है। पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि भगवान् से पृथक् होकर जो जीवन मिलता है जिसमें कि भगवान् की कोई सेवा आदि नहीं होती ऐसे जीवन से भगवद् भक्त को लज्जा होती है।

बिना किसी प्रयोजन के हाथ पैरों को हिलाना अथवा बिना प्रयोजन के कुछ बोलते रहना यह चञ्चलता या चापल है। इसका अभाव ही यहाँ अचापल शब्द से कहा गया है।

श्रीशंकराचार्य ने तेज का अर्थ प्रगल्भता किया है। त्वचा की कान्ति से यहाँ अभिप्राय नहीं है। दुष्ट जनों के द्वारा अपना अभिभव न होना ही तेज का लक्षण है। वह तेज दैवी सम्पत्ति वाले पुरुषों में सर्वदा विद्यमान रहता है। महाकवि कालिदास ने लिखा है–

**''शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः''**

अर्थात् शान्ति प्रधान तपस्वी जनों में दुष्टों को भस्म कर देने वाला दाहात्मक तेज निगूढ़ है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि दैवी सम्पत्तिवाला मनुष्य सीधा साधा और अशक्त होगा तो कोई भी दुष्ट और दुराचारी मनुष्य उसके सौजन्य का दुरुपयोग कर सकता है और इस प्रकार वह सर्वदा दुर्जनों के ही चङ्गुल में पड़ा रहेगा। यदि उसमें दुर्जनों के दुराचार को दबाने का सामर्थ्य रहेगा तभी वह निश्चिन्तता से आत्मलीन हो सकेगा। ऐसी अनेक प्राचीन कथाएं प्रसिद्ध हैं जिनमें ऋषियों और सत्पुरुषों के द्वारा अपने निगूढ़ तेज का प्रयोग देखा जाता है। तपस्या में निरत वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में एक बार महाराज विश्वामित्र पहुँचे, उनका वहाँ इतना विलक्षण अतिथि सत्कार हुआ कि वह आश्चर्यान्वित हो गए। मृगया के लिए एक बहुत बड़ी सेना भी वे अपने साथ ले गए थे। इतने बड़े जन समुदाय का स्वागत देखकर उन्होंने महर्षि वसिष्ठ से यह पूछा कि आपके आश्रम में इस प्रकार की सुदुर्लभ अतिथि सत्कार के योग्य सामग्री कहाँ से आई ? तब उन्हें पता चला कि कामधेनु महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में निवास करती है और उसके प्रभाव से कुछ भी वस्तु अलभ्य नहीं है। यह जानकर महाराज विश्वामित्र ने महर्षि से निवेदन किया कि ऐसी गऊ तो राज प्रासादों में उचित है, आपकी तो आवश्यकताएं बहुत अल्प हैं उनकी पूर्ति तो हमारे यहाँ से ही अनायास हो सकेगी, आप कृपया कामधेनु को मेरे राजमहल में ले जाने की अनुमति दे दीजिए। इस पर महर्षि वसिष्ठ ने यही उत्तर दिया कि कामधेनु स्वतंत्र है, उसे कोई आज्ञा नहीं दे सकता, यदि वह स्वयं आपके साथ जाने को प्रस्तुत हो तो आप उसे बड़े हर्ष से ले जा सकते हैं। कामधेनु ने महर्षि वसिष्ठ के पास में आकर उन्हीं के आश्रय में रहने की दृढ़ अभिलाषा व्यक्त की। इस पर महाराज विश्वामित्र ने क्रुद्ध होकर महर्षि वसिष्ठ सहित कामधेनु को बांधकर ले चलने की अपने सैनिकों को आज्ञा दी। महर्षि का निगूढ़ तेज प्रगट हुआ और उनके तेज के सामने ठहरने की किसी की सामर्थ्य नहीं रही। विश्वामित्र भी यह कहकर तपस्या करने वन में चले गए कि इस वृद्ध में जो सामर्थ्य है वह प्राप्त करके ही अब मैं वापस लौटूंगा।

इसी प्रकार महर्षि अगस्त्य की कथा प्रसिद्ध ही है कि कामान्ध इन्द्रपद पर

आसीन राजा नहुष के द्वारा पालकी में जोते जाने पर सिर में उसके पैर की ठोकर खाने के उपरान्त उनका निगूढ़ तेज जाग उठा और उन्होंने नहुष को सर्प बनाकर स्वर्ग से नीचे गिरा दिया। स्वयं भगवान् कृष्ण के चरित्र में ऐसी अनेक घटनाएं आती हैं जहाँ उन्होंने अपने तेज का प्रभाव दिखाया। सन्धि का प्रस्ताव लेकर जब वे दुर्योधन की राजसभा में उपस्थित हुए और दुर्योधन ने उनको बांधना चाहा तब उन्होंने अपना तेज प्रकाशित किया जिससे सभी लोग संत्रस्त हो गए। दैवी सम्पत्ति में तेजस्विता या तेज का परिगणन उस प्रकार के पुरुष की अनभिभवनीयता को प्रकाशित करता है।

क्षमा का तात्पर्य अपराधी के अपराध को भूल जाना है। महापुरुष क्षमाशील होते हैं बड़े-बड़े अपराधियों के प्रति भी उनके चित्त में कोई विकार नहीं आता। पहले जो अक्रोध कहा गया है उससे क्षमा में यह भेद है कि क्षमा में क्रुद्ध और ताड़ना करने वाले व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का बुराभाव उत्पन्न नहीं होता, और अक्रोध में चित्तवृत्ति की क्रूरता भी नहीं उत्पन्न हो पाती।

धृति का अर्थ है धैर्य। बड़ी आपत्ति में पड़ जाने पर भी कर्त्तव्य का निरन्तर ध्यान रखने वाला पुरुष ही धृतिमान् या धीर कहलाता है–

**''विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।''**

अर्थात् चित्त के विकार के कारण के उपस्थित होने पर भी जिनका चित्त विकृत नहीं होता वे ही धीर कहे जाते हैं। श्रीशंकराचार्य अवसाद प्राप्त देह और इन्द्रियों के दुःख को हटाने वाली चित्तवृत्ति को धृति कहते हैं। जिससे अनुगृहीत होकर देह और इन्द्रियाँ कष्ट का अनुभव नहीं करतीं।

शौच का अर्थ पहले किया जा चुका है। वह दो प्रकार का है–आभ्यन्तर और बाह्य उन दोनों का ही विस्तार से विवेचन हो चुका है। पुनरुक्ति की शंका शुचिता के महत्व को जमाने के लिए मान लेने पर नहीं रहती।

अद्रोह का अर्थ है दूसरे को नष्ट करने की इच्छा का अभाव। अनतिमानिता का अर्थ है स्वयं को अत्यधिक पूज्यकोटि में न समझना। वैसे तो मानिता ही त्याज्य है परन्तु कई बार जनसम्मर्द से स्वयं को पृथक् करने के लिए थोड़ा बहुत मानप्रदर्शन आवश्यक हो जाता है, परन्तु अतिमानी कभी नहीं होना चाहिए। ये ही समस्त गुण भगवान् ने दैवी सम्पत्ति के रूप में बतलाए हैं। इसके आगे परित्याज्य के रूप में आसुरी सम्पत्ति और असुरों के स्वभाव का भगवान् ने विस्तार से वर्णन किया है।

# उन्तीसवां-पुष्प

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ।।४।।
दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ! ।।५।।
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ ! मे शृणु ।।६।।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।७।।

"हे पार्थ ! आसुरी सम्पत्ति में उत्पन्न होने वाले पुरुष दम्भ, दर्प, अत्यन्त मान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान को प्राप्त करते हैं।"

दैवी सम्पत्ति के विपरीत आसुरी सम्पत्ति होती है। अतः दैवी सम्पत्ति से विपरीत लक्षण आसुरी सम्पत्ति के हैं। ये सब असुरों के मनोभाव हैं, असुर भाव में रहने वालों की चित्तवृत्ति दम्भ आदि से परिपूर्ण रहती है। आगे चलकर इसी अध्याय में भगवान् ने यह भी दिखा दिया है कि असुरमनोभावों का क्या रूप होता है और वे किस प्रकार के क्रियाकलापों से समस्त संसार को उद्विग्न करते हैं। अमानित्व अदम्भित्व आदि ज्ञान के निरूपण में त्रयोदश अध्याय में निषेध मुखेन हम इस श्लोक में कथित दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और पारुष्य का विवेचन कर चुके हैं।

दैवी और आसुरी सम्पत्ति का स्वरूप बतलाकर भगवान् इनके फल अथवा कार्य का विवरण करते हैं–

"दैवी सम्पत्ति मोक्ष के लिए और आसुरी सम्पत्ति बन्धन के लिए होती है, हे पार्थ ! तुम शोक मत करो, तुम्हारा जन्म दैवी सम्पत्ति में हुआ है।"

श्री रामानुजाचार्य ने 'निबन्ध' का अर्थ अधोगति की प्राप्ति किया है। श्रीपुरुषोत्तम जी ने अन्धतम की प्राप्ति को 'निबन्ध' बतलाया है। दैवी सम्पत्ति का आश्रय लेकर प्राणी बन्धनों से छूटता है और आसुरी सम्पत्ति का आश्रय लेकर अधिकाधिकबन्धनों में बँधता ही चला जाता है।

श्री वामनाचार्य ने लिखा है कि देह को ही आत्मा और जड़ को ही सत्य मानना

बन्ध है, इससे विपरीत आत्मा को देह से सर्वथा पृथक् समझना तथा चेतन को सत्य समझना ही मोक्ष है। दैवी सम्पत्ति आत्मा की देह से पृथक् सत्ता समझने में और चेतन को अन्तिम सत्य समझने में अत्यन्त सहायक होती है। बन्ध यद्यपि अविद्या से होता है परन्तु आसुरी सम्पत्ति उसे और भी अधिक कस देती है इसीलिए निश्शेष रूप से बन्धन के अर्थ में यहाँ भगवान् ने 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग किया है।

अर्जुन ने जब दम्भ, दर्प, अभिमान आदि का आसुरी सम्पत्ति के रूप में चित्रण भगवान् से सुना तब उसके सामने अपने जीवन के दम्भ, आदि से भरे चित्र आने लगे। उसे निश्चय होने लगा कि मैं आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुषों में ही परिगणित हूं। अज्ञान की स्थिति तो मुझ में है ही, अन्यथा युद्ध के विषय में मैं लडूं या न लडूं ऐसा सन्देह मुझे क्यों होता। वह मेरे अज्ञान के कारण ही हुआ जिसको हटाने के लिए भगवान् को इतना उपदेश देना पड़ रहा है। समय समय पर दम्भ आदि का उदय भी मुझमें होता ही रहा है, अतः मैं आसुरी सम्पत्ति वाला ही व्यक्ति हूं और मेरी दुर्गति ही होगी। ऐसे भाव अर्जुन के मन में उठने लगे और उसके मुख पर भी विषाद का प्रभाव परिलक्षित हो उठा। उसे देखकर उसके विषाद को दूर करते हुए भगवान् ने कहा हे पाण्डव ! तुम मेरे सहचर और महाराज पण्डु के पुत्र हो, समय समय पर दम्भादि वृत्तियों के चित्त में उदित होने पर भी अन्ततः तुम उनपर अधिकार रखने में समर्थ हो, तुम यदि आसुरी सम्पत्ति में होते तो हम तुम्हें यह सब उपदेश ही क्यों देते ? अतः तुम्हें अपने को दैवी सम्पत्तिशाली समझने में सन्देह नहीं करना चाहिए।

आगे भगवान् कहते हैं–"हे पार्थ ! इस संसार में प्राणियों की दैवी और आसुरी दो ही श्रेणियाँ होती हैं। उनमें दैवी श्रेणी का वर्णन विस्तार से कह दिया गया अब तुम आसुर वर्ग का विवरण सुनो !" परस्पर विरोधी दो बातें जब कही जाती हैं, तब सभी कुछ उन दोनों के ही अन्तर्गत आ जाता है। मानव और मानवेतर कह देने से सभी पदार्थ इन दोनों के अन्तर्गत आ जायँगे। धर्म और अधर्म कहने से इनके बाहर क्या बचेगा। हाँ, जिस विषय में ये दोनों परस्पर विरुद्ध बातें कही जाँय, अभाव कोटि में उसी से सम्बद्ध बातों को लेने से समझने में सुविधा होती है, अतः अभाव पक्ष में प्रकरणानुसार विषय का संकोच कर दिया जाता है। भाव पक्ष तो निश्चित ही रहता है उसी के आधार पर अभाव पक्ष को भी समझ लिया जाता है, इसीलिए यहाँ भगवान् ने भूत सर्ग को दैव और आसुर बतलाया है। साथ ही यहाँ एक दूसरे का अभाव दिखाना लक्ष्य भी नहीं है, अपितु उनका परस्पर विरोध दिखाने में तात्पर्य है। उनमें से 'दैव का विस्तार से कथन कर दिया' इस भगवान् के कथन का आशय श्री शंकराचार्य

ने यह लगाया है कि–अभय, सत्व संशुद्धि आदि को बतलाकर विस्तार से कहा। उसकी अपेक्षा आसुरी सम्पत्ति को दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और पारुष्य ये पांच बातें कह कर ही छोड़ दिया, अतः आसुरी सम्पत्ति की अपेक्षा दैवी सम्पत्ति विस्तार से कही गई। श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि विगत गीता के अध्यायों में प्रतिपादित कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि दैवी सम्पत्ति से संबद्ध हैं। उन्हीं का विस्तार से प्रतिपादन भी हुआ है, अतः दैवी सम्पत्ति के विस्तार से कथन की बात कही गई। श्रीविद्यावाचस्पति मधुसूदन जी ओझा ने यह लिखा है कि यह श्लोक बहुत सी पुस्तकों में नहीं मिलता। और त्रयोदशाध्याय के आरम्भिक पद्य को मान लेने पर गीता की श्लोक संख्या भी बढ़ती है। दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन पूर्व प्रकान्त होने से उसका यह नवीन सा उपक्रम उपयुक्त भी नहीं मालूम होता। अतः इस पद्य को प्रक्षिप्त समझना चाहिए। आगे विस्तार से आसुर सर्ग का वर्णन करते हैं–

"असुर भाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते उनमें पवित्रता, आचार अर्थात् शुद्धि और अशुद्धि का विवेक और सत्य की स्थिति नहीं है।"

प्रवृत्ति और निवृत्ति का अर्थ है शास्त्र के द्वारा बोधित कार्यों का अनुष्ठान करना और शास्त्रों में निषिद्ध कार्यों से विरत हो जाना। आसुर भाव वाले पुरुष या तो शास्त्रों को जानते ही नहीं, यदि जानते भी हों तो आसुरभाव के वश में आकर शास्त्र बोधित कर्त्तव्याकर्त्तव्य की अवहेलना करते हैं। उनकी अवहेलना भी अज्ञान मूलक ही होती है, अतः भगवान ने 'न विदुः' ही कह दिया है। वस्तुतः आसुर स्वभाव वालों को भी ज्ञान होता है यह अनेक प्राचीन उदाहरणों से सिद्ध है। रावण के विषय में प्रसिद्ध है कि वह शास्त्रों का बड़ा पण्डित था। दुर्योधन ने कहा था कि–

**"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।**
**केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।"**

अर्थात् मैं धर्म के स्वरूप को जानता हूँ परन्तु धर्म में मेरी प्रवृत्ति नहीं होती, अधर्म को जानते हुए भी मेरी उससे निवृत्ति नहीं होती, हृदयस्थित किसी देवता के द्वारा जैसी प्रेरणा पाता हूँ वैसा ही करता हूँ। इससे स्पष्ट है कि आसुर स्वभाव वाले बहुत से पुरुषों को भी ज्ञान तो होता है, परन्तु आसुर स्वभाव से दबा दिये जाने के कारण उनका वह ज्ञान नहीं के ही समान है। जिस हृदयस्थित देवता की दुर्योधन ने बात कही है, वह आसुर स्वभाव ही है। उनमें पवित्रता का कोई विचार नहीं रहता और वे स्वच्छन्द आचरण करते हुए सत्य की भी परवाह नहीं करते। एक व्याख्याकार ने लिखा है कि परमहंस और त्रिगुणातीत पुरुषों के आचरणों और क्रिया कलापों में

भी स्वच्छन्दता कई बार मिल सकती है, परन्तु वे पूर्ण सत्य रूप परब्रह्म में निरन्तर लीन रहते हैं अतः उनमें सत्य का अभाव कभी नहीं देखा जा सकता। उनसे भेद दिखाने के लिए यहां आसुर भाव वालों में सत्य का भी अभाव होता है, यह कहा गया। जैसा कि विगत प्रवचनों में स्पष्ट किया जा चुका है, मन, वाणी और कर्म का एक सूत्र में स्थित रहना ही सत्य है, परन्तु आसुर भाव वाले पुरुषों के मन में कुछ रहता है, वाणी में कुछ और ही रहता है और उनके आचरण कुछ और ही होते हैं।

# तीसवां-पुष्प

**असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।**
**अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।।८।।**

"आसुरी सम्पत्ति वाले जगत् को असत्य, अप्रतिष्ठ, ईश्वर शून्य, अपरस्पर सम्भूत और काम मूलक कहते हैं।"

श्री शंकराचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार सांसारिक लोग प्रायः असत्य का ही व्यवहार करते हैं, अथवा जैसे आसुर भाव वाले अपना रूप असत्यमय रखते हैं, वे संसार को भी वैसा ही असत्य समझते हैं। श्री रामानुजाचार्य आदि व्याख्याकारों ने कहा है कि श्रुति स्मृति आदि में ब्रह्म को ही सत्य माना गया है, वही जगत् का आधार है।

**"तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति**
**प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्"**

(बृहदारण्यक उ०)

**"एष ह्यैवतत् सादयति यामयति चेति"**
**"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"**

(छान्दोग्य उपनिषद्)

**"तत् सत्यमित्याचक्षते"**

(तैत्तिरीय सं०)

इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म को ही सत्य कहा है और वह समस्त संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है ऐसा माना गया है। आसुरी लोग जगत् को असत्य कहकर ब्रह्म की सत्ता अथवा उसके दृश्यमान जगत् से किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार कर देते हैं। कुछ व्याख्याओं में धर्माधर्म को सत्य कहा है और असुर स्वभाव वालों को धर्माधर्म विवेक से वर्जित देखकर उनकी दृष्टि में संसार असत्य है यह बात मानी गई है।

संसार को आसुरी सम्पत्तिशाली के पक्ष में असत्य कहने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जैसे पारमार्थिक दृष्टि से जगत् सत्य नहीं है; मिथ्या है, वैसे ही व्यावहारिक दृष्टि से जगत् मिथ्या नहीं है सत्य है। जब तक मनुष्य जगत् की व्यावहारिक

सीमा में है तब तक वह जगत् को मिथ्या नहीं कह सकता। परन्तु आसुरी सम्पत्ति के लोग दम्भ के वशीभूत होकर व्यावहारिक दशा में भी अपनी प्रतिष्ठा जमाने और अपने ज्ञान का आडम्बर बांधने के लिए जगत् को मिथ्या कहने लगते हैं। अपने बाह्य आवरण के भीतर रहते हुए वे विविध दुराचरणों में लिप्त रहते हैं, और जब कभी लोगों की दृष्टि उनके दुराचरणों पर जाती है तब वे जगत् को तथा अपने सभी व्यवहार को असत्य कह कर बच जाते हैं। उसी बात को यहाँ असत्य शब्द से कहा है। ज्ञानी होने का दम्भ भरने वाले ऐसे लोग आसुरी सम्पत्ति से लदे होते हैं।

तत्त्व दीपिका में असत्य शब्द से मायावाद को ग्रहण करके अद्वैतवादी को ही आसुरी माना गया है। अद्वैतवाद में संसार को रज्जु स्थित भ्रमजन्य सर्प के समान मिथ्या माना गया है। तत्त्व दीपिका में उसी पर आक्षेप है। अद्वैतवाद का वेदान्त के अन्य विशिष्टाद्वैत आदि मतों से सामञ्जस्य नहीं बैठता। विशिष्टाद्वैतवाद में संसार को सर्वथा सत्य माना जाता है, अत: इस अंश में शुद्धाद्वैत मत का अद्वैतवाद से विरोध होता है। प्रस्तुत पद्य में भगवान् का कटाक्ष सिद्ध करने के लिए शुद्धाद्वैत वादी क्यों पीछे रहते। ऐसा स्वर्णावसर वे अपने हाथ से कैसे जाने देते, उन्होंने असत्य शब्द से श्री शंकराचार्य के मायावाद को लेकर अद्वैतमत को आसुर मत सिद्ध करने की चेष्टा की। अद्वैतवाद पर किये गए इस आक्षेप का वामनाचार्य ने अपनी टिप्पणी में विस्तार से पद्यबद्ध समाधान कर दिया है। उन्होंने लिखा है कि कुछ लोग अद्वैतवाद की निन्दा का आशय निकालने की चेष्टा करते हैं, परन्तु उनका यह प्रयास अशोभनीय है। क्योंकि शतश: श्रुतियों में द्वैतवाद को स्पष्ट रूप से मिथ्या कहा गया है। सत्रहवें अध्याय में गीता में भी "वासुदेव: सर्वम्"। (१७।११)

कहकर अद्वैतवाद को स्वीकार किया गया है। चिदाभास को सिद्ध करते हुए श्री वामनाचार्य कहते हैं–

**"एकस्यान्यस्वरूपत्वं न तस्याभासतं विना**
**घटते न घट: क्वापि पटो न च पटस्तत:"।**

अर्थात् एक वस्तु आभासता के बिना दूसरी वस्तु के रूप में नहीं बदल सकती। घट कभी पट नहीं होता। अत: ईश्वर के संसार रूप बन जाने के लिए चिदाभास का मानना आवश्यक हो जाता है और मूलतत्त्व एक परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। उन्होंने आगे कहा है कि जो भगवान्–

**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:'**

'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते'।
"तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।"
"पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं तद्राजसम्"

इत्यादि अनेक पद्यों में अद्वैतवाद के सार का उपदेश कर चुके हैं, वे भला जगत् को पारमार्थिक रूप में मिथ्या कहने वाले अद्वैत सिद्धान्त को आसुरी सम्पत्ति में कैसे गिन सकते हैं। अत: यह दृष्टिकोण ठीक नहीं।

असत्य के बाद आसुरी लोगजगत् को अप्रतिष्ठ भी कहते हैं। यदि अद्वैतवाद से यहाँ तात्पर्य होता तो वहाँ तो ब्रह्म पर इस असत्य जगत् को प्रतिष्ठित माना गया है, अर्थात् ब्रह्म ही जगत् की प्रतिष्ठा है, परन्तु आसुरी सम्पत्ति वाले लोग ब्रह्म को या प्रकृति को न मानने के कारण जगत् की कोई प्रतिष्ठा या जगत् का कोई आधार है, ऐसा नहीं मानते। लोकमान्य तिलक इस पद्य से यह आशय व्यक्त करते हैं कि वेदान्त और सांख्य सम्मत सिद्धान्तों का अपलाप आसुरी लोग करते हैं, वेदान्त ने ब्रह्म को जगत् की प्रतिष्ठा कहा और सांख्य ने प्रकृति को जगत् का मूलाधार माना, परन्तु आसुरी लोग इन दोनों में से किसी को भी नहीं मानते और संसार को सर्वथा निराधार मानते हैं। एक व्याख्या में यह भी कहा गया है कि पुराण आदि शास्त्रों के अनुसार पृथ्वी का आधार पाताल स्थित शेषनाग है, वही हमारे जगत् की प्रतिष्ठा या उसका आधार है। असुर भाव वाले लोग ऐसी किसी बात पर विश्वास नहीं करते, वे तो प्रत्यक्ष वादी होते हैं, जैसा देखते हैं वैसा ही मानते हैं, जो कुछ वे नहीं देखते उसको स्वीकार नहीं करते। प्रत्यक्ष संसार का कोई शेषनाग आदि आधार प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता अत: उनके लिए वह मानने की बात नहीं है।

जब उन्होंने केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मान लिया तो वे ईश्वर की सत्ता को भी अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष उन्हें दिखाई नहीं देता। अपरस्पर सम्भूत की कई तरह की व्याख्या व्याख्याकारों ने की है। अधिकांश व्याख्याकारों ने अपर और पर दोनों शब्दों को जोड़कर–

"अपरस्परं क्रियासातत्ये"

इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अपर के आगे सुट् प्रत्यय करके अपरस्पर शब्द माना है। इसका अभिप्राय है कि अपर अर्थात् पुरुष और पर अर्थात् स्त्री, इनसे यह जगत् सम्भूत अर्थात् उत्पन्न होता है। स्त्री पुरुष के संसर्ग से ही सबकी उत्पत्ति होती है ऐसा वह प्रत्यक्ष देखते हैं, अत: ऐसा ही मानते भी हैं कि जगत् की उत्पत्ति का

कारण ढूंढ़ने के लिए ब्रह्म आदि तत्त्वों का अन्वेषण करना व्यर्थ है, वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है और आगे उसी का स्पष्टीकरण--

**"किमन्यत् कामहैतुकम्"**

अर्थात् इस जगत् के विषय में अधिक कहने की क्या आवश्यकता है, इतना ही कह देना पर्याप्त है कि जगत् का मूल काम वासना है। श्रीरामानुजाचार्य ने अन्वय दूसरे प्रकार से लगाया है। वे कहते हैं कि–

"अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्"

इसको अलग करके 'किमन्यत्' को "अपरसपर सम्भूतम्" के साथ रखना चाहिए। अपरस्पर सम्भूतं का वही अर्थ है जो पहिले किया जा चुका है, तब इस अन्वय का अर्थ होगा कि इस संसार में ऐसा कौन है जो स्त्री पुरुष के संसर्ग के अतिरिक्त प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ हो। अन्त में उसी का द्रढ़ीकरण करते हुए कहा है "कामहैतुकम्" अर्थात् समस्त जगत् स्त्री पुरुषों की कामवासना से उत्पन्न होने के कारण 'कामहेतुक' या 'काममूलक' है।

लोकमान्यतिलक इस व्याख्या को क्लिष्ट कल्पना पर आधारित मानते हैं। उनके मत में–

'अपरस्परसम्भूतम्' का अर्थ 'नञ्' घटित होना चाहिए। यह जगत् परस्पर अर्थात् एक से दूसरा इस क्रम से सम्भूत नहीं है। वेदान्त और सांख्य में उपनिषदों के आधार पर जगत् की उत्पत्ति का एक क्रम माना गया है।

**"आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः।**
**अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।**
**ओषधीभ्य अन्नम्। अन्नात् पुरुषः।**

(तैत्ति०, २।१)

इस तैत्तिरीय श्रुति में आत्मा से आकाश, उससे वायु, उससे अग्नि, उससे जल, उससे पृथ्वी, उससे ओषधियाँ, उनसे अन्न, और उससे पुरुष की उत्पत्ति कही गई है। गीता में भी–

**"अन्नाद् भवन्ति भूतानि"**

इत्यादि पद्यों में उक्त क्रम को परिपुष्ट किया गया है, मनुस्मृति में भी इस प्रकार का क्रम मिलता है, परन्तु सबका आधार तैत्तिरीय श्रुति ही है। इसी प्रकार का जगत्

की उत्पत्ति का जो श्रुति सम्मत और दार्शनिकों के द्वारा समादृत एक निश्चित क्रम है, उसको आसुरी सम्पत्ति वाले स्वीकार नहीं करते, क्योंकि इस प्रकार के जगत् के किसी निश्चित क्रम को प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त उनके यहां और कई प्रमाण माना नहीं जाता। अत: वे इस क्रम को अस्वीकार कर देते हैं। जब उनसे पूछा जाय कि तुम जगत् की उत्पत्ति का कारण क्या मानते हो तो वे कहते हैं कि इसका कारण काम वासना है।

आसुरी सम्पत्तिशाली मनुष्यों के ये जगत् के स्वरूप और उसकी उत्पत्ति सम्बन्धी विचार न केवल तर्क दृष्टि से रिक्त हैं अपितु व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि से भी कितने हेय हैं यह बात स्पष्ट है। ये लोग स्त्री पुरुष के संसर्ग में विवाह आदि किसी नियम की परवाह नहीं करते। रावण ने विवाहिता भगवती सीता के अपहरण में कोई संकोच नहीं किया। दुश्शासन ने द्रौपदी को भरी सभा में नग्न करते समय नैतिकता का कोई विचार नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि आसुरी सम्पत्ति वाले मनुष्य किसी नियम को नहीं चलने देते, उनके कारण सारी सामाजिक शान्ति खतरे में पड़ जाती है। जगत् के प्रति अपनी उक्त दृष्टि बनाकर वे आगे क्या क्या करते हैं यह भगवान् अग्रिम पद्यों में बतला रहे हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न व्याख्याकारों की व्याख्याओं का संकलन किया गया। हमारे मत से तो यह सम्पूर्ण पद्य बौद्ध मत का संकेत है क्योंकि बौद्ध मत भी मत दृष्टि से बड़ा प्राचीन है। श्रुति में भी उसका निराकरण कई जगह आता है। इसी तरह गीता में भी उसकी तरफ संकेत किया गया कि वे लोग आसुरी सम्पत्ति के ही हैं। वे भी इस जगत् को असत्य कहते हैं। 'शून्यं, शून्यम्, क्षणिकं क्षणिकम्' इत्यादि उनके सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं और जगत् की प्रतिष्ठा वे कहीं नहीं मानते। इससे उनके मत में जगत् अप्रतिष्ठ असत्य है और परस्पर उत्पत्ति भी जैसी कि श्रुति में दिखाई है वह भी उनके मत में नहीं बन सकती, क्योंकि जब संसार के सब पदार्थ क्षणिक हैं तो दूसरे को पैदा करने का उनको अवसर ही कहाँ मिलेगा। तब यह जगत् हुआ क्यों इसका उत्तर वे यही देते हैं कि काम इस संसार का मूल है। अत: काम विजय को ही इस क्षणिक और दु:खमय संसार से छूटने का उपाय और उसी को अन्तिम लक्ष्य मान लेते हैं। परन्तु काम विजय करने के उपरान्त उनके सामने कोईलक्ष्य नहीं रह जाता और तब उनकी स्थिति सर्वदा लक्ष्यहीन और निरालम्ब रह जाती है। न तो वे धर्म विधि से सांसारिक जीवन बिताते हुए क्रम मुक्ति ही पाते हैं और ज्ञान मार्ग से मुक्ति तो उनके लिए बहुत दूर की चीज हो जाती है, क्योंकि ज्ञान स्वरूप आत्मा से विमुख रहते हैं। इस प्रकार इस सम्पूर्ण पद्य में बौद्ध मत का ही संकेत प्रतीत होता है।

## इकतीसवां-पुष्प

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।९।
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।१०।
चिंतामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।११।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।१२।
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।१३।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ।१४।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।१५।
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।१६।
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।१७।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।१८।
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।१९।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
ममप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ।२०।

"इस दृष्टि का आश्रय लेकर नष्ट आत्मा वाले और अल्पबुद्धिवाले तथा क्रूर कर्म करनेवाले ये जगत् के शत्रु जगत् के नाश के लिए उत्पन्न होते हैं वा नाश करने में समर्थ रहते हैं (९)" दृष्टि और दर्शन एक ही बात है। यहां विचार के अर्थ में दृष्टि शब्द का प्रयोग है। विगत पुष्प में जो जगत् के विषय में असत्य, अप्रतिष्ठ आदि कहा गया है, वही आसुरी सम्पत्ति वालों का दर्शन है। प्रत्येक कार्य चाहे वह अच्छा हो या बुरा उसके पीछे एक विचार, दर्शन या दृष्टि अवश्य होती है। आसुरी सम्पत्ति वालों की भी एक दर्शन या दृष्टि है जो कि ऊपर कही गई है। जैसे विचार होंगे आचरण भी उसके अनुसार ही होगा। जब उन्होंने जगत् को असत्य अप्रतिष्ठ आदि मान लिया तो अब उन्हें परोक्ष सत्ता का कोई भय ही नहीं रह गया। अब अपनी शक्ति ही उनका परम आश्रय या आधार है। वे अपनी शक्ति को निरन्तर बढ़ाने में लग जाते हैं, उनकी आत्मा नष्ट हो जाती है, उनका जो अपना पूर्वानुगत साधु स्वभाव है, वह चला जाता है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण का आश्रय लेने से परोक्ष और व्यापक सत्ता की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। उनकी बुद्धि भी अल्प हो जाती है। केवल प्रत्यक्ष मात्र का आश्रय लेना बुद्धि की अल्पता का सूचक है। धर्म और मोक्ष की अभिलाषा का एकान्ततः परित्याग करके केवल अर्थ और काम के वशीभूत हो जाना भी बुद्धि की अल्पता का ही सूचक है। वे संसार को अपने वश में लेने के लिए हिंसा का आश्रय लेते हैं। जो उनका कहना नहीं मानता उसका वे वध कर देते हैं। इसीलिए वे जगत् के घोर शत्रु बनकर संसार के नाश का उपक्रम रचने लगते हैं।

"जिसका पूर्ण करना कठिन है ऐसे काम का आश्रय लेकर दम्भ, मान और मद के वशीभूत होकर मोह के कारण अशुभ विचारों का ग्रहण करते हुए और अपवित्र व्रतों को लेते हुए ये व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं" (१०)

श्रीरामानुजाचार्य ने 'असद् ग्राह' का अर्थ किया है कि जिनका धनार्जन असत् है। अन्याय से जो द्रव्य का ग्रहण करते हैं।

आनन्दगिरि आदि व्याख्याओं में लिखा है कि कामिनी आदि के वशीकरण, राजा के वशीकरण आदि के उद्देश्यों से प्रेरित होकर ये लोग विविध देवताओं की पूजा, उनकी बलि आदि देते हैं और मद्य, मांस आदि का प्रयोग करते हुए अशुचि व्रत धारण करते हैं।

"वे प्रलय तक की अपरिमित चिन्ता करते रहते हैं, कामोपभोग में रत रहते हैं, और यही सब कुछ है ऐसा निश्चय उनका होता है" (११)

ये लक्षण प्रायः आधुनिक सब ही लोगों में किसी मात्रा में प्राप्त होते हैं। प्रत्येक

प्राणी का जीवन एक निश्चित समय के लिए होता है। अस्थिर और क्षण भंगुर संसार में आज एक क्षण बाद क्या होगा और कल क्या हो जायगा यह किसी को मालूम नहीं होता।

## "किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्"

मत्त स्त्रियों के पलकों के समान चञ्चल और अस्थिर यह जीवन बतलाया गया है। इतने अस्थिर जीवन में रहते हुए भी आसुरी सम्पत्ति के लोग प्रलय तक के प्रोग्राम बनाते रहते हैं। वे यह मानने के लिए तैयार नहीं होते कि इन कार्यक्रमों को पूरा करने से पहिले ही वे संसार से कूच कर जायंगे। कुछ व्याख्याकारों ने प्रलय का अर्थ यहां मरण भी किया है। अर्थात् वे मरण पर्यन्त की चिन्ता करते रहते हैं, चिन्ता भी अपने सुख और उपभोग की ही उनकी होती है और इसी में वे अपना सम्पूर्ण जीवन बिता देते हैं,

## 'एतावदिति निश्चिताः'

का अर्थ किया गया है कि जो कुछ प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है वही सब कुछ है उसके बाहर परलोक या ईश्वर कुछ नहीं है, ऐसा उनका निश्चय होता है। कुछ व्याख्याओं में अर्थ और काम तक ही उनकी अभिलाषाएं रहती हैं, इससे आगे धर्म और मोक्ष भी है यह वे नहीं मानते, ऐसा कहा गया है।

"वे शतशः आशा रूपी पाशों से आबद्ध रहते हैं, काम और क्रोध परायण होते हैं, कामभोग के लिए निरन्तर अन्यायपूर्वक अर्थसंचित करते रहना चाहते हैं। (१२)

आशा संसार में बहुत बड़ा पाश है। एक उक्ति है–

## 'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्'

आशा बहुत बड़ा दुःख है और निराश अर्थात् आशाओं से रहित रहना परम सुख है। आसुरी सम्पत्ति के लोग एक, दो, नहीं शतशः आशापाशों से आबद्ध रहते हैं। वे काम, क्रोध परायण हो जाते हैं, काम और क्रोध ही उनके परम आश्रय रहते हैं। या तो वे काम लिप्त रहते हैं और या किसी पर क्रुद्ध होकर उसे नष्ट करने को समुद्यत रहते हैं, अपनी कामनाओं के उपभोग के लिए उन्हें द्रव्य की आवश्यकता होती है। अतः लूट-पाट करके, हत्या करके, डाका डालकर, चोरी करके, युद्ध के द्वारा वे निरन्तर अर्थसंचय करते रहने की अभिलाषा रखते हैं। न्याय का उनके जीवन में कोई स्थान ही नहीं होता, अतः एक सभ्य पुरुष की भांति न्यायपूर्वक द्रव्यसंग्रह करना वे नहीं जानते।

आगे आशापाशों का विवरण करते हैं–

"आज मैंने यह प्राप्त किया, अब इस मनोरथ को करूंगा, मेरे पास तो यह धन है ही और वह धन भी मेरे पास आ जायगा" (१३)

"मैंने अमुक शत्रु को मार दिया है, अन्य शत्रुओं को भी मौत के घाट उतार दूंगा, मैं ही ईश्वर हूँ, सब वस्तुओं का भोग करने वाला मैं ही हूँ, मैं सिद्ध हूँ (क्योंकि मेरे पास सभी सिद्धियां मौजूद हैं) मैं बलवान् और सुखी हूँ" (१४)

"मैं धनी हूँ, उच्चकुलसंभूत हूँ, मेरे समान और कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आनन्द प्राप्त करूँगा, इस प्रकार के अज्ञान से वे विमोहित रहते हैं" (१५)

उक्त श्लोकों में बतलाया गया है कि आसुरी लोगों की प्रवृत्ति स्वभावतः अन्याययुक्त कर्मों में रहती है। वे अपने आगे सम्पूर्ण जगत् को तृण समझते हैं और जिस वस्तु की कामना उनको होती है उसे प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार के साधन को काम में लेने से नहीं चूकते। उनमें पहले सिरे का अहंकार होता है। यह अहंकार सभी क्षेत्रों में होता है। धन में, वे अपने बराबर धनी किसी को नहीं रहने देना चाहते। रावण ने अपनी पूरी लंका सोने की बना ली थी, जिसका उदाहरण ही अन्यत्र दुर्लभ है। आसुरी लोग अपने अतिरिक्त अन्य किसी को ईश्वर नहीं मानते। प्रह्लाद जब भगवान् का स्मरण करता था और अच्छी अच्छी साधुजनोचित बातें करता था तो उसके पिता असुरराज हिरण्यकश्यपु को बहुत खराब मालूम होता था, अन्ततः ईश्वर की रट लगाने वाले अपने पुत्र को भी उसने मार डालने के उपाय किए। उनका मद इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह अपने से अधिक किसी की सुनना ही नहीं चाहते, तब भला वह ईश्वर की सत्ता कैसे स्वीकार कर सकते हैं। दुर्गासप्तशती में शुम्भ का संदेश लेकर चण्डमुण्ड नामक दूत भगवती के पास पहुँचकर जो कुछ कहते हैं, वह गीता के इस संदर्भ का सटीक उदाहरण है। वे कहते हैं–

"देवि ! दैत्येश्वरः शुम्भस्त्रैलोक्ये परमेश्वरः ।
दूतोऽहं प्रेषितस्तेन त्वत्सकाशमिहागतः ।।
अव्याहताज्ञः सर्वासु यः सदा देवयोनिषु ।
निर्जिताऽखिलदैत्यारिः स यदाह शृणुष्व तत् ।।
मम त्रैलोक्यमखिलं मम देवा वशानुगाः ।
यज्ञभागानहं सर्वानुपाश्नामि पृथक् पृथक् ।।

त्रैलोक्ये वररत्नानि मम वश्यान्यशेषतः ।
तथैव गजरत्नं च हृत्वा देवेन्द्रवाहनम् ।।
क्षीरोदमथनोद्भूतमश्वरत्नं ममामरैः ।
उच्चैःश्रवससंज्ञं तत् प्रणिपत्य समर्पितम् ।।
यानि चान्यानि देवेषु गन्धर्वेषूरगेषु च ।
रत्नभूतानि भूतानि तानि मय्येव शोभने ।।
स्त्रीरत्नभूतां त्वां देवि ! लोके मन्यामहे वयम्।
सा त्वमस्मानुपागच्छ यतो रत्नभुजो वयम् ।

इस संदर्भ में शुम्भ के भेजे हुए संदेश में दम्भ, दर्प, अभिमान्, ईश्वरत्व आदि सभी आसुरी सम्पत्तियों की उपर्युक्त बातें कूट-कूट कर भरी हैं और कामार्त होकर शुम्भ ने भगवती को अपने पास आने को कहा इससे उसकी बुद्धि की भ्रष्टता और कामोपभोग निरतता का पर्याप्त परिचय मिल जाता है। जब भगवती ने अपनी प्रतिज्ञा सुनाई कि–

"यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति ।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति ।।"

तब इसे सुनकर आसुरी सम्पत्ति का क्रोध और क्रूर कर्मत्व भी प्रकट हो गया और शुम्भ ने धूम्रलोचन को आज्ञा दी–

"हे धूम्रलोचनाशु त्वं स्वसैन्यपरिवारितः ।
तामानय बलाद्दुष्टां केशाकर्षणविह्वलाम् ।।
तत्परित्राणदः कश्चिद्यदिवोत्तिष्ठते परः ।
स हन्तव्योऽमरो वाऽपि यक्षो गन्धर्व एव वा ।।"

आसुरीसम्पत्तिशालियों के जो भाव गीता में चित्रित किए गए हैं उनके उदाहरण प्राचीन साहित्य में सर्वत्र मिलते हैं। यही नहीं जीवन में ही यदि हम देखें तो हमें मालूम होगा कि जाने में या अनजान में हम इन दैवी और आसुरी सम्पत्तियों के लक्षणों से ही गुजरते हैं। देवासुरसंग्राम हमारे भीतर निरन्तर चल रहा है। जब कभी हमारे मन में शुभ बातें आती हैं, जिन्हें दैवी सम्पत्ति में भगवान् ने गिनाया है, तो समझना चाहिए कि देवासुर युद्ध में इस समय देवता प्रबल हैं, असुर उनसे दबे हैं और जब आसुरी

सम्पत्ति के लक्षण हमारी चित्तवृत्ति में उदित हो रहे हों उस समय हमें समझना चाहिए कि इस समय असुर प्रबल हैं, देवता दबे हुए हैं। इसकी अच्छी प्रकार से पहचान करके हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे दैवी सम्पत्ति प्रबल बनी रहे और हम आसुरी सम्पत्ति के वशीभूत न होने पायें। क्योंकि एक बार हमारे ऊपर आसुरी सम्पत्ति का अधिकार हो जाने से उसे हटाना कठिन हो जाता है और फिर अन्य जन्मान्तरों के लिए अन्धतम में चला जाना पड़ता है।

यहां यह शंका होना स्वाभाविक है कि अन्य भावों के साथ "मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा" आदि बातों को आसुरी सम्पत्ति में क्यों गिना गया। यज्ञ करना और दान देना तो शास्त्र विहित है, और शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान तो दैवीसम्पत्ति के अन्तर्गत आता है, फिर भगवान् ने इनका परिगणन आसुरी सम्पत्ति में किस प्रयोजन से किया। इसका उत्तर है कि दैवीसम्पत्ति में यज्ञ, दान आदि कर्मों का अनुष्ठान करते हुए "यह कार्य मैं कर रहा हूँ", "यह दान मैं दे रहा हूँ" ऐसी अहंता बुद्धि हट जाती है और जगन्नियन्ता परमेश्वर के द्वारा ही यह सब हो रहा है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ, यह भाव रहता है। इसके विपरीत आसुरी सम्पत्ति में सर्वत्र अहंता का साम्राज्य रहता है। "मैं यज्ञ करूँगा", मैं दान दूंगा" इत्यादि अहंता से परिपूर्णभावनाएं आसुरी सम्पत्ति वालों के प्रत्येक कार्य में रहा करती हैं। एक प्राचीन कथानक है कि एक बड़े आदमी थे और उनके यहां से सर्वदा गरीबों को कुछ न कुछ दिया जाया करता था। जब गरीब लोग उनके यहां लेने आते और जो कुछ मिलता उसे लेकर लौटने लगते तो दाता सज्जन की बड़ी प्रशंसा करते और उन्हें अनेक मङ्गल कामनाएँ समर्पित करते, यह सुनकर उन सज्जन की आंखें झुक जाया करती थीं। एकबार किसी ने उनसे पूछा कि अन्य देने वाले लोग तो अपने दान की बात सुनकर फूले नहीं समाते, परन्तु आपके आगे जब आपके दान की प्रशंसा की जाती है तब आपकी आंखें नीचे की ओर क्यों हो जाती हैं। इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि–

**"देने वाला और है देता है दिन रैन ।**
**लोग नाम मेरा कहें इससे नीचे नैन ।।"**

अर्थात् देने वाला तो ईश्वर है जो दिन रात देता रहता है, परन्तु लोग मुझे देने वाला कहते हैं, मुझे इसी से लज्जा का अनुभव होता है और मेरी आंखे नीचे हो जाती हैं।

आसुरी लोगों की इन्हीं भावनाओं को देखकर भगवान् ने उन्हें "अज्ञानविमोहिताः" कहा है। अर्थात् वे सभी कार्यों का कर्त्ता अपने को ही समझते हैं, यही उनका सबसे

बड़ा अज्ञान है। जिससे वे सर्वदा विमोहित रहते हैं। वस्तुस्थिति को न समझना ही अज्ञान है, "कर्त्ता मैं नहीं हूँ" फिर भी "मैं कर्त्ता हूँ" यह समझना ही अज्ञान है। इसी से आसुरी लोग सर्वदा लिप्त रहते हैं।

"अनेक प्रकार की अभिलाषाओं से वे विभ्रान्त रहते हैं, मोह के जाल से वे आवृत रहते हैं, काम के उपभोग में लगे हुए वे लोग अपवित्र नरक में गिरते हैं(१६)"

जैसा कि ऊपर आसुरी लोगों की अनेक प्रकार की अभिलाषाओं का वर्णन आया है, उन अनेक प्रकार की चित्तवृत्तियों से वे निरन्तर घुमाए जाते हैं, उनकी चित्तवृत्ति में स्थिरता कभी आने नहीं पाती। यह भी कर लूँ इत्यादि अभिलाषाओं की तरंगें उनके चित्त में सर्वदा उठती रहती हैं। इसीलिए वे मोह जाल से समावृत कहे गये हैं। मोह का स्वरूप आवरण करने वाला है, अतः मोह के जाल से गति नरक की ओर ही होती है, तथा अपने वर्तमान जीवन को भी वे नरक के समान ही भोगते हैं। उनका अन्त नरक के समान ही दुःखमय होता है। श्री नीलकण्ठ ने असत् पदार्थ में सत् होने की बुद्धि को मोह कहा है। आसुरी लोग सर्वदा असत् पदार्थों में ही सत् की बुद्धि रखते हुए मोहावृत रहते हैं।

"अपने को उच्च समझते हैं, स्तब्ध रहते हैं, धन और मान के मद से भरे रहते हैं, नाम मात्र के विधिविहीन यज्ञों का दम्भपूर्वक अनुष्ठान करते हैं" (१७)

'आत्मसम्भावित' का तात्पर्य व्याख्याकारों ने लगाया है कि उन्हें कोई चाहे मानें या न मानें परन्तु वे स्वयं अपने को बहुत बड़ा मानते हैं और अपने में बड़ी बड़ी सम्भावनाएं, "मैं ऐसा बनूंगा" "वैसा बनूंगा" आदि करते रहते हैं। स्तब्ध का तात्पर्य है कि वे पूज्य पुरुषों के आने पर उन्हें शिष्टाचार प्रदर्शन के लिए प्रणाम आदि नहीं करते। देवता के सामने जाने पर भी नहीं झुकते। उनकी किसी चेष्टा से नम्रता का प्रदर्शन नहीं होता। धन और आत्मसम्मान के मद से युक्त होने की बात इस प्रकरण में अनेक बार आई है, उसका तात्पर्य यही है कि धन और मान का मद उन्हें कभी नहीं छोड़ता, वे यज्ञ भी करते हैं, परन्तु यज्ञ में कोई लोककल्याण की दृष्टि उनकी नहीं होती जैसी कि दैवीसम्पत्ति में होती है। यज्ञ आदि के द्वारा भी वे अपने दम्भ को ही प्रकट करते हैं, और यज्ञ में किसी शास्त्रीय विधि का पालन नहीं करते, स्वेच्छा से यज्ञ के नाम पर कुछ प्रदर्शन करते हैं। इसीलिए भगवान् ने उसे नामयज्ञ कहा है, अर्थात् उनके यज्ञ वास्तविक नहीं अपितु नाममात्र के होते हैं। विधिपूर्वक यज्ञ न करने के कारण यज्ञों का कोई फल तो उन्हें मिलता नहीं, प्रत्युत्, विपरीत फल को ही वे प्राप्त करते हैं।

असुरों ने एक बार देवताओं पर विजय प्राप्त करने के लिए एक पुरुष उत्पन्न करने की इच्छा से यज्ञ का अनुष्ठान किया। देवराज इन्द्र को पराजित करके समाप्त कर देना यह उस यज्ञ का प्रधान उद्देश्य था। जब यज्ञ में आहुति दी जाने लगी तो उसके लिए मन्त्र बोला गया "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" अर्थात् हे यज्ञ से उत्पन्न होने वाले इन्द्र के शत्रु तुम वृद्धि को प्राप्त करो। इस मंत्र की उच्चारण विधि का ध्यान नहीं रक्खा गया। मन्त्रों के उच्चारण में तीन प्रकार के स्वर माने गए हैं, उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित। मंत्र का उच्चारण आदि में उदात्त स्वर रखकर करना चाहिए था, तब इष्टसिद्धि होती, परन्तु स्वर विधि में व्यत्यास हो गया, मन्त्र आद्युदात्त के स्थान पर अन्तोदात्त बोला गया। शत्रु शब्द का अर्थ है शातन करने वाला, मारने वाला। आद्युदात्त उच्चारण करने पर तत्पुरुष समास "इन्द्रस्य शत्रुः" होता है, जिसका अर्थ असुरों को अभीष्ट था। परन्तु मन्त्रोच्चारण अन्तोदात्त हुआ। अन्तोदात्त में बहुब्रीहि समास होता है, "इन्द्रः शत्रुः (शातयिता) यस्य स इन्द्रशत्रुः" अर्थात् इन्द्र है मारने वाला जिसका, ऐसे हे इन्द्रशत्रु ! तुम वृद्धि को प्राप्त करो। यही उच्चारण हुआ और फल यह हुआ कि जहाँ यज्ञ से असुरगण इन्द्र को मारने वाले को प्राप्त करना चाहते थे, वहाँ उनके विपरीत स्वर से मंत्रोच्चारण के कारण उस यज्ञ से समुत्पन्न वृत्रासुर इन्द्र के वज्र से मारा गया।

इस प्रकार यज्ञ में किसी विधि का परिपालन आसुरी सम्पत्ति के लोग नहीं जानते।

"अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध का आश्रय लेते हुए तथा गुणों को भी दोषों के रूप में देखते हुए अपने और अन्य के देह में संस्थित ईश्वर से द्वेष दिखाते हैं" (१८)

"ऐसे मुझसे द्वेष करने वाले, क्रूर प्रकृति वाले, संसारस्थित नराधमों को मैं निरन्तर आसुरी योनियों में ही फेंकता रहता हूँ" (१९)

"ये मूढ़ जन्म जन्मान्तरों तक आसुरी योनियों में भटकते हुए मुझे प्राप्त किये बिना अधम गति को प्राप्त होते हैं" (२०)

अपने में विद्यमान और अविद्यमान गुणों का अपने पर आरोप करके उसका प्रदर्शन करते रहना अहंकार है। वस्तुतः आत्मा असंग है, परन्तु ये लोग आत्मा पर ही समस्त विद्यमान और अविद्यमान गुणों को आरोपित करते रहते हैं, "मैं ऐसा हूँ" 'यह कर सकता हूँ, 'वह कर सकता हूँ' इत्यादि अहंकार से ये आच्छन्न रहते हैं। इन्हें

अपने बल का भी बहुत बड़ा आश्रय रहता है। यद्यपि बल का आश्रय लेना बुरा नहीं है। मोक्ष मार्ग में भी बल की बड़ी आवश्यकता होती है–

**"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"**

अर्थात् बल हीन को आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु दैवीसम्पत्ति में बल जहाँ आत्मरक्षा और आत्मचिन्तन के लिए उपादेय है वहाँ आसुरी सम्पत्ति में बल का उपयोग परपीड़न में होता है। एक प्रसिद्ध पद्य है–

**"विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।**
**खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।"**

अर्थात् दुष्ट की विद्या विवाद करने के लिए, धन मदोन्मत्त होने के लिए, और शक्ति या बल परपीड़न के लिए होता है। साधु की विद्या, उसके विपरीत, आत्मज्ञान के लिए, धन, दान देने के लिए, और बल, आत्मरक्षा के लिए होता है।"

आसुरी सम्पत्तिवालों की अन्तिम गति भी भगवान् ने यहाँ बतला दी कि उनका कभी उद्धार नहीं होता, क्योंकि उद्धार करने वाले भगवान् स्वयं हैं और वे लोग उन्हीं से द्वेष रखते हैं। अतः वे जन्म जन्मान्तर तक सर्वदा अशुभ योनियों में ही रहते हैं। दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करके जो मोक्ष या परमसुख की प्राप्ति होती है उसका आभास भी उन्हें नहीं मिलता। इससे भगवान् का यही तात्पर्य है कि इस प्रकार गिरे हुए मनुष्य सहसा नहीं उठ सकते। किन्तु सब प्राणियों के भीतर जो ईश्वर का अंश आत्मरूप से विराजमान् है वह किसी समय स्वतन्त्रता से उनके उद्धार की भी प्रेरणा कर देता है तो वे सुधर भी जा सकते हैं, विशेष कर हम इसका विचार "ईश्वरः सर्वभूतानाम्" इत्यादि १८वें अध्याय के प्रवचन में करेंगे।

---

# बत्तीसवां-पुष्प

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।२१।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचारत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।२२।।
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।२३।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ।।२४।।

काम, क्रोध, और लोभ ये नरक के तीन प्रकार के द्वार हैं और ये आत्मनाश के कारण हैं अत: इनका परित्याग कर देना चाहिए।" (२१)

आसुरी सम्पत्ति का इतना वर्णन करके उसका उपसंहार करते हुए भगवान् आसुरी सम्पत्ति के मूल कारण के रूप में काम, क्रोध और लोभ को बतलाकर उनके त्याग की आज्ञा दे रहे हैं। गीता अध्यात्मशास्त्र है, अत: सम्पूर्ण गीता में कामादि के परित्याग की बात प्रसंगानुसार आई है। ये ही ऐसी मनोवृत्तियां हैं जिन पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है और बड़े योगी भी इनके चक्र में पथभ्रष्ट हुए हैं इसकी कथाएं सर्वत्र मिलती हैं–

## "कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्या:"

दैवी और आसुरी प्रवृत्तियां प्रकाश और अन्धकार की भांति साथ-साथ रहती हैं और अवसर पाकर घटती बढ़ती रहती हैं। रजोगुण का परिणाम ही क्रोध है। काम की अधिक मात्रा ही लोभ है। जब किसी विशेष वस्तु के उपभोग की इच्छा होती है तो उसके साथ ही यह भी इच्छा होती है कि इसका उपभोक्ता केवल मैं ही हूँ, कोई अन्य इसका उपभोग न करने पाए और जिस वस्तु की कामना है उसमें कोई न्यूनता भी न आने पाये, इसी का नाम लोभ है। यद्यपि उन वस्तुओं की अभिलाषा सभी सांसारिक व्यक्तियों को होती है, परन्तु सभी लोभी इसलिए नहीं कहे जा सकते कि जैसे वे उस वस्तु का उपभोग करना चाहते हैं, वैसे ही वे अन्य लोगों को भी उसका उपभोग करने देना चाहते हैं। वे "जियो और जीने दो" के सिद्धान्त पर चलते हैं। परन्तु लोभी पुरुष 'जियो' तक ही रहते हैं 'जीने दे' को नहीं मानते। फलत:

वे अन्य लोगों के पास उपभोग की सामग्री को देखकर उसे उनसे छीनने की चेष्टा करते हैं। यही आसुरीसम्पत्ति है और यही नरक का तीसरा द्वार यहाँ भगवान् ने बतलाया है। इसी प्रकार काम भी भगवान् का रूप है चार पुरुषार्थों में काम की गणना है। वह एक स्वतःसिद्ध मानवीय या प्राणिमात्र की प्रवृत्ति है। परन्तु जिस काम को नरक का द्वार यहां भगवान् ने बतलाया है, वह असत् काम है। वही काम सत् और पुरुषार्थ के अन्तर्गत तथा भगवद्रूप माना गया है जो धर्म के विरुद्ध न हो–

**"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ !"**

यह भगवान् ने स्पष्ट कह कर धर्म से अविरुद्ध काम को अपना रूप बतलाया है। परन्तु धर्म विरूद्ध जो काम है, जो आसुरीसम्पत्ति के अन्तर्गत है, वह नरक का द्वार है। उससे बचना चाहिए। इन तीनों को छोड़ने का भगवान् ने आदेश दिया है।

जिस प्रकार धर्माविरुद्ध काम उपयुक्त है उसी प्रकार धर्मानुकूल अर्थोपार्जन भी उपयुक्त है। भगवान् ने विगत पद्यों में आसुरी अर्थ संग्रह की जो निन्दा की उसका यह तात्पर्य नहीं कि अर्थोपार्जन बुरी चीज है। अर्थोपार्जन के बिना तो जीवन यात्रा ही असम्भव है। आलस्य में पड़े रहना, कोई काम न करना, और केवल भगवान् के भरोसे बैठे रहना भगवान् ने कभी पसन्द नहीं किया। वह भगवद् विश्वास नहीं अपितु मोह है जो आसुरी सम्पत्ति का अंग है। क्योंकि उसमें कार्य कारण भाव के ज्ञान का अत्यन्त अभाव है। मलूक दास जी की एक उक्ति प्रसिद्ध है–

**"अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।**
**दास मलूका कह गए सबके दाता राम।।"**

यह यदि पूर्ण तत्त्व ज्ञान होने पर होता है तब तो ठीक है, परन्तु संसार स्थित मनुष्यों को तो ऐसा उपदेश दिया ही नहीं जा सकता। उनको तो अर्थोपार्जन के लिए न्यायानुकूल प्रयत्न करना ही पड़ेगा। यदि अन्याय पूर्वक धनोपार्जन किया गया जिससे एक व्यक्ति को तो सुख हुआ और एक सहस्र व्यक्तियों को पीड़ा हुई तो उसे भगवान् ने आसुरीसम्पत्ति ही कहा है। यद्यपि किसी के लाभ में किसी को कष्ट पहुँचना भी अनिवार्य है। एक स्थान के लिए विज्ञापन हुआ, दस प्रार्थना पत्र आए, उनमें से एक की नियुक्ति हुई, तो बाकी नौ को मानसिक कष्ट अवश्य होगा, परन्तु उनको कष्ट देने का कोई विचार नियुक्त होने वाले के मन में नहीं था। इसी क्रम से अर्थोपार्जन उचित है जिसमें किसी को पीड़ा देने का आपके मन में विचार न हो। धर्मानुकूल अर्थोपार्जन से धर्म प्रवृत्ति को ही बढ़ाना चाहिए और धर्मानुकूल काम का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार के क्रम से कभी कष्ट का अनुभव नहीं होगा प्रत्युत सर्वदा सुख का अनुभव

होगा। यद्यपि ऐसा सुख तो संसार में मिलने की कल्पना नहीं की जा सकती कि जिसमें दु:ख का लेश भी न हो, क्योंकि प्राक्तन कर्मों के अनुसार जो दु:ख मिलना निश्चित है वह तो मिलेगा ही। परन्तु नये दु:ख की उत्पत्ति रुक जायगी और इससे आगे उस स्थिति में भी पहुँचा जा सकेगा जिसमें दु:ख है ही नहीं और न सुख ही है। वही मोक्ष है। हमने इस विषय का विस्तार से निरूपण गीता-व्याख्यानमाला के प्रथम भाग में किया है। अब जब काम, क्रोध, लोभ नरक के द्वार हैं, इन्हें छोड़ना चाहिए तो प्रश्न होता है कि इनको किस प्रकार छोड़ा जाय, उसका उत्तर भगवान् आगे दे रहे हैं कि–

"शास्त्रानुकूल आचरण करने से इनसे छुटकारा मिलता है। पहिले इनके छूट जाने से क्या फल होता है यह बतलाते हैं कि–

"हे कौन्तेय ! इन तीन तमोद्वारों से छूटकर प्राणी अपने श्रेय का आचरण करता है और इस प्रकार श्रेय का आचरण करने से वह श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है"(२२) उपनिषदों में यम और नचिकेता के संवाद में यम ने नचिकेता से कहा है–

**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीर:**

अर्थात् श्रेय और प्रेय मनुष्य के सामने आते हैं, धीर पुरुष इनकी ठीक से पहिचान करता है, उनका विवेचन करता है–

यहाँ श्रेय और प्रेय का मनुष्य के सामने आना, बुद्धिमान मनुष्य का श्रेयोवरण और मन्द पुरुष का प्रेयग्रह वर्णित है।

प्रेय वही है जो आपातत: सुन्दर मालूम होने पर भी परिणाम में भयावह हो और श्रेय वही है जो प्रारम्भ में कष्टदायक प्रतीत होने पर भी परिणाम में अत्यंत हितावह हो। उनका परीक्षण करके श्रेयो मार्ग का ग्रहण करना ही भगवान् के उपदेश का सार है। उन्होंने काम, क्रोध का परित्याग करके श्रेय का आचरण प्राप्त होना बतलाया है और उसी से परम गति की प्राप्ति बतलाई है। परम गति का अर्थ केवल मरणोत्तर शुभ गति ही नहीं अपितु जीवन में इस लोक में भी शुभ फलों की प्राप्ति होती है, यह भी इसमें अन्तर्गर्भित है। इस श्रेय:प्राप्ति का उपाय शास्त्र विधियों का आचरण ही है। आगे उसकी अवहेलना से सिद्धि या परागति कुछ भी नहीं मिलती यह बतलाते हुए कहते हैं–

"जो पुरुष शास्त्र विधि का परित्याग करके अपने इच्छानुसार आचरण करता है, वह सिद्धि, सुख, और परागति को प्राप्त नहीं करता" (२३)

इसलिए तुम्हें अपने कर्तव्य अकर्तव्य का निश्चय करने में शास्त्र को आधार बनाना चाहिए, शास्त्र की विधियों में उक्त बातों को जानकर ही तुम कर्म करने के योग्य हो सकोगे "(२४)

यहाँ शास्त्र का अर्थ श्री शंकराचार्य आदि ने वेद ही किया है और वेदों के विधि निषेधों के पालन को शास्त्रविधि माना है। श्री नीलकण्ठ ने–"ब्राह्मणो यजेत" "न सुरां पिबेत्" आदि वेदोक्त विधिनिषेधों का उल्लेख किया है। कुछ व्याख्याओं में वेद और तदनुकूल स्मृति पुराणादि को शास्त्र के अन्तर्गत कहा गया है।

यहाँ कार्य अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र को प्रमाण मानने की बात कही गई है। किसी भी कार्य को करने से पूर्व शास्त्रीय आदेश क्या है यह देख लेना चाहिए। वर्तमान में विचारकों का यह ध्यान होता जा रहा है कि प्रत्येक कार्य करने से पूर्व शास्त्रीय आज्ञा को कहाँ तक देखा करें। जब उनसे यह प्रश्न किया जाता है कि आपकी सम्मति में भारतीय संस्कृति की रक्षा आवश्यक है अथवा नहीं तो उसको तो वे स्वीकारात्मक उत्तर देते हैं। यह भी वे मानते हैं कि अपनी संस्कृति को अपना कर ही हमारी विश्व के सामने इज्जत हो सकेगी। परन्तु समय का टेढ़ा प्रश्न उनके सामने आता है। वे कहते हैं कि आजकल इतना समय कहाँ मिलता है कि पहिले शास्त्र का आदेश लें, फिर काम करें। आजकल तो बहुत जल्दी-जल्दी समस्याओं का समाधान करना होता है। परन्तु इस प्रकार के उत्तर से कोई प्रश्न हल नहीं होता। अपनी संस्कृति की रक्षा का एकमात्र उपाय है अपने शास्त्रों और उनकी आज्ञाओं का आदर और परिपालन। अर्जुन जब युद्ध से विमुख होने लगा तो भगवान् ने उसे इसीलिए युद्ध करने के लिए प्रेरित किया कि अन्याय के विरुद्ध क्षत्रिय को युद्ध करना ही चाहिए। यही शास्त्र का आदेश है। शास्त्र के आदेशों के परिपालन से ही शुभ गति भी प्राप्त होती है। भीष्म पितामह जब अपने पिता का श्राद्ध करने लगे और पिण्ड दान का अवसर आया तब उन्होंने देखा कि जमीन के भीतर से उनके पिता का हाथ पिण्ड ग्रहण करने के लिए बाहर निकला। इस पर भीष्म पितामह ने शास्त्रीय आज्ञा क्या है, यह जानना चाहा। ऋषियों ने बतलाया कि शास्त्रीय आदेश तो भूमि में बिछी हुई कुशाओं पर ही पिण्ड दान करने का है। इस पर पितामह भीष्म ने उस प्रत्यक्ष निकले हुए पिता के हाथ पर पिण्ड नहीं रक्खा, अपितु शास्त्रानुसार कुशाओं पर ही पिण्ड दिया। तब आकाश वाणी हुई जिसमें कि भीष्म की शास्त्र निष्ठा की प्रशंसा की गई। इस प्रकार की प्रगाढ और कट्टर शास्त्र निष्ठा से ही प्राचीन काल में भारत गौरवान्वित था। और भविष्य में भी भारत का अतीत गौरव उसे तभी प्राप्त होगा जब त्रिकालदर्शी तपःपूत महर्षियों के द्वारा समुपदिष्ट शास्त्रों पर भारतीयों का समस्त क्रिया कलाप फिर से प्रतिष्ठित हो जायगा।

# सप्तदश अध्याय
# तेंतीसवां-पुष्प
## अर्जुन उवाच

**ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।**
**तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।।१।।**

अर्जुन ने प्रश्न किया–

हे कृष्ण ! जो लोग शास्त्रविधि को छोड़कर श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं; उनकी सत्त्व, रज, तम में से किसमें स्थिति होती है ?"

दैवी और आसुरी सम्पत्ति का विगत अध्याय में विस्तार से वर्णन हुआ और उपसंहार में भगवान् ने शास्त्रानुसार आचरण करने का उपदेश दिया। अपनी इच्छा-नुसार कर्म करने को उन्होंने हेय बतलाया। इस कथन को सुनकर अर्जुन को जो संदेह हुआ वह उसने इस अध्याय के आरम्भ में ही प्रकट कर दिया। अर्जुन का यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है। संसार में सभी लोग शास्त्रों को नहीं जानते और बहुत से लोग शास्त्र पढ़ कर भी उसके रहस्य को जानने में असमर्थ रहते हैं। परन्तु शास्त्रों को न जानकर या उसके रहस्य तक बिना पहुंचे भी वे यज्ञादि कार्यों में श्रद्धा रखते हैं। अपनी परम्परा में जो बातें यज्ञ यागादि या देवपूजा आदि के विषय में चली आ रही हैं उनका वे श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं, उनकी अवज्ञा नहीं करते। परन्तु शास्त्रोक्त विधियों का पालन वे नहीं कर पाते क्योंकि वे उन्हें जानते ही नहीं। अथवा जानकर भी उतने बड़े शास्त्रीय क्रियाकलाप का पालन करने में अपने को अनेक दृष्टियों से असमर्थ पाते हैं। परन्तु वे यजन आदि कर्मों का परित्याग नहीं करते अपितु श्रद्धापूर्वक वृद्धजनों के कथनानुसार या अपनी बुद्धि के अनुसार उन शुभ कर्मों का मनोयोगपूर्वक अनुष्ठान करते हैं। तब जैसा कि भगवान् ने विगत अध्याय के उपसंहार में शास्त्रविधिविहीन कर्म करने वालों को सिद्धि, सुख और परागति प्राप्त नहीं होती यह कहा, क्या उनकी भी वही स्थिति होती है, उन्हें भी सिद्धि, सुखादि की प्राप्ति नहीं होती ? अर्जुन के इस प्रश्न से यह ध्वनित होता है कि उन पुरुषों के साथ अर्जुन की सहानुभूति है, वह नहीं चाहता कि उनकी दुर्गति हो। यदि उनकी दुर्गति ही निश्चित है तब तो संसार के अधिकांश पुरुष दुर्गति के भागी हो जायेंगे, क्योंकि ऐसे पुरुषों की संख्या बहुत अधिक रहती है।

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि जो लोग किसी शास्त्र विधि को जानकर भी उसे छोड़कर अविधि पूर्वक देवादि का पूजन करते हैं, उनका यहाँ ग्रहण नहीं है। क्योंकि

यहाँ अर्जुन के प्रश्न में "श्रद्धयान्विता:" यह विशेषण लगाया गया है। जिन्होंने शास्त्र का ज्ञान रहते हुए भी उसके पालन की अवहेलना की वे श्रद्धायुक्त नहीं कहे जा सकते। अत: वे अर्जुन के प्रश्न के विषय नहीं हैं। अर्जुन ने यह क्यों पूछा कि ऐसे पुरुषों की स्थिति सत्व में होती है या रज, तम में। उसे यही पूछना चाहिए था कि उनको सिद्धि सुख और परागति प्राप्त होती है या नहीं ? इसका उत्तर है कि सिद्धि और सुख तो प्राप्त होता है, क्योंकि अपने काम से उन्हें संतोष देखा जाता है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, जो व्यक्ति बिना शास्त्र जाने अपने कर्त्तव्य का पालन श्रद्धा से करते हैं उन्हें उन कार्यों का संतोष रूप फल प्रत्यक्ष रूप से मिलता है और उससे उनके अन्त:करण में–सुख भी प्रतीत होता है। रह गई परागति की बात, सो जब वे श्रद्धान्वित होकर पूजन करेंगे तो परागति न होने का कोई कारण नहीं। यदि उनकी सुगति होने में कोई संदेह होता तो उनकी प्रवृत्ति ही क्यों होती। बुद्धिमान पुरुष भी बिना शास्त्र जाने लोकाचार और वृद्ध व्यवहार देखकर उनमें प्रवृत्त देखे जाते हैं। अत: उनको अपनी गति का निश्चय होता ही है। कदाचित् कहा जाय कि उनकी प्रवृत्ति से उनकी सुगति होगी यह उनका निश्चय है, इस अनुमान में क्या प्रमाण, तो इसका उत्तर यही है कि यदि उन विधियों का कोई दृष्टफल होता तब तो उसी के लिए उनकी प्रवृत्ति उन कार्यों में मानी जा सकती थी, परन्तु उन विधियों का कोई दृष्ट फल तो देखा नहीं जाता, अत: अदृष्ट फल की ही कल्पना करनी पड़ती है, उस अदृष्ट फल की प्राप्ति का उनको निश्चय रहता है, तभी उनकी उसमें प्रवृत्ति होती है, अन्यथा वे उसमें बिना कोई प्रयोजन देखे प्रवृत्त ही क्यों होते। अब वह अदृष्ट फल उनको मिलता है कि नहीं यह प्रश्न तो शास्त्रानुसार विधियों का आचरण करने वाले के विषय में भी हो सकता है। यदि उनका आधार शास्त्र है तो इनका भी आधार वृद्धोपदेश और लोकाचार है, स्वेच्छा से यह भी प्रवृत्त नहीं होते। ऐसी स्थिति में दोनों में जो कुछ अन्तर आवेगा उसका कारण गुण ही होंगे। इसीलिए अर्जुन ने यहां गुणविषयक ही प्रश्न किया कि ऐसे पुरुषों की स्थिति किस गुण में मानी जायगी।

माध्वभाष्य का आशय है कि शास्त्रविधि का अनुष्ठान न करने का कारण अज्ञान ही है। जो वेदादि शास्त्रों का ज्ञान रखते हुए भी उन विधियों की अवज्ञा ही नहीं करते, प्रत्युत अपने तर्काभास और अल्प बुद्धि के आधार पर वेदादि शास्त्रों का विरोध करने के लिए भी प्रस्तुत हो जाया करते हैं, उनके विषय में तो अर्जुन ने इसीलिए प्रश्न नहीं किया, क्योंकि उनकी निष्ठा के तमोगुण में होने में कोई संदेह ही अर्जुन को नहीं रह गया था। स्वयं भगवान् ने अभी विस्तार से उन्हें आसुरी सम्पत्ति से परिपूर्ण बतला ही दिया था। माध्वभाष्य के व्याख्याकार ने यह भी लिखा है कि जो ऐसे मतवाद हैं कि वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करने का खण्डन करते हैं वे तो स्पष्ट ही तामस

स्थिति वाले हैं। उनमें तो अर्जुन को अब कोई सन्देह ही नहीं रह गया है। उसने "श्रद्धयान्विता:" कहकर ऐसे लोगों को तो पहिले ही अलग छाँट दिया है। आनन्दगिरि व्याख्या में लिखा है कि यदि उनकी स्थिति सत्व में होगी तो उनका ज्ञान में अधिकार होगा अन्यथा नहीं।

श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि विगत अध्याय के अन्त में जो भगवान् ने कहा था कि जो शास्त्रविधि को छोड़कर 'कामचार' से प्रवृत्त होते हैं उनकी गति ठीक नहीं होती। इसी पर अर्जुन का प्रश्न है। 'कामचार' को ही यहाँ श्रद्धा कहा गया है।

श्री नीलकण्ठ ने यहाँ शास्त्र शब्द से वेद, वृद्ध पुरुषों के सदाचरण और अपने कुल के आचरण का ग्रहण माना है। क्योंकि ये सभी धर्माधर्म के विषय में प्रमाण माने जाते हैं।

"**स्मृतिशीले च तद्विदाम्**" अर्थात् ऋषियों के या वेदवेत्ताओं के स्मृति और शील भी धर्म में प्रमाण होते हैं इस धर्म सूत्र में ऋषियों के शील अर्थात् सदाचरण को भी धर्म में प्रमाण माना गया है। इसी प्रकार कुल में शिष्ट पुरुषों से चली आ रही मर्यादाएं, जिनको कुलाचार कहते हैं, वे भी धर्म के विषय में प्रमाण होती हैं। इन सभी के धर्माधर्म विवेक में प्रमाण होने से शास्त्र शब्द से यहाँ इन सभी का ग्रहण अभीष्ट है। परन्तु जो व्यक्ति इन सभी को छोड़कर अन्यत्र ही श्रद्धा रखता है उसकी स्थिति किस गुण में मानी जायगी ? उदाहरण के लिए किसी पुरुष के पिता ने एक कुआँ खुदवाया। अब वह पुरुष निर्मल गंगा जल का भी इसीलिए परित्याग कर देता है कि उसे अपने पिता के बनाए हुए कुएँ पर अपार श्रद्धा है। वह यह अपने मन में निश्चित मान बैठता है कि यह कुआँ मेरे पिता जी का बनवाया हुआ है, यह सैकड़ों गङ्गा निदियों से भी अधिक महत्व रखता है। अन्य लोगों को गंगा स्नान, गंगा जल का पान और गंगा जी की पूजा, प्रदक्षिणा आदि करने से जिस फल की प्राप्ति होती है वह मुझे इसी कुएँ पर स्नान, जलपान, पूजा, प्रदक्षिणा आदि करने से होगी, ऐसी जिस पुरुष की श्रद्धा है और इसी के अनुसार जिसका आचरण है उसकी स्थिति क्या है ? अपने पिता में और उनके कार्यों में अत्यन्त श्रद्धा रखने से क्या उसकी स्थिति सात्विक मानी जायगी, अथवा शास्त्रबोधित गंगा के महत्व की अवहेलना करने से रजोगुण में उसकी स्थिति होगी या यह तामसी है ? क्योंकि जिस प्रकार रांगे में चाँदी का भ्रम असत् या विपरीत है उसी प्रकार कम महत्व की वस्तु में उसकी सबसे अधिक महत्व की बुद्धि बन गई और अधिक महत्व की वस्तु को उसने नगण्य समझ लिया है। इनमें से उसकी निष्ठा या स्थिति किसमें है यह अर्जुन के प्रश्न का आशय है।

# चौंतीसवां-पुष्प

**त्रिविधा भवति श्रद्धा प्राणिनां सा स्वभावजा ।**
**सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।२।।**

भगवान् ने कहा–

"प्राणियों के स्वभाव से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की है, उसको सुनो।"

अर्जुन का प्रश्न था कि जो श्रद्धावान् है और शास्त्रविधि को छोड़कर कर्मानुष्ठान कर रहा है उसकी क्या निष्ठा है ? इस पर भगवान् ने श्रद्धा को तीन प्रकार का बतला दिया। इसी प्रकार से विगत अध्याय में त्याग को तीन प्रकार का बतलाया था और आगे अष्टादश अध्याय में भी त्याग आदि के गुणों के विभाग से तीन प्रकार के भेदों का कथन करेंगे। सात्विकी, राजसी और तामसी श्रद्धा को भगवान् ने स्वभावजा बतलाया है। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि अर्जुन ने अपने प्रश्न में पूछा था कि शास्त्रविधि के बिना यजन करने वालों की निष्ठा क्या है ? उसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि जिस निष्ठा के विषय में तुम पूछ रहे हो वह प्राणियों के स्वभाव के अनुसार होती है। पूर्वजन्म में किए गए कर्मों के द्वारा धर्म और उसके जो संस्कार हैं जो कि मृत्यु के समय प्रकट होते हैं, वही स्वभाव कहे जाते हैं, वह तीन प्रकार के होते हैं, सात्विक, राजस और तामस। यदि पूर्वजन्म में सात्विक देवता पूजन आदि के द्वारा धर्मानुष्ठान किया होगा तो इस जन्म में भी निर्मल अन्तःकरण बनता चला जायगा और मोक्ष की प्राप्ति होगी। यदि रजोगुण या तमोगुण के कर्मों का अनुष्ठान पूर्वजन्म में हुआ होगा तो तदनुसार ही इस जन्म में भी श्रद्धा होगी।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि स्वभाव का अर्थ होता है अपना असाधारण धर्म। प्राचीन वासनाओं से जो प्राणियों में विभिन्न प्रकार की रुचियाँ होती हैं वही स्वभाव है। जहां रुचि होगी वहीं श्रद्धा होगी। श्रद्धा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि अपने अभीष्ट को सिद्ध करनेवाली वस्तु का ग्रहण करने में जो द्वार होती है वही श्रद्धा है। आत्मा के धर्मों की अनुकूलता से वासना, अथवा रुचि या श्रद्धा उत्पन्न होती है। ये आत्मधर्म भी तीनों गुणों से संयुक्त रहते हैं, अतः श्रद्धा भी भगवान् ने तीन प्रकार की बतलाई है।

आनन्दगिरि व्याख्या में लिखा है कि श्रद्धा प्राणि मात्र में होती है और इसके लिए शास्त्र की कोई अपेक्षा नहीं होती। श्रद्धा का उत्पादक जो स्वभाव बतलाया गया है उसके त्रिविध (तीन प्रकार के) होने के कारण श्रद्धा भी त्रिविध बतलाई गई।

श्रद्धा को ही तीन प्रकार का बतलाकर भगवान् ने अर्जुन की मन:स्थित इस शंका का समाधान कर दिया कि यह समझना मिथ्या है कि जो भी कार्य श्रद्धा से किया जायगा वह चाहे कैसा ही हो, शुभ ही होगा। श्रद्धा तो प्राणिमात्र की अपने अपने कार्यों में होती ही है। बिना श्रद्धा के कोई भी पुरुष किसी कार्य में प्रवृत्त होता ही नहीं है। अत: श्रद्धामात्र के होने से उसको सद्गति प्राप्त होगी या उसकी अच्छी निष्ठा होगी, यह मानना दोषपूर्ण है। तब जब तीनों प्रकार की श्रद्धा होती है तो यह भी स्वत:निर्णीत हो गया कि सात्विकी श्रद्धा ही अभीष्टदायिनी होगी, राजसी और तामसी श्रद्धा तो बन्धन करने वाली ही होंगी, सात्त्विकी श्रद्धा का उदाहरण आगे भगवान् ने देवताओं का यजन आदि बतलाया है। देवताओं का स्वरूप और उनकी यजनविधि का ज्ञान शास्त्रों से ही होता है। अत: शास्त्रज्ञानशून्य व्यक्ति जो यजन करेगा उसकी निष्ठा सात्विक नहीं कही जा सकती, यह बात भी श्रद्धा के त्रैविध्य कथन से प्रतिफलित हो गई। श्रद्धा का लक्षण है–

**''दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्ति: श्रद्धा''**

अर्थात् दोष दर्शन के अनुकूल जो चित्तवृत्ति है उसको रोक देने वाली चित्तवृत्ति का नाम श्रद्धा है। दोष दर्शन की मानव में सहजात प्रवृत्ति होती है। सभी जगह वह कुछ न कुछ दोष देख ही लेता है। परन्तु जिसमें श्रद्धा होती है, उसमें दोष नहीं दिखाई देते। श्रद्धा दोषदर्शन का अभाव कर देती है। जब दोषदर्शन रुक जाता है तब विश्वास हो जाता है। जब तक दोष दिखाई देते रहेंगे तब तक उस पर हमारा विश्वास नहीं होगा, क्योंकि दोष दर्शन विश्वास को रोक देने वाला है। अत: पहिले श्रद्धा होती है तब विश्वास होता है। लोक में प्राय: श्रद्धा और विश्वास को एक ही समझा जाता है। परन्तु श्रद्धा विश्वास से पहिले होती है। वह विश्वास की जननी है। यह कोई निश्चित नहीं कि श्रद्धा अमुक व्यक्ति की अमुक स्थान या व्यक्ति पर अवश्य होगी। उसमें जैसा कि भगवान् ने कहा पूर्वजन्म का संस्कार ही कारण है, जिसे स्वभाव कहा जाता है। यह भी समझ लेना आवश्यक है कि लोग बहुधा अन्धश्रद्धा को दूषित समझते हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर श्रद्धा का लक्षण बतलाया, उसका स्वरूप ही अन्धता का पोषक है। जिसमें श्रद्धा होती है उसमें दोष दर्शन का अभाव हो जाता है और उसके दोष दिखाई नहीं देते। अत: उसके दोषों की ओर से श्रद्धावान् मनुष्य अन्ध ही रहता है। परन्तु कार्यकारण सम्बन्ध जानकर और तर्क से अपनी श्रद्धा को दृढ़ बनाते रहना भी मानवीय स्वभाव है।

श्रद्धा शब्द का निर्वचन है 'श्रत्' 'धा', ''श्रत् धीयत अनया''। 'श्रत्' का अर्थ है मन में श्रद्धेय के प्रति एक प्रकार का चेप हो जाना।

आगे भगवान् सत्त्व को श्रद्धा का कारण बतलाते हैं।

# पैंतीसवां-पुष्प

**सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत !**
**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।३।।**
**यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।**
**प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।४।।**

"हे भारत ! सभी की श्रद्धा सत्त्व के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह उसी रूप का हो जाता है।"

श्री शंकराचार्य ने सत्व का अर्थ विशिष्ट संस्कार किया है, जिसे विगत पद्य में भगवान् 'स्वभाव' कह चुके हैं। सभी प्राणियों की श्रद्धा अपने अन्तःकरण के अनुसार ही होती है। अन्तःकरण संस्कारों से भरा रहता है। श्री रामानुजाचार्य ने भी सत्व का अर्थ विशिष्ट अन्तःकरण ही किया है। समस्त पुरुष अपने अन्तःकरण के संस्कारों के अनुसार ही संसार की वस्तुओं में स्नेह या द्वेष रखते हैं। जिसका जैसा अन्तःकरण होगा, वह उसी प्रकार की श्रद्धा से युक्त रहेगा। इसका तात्पर्य विगत पद्य से ही साम्य रखता है। श्रद्धामय का अर्थ है कि पुरुष में श्रद्धा की प्रचुरता है। भगवान् ने अर्जुन के इस प्रश्न का भी समाधान कर दिया कि बिना शास्त्र ज्ञान के भी श्रद्धा होती है, तथा मनुष्य का व्यक्तित्व श्रद्धा से ओत-प्रोत है। श्रद्धा का इतना महत्त्व है कि जिसकी जैसी श्रद्धा है उसका सारा व्यक्तित्व ही तद्रूप है।

श्री नीलकण्ठ कहते हैं कि श्रद्धा युक्त होने पर पुरुष को आत्म दर्शन का अधिकारी बतलाकर श्रुति ने श्रद्धा को आत्मदर्शन का साधन कहा है। तब श्रद्धा के सात्त्विक, राजस, तामस आदि विभाग कैसे बनेंगे ? राजस या तामस श्रद्धा से आत्मदर्शन में कैसे सहायता मिलेगी ? उसी के उत्तर में भगवान् ने उक्त पद्य कहा है। पूर्वजन्मार्जित सात्त्विक, राजस, तामस संस्कारों के अनुरूप श्रद्धा होती है। पहिले जो श्री नीलकण्ठ ने उदाहरण दिए थे, यहाँ भी इन उदाहरणों का समन्वय उन्होंने किया है कि यदि कोई पुरुष पूर्वसंस्कारों के कारण अपने पिता के बनाए हुए कूप पर श्रद्धा रखता हुआ, अपने पिता को देवता ही समझता है तो देवगण उस पर अनुकम्पा रखते हैं। शास्त्र ज्ञान से विद्वान् होने के कारण अपने नित्यकर्मों के परित्याग से जो पाप इस पुरुष का इकट्ठा होता है, उसे भी इस पर अनुग्रह करके देवगण हटाते रहते हैं। यदि इसकी पूर्ववासना के अनुरूप राजसी श्रद्धा है तो रजोगुण प्रधान यक्षगणों का यह कृपा भाजन होता है। परन्तु अपनी इच्छानुसार कर्म करने वाले इस पुरुष के नित्यादि कर्मों के लोप

से समुद्भूत प्रत्यवाय को दूर करने में यक्षगण समर्थ नहीं होते। उसमें तो केवल देवताओं का ही सामर्थ्य है। यक्षगण अपनी शक्ति के अनुसार इस राजस श्रद्धायुक्त पुरुष पर अनुग्रह करके उसको अपने अधिकार में स्थित सांसारिक सिद्धि प्रदान कर भले ही अनुगृहीत कर दें परन्तु प्रत्यवाय हटाना उनके सामर्थ्य में नहीं है। फलत: यह बन्धन से छूटने की ओर अग्रसर नहीं हो पाता। यदि किसी पुरुष की पूर्वसंस्कारों के कारण तामसी श्रद्धा है, और वह यह समझता है कि मेरा मृत पिता प्रेत बनकर मेरे कुटुम्ब को बाधा न पहुँचावे, और इसी आशंका से प्रेरित होकर वह प्रेत योनि में स्थित समझ कर अपने पिता की प्रीति की कामना से उसके बनाए हुए कूप की पूजा करता है, तो प्रेत भावना से पूजन आदि करने के कारण प्रेतों का ही वह कृपा पात्र बनता है। क्योंकि वे ही तमोगुण प्रधान होते हैं।

इस प्रकार श्रद्धा की मनुष्य के लिए अनिवार्यता बतलाकर सात्त्विकादि क्रम से श्रद्धेय का भेद बतलाते हैं। कि–

सात्त्विक पुरुष देवताओं का पूजन करते हैं, यक्ष और राक्षसों का पूजन राजसी लोग करते हैं और इनके अतिरिक्त जो तामसी पुरुष हैं वे प्रेतों और भूतगणों की पूजा किया करते हैं" (४)

इन्द्र, विष्णु, रुद्र आदि देवगण प्रसिद्ध हैं। जिनको शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, परन्तु तो भी वृद्धोपदेश से सुनकर याँ परम्परा सिद्ध रूप से जो उक्त देवताओं की पूजा करते हैं, वे सात्त्विक पुरुष होते हैं। यह प्रकरण उन्हीं लोगों के लिए है जो शास्त्रज्ञान से शून्य हैं, इस बात का टीकाकारों ने बार-बार स्मरण कराया है। राजस और तामस यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत आदि का पूजन करते हैं। यह क्रम भारत में बहुत प्राचीन है यह इससे ध्वनित होता है।

# छत्तीसवां-पुष्प

**अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।**
**दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।५।।**
**कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।**
**मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।६।।**

"जो मनुष्य शास्त्रों में अविहित घोर तपस्या करते हैं, जो दम्भ, अहंकार से संयुक्त रहते हैं और काम तथा राग तथा मद से भरे होते हैं, जो अपने शरीर में संस्थित भूतग्राम और मुझको कष्ट देते हैं ऐसे पुरुषों को निश्चय ही असुर समझो" (५)

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त पद्यों में सात्त्विक, राजस और तामस श्रद्धा के भेदों और देव, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेत, पिशाच आदि श्रद्धेय भेदों को बतलाकर आगे आसुर लोगों की अशास्त्रीय घोर तपस्या की निन्दा भगवान् ने की है। इसका तात्पर्य यही है कि सात्विक श्रद्धा और सात्विक तप तो बहुत कम लोग करते हैं, प्रायः राजसी और तामसी श्रद्धा और तदनुसार राजस् और तामस तपस्या ही लोगों की होती है, जो कि अन्ततः निष्फल ही होती है, अतः उसकी निन्दा करके भगवान् उससे बचने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि शास्त्रों में विहित न होने के कारण इस प्रकार के तप आदि का कोई उच्च फल तो होता नहीं। ऐसी तपस्या शारीरिक क्लेश के लिए ही होती है और उससे शरीर स्थित आत्मा को भी कष्ट ही होता है।

भगवान् ने इस प्रकार के लोगों के तीन विशेषण यहां दिए हैं-

**"दम्भाहंकारसंयुक्ताः" 'कामरागबलान्विताः'**

और '**अचेतसः**'। इन विशेषणों से इस प्रकार के लोगों की हीनता को ही भगवान् ने प्रकाशित किया है। प्रश्न यह हो सकता है कि शास्त्र विहित जो तपस्याएं हैं, उनमें भी तो शरीरस्थित भूतग्राम को और शरीर स्थित जीवात्मा को कष्ट होता ही है, तब केवल अशास्त्र विहित घोर तपस्या में भगवान् ने ये दोष क्यों दिखाए ? ये दोष तो तपस्या मात्र में उपस्थित होंगे, चाहे वह शास्त्रविहित हो चाहे शास्त्रप्रतिषिद्ध हो। इसका उत्तर स्पष्ट ही है कि शास्त्रविहित तपस्या का उद्देश्य आत्मशुद्धि और मोक्षप्राप्ति होता है, अतः मोक्षरूप फल मिलने पर आत्मस्वरूप की उपलब्धि अथवा आत्मसाक्षात्कार ही हो जाता है। भूतग्राम और जीवात्मा दोनों को ही आत्मोपलब्धि में अपार हर्ष ही होता है। फल की प्राप्ति पर क्लेश नवीन सुख का जनक हो जाता है। परन्तु अशास्त्र विहित जो घोर तपस्या है उसका प्रयोजन या फल तो आत्मोपलब्धि होता नहीं, प्रत्युत

उनसे तो आत्मा और भी अधिकाधिक आवृत होता जाता है। आत्मा को अपने स्वरूप से दूर हटाने में क्लेश ही होता है। यही बात भगवान् ने यहाँ कही है। ऐसे पुरुषों में "मैं घोर तपस्या से इन्द्र आदि देवताओं को वश में कर लूंगा" इत्यादि रूप से दम्भ और अहंकार व्याप्त रहता है जो आत्मा का आवरण करने वाला होता है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि अशास्त्रविहित शब्द से भगवान् का आशय वेद विरुद्ध लोक प्रचलित लौकिक आदि मार्गों से है। उसमें तपस्या करने वाला अपने शरीर को काट-काटकर अग्नि में उसका हवन करता है और इस प्रकार अपने को परम कष्ट देकर इष्टदेव को प्रसन्न करके उससे अभीष्ट फल की प्राप्ति ही मुख्य उद्देश्य होता है। किन्तु यह श्रीनीलकण्ठ जी की व्याख्या उपयुक्त नहीं है क्योंकि श्रीदुर्गासप्तशती में सब उपदेश सुनकर सुरथ राजा और समाधिवैश्य की तपस्या लिखी है, उसमें उन दोनों का अपने शरीर के मांस काटकर हवन लिखा है और उससे देवी की प्रसन्नतारूप उत्तम फल भी उन्हें प्राप्त हुआ। दुर्गासप्तशती भी पुराणान्तर्गत एक प्रामाणिक ग्रन्थ है, अतः उसका लिखना अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता और उसको अशास्त्र विहित भी नहीं कह सकते। इसलिए यहां वही दृष्टान्त देना चाहिए जो सर्वथा शास्त्रविहित नहीं है जैसा कि आगे कहा जाता है कि जो मनुष्य तीक्ष्ण कांटे बिछाकर उस पर लेटते रहते हैं बैसा अशास्त्रीय तप ही यहां निन्दित है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने लिखा है कि अपने दम्भ और अहंकार के वशीभूत होकर वे लोग इस प्रकार की शरीर को अत्यन्त पीड़ा पहुँचाने वाली तपस्याओं से जो महान् शारीरिक कष्ट का अनुभव होता है, उसकी भी कोई परवाह नहीं करते।

वस्तुतः जो लोग आज कल देखे जाते हैं कि कांटे आदि बिछाकर उनके ऊपर सोते रहते हैं, वैसे लोगों से यहां तात्पर्य प्रतीत होता है। श्रीनीलकण्ठ जी का कथन यहाँ मार्गविशेष की निन्दा करके भगवद्गीता पर साम्प्रदायिकतत्व का आरोप करनेवाला सिद्ध होता है किन्तु भगवद्गीता में किसी सम्प्रदाय की निन्दा या किसी सम्प्रदाय पर कटाक्ष नहीं है, यह हम कई स्थानों पर स्पष्ट कर चुके हैं।

# सैंतीसवां-पुष्प

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।
आयुस्सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः।।८।।
कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्
।।१०।।

अब सामान्य रूप से परिचय कराने के लिए सात्त्विक आदि पुरुषों के आहार आदि का भी वर्णन भगवान् कर देते हैं कि–

सभी लोगों को आहार भी तीन प्रकार का प्रिय होता है यज्ञ या, तप और दान भी उनके तीन ही प्रकार के होते हैं, उन भेदों को इस प्रकार सुनो (७)

आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले रस से युक्त चिकने, चिरकाल तक स्थिर रहने वाले, हृदय को शक्ति देने वाले भोज्यपदार्थ सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं (८)

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि आहार आदि जो आगे वर्णित हुए हैं वे सत्वादि प्रधान प्राणियों के चिह्न हैं। इन आहार, यज्ञ, तप आदि को देखकर यह पहिचाना जा सकता है कि अमुक व्यक्ति दैवी और आसुरी सम्पत्तियों में से किसके अन्तर्गत है। साथ ही सत्त्वादि प्रधान आहार आदि के इस निरूपण का यह भी स्पष्ट अर्थ समझा जा सकता है कि जो पुरुष अभ्युदय और निःश्रेयस की कामना रखते हैं उन्हें सात्त्विक आहार आदि का परिग्रह और राजस, तामस आदि आहार का परित्याग करना चाहिए।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि आहार से सत्त्व आदि गुणों की वृद्धि होती है–

"अन्नमयं हि सौम्य मनः"

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः"

आदि उपनिषद् वाक्यों में आहार के आधार पर ही मन का स्वरूप और आहार

से ही सत्त्व शुद्धि की बात आती है। वर्तमान में आहार शुद्धि का विचार अत्यन्त सीमित रह गया है, उसी के परिणाम स्वरूप व्यापक रूप में रजोगुण और तमोगुण का विस्तार देखने में आता है। जब हम आहार विहार में पवित्रता का विचार छोड़कर स्वच्छन्द रूप से आहार आदि का सेवन करते हैं तो हमें वे ही फल प्राप्त होते हैं जो रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि में भगवान् ने कहे हैं। हमारी अभिलाषा इस पर भी यही रहती है कि हमें सुख और शान्ति की निरन्तर प्राप्ति होती रहे। बड़े लोग विश्वशान्ति की भी बातें करते हैं और विश्वशान्ति के लिए एकत्रित होकर शस्त्रास्त्र तथा सेनाओं पर प्रतिबन्ध लगाने की बात भी सोचते रहते हैं। परन्तु शान्ति और सुख दैवी सम्पत्ति की वस्तुएं हैं। हमारे दैनिक आहार व्यवहार तो राजस और तामस रहें और अभिलाषा रक्खें हम सुख और शान्ति की, यह एक उपहास की ही बात है। ऐसी परिस्थिति को देखकर एक प्राचीन उक्ति का स्मरण आता है कि–

**''धर्मस्य फलमिच्छन्ति धर्मं नेच्छन्ति मानवाः ।**
**फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ।।''**

अर्थात् प्रायः संसार में मानवों की यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि वे धर्म का फल जो सुख, शान्ति और समृद्धि आदि हैं, उनकी तो इच्छा रखते हैं, परन्तु उनकी प्राप्ति का उपाय जो धर्माचरण है, उसको कभी नहीं चाहते। इसी प्रकार पाप के फल जो दुःख, अशांति, दरिद्रता आदि हैं, उन्हें तो कभी नहीं चाहते, परन्तु उनके मिलने का कारण जो पापाचरण है उसे बड़े प्रयत्न से करते हैं। कहीं कोई ऐसा न कहे कि आपने सात्त्विक आचरण और आहार को ग्रहण करने की बात तो बतला दी, परन्तु यह नहीं बतलाया कि सात्विक, राजस और तामस आहार कौन-कौन होते हैं, इसीलिए भगवान् ने गीता में जहाँ दर्शनों के रहस्यों का प्रतिपादन किया वहाँ उन्होंने सात्त्विक आदि अहारों का प्रतिपादन भी नहीं छोड़ा। सात्त्विक आहार का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि जो पदार्थ आयु को बढ़ाने वाले हों वे सात्त्विक होते हैं। जितनी अधिक आयु प्राप्त होगी उतना ही अधिक धर्माचरण करने को मिलेगा। अतः सात्त्विक पुरुष का आहार ऐसा होना चाहिए जो आयुवर्धक हो। वर्तमान में जो अकालमृत्यु हो जाती है और नये-नये रोग मानव जीवन को समाप्त कर देते हैं उनका कारण राजस, तामस आहार का सेवन ही है।

इसके उपरान्त सत्व-बल और आरोग्य अर्थात् स्वास्थ्य को बढ़ाना सात्त्विक आहार की पहिचान है। रसों से भरे, चिकने हृदय को पुष्ट करने वाले पदार्थ सात्त्विक आहारों में परिगणित हुए हैं। इनका विस्तृत निरूपण धर्मशास्त्रों के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वहाँ पदार्थों के नाम गिनाकर बतलाए गए हैं कि अमुक-अमुक पदार्थों का सेवन

करना चाहिए। सात्त्विक आहार को स्थिर और प्रीति बढ़ाने वाला कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि प्राचीन काल में अनेक ऐसे पदार्थ उपलब्ध होते थे जिनका सेवन करने से बहुत समय तक दुबारा आहार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती थी, शरीर में कोई क्षीणता नहीं आती थी, और सात्त्विक पुरुष बहु काल तक अपनी समाधि आदि कृत्यों में लगा रहकर भी शारीरिक क्लेश का अनुभव नहीं करता था। सात्त्विक आहार से मानसिक प्रीति बढ़ती है। सात्त्विक आहारों में हलुआ, घृताप्लुत भात, रोटी और खीर आदि लिये जा सकते हैं एवं राजस आहार में कटु (चिरपिरे) खट्टे तथा नमक जिनमें अधिक हो, बहुत गरम, तीक्ष्ण अर्थात् जिनके खाने पर जिह्वा में तेजी मालूम हो, और रूखा तथा जिनके खाने से हृदय में दाह मालूम होता हो ऐसे आहार हैं जो दुःख और शोक पैदा करने वाले होते हैं। चटपटी चटनी और बहुत मसाले वाले समोसे आदि इसके उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इसी प्रकार तामस आहार जिनको प्रिय होते हैं, उनका विवरण किया जाता है कि जिनका समय हो चुका हो, समय हो चुकने से जिनमें रस भी लुप्त हो गया हो, यहाँ तक कि सडान जिनमें आने लगी हो—ऐसे बहुत देर के बासी भोजन तामस लोगों को प्रिय होते हैं।

"अत्यन्त कटु, खट्टे, अतिलवणयुक्त, अत्यन्ततीखे, रूखे, दाह करनेवाले, दुःख, शोक और रोगों के उत्पादक आहार राजसी पुरुषों को इष्ट होते हैं।" (९)

अत्युष्ण में जो अति है उसको श्री शंकराचार्य ने सभी के साथ जोड़ा है। राजसी पुरुष सभी रसों में अति ही चाहते हैं। अत्यन्त कटु नीम आदि होते हैं। अत्यन्त तीक्ष्ण मिर्च आदि हैं। अन्यरस तो प्रसिद्ध ही हैं। इनसे दुःख, शोक और रोगों का होना भगवान् ने बतलाया है। इनका सेवन करते समय तत्काल जो पीड़ा होती है वह दुःख है, सेवन करने के अनन्तर जो शारीरिक पीड़ा होती है वह शोक है और उग्र रसों के सेवन करने से शरीर स्थित धातुओं में जो विकार आ जाते हैं उन्हें श्री नीलकण्ठ ने आमय कहा है। सारा शरीर चित्त और धातुओं पर अवलम्बित है—

**"चित्तायत्तं धातुवश्यं शरीरं नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम् ।**
**तस्माच्चित्तं सर्वथा रक्षणीयं स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति ।।"**

अर्थात् शरीर, चित्त और धातुओं पर अवलम्बित है। चित्त के नष्ट हो जाने पर धातु भी नष्ट हो जाते हैं। इसलिए सभी प्रकार से चित्त की रक्षा करनी चाहिए, चित्त के स्वस्थ रहने पर अनेक प्रकार की नवनवोन्मेशशालिनी बुद्धि का स्फुरण होता है।

राजसी और तामसी आहार से धातुओं की विकृति होकर चित्त भी चञ्चल हो उठता है और उससे व्यक्ति की एकरूपकता नष्ट हो जाती है।

"अल्प पाचक वाले, रसविहीन, बासी, उच्छिष्ट और अपवित्र भोजन तामस जनों को प्रिय होते हैं।" (१०)

यातयाम का अर्थ है चिरकाल तक पड़े रहने से जिनका पाचन कठिनता से होता है। एक व्याख्या में इसका तात्पर्य लिखते हुए कहा गया है कि याम का अर्थ प्रहर किया जाय तो बहुत ऐसे पदार्थ होते हैं, जो अनेक प्रहर का समय बीत जाने पर ही भक्ष्य होते हैं। दूध को कई प्रहर तक रख देने से ही दधि बनता है, अतः यहाँ याम शब्द को प्रहर वाचक न मानकर जो पदार्थ जितने समय में दोष युक्त होता है, उतने काल का उस पदार्थ के लिए ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेदादि शास्त्रों में कौन पदार्थ कितने समय के अनन्तर दोष पूर्ण हो जाता है, इसका विस्तार से वर्णन है। गतरसम् का अर्थ व्याख्याकारों ने किया है कि जिसमें से रस निकल गया है। श्रीरामानुजाचार्य का आशय है कि पार्थिव पदार्थों में पाकज शक्ति के निरन्तर चलते रहने से कोई पदार्थ कभी रस विहीन नहीं हो सकता। जब तक पदार्थ में अवस्था ग्रहण करने की शक्ति रहेगी तब तक वह अवश्य किसी न किसी रस से युक्त रहेगा। जब पदार्थ में से अवस्था परिवर्तन ग्रहण करने की शक्ति निकल जायगी तब वह पदार्थ स्वरूपतः नहीं रहेगा, ऐसी स्थिति को अभाव शब्द से ही कहा जायगा, गतरस शब्द से नहीं। अतः गतरस शब्द का तात्पर्य उन्होंने यही लगाया है कि जिसमें से स्वाभाविक रस चला गया। 'पूति' का अर्थ तो सभी व्याख्याकारों ने दुर्गन्ध युक्त ही किया है। 'पर्युषित' का अर्थ ही शंकराचार्य ने किया है कि जो पदार्थ पक जाने के अनन्तर रात्रिभर रक्खा रहे उसे पर्युषित कहा जाता है। श्री रामानुजाचार्य ने इसमें रात्रिका ग्रहण आवश्यक नहीं समझा। उन्होंने इतना ही कहा कि समय बीत जाने पर जिस पदार्थ का रस बदल गया हो, वह पर्युषित है। वस्तुतः हिन्दी में 'बासी भोजन' संस्कृत के पर्युषित का ही भाव प्रस्तुत करता है। बासी भोजन यद्यपि प्रातःकाल का रक्खा हुआ सायंकाल तक रक्खे रहने से हो जाता है परन्तु अधिक व्यवहार इसका रात्रि में रक्खे रहने वाले पदार्थ के लिए ही होता है। इसी लोकप्रसिद्धि को श्री शंकराचार्य ने ध्यान में रक्खा है।

उच्छिष्ट आहार भी तामस व्यक्तियों को प्रिय माना गया है इस पर प्रायः सभी व्याख्याकारों ने शास्त्र निर्दिष्ट मर्यादाओं के अनुसार गुरु से अतिरिक्त उच्छिष्ट तामस प्रिय होता है, ऐसा निवेश किया है। गुरु के उच्छिष्ट सेवन का तो अनेक बार शिष्य

के लिए विधान भी प्रायश्चित्त जनित पापप्रणोदन के लिए होता है। यदि सर्वथा उच्छिष्ट की व्यावृत्ति हो जायगी तब तो आचार्य का उच्छिष्ट भोजन भी शिष्य के लिए तामस ही कहा जायगा और तामस भोजन का शास्त्र में विधान मानना असत् होगा, अतः गुरु के उच्छिष्ट से अतिरिक्त जो उच्छिष्ट है उसको तामस प्रिय कहना चाहिए ऐसा व्याख्याकारों ने पुराणोक्त उद्धरणों से दिखाया है। अमेध्य का अर्थ है जो मेध्य अर्थ यज्ञ में उपयोग के योग्य न हो। अपवित्र में इसका तात्पर्य है।

इस प्रकार सात्विक, राजस और तामस पुरुषों के आहारों का भगवान् ने निरूपण करके यह प्रकट किया कि आत्महितैषी पुरुष को सात्विक आहार का सेवन करना चाहिए, उससे सात्विक वृत्तियाँ ही जाग्रत होंगी, राजसी और तामसी वृत्तियाँ दबेंगी और श्रेयोमार्ग की ओर अग्रसर होने में सहायता मिलेगी। हम यदि यह चाहें कि अपने आहार को राजस और तामस बनाए रक्खें, अपवित्र और उच्छिष्ट सेवन का कभी त्याग न करें और सात्विक बुद्धि प्राप्त करते रहें, सात्विक व्यवहार चलाते रहें, तो यह बात असंभव है। यही कारण है कि आहार का हमारे शास्त्रों में बहुत अधिक विचार मिलता है।

# अड़तीसवां-पुष्प

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।११।
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।१२।।
विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।१३।।

"फल की आकाङ्क्षा न रखने वाले पुरुषों के द्वारा शास्त्रों में विहित जिस यज्ञ का 'यज्ञ करना चाहिए' ऐसा मन में निश्चय करके अनुष्ठान किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ कहा जाता है।"

'विधिदृष्ट' श्री शंकराचार्य ने शास्त्र में जिन यज्ञों का विधान है उन्हीं यज्ञों को माना है। ऐसे यज्ञ जिनका शास्त्रों में विधान है वे अवश्य करणीय होते हैं, उनके न करने से प्रत्यवाय का भागी बनना पड़ता है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने लिखा है कि यदि स्वयं किसी कारण यज्ञ करने में असमर्थ हो तो अपने प्रतिनिधि के रूप में किसी शास्त्रज्ञ पुरुष का वरण कर उसके द्वारा यज्ञानुष्ठान करके भी शास्त्र की आज्ञा का पालन किया जा सकता है। यद्यपि यह क्रिया अमुख्य या गौण है। सात्विक यज्ञ करने वाले पुरुष के मन में किसी प्रकार के फल की कामना न हो यही सात्विक यज्ञ की पहिली शर्त है, क्येंकि फल की आकाङ्क्षा मन में आते ही वह कर्म फल के स्वरूप के अनुसार राजस या तामस कोटि में चला जाता है। एक टीका में इस प्रकार फलकामना को छोड़कर यज्ञानुष्ठान करने वाले पुरुष को श्रोत्रिय कहा गया है। जब फल की कामना नहीं रहेगी तो उस यज्ञ का उद्देश्य क्या रहेगा, क्या उद्देश्य विहीन वह यज्ञ होगा ? इस प्रकार के यज्ञानुष्ठान में तो किसी की प्रवृत्ति ही न होगी, जिसका कुछ भी उद्देश्य न बतलाया जा सके। उसके लिए भगवान् ने यह उद्देश्य बतलाया है कि "यह यज्ञानुष्ठान मेरा कर्त्तव्य है' इस प्रकार अपने कर्त्तव्य का निर्वाह ही एक बहुत बड़ा उद्देश्य है। सात्विक पुरुषों को यज्ञ यागादि अनुष्ठान करते समय अपने मन में इसी उद्देश्य को रखना चाहिए। वनवास की अवधि में जंगलों में विचरते हुए एक बार महाराज युधिष्ठिर से द्रौपदी ने कहा कि महाराज ! आप इतने यज्ञ और दान करने के अनन्तर भी जंगलों की खाक छान रहे हैं, और यज्ञ, दान आदि न करने वाला दुर्योधन आनन्द से राज्य सुख भोग रहा है; इससे यही निर्णय करना चाहिए कि यज्ञ आदि का अनुष्ठान करने

से दुर्गति और न करने से सुख प्राप्त होता है। तब क्या आपने इतना श्रम इसी दुर्गति के लिए किया ? द्रौपदी की इस बात पर महाराज युधिष्ठिर ने यही सात्त्विक आदर्श का उत्तर दिया कि–

**"नाहं धर्मफलाकांक्षी राजपुत्रि ! चराम्युत**
**ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्यपि ।।"**

अर्थात् हे राजपुत्रि ! मैं धार्मिक यज्ञ, दान आदि विधियों का अनुष्ठान किसी फल की आकांक्षा से नहीं करता। मुझे देना चाहिए, दान देना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है, यज्ञ करना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है, यही समझ कर मैं यज्ञानुष्ठान करता हूँ। जब मेरे यज्ञादि कार्य किसी फल के उद्देश्य से होते ही नहीं तो उनसे फल क्या होगा।

राजस यज्ञ का निरूपण करते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि–

"फल की अभिसन्धि से या दम्भ के लिए जो यज्ञ किया जाता है, हे भरत श्रेष्ठ! वह यज्ञ राजस कहा जाता है।" (१२)

स्वर्ग प्राप्ति तथा अनेक लौकिक सिद्धियों की प्राप्ति के उद्देश्य से भी यज्ञ किए जाते हैं, उन्हें राजस कहा जाता है। बहुत लोग, "यज्ञ करने से मैं संसार में बड़ा धार्मिक समझा जाऊंगा", इस प्रकार के दम्भ प्रदर्शन के लिए भी बहुत से यज्ञ किया करते हैं। राजसूय, अश्वमेधादि यज्ञों का अनुष्ठान वही राजा कर सकता है जिसने अन्य सभी राजाओं को अपना करदाता बना लिया हो, जिसका शासन सभी राजगण स्वीकार करते हों। स्पष्ट है कि ऐसे यज्ञों का अनुष्ठान अपने महत्त्व के प्रकाशन के लिए ही होता है। इस शंका का कि जब यज्ञ राजस हैं, तो इनका विधान ही शास्त्रों ने क्यों किया, हम पहिले ही समाधान कर चुके हैं कि ऐसे व्यक्ति भी धर्म विमुख न हों, कुछ धार्मिक कृत्य करते रहने से आगे सात्विकता की ओर अग्रसर होने की आशा रहेगी, इसी दृष्टि से शास्त्रों ने इनका विधान किया है।

"जो यज्ञ शास्त्रीय विधियों से विहीन हो, जिसमें अन्न का दान न किया गया हो, जिसके अनुष्ठान में श्रद्धा का अभाव हो, ऐसे यज्ञ को तामस यज्ञ कहा जाता है। (१३)

राजस यज्ञों की विधियाँ भी शास्त्रों में बतलाई गई हैं, अतः राजस के वर्णन में विधिहीनता की बात नहीं कही गई थी। तामस यज्ञों में विधि का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रहता, प्रत्युत शास्त्रीय विधियों से सर्वथा विपरीत विधियों का ही तामसी लोग अपने यज्ञों में पालन करते हैं। मन्त्र हीन का अर्थ एक व्याख्याकार ने उच्चारण की

स्वर, वर्ण आदि की विधियों से विहीन किया है। तामस यज्ञों में श्रद्धा का भी सर्वथा अभाव होता है। यज्ञ करने वाले असुर सम्पत्तिशाली पुरुष का यज्ञकर्त्ता ऋत्विक् आदि के प्रति कोई अच्छा व्यवहार नहीं होता। ऐसे यज्ञ अधोगति प्रदान करने वाले होते हैं। वे यज्ञ बहुत निकृष्ट फलों की अभिलाषा से किए जाते हैं। मारण, मोहन, उच्चाटनादि प्रयोग इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

# उन्तालीसवाँ-पुष्प

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।१४।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।१५।।
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।१६।।
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।।१७।।
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।१८।।
मूढाग्रहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।१९।।

"देवताओं, द्विजों, गुरूओं तथा विद्वानों का पूजन करना पवित्रता रखना, सरलता से रहना, ब्रह्मचर्य का परिपालन करना, प्राणिपीड़ा से दूर रहना यह शारीरिक तप कहलाता है।" (१४)

यज्ञ का सात्विक, राजस, तामस विभाग विगत पद्यों में कह दिया गया है। इस प्रकरण में उन मुख्य मुख्य प्रसिद्ध धार्मिक कृत्यों के तीनों गुणों से विभक्त रूपका वर्णन भगवान् करते हैं जिनकी लोक तथा शास्त्र में पर्याप्त प्रसिद्धि है। यज्ञ के उपरान्त तपस्या के स्वरूप का निरूपण करते हुए पहिले उसके शारीरिक, वाचिक और मानसिक ये तीनों स्वरूप बतलाकर, फिर उनके सात्विक, राजस, तामस भेदों का निरूपण होगा। शारीरिक तपस्या में सबसे पहिला देवपूजा को लिया गया है। देव पूजा में शरीर का पर्याप्त व्यायाम हो जाता है। यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि तप का अर्थ श्रम सर्वत्र अनुगत रहेगा। शारीरिक तप में शरीर को श्रम होता है, मानसिक तप में मन को तथा वाचिक तप में वाणी को श्रम उठाना पड़ता है। आपाततः तप में जिस विषय का तप हो उसमें कुछ क्लेश का अनुभव होता ही है। परन्तु वह क्लेश अभीष्ट ही होता है। देवपूजा में शरीर को क्लेश उठाना पड़ता है। उसके लिए अपना एक निश्चित क्रियाकलाप स्थिर करना होता है, जिससे स्वच्छन्दता पर अंकुश लगता है।

फिर देवपूजा के सम्भार एकत्रित करने में पर्याप्त श्रम उठाना पड़ता है। परन्तु देवभक्त इन सब कार्यों में निस्सीम प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव करता है और कभी भी इनसे विरत होना नहीं चाहता। इन कर्मों में उसकी इतनी तत्परता हो जाती है कि वह इन कर्मों को छोड़कर परम पुरुषार्थ मोक्ष की भी अभिलाषा छोड़ देता है। शंकर भगवान् ने अपनी सेवा में तत्पर एक भक्त को प्रसन्न होकर मोक्ष प्रदान कर दिया। इससे उसे बड़ा कष्ट हुआ। मोक्ष में भगवान् की पूजा का यह आनन्द कहाँ, वहाँ नित्य भगवान् के प्रसाद के रूप में भस्मानुलेपन कहाँ मिलेगा, मुक्ति हो जाने पर पवित्र रुद्राक्ष की माला का संसर्ग छूट जायगा। शंकर भगवान् के मंदिर की पुनीत सीढ़ियाँ चढ़ने को नहीं मिलेंगी। उसने दुःखी होकर अपनी इन नित्य सहचर वस्तुओं से अन्तिम विदा लेते हुए कहा–

**भस्मोद्धूलन ! भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले ! शुभं**
**हा सोपानपरम्परे ! गिरिसुताकान्तालयालंकृते !**
**अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा–**
**लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ।**

अर्थात् हे भस्मानुलेपन ! तुम्हारा कल्याण हो, हे रुद्राक्षमाले तुम्हारा शुभ हो ! शंकर भगवान् के मन्दिर की सोपान परम्परे, आज मैं बड़ा उद्विग्न हूँ, क्योंकि मेरी आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने मुझे मोक्ष नामक बड़े मोह से भरा वह पद दे दिया है जिसमें तुम्हारी पूजा के सुख का आनन्द छूट जायेगा। संस्कृत साहित्य में देव भक्तों की अनेक सरस मार्मिक उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, जिनसे भक्तों की भावप्रवणता का पता चलता है।

देवपूजा के अनन्तर द्विजों की पूजा का उल्लेख है। यह भी शारीरिक तप है। यह समाज में द्विजों की पवित्रता, उच्चता और त्याग शीलता का द्योतक है। गुरु पूजन तो प्रसिद्ध ही है। बहुधा गुरुपूजन में अधिक शारीरिक श्रम उठाना पड़ता है। प्राचीन काल में गुरुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति शिष्यगण ही किया करते थे। वे आवश्यकताएं अपनी पूर्ति के लिए कठोर शारीरिक श्रम की अपेक्षा रखती थीं। शिष्य को तपस्या करवाकर उसके मन की पवित्रता संपादन के लिए अनेक बार गुरु भी उससे दक्षिणा आदि के रूप में पर्याप्त शारीरिक श्रम लेकर उसे भविष्य जीवन में कठोर श्रम से जीवन यापन करने के पाठ पढ़ा दिया करते थे, जिसकी अनेक कथाएं भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इन कथाओं में गुरु का शिष्य के प्रति किसी प्रकार का द्वेष या उसे

केवल कष्ट पहुँचाना ही उद्देश्य नहीं होता था, अपितु उपार्जित ज्ञान के साथ-साथ उसमें पर्याप्त क्रियाशीलता उत्पन्न करने का पवित्र विचार उनका होता था।

गुरु के उपरान्त भगवान् ने प्राज्ञजनों की पूजा का विधान किया है। शास्त्रीय विधिपूर्वक जिनसे अध्ययन तो नहीं हुआ परन्तु जो अपने ज्ञान से उत्कृष्ट हैं, उनका भी पूजन करना तप के अन्तर्गत ले लिया जाता है। शौच का अर्थ यहाँ शारीरिक पवित्रता सम्पादन है, जिसका कि भारतीय धर्मशास्त्रों में विस्तृत प्रतिपादन है, जो पर्याप्त श्रम की अपेक्षा रखने के कारण तप के अन्तर्गत संगृहीत हुआ है। आर्जव का अर्थ सरलता है। यद्यपि सरलता का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं अपितु मन से भी है, अतः उसे शारीरिक तप में गिनने में कुछ सन्देह हो सकता है, परन्तु मानसिक सरलता या नम्रता के शारीरिक प्रदर्शन का ही यहाँ तात्पर्य मानने से अनुपपत्ति नहीं रहती, शारीरिक उद्धत और अनर्गल चेष्टाओं को संयत करना भी श्रम साध्य ही है, अतः इसका भी शारीरिक तप में परिगणन किया गया है। ब्रह्मचर्य का परिपालन तो बिना श्रम के हो ही नहीं सकता, अतः वह तो मुख्य रूप से शारीरिक तप में संगृहीत हुआ ही है। परन्तु ब्रह्मचर्य भी शारीरिक श्रम की भांति मानसिक श्रम की भी पर्याप्त अपेक्षा रखता है, फिर भी उसमें शारीरिक श्रम की मुख्यता रहने के कारण उसका यहाँ संकलन कर दिया गया है। ब्रह्मचर्य पर हम अग्रिम पुष्प में कुछ विस्तार से कहेंगे। अहिंसा को शारीरिक तप कहने का आशय स्पष्ट ही है कि परपीड़ा से बचने के लिए स्वयं को बहुत श्रम करना होता है। बहुधा दूसरे के द्वारा पहुँचाई गई पीड़ा को सहन करके उसका प्रतीकार न करने में भी बहुत श्रम होता है। इसका भी क्षेत्र मानसिक भी है परन्तु शरीर का ही प्राधान्य होने के कारण उसे शारीरिक तप में ही गिना गया है।

"उद्वेग न पहुँचाने वाले सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य बोलना, स्वाध्याय का अभ्यास करना वाङ्मय तप कहलाता है।

अन्य इन्द्रियों के समान वाणी भी स्वच्छन्द रूप से निकलती रहती है। उसे संयत करना भी श्रम साध्य होता है। कठोर वाणी के उच्चारण से श्रोता को मानसिक पीड़ा या उद्वेग होता है। अतः उद्वेग उत्पन्न करने वाली वाणी का उच्चारण न करना वाचिक तप माना गया है। बहुधा मिथ्या भाषण से ही शिष्ट पुरुषों को अधिक पीड़ा पहुँचती है। वे सर्वदा वाणी में सत्य का ही आश्रय लेते हैं और वैसा ही दूसरे से चाहते भी हैं, अतः सत्य का ही उच्चारण करना वाचिक तप का अंग माना गया है।

परन्तु यदि सत्य ऐसा है जो बहुत कठोर है, जिसके सुनने से श्रोता को पीड़ा हो सकती है, ऐसी वाणी पर भी संयम रखना आवश्यक हो जाता है। अतः वही बात कहनी चाहिए जो सत्य होने के साथ प्रिय भी हो। परन्तु यदि केवल सत्य और प्रिय का ही ध्यान रक्खा जाय तो बहुत सी हितकारी बातों का उच्चारण ही न हो सकेगा क्योंकि ऐसी बहुत सी बातें हैं जो सत्य होनेपर भी आपाततः प्रिय नहीं होतीं। अतः हितकारी सत्य और कष्ट न पहुँचानेवाली वाणी को अपने व्यवहार में स्थान देना वाङ्मय तप माना गया है। एक नीति वाक्य प्रसिद्ध है–

**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्–**
**न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।**
**प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष–**
**धर्मः सनातनः ।।**

सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, ऐसा सत्य नहीं बोलना चाहिए जो सत्य तो हो, परन्तु कष्ट पहुँचाने के कारण अप्रिय मालूम होता हो। ऐसी वाणी का भी उच्चारण निन्दित माना गया है जो प्रिय हो परन्तु मिथ्या हो। वाग्व्यवहार के इस प्रतिबन्ध से सहज ही अनुमान हो सकता है कि बोलते समय कितनी सावधानी और श्रम की अपेक्षा हुआ करती है। इसके अतिरिक्त स्वाध्याय का अभ्यास करते रहना भी वाङ्मय तप माना गया है। अपने स्वाध्याय में भी वाणी को पर्याप्त श्रम करना पड़ता है। स्वाध्याय शब्द, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, मुख्य रूप से वेदाध्ययन का ही वाचक है। वेदों का उच्चारण अन्य साहित्य की तरह नहीं होता अपितु उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों पर ध्यान देकर तदनुसार ही वेदों का उच्चारण करना होता है, जो स्पष्ट ही बहुत श्रमसाध्य है, अतः वह भी एक तप ही है।

**"छात्राणामध्ययनं तपः"**

इत्यादि वचनों में अध्ययन को ही छात्रों का तप कहा गया है। यह वाङ्मय तप का विवरण हुआ।

"मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव मौन रहना, आत्मा का निग्रह रखना, यही मानस तप कहा जाता है।" (१६)

स्पष्ट है कि उक्त बातों के सम्पादन में पर्याप्त श्रम होने से ये तप के अन्तर्गत हैं।

इस प्रकार तप के शारीरिक, वाचिक और मानसिक स्वरूप का विवरण करने के उपरान्त अब इसका तीनों गुणों के अनुसार विभाजन आगे के तीन श्लोकों में भगवान् ने किया है।

"फल की आकांक्षा को छोड़कर परम श्रद्धा से मनुष्यों के द्वारा किया हुआ उक्त तीनों प्रकार का तप सात्विक कहलाता है।" (१७)

सात्विक भेद में फल की आकांक्षा छोड़ देना सर्वत्र अनुगत है, और राजस और तामस भेदों में फल की आकांक्षा सर्वत्र मुख्य रहती है। साथ ही परम श्रद्धा से युक्त होकर जो तप किया जाय वही सात्विक है, यह बात भी कही गई। श्रद्धा भी तीन प्रकार की पहिले कही गई है। उसमें परम श्रद्धा से सात्विक श्रद्धा का ग्रहण करना स्पष्ट है।

राजस तप का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"सत्कार मान और पूजा के लिए दम्भपूर्वक जो तप किया जाता है वह चञ्चल और अस्थिर होता है, वह राजस तप कहलाता है। (१८)

अन्य राजस भेदों की भांति ही इसका विवरण भी समझ लेना चाहिए।

"मूढ़तापूर्ण आग्रह से शरीर को कष्ट देकर जो दूसरों को निर्मूल करने के उद्देश्य से तप किया जाता है, वह तामस तप है।" (१९)

अपनी शक्ति की परीक्षा न करके जो बहुत उग्र तप प्रारम्भ कर देते हैं, जिसमें शरीर को अनेक प्रकार के भयंकर कष्ट पहुंचाए जाते हैं, जिसका उद्देश्य दूसरों को पीड़ा पहुंचाना ही मुख्य होता है, ऐसे तप तामस तप कहे जाते हैं। तपस्या के स्वरूप और तीनों गुणों के अनुसार उसके भेदों के इस कथन से अन्य भेदों के समान ही यह स्पष्ट है कि आत्महित कामना रखने वाले पुरुषों को सात्विक तप का आश्रय लेना चाहिए और राजस तथा तामस तप से बचना चाहिए।

---

# चालीसवां-पुष्प

## ब्रह्मचर्य

आदि सत्ययुग में जब सम्पूर्ण ऋषिमण्डली भगवान् स्वायम्भुव मनु से धर्म-श्रवण करने गई थी, और भगवान् मनु की आज्ञा से उनके शिष्य भगवान् भृगु ने सब प्रकार के धर्म सुनाये थे, उस समय ऋषिमण्डली ने अकाल मृत्यु के सम्बन्ध में भी एक प्रश्न किया था कि वर्ण आश्रम धर्मों में स्थित मनुष्यों की अकाल मृत्यु क्यों हो जाती है ? भगवान् भृगु ने उसका उत्तर देते हुए कहा था कि–

**अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।**
**आलस्यादन्नदोषाचच मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ।।**

(मनुस्मृति अ० ५)

इस श्लोक में अकाल मृत्यु के ४ कारण बताये गये हैं–(१) वेदों का अभ्यास न करना, (२) आचार छोड़ देना, (३) आलस्य और (४) अन्न का दोष। जब हम विचारते हैं कि ये कारण आजकल हममें, हमारे समाज में कहाँ तक फैले हुए हैं और फिर अपनी दशा की ओर देखते हैं तो हृदय फड़क उठता है। जिस आपत्ति का कारण ढूंढ निकालने के लिए हम इधर-उधर भटक रहे थे, जिसकी खोज के लिए हैरान थे, उसका निर्णय तो हमारे पूर्वजों ने सहस्रों वर्ष पहले ही कर रखा है और करुणावश हमें बतला भी दिया है। अब हम उसे न देखें, उसकी कुछ परवाह न करें, उधर से आंख ही बन्द कर लेवें और इधर-उधर पर्वत खोदकर चुहिया निकालते फिरें, तो दोष किसके सिर पर मँढ़ा जायगा।

हमको पुराणों और इतिहासों से स्पष्ट पता लगता है कि आपके इस आनन्द कानन भारत पुण्य क्षेत्र में अकाल मृत्यु जैसी दुष्ट लता का कहीं अंकुर तक भी देखने-सुनने में न आता था। यहाँ तो सब मनुष्य समृद्धिशाली, पराक्रमशाली, विद्वान्, हृष्ट-पुष्ट, नित्य आनन्दमय होते थे। अपने सुख के सामने न केवल यही इन्द्र भवन की सम्पदाओं को तुच्छ समझते थे, किन्तु देवता भी इनके सुखों को, इनके अधिकारों को देखकर नित्य भारत में जन्म लेने के लिए ललचाये रहते थे। किन्तु आज ये सब बीते स्वप्न की बड़बड़ाहट हैं, आज इन बातों पर विश्वास तक नहीं होता। आज किस देश में, किस नगर में, किस ग्राम में, किस घर में अकाल मृत्यु पिशाची ने अपना पंजा नहीं जमा रक्खा है ? कितने पिता आज पुत्रों के वियोग में तड़प रहे हैं। कितनी बालविधवाओं का करुणक्रन्दन भारत के आकाश को फाड़ रहा है। प्लेग, हैजा, आदि

कैसे कैसे दुष्ट रोग भारत को अपना घर बना रहे हैं और भारतवासियों को अपनी करनी का फल दे रहे हैं। जो आज जीते हैं वे मरे से बढ़कर हैं। पैदा होते ही रोग शरीर के साथ लग जाता है, बल और बुद्धि का कहीं पता भी नहीं, भारत के नवयुवकों के आज मुखकमल को देखिये–क्यों इन पर यह अकाल में ही तुषार पड़ गया। पराक्रमी ऐसे हैं कि हाथ से मक्खी उड़ा लेना भी पुरुषार्थ की बड़ी दूर की सीमा से कुछ बाहर निकला हुआ है। पूर्वजों के शरीरों के साथ हमारे शरीरों की तुलना करने पर अनुपात से तो यही मालूम होता है कि एक-एक हाथ के शरीर की भविष्यवाणी अब पूरी ही होना चाहती है। हम लोग यह कह देते हैं यह सब ईश्वर की इच्छा है। किन्तु ईश्वर के नाम पर अन्याय का कलंक लगाना उचित नहीं, वह सदा हमारे कर्मों के अनुसार फल देने वाला है। हम अपने आचारों की खोज करें कि हम क्या कर रहे हैं ? हम यदि आज खोज भी करते हैं तो पश्चिमी दृष्टि से खोज करते हैं। अपने निर्भ्रान्त शास्त्रों के सिद्धान्त की ओर नहीं आते, कि जिनमें पहिले ही सब कार्य कारण-भाव का निर्णय हो चुका है।

मनुस्मृति में जो ४ कारण अकाल मृत्यु के बतलाये हैं–उनमें से एक-एक की जाँच कर लीजिए, खूब विचारपूर्वक दृष्टि फैला लीजिए। लाचार होकर आपको कहना पड़ेगा कि चारों कारण आजकल यहाँ अपने पूरे स्वरूप में उपस्थित हैं। पहला कारण बतलाया गया है वेद का अभ्यास न करना। जिसमें–

**'भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।'**

'भूत, भविष्य, वर्तमान-सब कुछ वेदों से ही जाना जाता है का दावा करने वाले ऋषि-मुनियों का कानून था कि–

**'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।**
**स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।**

जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वेद न पढ़ कर अन्य बातों में श्रम करता है, वह वंश सहित जीता शूद्र कोटि में गणना योग्य हो जाता है। यहाँ आज कितने वेदज्ञ ब्राह्मण हैं ? कितनों ने सांगवेद पढ़कर अपने पूर्वजों के विद्याभण्डार के रत्नों की कान्ति भी देखी ? कितने ही हमारे देशवासी तो वेदों का नाम भी नहीं जानते हैं। कानून यह था कि–

**''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च''**

ब्राह्मण बिना कारण सोचे धर्मबुद्धि से छओं अंगों सहित वेदों को पढ़े और समझे।

किन्तु आज वेदों के पढ़ने की चर्चा आते ही पेट की बात आगे आ पड़ती है कि वेद, शास्त्र पढ़ेंगे तो खायेंगे क्या ? आज पेट की ज्वाला इतनी बढ़ गई है कि उसे ही बुझाने में सारा जीवन समाप्त हो जाता है, किन्तु फिर भी वह बढ़ती ही जाती है। ब्राह्मणों में कथा है कि भरद्वाज ऋषि बाल्य, यौवन, जरा तीनों अवस्थाओं में वेद ही पढ़ते रहे और जब इन्द्र ने उनसे पूछा कि आपको चौथी अवस्था और मिले तो आप क्या करेंगे ? उस पर भी उन्होंने यही उत्तर दिया कि ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाभ्यास करते ही उसे भी बिता दूँगा। पाँचवीं और मिलेगी तो वह भी वेद पढ़ने में ही जायगी। किन्तु आज अवस्था की तो कौन कहे, कुछ वर्ष भी कुछ मास भी, कुछ दिन भी ब्राह्मण नामधारियों के भी वेद पढ़ने में खर्च नहीं होते। सौभाग्यवश लोग वेद पढ़ते भी हैं, वे–

**'स्थाणुरयं भारहारः किलाभू-**
**दधीत्य वेदं न विजानात्यर्थम् ।**

यह केवल बोझ सिर पर रखने वाली थूण के समान है जो वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता, इस मंत्र के ही दृष्टान्त बनते हैं। सांग सार्थवेद पढ़कर उसके द्वारा अलौकिक विद्याओं को जानने वाला आज कौन भारत में है ? हाँ, वेद का दावा तो आज जगत् में बहुत बढ़ गया है कि 'वेद में यह नहीं, वह नहीं' इत्यादि, किन्तु जब पूछा जाय बाबू साहब ! आपने कितने काल तक वेद पढ़ा है, तो उत्तर यही होगा कि उर्दू या अंग्रेजी में उसका तर्जुमा देखा है। जिस वेद को पढ़ने के लिए दर्शनों के आचार्य, मुनि और ऋषि बीसों वर्ष ब्रह्मचर्य रखते थे, फिर भी यावज्जीवन उसके अर्थ ज्ञान का निरन्तर यत्न ही करते रहते थे, उसका ज्ञान हम अनुवादों के आधार पर प्राप्त करना चाहते हैं, इससे अधिक और शोक की बात क्या होगी ? इससे अधिक क्या अधःपात होगा ? निरुक्तकार यास्क मुनि कहते हैं–

**''नैतेषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा,**

विना तप के मंत्रों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। वह तप जाने कहाँ गया। वेदों में है क्या, जिसके लिए हम, हम ही नहीं किन्तु सारी सृष्टि उनका गौरव करती है–यह कोई नहीं जानता। सुतरां वेद ज्ञान की जो दुर्दशा भारत में हुई है, उसका विचार करने से आँखों के आगे अन्धकार छा जाता है।

जब वेद–ज्ञान ही न रहा, तो धर्मज्ञान कहाँ से हो, और आचार का पालन क्यों न सूखे वृक्ष के फल के समान हो जाय। जब आचार जानेंगे, तब न आचार का पालन करेंगे। आचार जानने का साधन वेद शास्त्र जब छोड़ दिया तो आचार–पालन हो कहाँ

से। हमारे पूर्वजों ने अनेकों वर्ष जंगलों में भटककर राज्य तक का सुख छोड़कर जो सम्पत्ति प्राप्त की थी, और परम करुणा वश जो उपदेश के रूप में दी थी, उस सम्पत्ति को उस रत्नराशि को हमने बन्दर का कांच समझ लिया है। मूर्ख जौहरी के लड़के के समान कूड़े-करकट में उन अमूल्य रत्नों को फेंक रहे हैं। हम तनिक भी विचार दृष्टि से काम लेवें, तो विदित होगा कि हमारे आचारों में कितना तत्त्व भरा हुआ है। सैकड़ों वर्षों की खोज से वैज्ञानिक जिन बातों को जान पाया है–उन्हें आचार के रूप में हमारे घरों की अनपढ़ स्त्रियाँ भी जानती हैं। आज हम अपने आचारों पर हँसा करते हैं, किन्तु उन्हीं बातों को जब विदेशी वैज्ञानिकों के मुख से सुनते हैं तो सिर झुकाकर मान लेते हैं। अपने पूर्वजों की बातों पर विश्वास नहीं, किन्तु विदेशियों की बातों पर पूर्ण विश्वास है–इतना अध:पात किस जाति का होगा ! मानो आत्मिक बल हममें नि:शेष ही हो गया। हमारे घरों में गोबर का चौका लगाने की पुरानी रीति है, किन्तु नव शिक्षित बाबू सज्जन भला इसे कब पसन्द करते ? इससे घृणा करते थे, हँसते थे। किन्तु आज वैज्ञानिकों की राय हुई कि गोबर पर कीटाणु आदि बाहरी दोषों का संक्रमण नहीं हो सकता, तो अब बहुत से डाक्टरों के भी घर में गोबर का चौका लगने लगा। वैष्णव हिन्दू सदा से अपने घरों में तुलसी रखते आये हैं, भला बाबूओं के बंगले में इस बेचारी को कहाँ स्थान मिलता, किन्तु अंग्रेज डाक्टरों ने अनुभव करके बतला दिया कि मलेरिया का उपाय इससे अच्छा कोई नहीं, तो अब तुलसी के भी उच्च ग्रह आये। जगह-जगह इसका प्रचार होने लगा। तात्पर्य–हम केवल दूसरों की दृष्टि से देखते हैं। पाश्चात्य शिक्षा से हम सर्वथा दृष्टवादी हो गये हैं, अदृष्ट-धर्म अधर्म पर हमारा विश्वास जाता ही नहीं। डाक्टरों के कहने से यह दृढ़ विश्वास है कि प्लेग का असर समीप रहने वालों पर हो जाता है, अत: प्लेग के रोगी से यहां तक डरते हैं कि पुत्र पिता के पास नहीं जाता, पुरुष स्त्री के पास नहीं जाता। किन्तु तामसी, नीच जाति, व पापियों की संगति से तमोगुण, व पाप का भी असर होता है–इस ऋषिवाक्य को नहीं मानते। अच्छा, अदृष्टवाद को जाने दीजिए, जिनका फल प्रत्यक्ष है, उन आचारों को भी कौन मानता है ? प्रात:काल उठने के लाभों को कौन नहीं जानता ? किन्तु कितने सज्जन ब्राह्म-मुहूर्त में उठते हैं ? शौच-विधि, दन्तधावन, नित्य स्नान आदि का फल तो प्रत्यक्ष है, फिर भी कितने नवशिक्षित इन्हें निभाते हैं ? बस आचारस्य च वर्जनात्' यह मनुस्मृति का कहा हुआ दूसरा अकाल मृत्यु का कारण भी यहाँ पूरा उपस्थित है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

तीसरे हेतु आलस्य के विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है। आलस्य का तो भारत में साम्राज्य है। काम कुछ न करेंगे, किन्तु कहेंगे यही कि फुरसत नहीं। दिन भर व्यर्थ

बिता देने वालों की हमारे यहाँ कमी नहीं। इसे जो विशेष जानना चाहें, विदेशीय सज्जनों की कार्यपरता का अपने से मुकाबिला कर देख लेवें।

अब रहा चौथा हेतु अन्न दोष। इसके विषय में कुछ न पूछिये। जिस जाति के पूर्वजों ने मद्य, मांस के सेवन को महापाप माना था, उस जाति में आज होटलों में बड़े आनन्द से अण्डे और ब्राण्डी उड़ती है। बुद्धि यह हो गई है कि खाने-पीने का धर्म से सम्बन्ध ही क्या ? धर्म को इन सज्जनों ने दुनियाँ से बाहर की वस्तु मान रखा है–जिसका आचार-व्यवहार से कोई ताल्लुक ही नहीं। शास्त्र ने निर्णय किया था कि '**अन्नमयं हि सौम्य मनः**' जो हम भोजन करते हैं, उसके तीन भाग होते हैं। स्थूल भाग मल रूप में निकल जाता है, मध्य भाग रस, रुधिर, मांस मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र–इन सात धातुओं को क्रम से बनाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म सार भाग होता है उसका मन बनता है। जैसा पुरुष अन्न खायेगा, वैसा ही उसका मन होगा। सात्विक अन्न से सात्विक मन बनेगा तो ईश्वर-भक्ति, परोपकार, दान, दया, आदि के विचार होंगे। तामस अन्न खाने से तामस मन बनेगा तो परद्रोह, कुचाल, छल, हिंसा आदि के विचार होंगे। इस ही आधार पर शास्त्र ने भोजन में बड़ा विवेक रक्खा। शुद्ध अन्न हो, शुद्ध कमाई का हो, शुद्धिपूर्वक बनाया जाय, वह भोजन करना। किन्तु आज न अन्न का विचार, न कमाई का। भक्ष्याभख्य का विवेक वैज्ञानिक बुद्धि में ही नहीं समाता।

अब जब चारों कारण अकाल मृत्यु को हमारे यहाँ उपस्थित करते हैं, तो मानना चाहिए कि इन्हीं करणों से दुर्दशा हो रही है और यदि हम अपना शुभ चाहें तो इन्हीं कारणों को दूर करें।

हमें शास्त्रों ने चार आश्रमों के पालन का उपदेश दिया है–सबसे प्रथम ब्रह्मचर्य, फिर गार्हस्थ्य, फिर वानप्रस्थ, फिर संन्यास। पहली सीढ़ी ब्रह्मचर्याश्रम के बिगड़ जाने से सभी आश्रम अस्त-व्यस्त हो गये। ब्राह्मण का आठ वर्ष का बालक, क्षत्रिय का ११ वर्ष का और वैश्य का १२ वर्ष का उपनयन संस्कार होकर आचार्य के घर जाकर निवास किया करता था। 'उपनयन' शब्द का अर्थ ही यह है कि आचार्य उसे अपने समीप ले जाता था, उपनयन सब द्विज मात्र का आवश्यक कर्म है। क्या सुन्दर प्रथा थी, कैसा उच्च आदर्श था कि कोई द्विज बालक अपनी पूर्वावस्था में घर रह ही न सके, आचार्यों के घर जाकर पहले विद्या पढ़े तब घर में आकर रहने का अधिकारी हो। आज हम दूसरे देशों की कानूनों की बड़ी प्रशंसा करते हैं कि उस-उस देश में कम्पल्सरी एजुकेशन है, अपने यहाँ भी सरकार से वैसा कानून बनाने की प्रार्थना करते

हैं–किन्तु अपने घर के कानून का हमसे पालन नहीं हो सकता। अपने घर के कानून को हम देखते ही नहीं। इससे बढ़कर क्या कानून होगा कि द्विजों के लड़के नियत अवस्था में अवश्य आचार्य के घर जाँय, अन्यथा वे अपनी कुल प्रतिष्ठा से पतित माने जाँय। जिसे अपनी कुल प्रतिष्ठा रखनी हो, जिसे द्विज रहना हो, वह आचार्य के घर जाकर कम से कम १२ वर्ष तक निवास करे। वहाँ उसे वेद का, चरण अर्थात् अध्ययन करना होता था उसे ही कहते थे 'ब्रह्मचर्य'। सांगवेद के अध्ययन के साथ-साथ उससे आचारों के पालन का पूरा अभ्यास कराया जाता था। दण्ड, कमण्डलु लिए, मेखला बाँधे, कौपीन लगाए, साधारण वेष से रहना होता था। यह आवश्यक न था कि स्कूल में जाकर भर्ती होते ही कोट, पतलून, कमीज, नेकटाई और बूट का अनावश्यक खर्च पिता के सिर पर पड़े। भोजन भी भिक्षान्न का करना होता था–जिससे शौक पैदा न हो, जैसा मिले, वैसा साधारण भोजन का अभ्यास हो। मान अपमान के सहने की शक्ति पैदा हो और सबसे बढ़कर यह बुद्धि हो कि मैं देश का अन्न खा रहा हूँ, देश का मुझ पर ऋण हो रहा है, अपनी विद्या द्वारा देश की सेवा कर यह ऋण मुझे चुकाना है। आचार्य में पिता-बुद्धि होती थी, सहपाठियों में भ्रातृभाव होता था, स्त्री मात्र को माता कहने की आदत होती थी। जरा हम सोचें कि क्या वह आदर्श था। क्यों न उस रीति से शिक्षा पाकर जगत् में भ्रातृभाव उत्पन्न हो। वे आँखें जो सब स्त्रियों को माता दृष्टि से देख चुकी हैं फिर किसी पर क्यों बुरी तरह पड़ेंगी ? वहाँ आचारों की न केवल साचिक शिक्षा होती थी, किन्तु प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठने से लेकर शयनपर्यन्त के सभी सदाचार गुरु की निरीक्षकता में पालन करने होते थे। सन्ध्या, हवन आदि आचारों का पालन, परिश्रम से शास्त्रों का अध्ययन, भिक्षा लाना, गुरु के घर का सब कार्य करना–इतफ़ कृत्य रहने पर आलस्य को स्थान ही कहाँ?
अन्न का परिपूर्ण विचार वहाँ करना होता था। भक्ष्य का पूर्ण विवेक था। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त चारों दोषों में से एक भी दोष नहीं उत्पन्न होने पाता था। जब वेद-विद्या समाप्त कर चुके, तब आचार्य को दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन होता था। समावर्तन अर्थात् घर लौटना। बिना विद्या समाप्त किए कोई घर नहीं लौट सकता, विवाह का नाम भी नहीं ले सकता। समावर्तन के पीछे विवाह कर धर्म से गृहस्थाश्रम का पालन करता हुआ, अवस्थानुसार वानप्रस्थ और संन्यास का अधिकारी होता था।

अब आप आज की हमारी दशा पर विचार कीजिए। जिस शिक्षा की आज भारत में प्रधानता है, उसमें न अपनी भाषा का स्थान है, न अपना वेष रहता है, न अपने भाव ही आ सकते हैं। संसार भर के शिक्षित मनुष्य इस बात पर एक मत हैं कि अपनी भाषा द्वारा दी हुई शिक्षा ही शिक्षा का सच्चा फल दे सकती है। जैसे बालक

के शरीर पोषण के लिए माता का दूध ही प्राकृतिक आहार है, अन्य आहार विकृति ही उत्पन्न करते हैं, ऐसे ही मानस भावों के पोषण के लिए मातृभाषा का विज्ञानरूपी दुग्ध ही प्राकृतिक सामग्री है। अन्य भाषा द्वारा दी हुई शिक्षा भावों के पोषण के स्थान में उन्हें विकृत ही करती है। इसी से तो सब देशों के नेता अपने बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध अपनी भाषा में ही करते हैं। किन्तु हमारी शिक्षा ही निराली है। यहाँ उच्च शिक्षित कहाने वाले भी, अपनी शिक्षा की डींग के आगे संसार की बुद्धि को तुच्छ समझने वाले भी, अपनी मातृभाषा में अपना नाम तक लिखना नहीं चाहते, अपने धर्मग्रन्थ वेद की भाषा की बात ही कौन कहे, देव-वाणी संस्कृत को भी एक तरफ रखिए, जब उन्हें अपनी सभ्यता का वा अपने धर्म का ज्ञान ही नहीं, तो उन पर उन्हें श्रद्धा कैसे होगी ? अपने धर्म आदि की बात जानने के लिए जो कुछ वे पढ़ते हैं, उसका भी उन्हें मार्मिक ज्ञान नहीं होता। विदेशीय भाषा द्वारा प्राप्त की गई शिक्षा अन्तःकरण पर नहीं जमती। प्रत्यक्ष ही देखिए, लाखो छात्र कालेजों में पढ़ते हैं, किन्तु उनमें से कितने यथार्थ वैज्ञानिक बनते हैं, कितने राजनीति के विद्वान होते हैं, कितने अर्थशास्त्र पारंगत होते हैं, कितनों को उच्च कक्षा की इंजीनियरी आती है ? अपनी भाषा में जब शिक्षा हो, तब ही सच्चा विषय-ज्ञान हो सकता है, यह अबाधित सिद्धान्त है।

कहाँ तक कहा जावे, जब तक उसमें आचार-शिक्षा की प्रधानता न रहेगी, जब तक शिक्षित और सदाचारी ये दोनों शब्द समानार्थक न बना दिये जायेंगे, जब तक शिक्षा के साथ व्यायाम का समुचित प्रबन्ध कर नवयुवकों को बलिष्ठ न बनाया जायगा, तब तक देशोन्नति का नाम ही नाम रहेगा। यथार्थ उन्नति इन बातों से ही हो सकती हैं, ये सब बातें अवलम्बित हैं, पुराने आदर्श के ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षा पर।

यह है ब्रह्मचर्य का आदर्श। शोक है कि हमने आज उस ब्रह्मचर्याश्रम की परिपाटी को नाटक के रूप में कर दिया है। जैसे रामलीला वाले भगवान् रामचन्द्र के वर्षों के चरित्रों को कुछ दिनों में करके दिखाया करते हैं–ऐसे ही हमारे घरों में यह ब्रह्मचर्य की लीला घंटों में ही समाप्त हो जाती है। उसी समय एक वेदी पर उपनयन और दूसरी वेदी पर समावर्तन हो जाता है। वेद का आरम्भ और उसकी समाप्ति साथ ही साथ होती है लड़का पढ़ने काशी, कश्मीर चलने लगता है तो विवाह का लालच देकर रोक दिया जाता है। ब्रह्मचर्य का नाश कर बाल-विवाह की कुप्रथा को हमने स्थान दिया, अब बल और बुद्धि कहाँ से हो ? वीर्य ही शरीर का बल है, और उससे ही आगे मन बुद्धि की पुष्टि होती है। इसकी रक्षा पर जब प्राचीनों का ध्यान था, बिना

परिपक्व हुए स्त्री की इच्छा तक मन में न आने देते थे, और गृहस्थाश्रम में भी सन्तानोत्पत्ति के लिए शास्त्रोक्त विधि से ऋतु-काल में स्त्री-प्रसंग के अतिरिक्त वीर्य की पूर्ण रक्षा करते थे–तभी वह बल और बुद्धि भारत में थी कि आज वह स्वप्न सा प्रतीत होता है। उनकी कथाएँ सुनकर आश्चर्य-समुद्र में डूब जाना पड़ता है, झटपट उन्हें असत्य कह डालते हैं। एक आबाल ब्रह्मचारी थे भीष्म, जिन्हें आज सनातन धर्मावलम्बी पितामह कहते हैं। वृद्धावस्था में जिनके बल के सामने बड़े-बड़े तरुण वीर, भीमार्जुन जैसे धनुर्धर हवास भूल जाते थे। जगन्नियन्ता श्रीकृष्ण ने भी जिनके आगे अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी, किन्तु भीष्म की, उनको शस्त्र ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा न टूट सकी। टूटे कैसे ? भीष्म का नियम भी कैसा दृढ़ था।

**परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।**
**यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कदाचन ।।**
**त्यजेच्च पृथिवीगन्धमापश्च रसमात्मनः ।**
**ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ।।**
**प्रभां समुत्सृजेदेको धूमकेतुस्तथोष्णताम् ।**
**त्यजेच्छब्दं तथाकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ।।**
**विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।**
**न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन ।।**

मैं तीनों लोकों को छोड़ सकता हूँ, देवताओं का राज्य या इससे भी बड़ी कोई वस्तु हो तो उसे भी छोड़ सकता हूँ, किन्तु सत्य को कदापि नहीं छोड़ सकता। चाहे पृथ्वी गन्ध छोड़ देवे, जल अपना रस छोड़ देवे, प्रकाश चाहे रूप दोड़ दे, वायु का स्पर्श चाहे पृथक् हो जाय, सूर्य्य चाहे कान्ति छोड़ दे, अग्नि गर्मी छोड़ दे, आकाश में चाहे शब्द न रहे, चन्द्रमा की किरणों से शीतलता निकल जाय, इन्द्र चाहे पराक्रम छोड़ देवे, धर्मराज चाहे धर्म छोड़ देवे–किन्तु मैं कभी सत्य छोड़ने का संकल्प भी नहीं कर सकता। यह थी ब्रह्मचारी की सत्यनिष्ठा, जिससे परमेश्वर भी हार मानते थे। रोम-रोम में बाण चुभे रहने पर भी, अनन्त रुधिर की धारा शरीर से गिरती रहने पर भी जिनने धर्म का रहस्य सुनाया था। आज हम उनकी बातों का क्या विश्वास करेंगे, जिनने ब्रह्मचर्य की कभी कदर ही न जानी। इसका विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। सभी बुद्धिमान ब्रह्मचर्य के लाभों को जानते व मानते हैं, किन्तु आत्मिक दुर्बलता के कारण अनुष्ठान नहीं करते।

सनातन धर्म के मान्य स्मृति, पुराण सब ही ब्रह्मचर्य की महिमा गा रहे हैं। भगवान् शंकराचार्य की ब्रह्मचर्य की कथा कितनी प्रसिद्ध है। इस गिरी दशा में भी– अविद्या का साम्राज्य होने पर भी बहुत से सनातन धर्मी पण्डितों के घरों में ब्रह्मचर्याश्रम हुआ करते थे, और उनसे देश को अच्छा लाभ होता था। किन्तु आज भीषण-काल ने वह भी न रहने दिया।

# इकतालीसवां-पुष्प

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।२०।।
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।।२१।।
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमविज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

"देना उचित है, ऐसा समझकर जो दान अनुपकारी पुरुष को उचित देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है उस दान को सात्त्विक कहा गया है।"(२०)

विगत पद्यों में तप का विवरण हुआ। अब दान का निरूपण करते हैं। संसार की अन्य संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति की जो भेदक विशेषताएं हैं, उनमें यज्ञ, तप, दान आदि मुख्य हैं। अन्य संस्कृतियों में भी दान का स्वरूप मिल सकता है परन्तु इसके महत्त्व का कारण सहित निरूपण और आचरण में उसका जो व्यापक प्रयोग भारत में हुआ और होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। दान के आदर्श की कथाओं से हमारा इतिहास भरा पड़ा है। स्नातक को जो गुरु उपदेश देते हैं उसमें अन्य उपदेशों के साथ दान का उपदेश भी दिया जाता है।

**"श्रद्धया देयम्**
**अश्रद्धया देयम्"**

वह दान भी त्रिगुण से संवलित है। मनुष्य को सात्त्विक विधि से ही दान करना चाहिए। राजस और तामस विधि से किया हुआ दान नितान्त निष्फल ही नहीं दोषावह भी होता है। अतः राजस और तामस दान नहीं करना चाहिए। दान कहते किसे हैं, इसका स्वरूप क्या है ? इस विषय में प्रसिद्ध है कि–

**"स्वस्वत्त्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्त्वोत्पादनं दानम्"**

किसी वस्तु से अपने अधिकार को हटाकर ग्रहीता के अधिकार को उस पर स्थापित कर देना दान कहलाता है। दान देने से पहिले देय वस्तु पर हमारा अधिकार रहता है, हम उस पर से अपना अधिकार हटाते हैं और उस पर ग्रहीता पुरुष के अधिकार को स्वीकार करते हैं। इसी बात को प्रकाशित करने के लिए दान करते समय संकल्प बोलना भी हमारे यहाँ विहित है। उसका भी यही तात्पर्य है कि देय वस्तु पर

इम प्रतिग्रहीता पुरुष के स्वामित्व को स्वीकार कर रहे हैं, संकल्प के अन्त में यह भी कहा जाता है कि–

"इदं न मम"

अर्थात् अब अमुक वस्तु मेरी नहीं है। इससे उसपर से अपने स्वत्व की निवृत्ति को प्रकाशित कर दिया जाता है। दान करते समय यही बात ध्यान में रहती है कि मुझे दान करना चाहिए। मेरे पास अमुक वस्तु है, जिस पुरुष के पास इस वस्तु का अभाव है और जिसे इसकी आवश्यकता है उसको मुझे यह वस्तु देनी चाहिए। मुझे अपनी आवश्यकता से अत्यधिक वस्तु रखने की क्या आवश्यकता है, इसके अभाव से जो पीड़ित है, उन्हें यह वस्तु देकर मुझे उनका अभाव दूर करना चाहिए यही 'दातव्यम्' का अर्थ है। श्रीमद्‌भागवत में तो जो व्यक्ति अपनी आवश्यकता से बहुत अधिक वस्तु रखता है उसे चोर और दण्डनीय भी कहा गया है–

"यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति"

अर्थात् पुरुष का स्वत्व उतने पर ही होती है जितने से उसका निर्वाह हो जाय, उससे अधिक की जो पुरुष अभिलाषा रखता है, वह चोर है, दण्ड का भागी है। इससे दान का यह स्वरूप समझने में सरलता हो जाती है कि वह नितान्त कर्त्तव्य बुद्धि से अन्य अभावग्रस्त पुरुषों की आवश्यकता की परिपूर्ति के लिए ही विशेष रूप से विहित है। सात्विक दान के विषय में दूसरी स्मरणीय बात अनुपकारी पुरुष को दान देने की कही गई है। प्रायः देखा जाता है कि किसी ने हमारा कोई उपकार किया उसके बदले में हमने उसे दान दे दिया। यह सात्विक दान नहीं है। अतः सत्त्वप्रधान पुरुषों को उचित है कि उसी पुरुष को दान दें जिसमें प्रत्युपकार की आशा न हो। एक व्याख्या में 'अनुपकारी' का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ऐसे पुरुष को दान देना उचित है जो उसका प्रत्युपकार करने का सामर्थ्य न रखता हो। ऐसा पुरुष सर्वथा अकिञ्चन ही होगा। यदि सात्त्विक पुरुष सक्षम होगा तो वह लिए हुए दान का प्रत्युपकार करने का अवसर देखकर अपने लिए हुए प्रतिग्रह का बदला चुका देगा और उस स्थिति में वह सात्विक दान नहीं रह जायगा। अतः प्रयत्न पूर्वक ऐसे पुरुष का अन्वेषण करना चाहिए जो सर्वथा अकिंचन हो, जिसे अपनी आवश्यकताओं की परिपूर्ति में कठिनाई का अनुभव होता हो और वस्तुतः हमारे दान से जिसकी सहायता हो सकती हो। आगे देश, काल, पात्र का भी दान देते समय विचार करने की बात कही गई है। तीर्थयात्रादि में दान भी आवश्यक रूप से विहित होता है; कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों में दान

देने से चित्तशुद्धि में विशेष सहायता प्राप्त होती है। इसी प्रकार काल का भी दान देते समय ध्यान दिया जाता है। चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण आदि कालों में दान करने से अन्तःकरण को शुद्ध करने वाले अदृष्ट विशेष की उत्पत्ति मानी गई है। इसी प्रकार सत्पात्र का भी दान देते समय ध्यान रखना चाहिए। पात्र के स्वरूप का एक परिचय तो 'अनुपकारिणे' कहकर ऊपर दिया जा चुका है। पात्र का विचार करते समय इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि दानपात्र ऐसा न हो जो दी हुई वस्तु का दुरुपयोग करने वाला हो। यदि वह पुरुष दुराचारी हुआ तो दान की वस्तु भी उसके निकृष्ट आचरण को ही पुष्ट करने में सहायक होगी और उसके प्रत्यवाय के अंश से देने वाला भी अनुलिप्त होगा। इसीलिए ऐसे पात्र का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है, जो सदाचारी हो, वशिष्ठ ने दान योग्य पुरुष का उल्लेख करते हुए लिखा है–

**"स्वाध्यायाढ्यं योनिमन्तं प्रशान्तं वैतानस्थं पापभीरुं बहुज्ञम्।**
**स्त्रीषु क्षान्तं धार्मिकं गोशरण्यं व्रतैः स्नातं तादृशंपात्रमाहुः ।।"**

अर्थात् दान का पात्र वह पुरुष माना गया है जो स्वाध्याय सम्पन्न हो, जो अच्छे कुल में समुत्पन्न हुआ हो, प्रकृति से जो चञ्चल या उपद्रव करने वाला न हो, शान्त हो, जो यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों में लगा रहता हो, जो पाप कार्यों से डरने वाला हो, जो बहुज्ञ हो अर्थात् अनेक विषयों का ज्ञान रखता हो, जो स्त्रियों के संसर्ग से दूर रहने वाला हो, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह गृहस्थ न हो अपितु इसका यही अभिप्राय है कि जो अपनी परिणीता पत्नी के साथ धर्माचरण करता हुआ साधुजनोचित जीवन यापन करने वाला हो, कामासक्त होकर अनेक स्त्रियों की ओर जिसकी दुष्प्रवृत्ति न होती हो, जो धार्मिक हो अर्थात् धार्मिक मर्यादा का उल्लंघन न करता हो, जो गौओं को शरण देने वाला हो, गोपालक हो, अनेक प्रकार के व्रतों के अवसर पर जिसने गंगास्नादि पुण्यकर्मों का अनुष्ठान किया हो, अथवा व्रतों से ही जिसने आत्मक्षालन रूपी स्नान किया हो।

उपर्युक्त दानपात्र के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे पुरुषों को दान की अपेक्षा रहती है। अतः ऐसे पुरुषों को दान का पात्र कहा गया है। श्रीशंकराचार्य तथा अन्य व्याख्याकारों ने षडङ्गवेदवेत्ता को दानपात्र माना है।

श्री पुरुषोत्तम जी ने लिखा है कि–

**"धनं मूलमनर्थानाम्"**

अर्थात् धन ही सब अनर्थों का मूल है, इत्यादि नीति वाक्यों के अनुसार आवश्यकता से अधिक धन रहने पर अनर्थोत्पत्ति की आशंका रहती है, अतः अपनी आवश्यकता से अधिक धन का सत्पात्र को समुचित देश काल में दान करते रहने से अनर्थ की आशंका से निवृत्त होकर कल्याण की सम्भावनाएं बढ़ती रहती हैं।

कुछ व्याख्याकारों ने "**देशे काले च पात्रे च**" में पात्र शब्द के साथ जो सप्तमी विभक्ति दिखाई देती है, उसको या तो चतुर्थी के अर्थ में सप्तमी माना है अथवा पातृ शब्द की चतुर्थी का एक वचन माना है। श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि इस प्रकार की कल्पना की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यहाँ पूर्वाध्याय में जो दान शब्द है वह तो देय पदार्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है और उत्तरार्द्ध का दान शब्द व्युत्पत्ति से त्यागमात्र का वाचक है। अतः प्रथम दान शब्द के साथ चतुर्थी विभक्ति की अपेक्षा है इसीलिए "अनुपकारिणे में चतुर्थी विभक्ति श्रुत हुई है। अग्रिम दान शब्द में चतुर्थी विभक्ति की अपेक्षा नहीं है यद्यपि–

**"कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्"**

(अष्टा० १।४।३२)

इस पाणिनि सूत्र के अनुसार यहाँ चतुर्थी विभक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है परन्तु कर्म विभक्ति के अभाव में सम्प्रदान संज्ञा की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, श्रीनीलकण्ठ ने उत्तरार्द्ध के दान शब्द की आवृत्ति मानी है। पहले दान शब्द को देशकाल में अनुपकारी पुरुष को दान देना चाहिए, इस प्रकार लगाया है, तथा दूसरे आवृत्ति वाले दान शब्द को सत्पात्र को दान करना चाहिए, इस तरह लगाया है। यदि दोनों की एकत्र प्राप्ति हो जाय तो इससे बड़ा गुण है, उसमें तो कुछ कहना ही नहीं है।

यह सात्त्विक दान का विवरण हुआ। अब आगे राजस और तामस दान का विवरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"जो दान प्रत्युपकार के लिए अथवा किसी फल की प्राप्ति के उद्देश्य से और खेदानुभव पूर्वक दिया जाता है उसको राजस दान कहा जाता है।" (२१)

"जो दान बिना देश और काल का विचार किए तथा अपात्रों को बिना सत्कार के अवज्ञा पूर्वक दिया जाता है उसको तामस दान कहते हैं।" (२२)

सात्त्विक दान के अतिरिक्त राजस और तामस दान में पहिले की ही तरह फलाकांक्षा का सम्बन्ध बन जाता है। राजस दान में पहिली बात भगवान् ने यह कही कि उसमें प्रत्युपकार की अभिसन्धि रहा करती है। मैं अमुक व्यक्ति को इतना द्रव्य

दान कर दूँगा तो उससे प्रभावित होकर अमुक अवसर आने पर वह मेरा अमुक कार्य कर देगा, इस प्रकार की बुद्धि से दान देना प्रत्युपकारार्थ दान ही कहा जाता है। बहुत से व्यक्ति यह सोचा करते हैं कि मुझे इतना धन मिल गया अथवा मुझे सन्तान आदि किसी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो गई तो मैं भगवान् के मंदिर में सत्यनारायण की कथा का आयोजन करवा दूंगा, इस प्रकार वे लोग भगवान् के साथ भी प्रत्युपकार बुद्धि से काम करते हैं। फलाभिसन्धि तो राजस भाव में मुख्यवस्तु है ही। दान करने से स्वर्ग होगा, गोदान करने से वैतरणी नदी के पार चले जायेंगे, इस प्रकार की फलाकांक्षा से दिया हुआ दान राजस श्रेणी का है।

**'परिक्लिष्टम्'** का अर्थ करते हुए श्री नीलकण्ठ लिखते हैं कि 'दान में स्वयं इतना द्रव्य कैसे खर्च किया जाय- कम दान देना उपयुक्त है', इस बुद्धि से जो दान किया जाय वह भी राजस कोटि में आता है। तामस दान में देशकाल आदि का तो कोई विचार किया ही नहीं जाता, कभी भी किसी भी स्थान में कुछ दे देना मात्र लक्ष्य हुआ करता है। साथ ही दान लेने वाले की देने वाला अवज्ञा भी करता है। दाता की बुद्धि में यह बात रहती है कि जिसको वह दे रहा है वह हीन है और अवज्ञा का पात्र है। अतः वह उसे बड़े निकृष्ट शब्दों से सम्बोधित करके दान देता है।

इस प्रकार सात्त्विक, राजस, तामस दान का निरूपण हुआ। पूर्व की ही भांति इनमें सात्त्विक दान का ही प्रयोग करना चाहिए, आदर पूर्वक सत्पात्र-पुरुष को उचित देश काल में बिना किसी प्रत्युपकार की अभिलाषा के सर्वदा देते रहना चाहिए। इसी से चित्त शुद्धि और कल्याण की प्राप्ति होती है।

# बयालीसवां-पुष्प

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।२३।।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४।।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।।२५।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ ! युज्यते ।।२६।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ।।२८।।

"ब्रह्म का ओं तत्सत् यह तीन प्रकार का निर्देश स्मृत हुआ है, प्राचीन काल में 'ओं तत् सत्' इस ब्रह्म के त्रिविध निर्देश से ही ब्राह्मण, वेद और यज्ञों का विधान हुआ था।" (२३)

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप को सत्त्वगुण सम्पन्न बनाने का प्रकार इसमें भगवान् ने बतलाया है कि यज्ञ, दान, तप आदि कृत्यों को सत्त्वगुण सम्पन्न बनाने का प्रकार यह है कि उन क्रियाओं के प्रारम्भ में 'ओं तत् सत्' का उच्चारण करना चाहिए। इससे सभी क्रियाएं सद्गुणयुक्त हो जाया करती हैं। इसी बात को अग्रिम पद्य में कहा जायगा। प्रस्तुत पद्य में 'ओं तत् सत्' इस ब्रह्म के निर्देश की स्तुति की गई है कि यह साक्षात् ब्रह्म का ही तीन पदों वाला निर्देश है। इसी से ब्राह्मण, यज्ञ और वेदों का निर्माण हुआ है। शिवमहिम्नस्तोत्र में एक पद्य आता है–

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-

नकाराद्यैवर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति

तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरभिरुन्धानमणुभिः

समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद ! गृणात्योमिति पदम्।

अर्थात् 'ओं' यह पद चार अणुरूप ध्वनियों से युक्त है। प्रारम्भ की अकार, उकार, मकार इन तीन ध्वनियों से तो यह तीनों वेद तीनवृत्तियों, तीन भुवनों, तीन देवताओं का बोध करता है और अपनी चौथी नाद रूप ध्वनि से विकृतियों के परे स्थित हे भगवान् ! यह आपका वाचक बनता है, इस प्रकार हे प्रभो ! यह 'ओं' पद आपके समस्त और व्यस्त दोनों रूपों का बोधक है।

श्री रामानुजाचार्य इस पद्य में ब्रह्म से वेद का ही ग्रहण करते हैं और यह भाव उन्होंने प्रकट किया है कि समस्त वेदोक्त विधियाँ 'ओं तत् सत्' इस निर्देश से समन्वित रहती हैं।

माध्व भाष्य में 'ओं तत् सत्' पद की ब्रह्म वाचकता दिखलाते हुए एक पद्य उद्धृत किया है कि—

**ओतं जगद्यत्र स्वयं च पूर्णो**
**वेदोक्तरूपोऽनुपचारतश्च ।**
**सर्वैः शुभैश्चाभियुतो न चान्यैः**
**ओं तत्सदित्येनमतो वदन्ति ।।**

उपनिषदों में 'ओं तत् सत्' को ब्रह्म का वाचक कहा गया है, टीकाओं में इसके उदाहरण के लिए—

**तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्**

(कठोपनिषद्)

**सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः**

(छान्दोग्य उ०)

इत्यादि वाक्य कहे गए हैं। श्री नीलकण्ठ कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओं में अज्ञानवश दोष की आशंका बनी ही रहती है। धार्मिक क्रियाओं में यदि कोई कहीं दोष आ जाय तो उसके प्रायश्चित्त का विधान होता है। अतः ज्ञात अथवा अज्ञात दोष के निवारण के लिए प्रायश्चित्त से शुद्धि सम्पादनार्थ यहाँ 'ओं तत् सत्' इसको प्रारम्भ में उच्चारण करने का विधान भगवान् ने किया है। 'ओं तत् सत्' के उच्चारण से दोष का शमन कैसे हो जायगा, इस स्वाभाविक शंका का उत्तर देने के लिए उसका महत्व भगवान् ने प्रस्तुत पद्य में बतलाया है जिससे यह प्रकट हो कि इस निर्देश में दोषों के प्रशमन का सामर्थ्य है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि 'ओं' इस पद से यह सूचित किया जाता है कि शरीर धारण पर्यन्त यज्ञ, दान, तप आदि की जो शास्त्रसिद्ध प्रक्रिया कही गई है, उसको स्वीकार करना चाहिए। इसका उच्चारणकर्त्ता शास्त्र सिद्ध उक्त विधियों में यावज्जीवन अपनी निष्ठा दृढ़ रखने का स्मरण रखता है। संस्कृत में 'ओं' का अर्थ स्वीकार करना भी होता है। वक्ता इसका उच्चारण करके अपने जीवन में इस शास्त्र सिद्ध अर्थ के व्यवहार को सिद्ध करता है। 'तत्' पद का विवरण देते हुए श्रीअभिनव-गुप्ताचार्य लिखते हैं कि 'तत्' यह सर्वनाम पद है। तत् शब्द से सामान्य रूप से सभी का बोध होता है, किसी विशेष पदार्थ का नहीं। इससे प्रकृत सन्दर्भ में यह फलित होता है कि किसी भी विशेष पदार्थ को बतलाने में असमर्थ जो 'तत्' पद है वह ब्रह्म का वाचक है। इससे फलों की अभिसन्धि का अभाव ब्रह्म में सूचित होता है। क्योंकि बिना विशेष पदार्थ के स्मरण के फल की अभिसन्धि ही कैसे होगी। यदि यह कहो कि जो सामान्य वाचक शब्द होता है उसके अर्थ में समस्त विशेष पदार्थों का स्वत: अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे 'गौ' यह सामान्य गौ का वाचक शब्द है, गौ कहने वाले का तात्पर्य तब तक किसी विशेष गौ में नहीं समझा जा सकता जब तक वह उस विशेष गौ की विशेषता का अलग विवरण न दे। परन्तु सामान्य रूप से कहे गए उस गो शब्द के अर्थ में लाल, सफेद, काली, सभी प्रकार की विशेषताओं से युक्त गौवों का अन्तर्भाव हो जाता है। किसी भी विशेषता को रखने वाली गौ उस सामान्य रूप से समुच्चरित गो शब्द के अर्थ की सीमा के बहिर्भूत नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब 'तत्' इस सर्वनाम को सामान्य निर्देशक मान लिया तब समस्त विशेषों का भी इसमें स्वत: अन्तर्भाव हो गया और समस्त विशेषों का अन्तर्भाव हो जाने का कारण फलाभिसन्धि की जिस शंका का परिहार करने चले थे वह अपने आप ही उलटी गले में आ गिरी। इसका उत्तर देते हुए श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि जब सभी विशेषणों का अन्तर्भाव है तो सभी फलों की अभिसन्धि भी होगी, किसी एक विशेष का अन्तर्भाव न होने से कोई एक फलाभिसन्धि न होगी, उस स्थिति में पूर्व कथित सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आता। सर्वभूत हित कामना से यज्ञ का अनुष्ठान किया। सर्व भूत यज्ञ में यज्ञ कर्त्ता भी आ गया और उसकी भी हित कामना उसमें सम्मिलित हो गई तो यह कोई दोषावह बात नहीं रही। दोष तो तभी होता है जब अन्य विशेषों को छोड़कर किसी निश्चित विशेष पर ध्यान दिया जाता। आगे 'सत्' इस पद से अनुष्ठीयमान यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा का बोधन होता है। यदि यज्ञ आदि का अनुष्ठान 'असत्' बुद्धि से किया जाय तो वे तामस हो जाते हैं, अत: उनको सद् बुद्धि से करना ही समुचित है, इस बात का स्मरण 'सत्' शब्द से किया जाता है। इसलिए यह मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है ऐसा

समझ कर ही यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना उचित है, फलाभिसन्धि पूर्वक इनका अनुष्ठान उचित नहीं है, यही स्मरण 'ओं तत् सत्' इसके प्रारम्भिक प्रयोग से हो जाता है। महाभारत का एक श्लोक भी श्रीअभिनवगुप्त ने यह बतलाने के लिए अपनी व्याख्या में उद्धृत कर दिया है कि भाव बदलने से सत्कर्म भी असत्कर्म बन जाया करते हैं। पद्य इस प्रकार है–

**"तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः साधारणो वेदविधिर्न कल्कः।**
**प्रसह्यवित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः" ।।**

(म०भा० १।१।२७५)

अर्थात् सद्बुद्धि से किए गए तप, अध्ययन, वेदों की विधियाँ और बलात्कार से द्रव्य का अपहरण भी पाप नहीं होता और उन्हीं कार्यों को यदि असद् बुद्धि से किया जाय तो तप अध्ययन आदि भी पाप के अन्तर्गत परिगणित हो जाया करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि तप, अध्ययन और साधारण वेद विधि यद्यपि कल्क अर्थात् पाप के विरोधी हैं, परन्तु कर्त्ता का भाव अच्छा न हो तो वे ही पाप रूप हो जाते हैं। अच्छे भाव से किया हुआ किसी दूसरे के बलात् द्रव्य का छीनना भी पाप नहीं है। जैसे किसी कसाई के यहाँ गौ वध के लिए बँधी हो तो उसका बलपूर्वक छीनना भी पाप नहीं होता अपितु धर्म ही हो जाता है। इसलिए भाव ही मुख्य कारण है।

इस प्रकार 'ओं तत् सत्' की एक व्याख्या करने के अनन्तर श्री अभिनव गुप्ताचार्य ने उसकी एक दूसरी भी व्याख्या लिखी है कि 'ओं तत् सत्' को भगवान ने यहाँ ब्रह्म का त्रिविध निर्देश कहा है। ब्रह्म का यह त्रिविध निर्देश ब्रह्म की त्रिविध अवस्थाओं को निर्दिष्ट करता है। 'ओं' पद से ब्रह्म की उस अवस्था का निर्देश होता है जिसमें समस्त प्रपञ्च शान्त पड़ा रहता है। 'तत्' शब्द से ब्रह्म की वह अवस्था निर्दिष्ट होती है जिसमें विश्व के निर्माण की इच्छा प्रादुर्भूत हो जाती है कि–"एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय" "मैं एक हूँ बहुत बन जाऊँ"। 'सत्' शब्द उस इच्छा के द्वारा प्रतिफलित प्रपञ्च रूप अवस्था का बोधक है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने यह आशय व्यक्त किया है कि 'ओं तत् सत्' यह ब्रह्म का त्रिविध निर्देश स्मृत हुआ है, इतना कह देने मात्र से श्रोता को कोई कर्त्तव्य परिज्ञान नहीं होता, अतः अन्य वेद वाक्यों में जिस प्रकार विधि वाक्य का अध्याहार कर लिया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी 'ओं तत् सत्' का यज्ञादि विधियों के प्रारम्भ में उच्चारण करना चाहिए ऐसी विधि समझ ली जाती है। इस प्रकार 'ओं तत् सत्' इस पुनीत वाक्य के महत्त्व का बोधन करने के अनन्तर भगवान् कहते हैं–

"इसलिए 'ओम्' ऐसा उच्चारण करके ही ब्रह्मवादी पुरुषों की शास्त्रनिर्दिष्ट यज्ञ, दान, तप, आदि क्रियाएं निरन्तर चलती रहती हैं" (२४)

पद्य में जो 'तस्मात्' (इसलिए) कहा गया है उसका पूर्व श्लोक से सम्बन्ध है। क्योंकि 'ओं तत् सत्' यह ब्रह्म का निर्देशक है इसलिए जो ब्रह्मवादी पुरुष हैं वे प्रत्येक क्रिया के पूर्व 'ओम्' का उच्चारण अवश्य करते हैं। ब्रह्मवादी पुरुष वे ही हैं, जो कुछ भी बोलते हैं वह ब्रह्म के ही सम्बन्ध में होता है। बोलने और क्रियाओं में तो सांसारिक शब्द और क्रिया कलापों का समावेश होता है, अतः उन शब्दों और उन क्रियाकलापों में अपना ब्रह्म भाव स्थिर रखने के लिए वे ब्रह्मवादी पुरुष प्रत्येक शास्त्र बोधित क्रिया कलाप के प्रारम्भ में 'ओं' का उच्चारण अवश्य करते हैं। ब्रह्म का निर्देशक ओंकार परम पवित्र है, अतः शास्त्र बोधित कार्यों के ही प्रारम्भ में इसका प्रयोग होना चाहिए यह नहीं कि किसी भी क्रिया के प्रारम्भ में इसका उच्चारण अवश्य किया जाय। इसीलिए यहाँ 'विधानोक्त' शब्द भगवान् ने कहा है। ओंकार की ही दूसरी संज्ञा प्रणव भी है। मनुस्मृति में कहा गया है–

**"ब्रह्मणः प्रणवः कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।**
**स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं परस्तात्तु विशीर्यते ।।"**

(मनु० २।७४)

अर्थात् वेदोच्चारण के आदि और अन्त में प्रणव अर्थात् ओंकार का उच्चारण अवश्य करना चाहिए। जिस वेदोच्चारण के आदि में ओंकार का उच्चारण नहीं किया जाता वह वेदों का उच्चारण निष्फल हो जाता है। जिसके आरंभ में ओंकार का उच्चारण नहीं किया जाता वह वेद मंत्र स्रुत हो जाता है अर्थात् पहिले से ही चल पड़ता है और आगे ओंकार न बोलने से आगे से विशीर्ण हो जाता है अर्थात् बिगड़ जाता है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि यज्ञ की समस्त क्रियाएं ओंकार के उच्चारण पूर्वक ही प्रारम्भ हुआ करती हैं। तैत्तिरीय श्रुति है कि–

**ओमिति ब्रह्मा प्रसौति ।**
**ओमिति शस्त्राणि शंसन्ति ।।**
**ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति ।**
**ओमिति सामानि गायन्ति ।।**

(तै० उ० १।८।१)

इससे यज्ञ के सभी कार्य कर्त्तागण अपने सभी यज्ञीय कार्यों के प्रारम्भ में ओंकार का उच्चारण अवश्य करते हैं यह प्रतिफलित हो जाता है।

आगे तत् शब्द निरूपण में भगवान् कहते हैं कि–

"तत् इसका उच्चारण करके फल की आकांक्षा को छोड़कर मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले पुरुष या, तप, दान आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं" (२५)

'तत्' भी ब्रह्म का निर्देशक पद है। श्री रामानुजाचार्य आदि व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्याओं में–

**"स वः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम्"**

इस महाभारतोक्त सहस्र नाम में 'तत्' पद का ब्रह्म निर्देशकत्व स्पष्ट हुआ है ऐसा लिखा है। पैशाच भाष्य में तत् को सम्पूर्ण 'ओं तत् सत्' का उपलक्षण माना है। श्री नीलकण्ठ लिखते हैं कि पूर्व पद में जैसे ब्रह्मवादी अर्थात् मुक्त पुरुष–

**"ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्**
**ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना"**

इत्यादि निर्दिष्ट प्रकार से सब कुछ ब्रह्म ही समझते हैं और ओंकार का प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में उच्चारण अवश्य करते हैं, उसी प्रकार जो अभी मुक्त नहीं हुए हैं, मुमुक्षु हैं, वे भी अपने यज्ञादि सभी कर्मों को ब्रह्ममय देखते हैं। इस विषय में मुक्त पुरुषों और मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुषों में कोई अन्तर नहीं होता। यही प्रकट करने के लिए कर्मानुष्ठान काल में उन कर्मों को ब्रह्ममय देखने की उनकी भावना दृढ़ हो जाती है। उन्होंने पद्य की शब्द योजना के विषय में लिखा है कि–

**'तदित्यनभिसन्धायफलम्'** में 'फलम्' के साथ 'अनभिसन्धाय' अन्वित होता है। अतः सान्निध्य में श्रुत होने के कारण 'तत्' के साथ 'अभिसन्धाय' इस पद का अध्याहार कर लेना चाहिए। फल की अभिसन्धि यज्ञादि कार्यों में मुमुक्षु पुरुष की नहीं होती, परन्तु वह सभी क्रियाओं में 'तत्' अर्थात् ब्रह्म का अनुसन्धान सर्वदा रखता है।

एक व्याख्या में दार्शनिक दृष्टि से 'तत्' शब्द ब्रह्म का ही बोधक बनता है यह दिखाया गया है। सामने उपस्थित वस्तु के लिए 'तत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक वस्तु अपने उपादान कारण का ही विशेष सन्निवेश हुआ करती है। घड़ा अपने उपादान कारण मृत्तिका का ही एक विशेषसन्निवेश होता है। घड़े को देखकर जब हम 'तत्' 'वह' शब्द का प्रयोग करते हैं तब व्यावहारिक दृष्टि से हमारे 'वह' कहने का

अभिप्राय घड़े से होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से उसकी उपादान कारणभूता मृत्तिका ही हमारे निर्देश का विषय बनती है, सुन्दर वस्त्र को देखकर 'वह' इस निर्देश से व्यावहारिक दृष्टि से उस सुन्दर वस्त्र का ही बोध होता है परन्तु तात्त्विक दृष्टि से उसके उपादान कारण धागे ही हमारे 'तत्' 'वह' इस निर्देश का विषय बनते हैं। इसी प्रकार समस्त वस्तुओं के लिए समझा जा सकता है। निष्कर्ष यह कि तत्त्व दृष्टि सर्वदा सम्मुख समुपस्थित पदार्थ के उपादान कारण को ही अपनाती है। इस दृष्टि से जब हम सम्पूर्ण जगत् और उसके सभी पदार्थों को देखें तो प्रतीत होगा कि इस सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण ब्रह्म ही है। अतः 'तत्' शब्द से तत्त्व दृष्टि में ब्रह्म का ही बोध होगा जैसे घड़े का आकार बनने से पहिले भी उसकी स्थिति मृत्तिका में ही थी और घड़े का आकार नष्ट हो जाने पर भी उसकी अन्तिम परिणति मृत्तिका रूप में ही हो जाती है। उसी प्रकार जगत् के पूर्व भी ब्रह्म ही है और जगत् के उपरान्त भी वही अवशिष्ट रहता है। इस पर शंका हो सकती है कि जैसे घड़े के पूर्व मृत्तिका ही उपलब्ध होती है और उसके अनन्तर भी उपलब्ध होती है तथा घड़ा देखते समय भी मृत्तिका का रूप सामने रहता है, उस प्रकार ब्रह्म यदि जगत् का उपादान कारण है तो वह भी हमारे प्रत्यक्ष अनुभव का विषय क्यों नहीं बनता ? इसका उत्तर है कि ब्रह्म के अनुभव के बिना तो हमारा एक क्षण भी नहीं बीतता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सत्ता, चेतना और आनन्द के रूप में ब्रह्म सर्वत्र अनुभूयमान है। अपनी सत्ता का बोध हुए बिना हमें किसी अन्य पदार्थ का ज्ञान ही कैसे होगा। अतः ब्रह्म प्रत्येक वस्तु के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में अभिन्न अनुभव का विषय बन ही रहा है। 'तत्' के निर्देश से मुमुक्षु तत्त्व वेत्ता सर्वत्र ब्रह्म की ही सत्ता का अनुभव करता है और प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में 'तत्' शब्द का प्रयोग करके वह अपनी प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म भावना को ही दृढ़ करता रहता है।

हिन्दी साहित्य की वर्तमान काव्य धारा जिसे छायावाद, रहस्यवाद आदि शैलियों के रूप में ग्रहण किया जा रहा है उसमें व्यापक सत्ता के लिए 'वह' का निर्देश किया जाता है। प्राचीन साहित्य में भी 'तत्' पद से व्यापक सत्ता का निर्देश 'तत्पदमामनन्ति' इत्यादि में सर्वत्र देखने को मिलता है। अब अन्तिम 'सत्' शब्द का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं कि—

"हे पार्थ ! सत्ता अर्थ में और साधु अर्थात् शोभन भाव में सत् शब्द का प्रयोग होता है तथा प्रस्तुत कर्म के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है।" (२६)

कहा जा चुका है कि सत्ता, चेतना और आनन्दमय ब्रह्म का स्वरूप है। उसमें

प्रथम सत्ता को ही बतलाया जाता है। ब्रह्म सत्ता रूप से सर्वत्र अनुस्यूत रहता है। कोई भी उपलब्ध वस्तु सत्ता के बिना नहीं रहती अतः 'सत्' शब्द ब्रह्म के ही सत्ता रूप का बोधक होता है। इसके अतिरिक्त शोभन अर्थ में भी सत् शब्द का प्रयोग देखा जाता है। 'सद्विचार' 'सदाशय' 'सद्गुण' आदि शब्दों में प्रयुक्त सत् शब्द शोभन अर्थ का ही निर्देशक बनता है। इसी प्रकार प्रशस्त कल्याण युक्त कर्म के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। यज्ञ, दान, तप आदि सत् होते हैं। इसका यह भी अभिप्राय है कि विवाहादि प्रशस्त कर्मों में सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। आनन्दगिरि ने लिखा है कि भगवान् ने यह 'सत्' शब्द के प्रयोग की जो प्रशस्तता बतलाई, उससे ध्वनित होता है कि 'सत्' शब्द यज्ञादि कार्यों में उपस्थित होने वाले दोष का अपनयन करने में समर्थ है।

इसके आगे कहते हैं-"यज्ञ, तप और दान में 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है और इनसे संबद्ध कर्मों में 'सत्' शब्द का उच्चारण किया जाता है" (२७)

श्रीशंकराचार्य ने लिखा है कि 'ओं तत्सत्' के प्रयोग से विगुण कर्म भी सद्गुण युक्त बन जाया करते हैं। यद्यपि अस्तित्व सभी अवस्थाओं में समान रूप से सर्वत्र अनुस्यूत रहता है। सत्ता से विरहित कभी भी कोई पदार्थ रह ही नहीं सकता, परन्तु यज्ञ, तप, दान आदि में अपनी सर्वदा सत्ता, स्थिति या निष्ठा रखना श्रेष्ठ है। यह यहां भगवान् का आशय एक व्याख्या में व्यक्त किया गया है।

सत् का विरोधी असत् है। उसका परिचय देते हुए भगवान् कहते हैं-

श्रद्धा रहित होकर जो हवन, दान, तप आदि कर्म किया जाता है, वह असत् कहलाता है, न तो उसकी स्थिति मरणोत्तर काल में ही होती है और न इस जीवन में ही उसकी कोई स्थिति होती है" (२८)

असत् का अर्थ है स्थिति या सत्ता से शून्य। श्रद्धा ही प्रत्येक कर्म की स्थिति या उसकी विधायक होती है। कोई भी किया हुआ कर्म तो अपनी सम्पन्नता के अनन्तर समाप्त हो जाता है। आपने कोई यज्ञ किया, यज्ञ की क्रिया तो यह विधि पूरी होने पर समाप्त हो गई, अब उसका जो कुछ फल होगा वह यज्ञ विधि समाप्त हो जाने के अनन्तर ही होगा। तब उस समय यज्ञ क्रिया की स्थिति न होने से उसका फल प्रदाता कौन रहेगा। इसका उत्तर यही है कि उस क्रिया से जो अतिशय उत्पन्न हो जाता है, उसकी सत्ता रहती है और वही शुभाशुभ फल प्रदान करती है। परन्तु उस अतिशय की उत्पत्ति ही तब नहीं हो सकेगी जब वह क्रिया श्रद्धा शून्य होकर अनुष्ठित होगी। प्रत्येक क्रिया को अतिशय के रूप में स्थित कर देने के लिए सर्वत्र कर्त्तव्यानुष्ठान में

श्रद्धा का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है। यदि श्रद्धा न रही और यज्ञ यागादि क्रिया कलाप श्रद्धा के अभाव में अश्रद्धा से ही चलते रहे तो उससे अतिशय उत्पन्न न होने के कारण क्रिया समाप्त होने पर वे असत् हो जायंगे। उनकी कोई स्थिति ही नहीं रह जायगी। उस स्थिति में जिस शुभ फल की प्राप्ति के लिए आपने उस कर्म का अनुष्ठान किया है, उस फल को देने वाला कौन होगा। बहुत से लोग मरणोत्तर काल में सद्गति या स्वर्ग प्राप्त करने के लिए यज्ञ, दान, तप आदि का अनुष्ठान किया करते हैं। परन्तु यदि उनका वह अनुष्ठान श्रद्धा पूर्वक न हुआ तो उससे कोई अतिशय उत्पन्न न हो सकेगा। मरणोत्तरकाल में उसकी कोई स्थिति न होगी अर्थात् जिस उद्देश्य से उस कर्म का अनुष्ठान किया गया है, वह कार्य सिद्ध न हो सकेगा, यही 'न च तत्प्रेत्य' का आशय है। इसके अतिरिक्त जो लोग ऐहिक समृद्धि के लिए इन कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे भी यदि श्रद्धा रहित होकर इनका अनुष्ठान करेंगे तो भी क्रिया सम्पत्ति के अनन्तर कर्म के असत् हो जाने से उनको ऐहिक फल देने वाला भी कोई न रहेगा, यही बात 'नो इह' से भगवान् ने प्रकट की है। इस प्रकार ब्रह्मवादी पुरुष की सारी क्रियाएं 'ओं तद् सत्' इस निर्देश से युक्त हों तब उसके सभी कार्य सद्गुण सम्पन्न हो जाते हैं यह बतलाकर इस अध्याय का उपसंहार किया गया है।

# अष्टादश अध्याय

## तैंतालीसवां-पुष्प

यह श्रीमद्भगवद्गीता का अन्तिम अध्याय है। गीता को 'अष्टादशाध्यायिनीम्' कहा गया है। अट्ठारह संख्या का प्राचीन वाङ्मय में कुछ विशेष महत्त्व है। पुराणों की संख्या भी अठारह है, महाभारत के पर्व भी अठारह हैं। इस प्रकार अनेकत्र इस संख्या का आदर देखा जाता है, जिसके कारण का निरूपण हमने अन्यत्र विस्तार से किया है। सभी व्याख्याकारों ने प्रस्तुत अध्याय में गीता के वक्तव्य अंश का उपसंहार माना है। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि भगवान् ने इस अध्याय में न केवल गीता के विगत अध्यायों का ही सारांश संगृहीत करके तत्त्व कथन किया है अपितु समस्त वेदों का भी निचोड़ इसमें उन्होंने समाविष्ट कर दिया है।

श्रीरामानुजाचार्य अध्याय की संगति लगाते हुए कहते हैं कि विगत दो अध्यायों में यह बतलाया गया कि अभ्युदय और नि:श्रेयस का साधन वेदविहित यज्ञ, तप, और दानादि कर्मों का अनुष्ठान ही है। शास्त्र बोधित कर्मों का परित्याग करके अभ्युदय और नि:श्रेयस की प्राप्ति असंभव है। वैदिक कर्मों के सामान्य लक्षण प्रणव या ओं तत्सत् का सबके साथ अन्वित होना बतलाया गया। यह भी कहा गया कि मोक्ष के साधन तथा अभ्युदय अथवा लौकिक अभ्युन्नति के साधनों में भेद है। कर्मों के फल की अभिलाषा से रहित जो यज्ञादि का अनुष्ठान है वह मोक्ष का साधन है, उस प्रकार के यज्ञ आदि कर्मों अनुष्ठान सत्वगुण के बढ़ने पर ही संभव होता है और सत्व गुण की वृद्धि सात्विक आहारादि का सेवन करने से होती है। इस सब विषय के प्रतिपादन के अनन्तर अब यह कहना है कि मोक्ष के साधन के रूप में जो त्याग और संन्यास बतलाए गए हैं वे वस्तुत: एक ही हैं। त्याग और संन्यास का स्वरूप क्या है यह भी कहना है, आगे समस्त चराचर प्रपञ्च के ईश्वर जो भगवान् हैं, वे ही समस्त कर्मों के कर्त्ता हैं, इस बात को भी समझाया गया है, सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों में से मोक्ष के साधन के रूप में सत्व गुण सर्वदा ग्राह्य है तथा रज और तम परिवर्जनीय हैं, यह बात जो पहिले के अध्यायों में कही गई है उपसंहार में उसका भी स्मरण करा दिया है। यह भी स्पष्ट किया है कि अपने अधिकारानुसार कर्मों का अनुष्ठान ही भगवत् प्राप्ति का उपाय है, और अन्तत: समस्त गीता का प्रतिपाद्य विषय भक्तियोग है इसका भी स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है।

श्रीआनन्दतीर्थ ने अपने माध्वभाष्य में मोक्ष के जो साधन पहिले कहे हैं उन्हीं का इस अध्याय में उपसंहार माना है।

श्रीवल्लभाचार्य ने त्याग और संन्यास का निर्णय करके सब धर्मों के परित्याग पूर्वक भगवान् की शरण में चले जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, यही इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय कहा है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि भगवान् ने प्रथमाध्याय में जिन विषयों का उपोद्घात किया, दूसरे अध्याय में जिन विषयों को सूत्ररूप से उपस्थित किया तथा अब तक के शेष अध्यायों के द्वारा जिन विषयों को पल्लवित किया, इस अन्तिम अध्याय में उन सबका सार कथन करते हुए उपसंहार किया है।

तत्त्व प्रकाशिका में कहा गया है कि जो व्यक्ति आलसी और अल्पबुद्धि वाले हैं और जो सम्पूर्ण गीता का अवलोकन और उसका मनन करने में असमर्थ हैं उनके कल्याण के लिए इस एक ही अन्तिम अध्याय में समस्त गीता का सार संकलन करके उन्हें मोक्ष मार्ग का दिग्दर्शन करा दिया गया है, अतः यह अध्याय समस्त गीता के मथितार्थ के अन्तर्गर्भित हो जाने से अत्यन्त महत्व का है।

श्रीशंकरानन्द ने अध्याय संगति लगाते हुए और अध्यायोक्त विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि पहिले यह कहा गया है कि श्रद्धा से समन्वित कर्मानुष्ठान ही अभीष्ट दायक होता है। श्रद्धा भी सात्विक राजस, तामस भेद से तीन प्रकार की बतलाई जा चुकी है, उनमें सात्विक श्रद्धा से समन्वित होकर सात्विक यज्ञ, तप, दानादि कर्मों का अनुष्ठान करने से जिस पुरुष का आत्मा या अन्तःकरण परिशुद्ध हो जाता है उसी का परमज्ञान को प्राप्त करने में अधिकार होता है। कौन से यज्ञादि हेय और कौन से उपादेय हैं, इसको समझाने के लिए तीनों गुणों से समन्वित उन कर्मों का विवरण प्रस्तुत किया गया जिससे कि कर्मों के अनुष्ठान करने वाले पुरुष को सन्देह न रहे। अब यह कहा जा रहा है कि संन्यास और त्याग दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। संन्यास में जो कर्मों के त्याग का विधान है वे काम्य या फलाशा से किए जाने वाले कर्म या निषिद्ध कर्म ही हैं, उन्हीं का त्याग संन्यास मार्ग में अभीष्ट है, न कि कर्ममात्र का त्याग करना किसी को अभिमत है, क्योंकि शरीर के रहते कर्ममात्र का त्याग कर देना तो संभव ही नहीं है, यह भगवान् स्वयं कह चुके हैं और अपना ही निदर्शन देकर समझा चुके हैं कि–

**"वर्त एव च कर्मणि"**

अतः नित्य कर्म जो यज्ञ यागादि तथा स्नान संध्योपासनादि हैं उनका तो विलोप प्रत्यवायजनक है, अतः अपने लिए जो शास्त्रविहित कर्म हैं, वे तो होने ही चाहिए। इस प्रकार इस अध्याय में समस्त उपनिषदों के सार का कथन हुआ है।

लोकमान्यतिलक तो गीता में कर्मयोग को ही प्रधान मानते हैं और इस अष्टादश अध्याय में उपसंहार में भगवान् ने अर्जुन को युद्ध करने को ही प्रेरित किया है तथा अर्जुन ने भी अन्त में भगवान् के वचन का पालन कर युद्ध करने की ही प्रतिज्ञा की है। अतः लोकमान्यतिलक के अनुसार इस अध्याय में कर्मयोग का स्पष्ट रूप से समर्थन उपलब्ध है।

श्रीशंकराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याकार गीता में ज्ञानयोग को ही मुख्य मानते हैं। उन्होंने इस उपसंहार के प्रकरण का जो समन्वय लिखा है उसका सारांश यही है कि गीता में यद्यपि प्रधान ज्ञान योग और संन्यास ही है तथापि अर्जुन अभी कर्म का ही अधिकारी है, अतः भगवान् ने उसे अभी मोक्ष के लिए संन्यस्त होने को प्रेरित नहीं किया अपितु उन्होंने उसे युद्ध के लिए ही प्रवृत्त किया।

# चौवालीसवां-पुष्प

अर्जुन उवाच-

**संन्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।**
**त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक् केशिनिषूदन ! ।।१।।**

"हे महाबाहो ! मैं संन्यास का तत्त्व जानना चाहता हूँ हे हृषीकेश ! हे केशि निषूदन ! त्याग का पृथक् तत्व भी मैं समझना चाहता हूं। (१)

अर्जुन का यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसने इतने स्पष्ट रूप से यह प्रश्न उपस्थित किया है कि भगवान् को भी इसका स्पष्ट उत्तर देना पड़ा। दो बातों का पृथक् पृथक् स्वरूप जानने की अभिलाषा यहाँ अर्जुन ने प्रकट की है। दो विषयों का पृथक् पृथक् स्वरूप जानना तभी आवश्यक होता है जब उनके विषय में यह संदेह हो कि वे दोनों एक ही हैं अथवा स्वरूपतः वे पृथक् पृथक् हैं। साथ ही जब उनका अलग-अलग स्वरूप बतलाया जायगा तो उनका तात्त्विक रूप क्या है यह स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा।

गीता तथा उपनिषदों में प्रसङ्गानुसार संन्यास तथा त्याग का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि-

**"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"**

अर्थात् महापुरुषों ने अमृतत्व को कर्म, प्रजा या धन से नहीं अपितु केवल त्याग से प्राप्त किया।

इसी प्रकार-

**"वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ।**
**ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे ।।"**

अर्थात् वे यतिगण जो वेदान्त के ज्ञान से अपने में सुनिश्चित अर्थों का धारण कर चुके हैं, जो संन्यास योग से युक्त हैं, शुद्ध सत्वगुण जिनका बढ़ा हुआ है, प्रलय या अन्तकाल में वे जन्म-मरण प्रवाह से विमुक्त होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेते हैं। उक्त उद्धरणों में त्याग और संन्यास का एक ही सन्दर्भ में विवरण किया गया है।

गीता में भी-

**"त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।**
**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ।।"**

(४।२०)

"अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।"

(१२।१६)

"सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।"

(१४।२५)

"सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।"

(५।१३)

"मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।"

(३।३०)

इत्यादि अनेक स्थलों पर संन्यास और त्याग का उल्लेख हुआ है। इन विभिन्न स्थलों पर संन्यास और त्याग का वर्णन सुनकर इनके स्वरूप में तथा पार्थक्य के विषय में अर्जुन की जिज्ञासा यहाँ स्वाभाविक ही है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती तथा आनन्दगिरि व्याख्या में इस बात का विस्तृत विचार किया गया है कि यहाँ अर्जुन ने संन्यास के तत्त्व को जानने के लिए जो प्रश्न भगवान् के सामने उपस्थित किया है वह किस प्रकार के संन्यास के विषय में हो सकता है। इस विचार का कारण यह है कि इस प्रश्न का जो उत्तर भगवान् ने दिया है उसमें आगे चलकर संन्यास और त्याग के सात्विक, राजस, तामस ये तीन भेद कर दिए हैं। पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के अननतर जो संन्यास होता है उसके विषय में तो न यह अर्जुन का प्रश्न संगत हो सकता है और न भगवान् का उसको दिया हुआ उत्तर ही पूर्णज्ञान के अनन्तर होने वाले संन्यास के लिए समझा जा सकता है। क्योंकि विगत अध्यायों में भगवान् ने–

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'

'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी'

इत्यादि पद्यों में पूर्णज्ञानपूर्वक संन्यास के स्वरूप के विषय में कोई संदेह शेष नहीं रहने दिया है। अतः उस अनेक बार कहे जा चुके अर्थ की पुनः जिज्ञासा तो

अर्जुन की अत्यन्त अल्पज्ञता का परिचय देने लगेगी। भगवान् ने इसके उत्तर में जो काम्य कर्मों को छोड़ देने मात्र को संन्यास कहा है वह भी असंगत हो जायगा क्योंकि पूर्णज्ञान के अनन्तर होने वाले संन्यास में तो केवल काम्य कर्म ही नहीं अपितु सर्वकर्म त्याग का विधान है। आगे जो संन्यास के तीनों गुणों के अनुसार सात्विक, राजस, तामस, तीन भेद किए गए हैं वे भी पूर्णज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर होनेवाले संन्यास में ठीक नहीं लगते, क्योंकि पूर्णज्ञानी तो निस्त्रैगुण्य स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उस अवस्था में उसके संन्यास को गुणों के अनुसार तीन भेदों में विभाजित करना कैसे संगत हो सकेगा। फलतः पूर्णज्ञानी के संन्यास के विषय में न यह अर्जुन का प्रश्न ही है और न भगवान् का उत्तर ही।

तब कदाचित् यह प्रश्नोत्तर उस संन्यास के विषय में हो सकता है जिसमें ज्ञान प्राप्त तो नहीं हुआ परन्तु परम तत्त्व को जानने की इच्छा हो गई है। परमतत्त्व को जानने की इच्छा के उत्पन्न होने के अनन्तर एकनिष्ठ होकर उस ज्ञान के अर्जन में पूर्णरूप से प्रवृत्त हो जाने के लिए भी संन्यास का विधान है। परन्तु व्याख्याकारों ने इस पक्ष को भी नहीं माना। विविदिषा से जो संन्यास होता है वह भी सर्वकर्मसंन्यास ही होता है और उसके भी सात्विक आदि भेद नहीं कहे जा सकते। तब यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि यह प्रश्नोत्तर किस प्रकार के संन्यास को ध्यान में रखकर किया गया है। इसके उत्तर में उक्त व्याख्याओं में लिखा गया है कि संन्यास दो प्रकार का होता है, एक मुख्य संन्यास दूसरा गौण संन्यास। मुख्य संन्यास के भी दो भेद होते हैं, एक पूर्णज्ञान होने पर संन्यास तथा दूसरा विविदिषा होने पर अर्थात् ज्ञान की इच्छा होने पर। मुख्य संन्यास के दोनों ही भेदों पर यह प्रश्नोत्तर नहीं है यह ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो चुका। फलतः यह प्रश्नोत्तर गौण संन्यास पर ही है। जिनको तत्त्वज्ञान भी नहीं हुआ है और तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा भी जिनके अन्तःकरण में जागृत नहीं हुई है, जो अभी कर्म मार्ग में ही हैं, उनको भी कुछ कर्मों को छोड़ देने के लिए संन्यास कहा जाता है। यही गौण संन्यास है। इसी के विषय में अर्जुन का प्रश्न है। कर्म मार्ग में प्रवृत्ति रखने वाले पुरुष तीनों गुणों से सम्बद्ध रहते हैं। अतः उनके लिए विहित यह संन्यास भी तीन प्रकार का बतला दिया गया है।

आनन्दगिरि ने लिखा है कि युद्ध में समुपस्थित अर्जुन को जो मोह हुआ था उसको हटाने के लिए भगवान् ने यहाँ तत्त्वोपदेश उसे किया, उससे उसका मोह भी जाता रहा, यह बात उसने—

**'मोहोऽयं विगतो मम'** (११।१)

कहकर स्पष्ट कर दी है। अब उसे युद्ध में प्रवृत्त हो जाना चाहिए था। परन्तु वह अभी संन्यास और त्याग के प्रश्न ही कर रहा है। यदि कहीं इसी बीच में किसी योद्धा ने उस पर प्रहार कर उसे विक्षत कर दिया तो कैसा अनर्थ होगा। इसके उत्तर में उन्होंने हृषीकेश, और केशिनिषूदन, इन संबोधनों को लगाया है। भगवान् ने अश्व का रूप धारण करने वाले एक बड़े विकट असुर का बड़ी युक्ति से वध किया था, अतः अर्जुन यह अभिव्यक्त कर रहा है कि आपके सामने रहते मुझ पर कोई प्रहार तो क्या करेगा कोई मेरी ओर दुष्ट बुद्धि से देख भी नहीं सकेगा। हृषीकेश का तात्पर्य भी इसी ओर है कि भगवान् सभी की इन्द्रियों के स्वामी हैं। सभी उनके वश में हैं।

---

# पैंतालीसवां-पुष्प

श्रीभगवानुवाच–

**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।**
**सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।२।।**

"काम्य कर्मों के परित्याग को कवियों ने संन्यास कहा है, समस्त कर्मों के फल के त्याग को विद्वानों ने त्याग माना है।" (२)

शास्त्रों में तीन प्रकार के कर्मों का विधान है, वे हैं–नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य कर्म वे कहलाते हैं जिनके करने से कोई फल नहीं बतलाया जाता परन्तु उनके न करने से पाप का भागी बनना पड़ता है। जैसे, शास्त्र की आज्ञा है कि–

**"अहरहः सन्ध्यामुपासीत"**

अर्थात् प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिए। सन्ध्योपासन एक नित्य कर्म है। सन्ध्योपासन से किसी फल विशेष का शास्त्रों में विधान नहीं है परन्तु सन्ध्योपासन न करने से द्विजत्व नष्ट हो जाता है, यह प्रत्यवाय उससे शास्त्रों में कहा गया है। अत: नित्य कर्मों को द्विजाति मात्र को बिना किसी फल की कामना के करना होता है। दूसरे नैमित्तिक कर्म वे कहे जाते हैं जिनका अनुष्ठान किसी निमित्त के आ जाने पर होता है। जैसे–

**"राहूपरागे स्नायात्"**

अर्थात् सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण में स्नान करना चाहिए। चन्द्रग्रहण में काशी स्नान का विशेष महत्व है और सूर्यग्रहण में कुरुक्षेत्र स्नान का महत्व माना गया है। इस कर्म में राहु का सूर्य और चन्द्र का ग्रसन करना ही निमित्त है, अत: यह नैमित्तिक कार्य हुआ। तीसरे काम्य कर्म वे हैं जो किसी कामना से किये जाते हैं, जैसे पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ किया जाता है, शत्रु पर विजय के उद्देश्य से श्येन याग किया जाता है। सम्पत्ति आदि प्राप्त करने के उद्देश्य से अनेक प्रकार के अनुष्ठान किये जाते हैं, स्वर्ग में इन्द्रपद प्राप्त करने के लिए अश्वमेध आदि यज्ञों का विधान है, ये सब विशेष विशेष कामनाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, अत: इन्हें काम्य कर्म कहा जाता है। इन्हीं काम्य कर्मों के परित्याग के लिए भगवान् ने प्रस्तुत पद्य में आदेश दिया है कि काम्य कर्मों को छोड़ देना ही संन्यास कहा जाता है। प्रश्न होता है कि नित्य और नैमित्तिक के समान ही जब काम्य कर्म भी शास्त्र विहित हैं तब उन्हें छोड़कर संन्यासी बनने की क्या आवश्यकता। इसका उत्तर है कि शास्त्र तो सभी प्रकार के

अधिकारी पुरुषों को दृष्टि में रखकर कर्म विधान करता है। जो अभी ऊँचे अधिकारी नहीं हैं, जिनके मन में अनेक प्रकार की कामनाएं उठती हैं, वे कहीं शास्त्रों में अपनी कामनाओं की पूर्ति का उपाय न देखकर शास्त्र विमुख न हो जाँय, इसलिए उनके लिए भी शास्त्र कर्म विधान तो अवश्य करता है, किसी भी प्रकार के अधिकारी को शास्त्र कभी मार्ग दिखाने से निराश नहीं करता, परन्तु कामनाएँ, जिनसे कि प्रेरित होकर काम्य कर्म किए जाते हैं, वे शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती हैं। तब शुभ कामनाओं से किए गये कर्म तो उचित कहे जा सकते हैं, परन्तु अशुभ कामनाओं से किये गए कर्म तो अपना फल अवश्य देंगे और बन्धन में लेते चले जायंगे। अशुभ कामनाओं की पूर्ति के लिए कर्मों का शास्त्र निर्देश ही क्यों करता है, इसका उत्तर तो पहिले दे ही चुके हैं कि विभिन्न श्रेणियों के अधिकारियों की स्थिति को ध्यान में रखते हुए शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। तब उस स्थिति में संन्यासी के लिए काम्य कर्मों का परित्याग कर देना आवश्यक है। नित्य और नैमित्तिक विधि निषेधों का पालन तो उन्हें भी करना ही होता है। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि अनेक व्याख्याकार काम्य कर्मों को छोड़ने के इस संन्यास को गौण संन्यास कहते हैं, उनके अनुसार गौण संन्यास विषयक ही यह प्रश्न है और उसी विषय से सम्बन्धित यह उत्तर भी है। जो मुख्य संन्यास है उसमें तो केवल काम्य कर्मों को ही नहीं समस्त कर्मों को छोड़ दिया जाता है। वे संन्यासी गण निस्त्रैगुण्य मार्ग के अनुयायी होते हैं अतः उन्हें किसी विधि या निषेध के चक्र में नहीं पड़ना होता–

**''निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः''**

सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म भी उनके लिये नहीं होते। किसी महात्मा पुरुष ने किसी से पूछा कि महाराज ! आप सन्ध्योपासन क्यों नहीं करते, तो उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा–

**''मृता मोहमयी माता जातो ज्ञानमयः सुतः ।**
**सूतकद्वयसम्प्राप्तौ कथं सन्ध्यामुपास्महे'' ।।**

अर्थात् जननाशौच और मरणाशौच में सन्ध्योपासन आदि नित्य कर्म नहीं किये जाते। मोहरूपिणी जो हमारी माता थी वह मर गई, अतः हमको मरणाशौच लगा हुआ है और ज्ञानरूपी पुत्र उत्पन्न हो गया अतः हम जननाशौच में भी पड़े हुये हैं, जब दो दो सूतक सर्वदा ही हमको घेरे हुए हैं तब हम सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म कैसे कर सकते हैं। तात्पर्य यही है कि प्रधान संन्यास में सभी कर्मों का त्याग हो जाता है। परन्तु यहां गौण संन्यास का ही प्रकरण होने से भगवान् ने यहाँ केवल काम्य कर्मों के छोड़ने

को भी संन्यास कहा है। प्रश्न हो सकता है कि बाँधने वाले कर्म तो फलाभिसन्धि पूर्वक किए गये काम्य कर्म ही होते हैं। नित्य और नैमित्तिक कर्म तो बन्धक नहीं होते क्योंकि उनका कोई फल ही नहीं बतलाया जाता। बिना फल के नित्य और नैमित्तिक कर्म बन्धन नहीं करेंगे और बन्धन के अभाव में मुख्य संन्यास में उनका निषेध क्यों है। उसके उत्तर में श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि सर्वथा फल शून्य कोई कर्म नहीं होता। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के भी फल होते हैं, अतः मुख्य संन्यास में कर्म मात्र का परिवर्जन आवश्यक बतलाया जाता है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रस्तुत पद्य में भगवान् ने संन्यास और त्याग के विषय में विद्वानों की विप्रतिपत्ति दिखाई है। एक स्थान पर संन्यास शब्द का प्रयोग और उसी अर्थ में विप्रतिपत्ति दिखाते हुये दूसरे स्थान पर त्याग शब्द का प्रयोग यह दिखाता है कि भगवान् को दोनों शब्दों का समान ही अर्थ अभीष्ट है।

समस्त कर्मों का जो फल अपने ऊपर या कर्त्ता के ऊपर आता है उसे छोड़ देना या उसे भगवदर्पण कर देना ही त्याग है।

पैशाच भाष्य में '**सर्वकर्मफलत्याग**' का अर्थ नित्य और नैमित्तिक कर्मों के फल का त्याग किया गया है अन्यथा काम्य कर्म के विषय में जो पहिले कह दिया गया है उससे पुनरुक्ति की आशंका या साङ्कर्य दोष बना रहता है।

श्री नीलकण्ठ कहते हैं कि यद्यपि संन्यास और त्याग ये दोनों शब्द निवृत्ति के ही बोधक हैं परन्तु वह निवृत्ति वैराग्य, शारीरिक कष्ट से भय, मूढ़ता आदि अनेक कारणों से होती है, अतः निवृत्ति के कारण सात्विक राजस आदि भेदों से भिन्न भिन्न होते हैं, इसीलिए उन कारणों से होने वाली निवृत्ति भी सात्विक आदि भेदों से युक्त होती है। जो व्यक्ति वैराग्यभावना से प्रेरित नहीं होता वह भले ही श्रद्धावान् भी हो और भले ही उसने कर्मों का परित्याग भी कर दिया हो, परन्तु वैराग्य भावना की दृढ़ता के अभाव में उसे मानसिक विक्षेप से छुटकारा मिल नहीं सकता। संन्यासी हो जाने पर भी यदि वैराग्यभावना अन्तःकरण में प्रबल नहीं है तो राग द्वेषादि चलते रहेंगे। श्रीनीलकण्ठ ने वार्तिककार का एक वार्तिक उद्‌धृत किया है कि–

**"प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।**
**संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः"** ।।

तात्पर्य यही है कि मुख्य संन्यास में वैराग्यभवना की प्रबलता की अनिवार्य आवश्यकता होती है। बिना वैराग्य भावना की प्रबलता के जो संन्यास ग्रहण कर लिया

जाता है उसकी अपेक्षा तो कर्मों को निष्काम भावना से करते रहना ही अधिक श्रेयस्कर है, इसी आशय से यहाँ भगवान् ने काम्य-कर्मों के त्याग को संन्यास और नित्य, नैमित्तिक-कार्यों को फल की अभिलाषा के बिना करते जाना त्याग शब्द का अर्थ बतलाया है।

श्रीश्रीधराचार्य ने अपनी व्याख्या में यह विचार किया है जिसका संकेत हम ऊपर श्रीशंकराचार्य के मत के प्रदर्शन के सन्दर्भ में कर आए हैं कि नित्य कर्मों का जब कोई फल ही नहीं देखा जाता तब उनके त्याग की बात कैसे युक्ति युक्त हो सकती है, इसके उत्तर में उन्होंने यह आशय प्रकट किया है कि–

**"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते"**

अर्थात् बिना किसी फलरूपी प्रयोजन को जाने किसी मन्द बुद्धि वाले पुरुष की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। प्रत्येक कार्य को करने के पहिले मनुष्य दो बातें अवश्य सोच लेता है कि–

**"इदं मदिष्टसाधनं मत्कृतिसाध्यं च"**

अर्थात् यह कार्य मेरे अभीष्ट अर्थ को पूरा करने वाला है अथवा अमुक कार्य के करने से मुझे अमुक लाभ होगा और दूसरी बात जो मनुष्य सोचता है वह यह है कि मैं इस कार्य को कर भी सकूँगा अथवा नहीं। इस प्रकार इष्ट साधनता का ज्ञान और कृतिसाध्यत्व का ज्ञान भी किसी कार्य को आरम्भ करने से पहिले पुरुष अवश्य प्राप्त कर लेता है। अब यदि नित्यकर्मों का कोई फल ही न हो अथवा उनसे मनुष्य की कोई इष्ट सिद्धि न होती हो तो मनुष्य की उन नित्य कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इसीलिए सन्ध्योपासन तथा अग्निहोत्र आदि नित्यकर्मों के लिए भी–

**"सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति"**

**"कर्मणा पितृलोकः"**

**"धर्मेण पापमपनुदति"**

इत्यादि फल श्रुतियाँ मिलती हैं। इन्हीं फलों के त्याग को त्याग शब्द का अर्थ यहां कहा गया है। यह पुनः शंका उठाई गई है कि फल बतला देने पर भी जब उन फलों का अन्ततः त्याग भी बतला दिया गया तो मानवीय प्रवृत्ति उन कर्मों में क्यों होगी यह प्रश्न तो फिर भी बन ही रहा। उसका उत्तर है कि उन्हीं फलों का त्याग यहाँ अभिप्रेत है जो प्रत्येक कर्मों के साथ बतलाए गए हैं, परन्तु–

**"तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"**

इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परब्रह्म को जानने की इच्छा से वेदानुवचन यज्ञ, दान, तप आदि का विधान मिलता है। अतः जिस कर्म का जो विशेष फल कहा गया है उसका परित्याग कर देने पर भी उन कर्मों के अनुष्ठान का, परब्रह्म को जानने की अभिलाषा को जाग्रत करना, यह फल तो प्रस्तुत रहता ही है जिसके लिए इन कर्मों में प्रवृत्ति मनुष्य की बनी रहती है।

इस प्रकार काम्य कर्मों के परित्याग को संन्यास और समस्त कर्मों के फलों के परित्याग को त्याग शब्द का अर्थ यहाँ भगवान् ने बतलाया। अब आगे इस विषय में अनेक पक्षों की चर्चा भगवान् ने की है, उसे उपस्थित करते हैं।

# छियालिसवां-पुष्प

**त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।**
**यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।३।।**

"दोषयुक्त या रागादि दोषों के समान कर्म मात्र का परित्याग कर देना चाहिए ऐसा कुछ मनीषियों का कथन है तथा यज्ञ दान, तप, आदि कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिए ऐसा दूसरे विचारक मानते हैं।" (३)

श्रीशंकराचार्य अपने भाष्य में इस बात पर पूर्वापर प्रसंग दिखाते हुए यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि यह कर्म में अधिकृत मनुष्यों को ध्यान में रखकर ही सारे विकल्प उठाए जा रहे हैं, न कि पूर्ण ज्ञाननिष्ठ संन्यासी को लक्ष्य में रखकर। पूर्णज्ञाननिष्ठ संन्यासी के लिए तो तृतीय अध्याय में ही–

**"ज्ञानेयोगेन सांख्यानाम्"**

इत्यादि पद्यों में विवरण किया जा चुका है। अतः उनका यहाँ कोई प्रसंग नहीं। इस पर फिर पूर्वपक्ष उठता है कि वहीं तृतीय अध्याय में–

**"कर्मयोगेन योगिनाम्"**

इत्यादि पद्यों में कर्मयोगियों के विषय में भी विचार किया जा चुका है। अतः पूर्व विचारित कर्मयोगी की बात गौण संन्यास के रूप में यदि यहाँ उठाई जा सकती है तो पूर्व विचारित ज्ञाननिष्ठ सांख्यानुयायियों का विषय सभी विषयों का उपसंहार करते समय उपस्थित कर दिया जाय तो उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं। पूर्वपक्षी का तात्पर्य यह है कि यहाँ पर संन्यास अथवा त्याग शब्द को केवल कर्म में अधिकार रखने वाले पुरुषों के लिए ही न मानकर ज्ञाननिष्ठ और कर्माधिकारी दोनों के लिए सामान्यरूप से मानना चाहिए। केवल कर्माधिकारी मात्र में इसको सीमित करके ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों को इससे पृथक् कर देने में कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। श्रीशंकराचार्य ने इसका उत्तर दिया है कि ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों के विषय में भी यदि यहाँ के संन्यास और त्याग विषयक प्रश्नोत्तरों को लगाया जायगा तो चूँकि उनका मोह और दुःख विनष्ट हो चुका है, अतः उसके त्याग का प्रश्न उनके विषय में न उठने से असंगति होगी। शारीरिक कष्ट जनित दुःखों को सांख्य के अनुयायी विद्वान् आत्मा में नहीं मानते क्योंकि इच्छा आदि मानसिक विकारों को वे क्षेत्र का ही धर्म समझते हैं। अतः वे

शारीरिक कष्ट और दुःख के भय से कर्मों का परित्याग नहीं करते और न ही अनुष्ठीयमान कर्मों को आत्मा में ही समझते हैं जिससे कि अपने नियत कर्मों को वे मोह से छोड़ बैठें। वे कर्मों का परित्याग इसीलिए करते हैं कि कर्मों का कर्तृत्व वे गुणों पर ही मानते हैं और आत्मा को अकर्त्ता ही समझते हैं। भगवान् ने–

**''सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य''**

इत्यादि पञ्चमाध्यायोक्त पद्यों में तत्त्ववेत्ता के लिए अपने मन से सभी कर्मों की वासना को हटा देना ही संन्यास का प्रकार बतलाया है। इस पर्यालोचन से यह सिद्ध हो जाता है कि परावरज्ञ तत्त्ववेत्ता संन्यासियों के अतिरिक्त जो अन्य व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को नहीं समझते और मोह अथवा शारीरिक क्लेश के भय से जो कर्मों को छोड़ बैठते हैं उन्हें राजस और तामस त्यागी कहकर उनकी निन्दा की जाती है। कर्माधिकारी जो व्यक्ति आत्मा को न जानते हुए ही कर्मों के फल का त्याग करते हुए कर्म करते हैं उनकी स्तुति की जाती है। बारहवें अध्याय में–

**''सर्वारम्भपरित्यागी''**

(१२।१९।)

इत्यादि पद्यों में जो गुणातीत का लक्षण बतलाया गया है वह पारमार्थिक दृष्टि रखने वाले प्रधान संन्यासी का ही विशेषण है। अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों का यहाँ कोई प्रसंग नहीं अपितु कर्माधिकार में प्रवृत्त जो गौण संन्यासी हैं उन्हीं में यह तारतम्य बतलाया गया है कि कर्मों के फलों का परित्याग करने वाला ही सात्विक गुण से युक्त होने के कारण मोह या शारीरिक कष्ट के भय से कर्मों का परित्याग कर देने वाले राजस और तामस पुरुषों से उत्तम है।

श्रीरामानुजाचार्य ने मनीषी का अर्थ कपिल मतानुयायी तथा वैदिक विद्वान् दोनों लगाया है और यह अर्थ किया है कि रागादि दोषों की तरह बन्धन होने के कारण मुमुक्षु व्यक्ति को यज्ञ आदि समस्त कर्म छोड़ देने चाहिए। दूसरे विद्वान् यागादि कर्मों को न छोड़ना मानते हैं। पैशाचभाष्य में यज्ञादि कर्मों के समर्थन में–

**''स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः''**

(१८।४६।)

इस आगे आने वाले पद्य को उद्धृत करके यह तात्पर्य लगाया है कि भगवान् ने अपनी उपासना का प्रकार, प्रत्येक प्राणी को अपने नियत कर्मों का अनुष्ठान करके

ही ईश्वर की उपासना करनी चाहिए, यह बतलाया। वल्लभाचार्य ने सांख्य शास्त्र का उपपादन करते हुए लिखा है कि सांख्य दर्शन में यज्ञ आदि कर्मों में पशु हिंसा होती है और उससे जो दोष मनुष्य पर आता है वह मनुष्य को दुबारा बंधन में खींच लेता है। अतः इन दोष युक्त कर्मों का सर्वथा परित्याग ही कर देना चाहिये। दूसरे पक्ष को उन्होंने मीमांसकों का पक्ष बतलाया है जो कि यज्ञ दान और तप को श्रुति विहित होने के कारण त्याज्य नहीं मानते। श्रीवल्लभाचार्य ने भगवान् के कथन का यह तात्पर्य लगाया है कि ये पक्ष यद्यपि भ्रान्तिपूर्ण हैं तथापि वेदों को प्रमाण रूप से ग्रहण करने के कारण ये अंशतः समीचीन भी कहे जाते हैं।

श्रीनीलकण्ठ ने कहा है कि मनीषी अर्थात् अपने मन का निग्रह करने में समर्थ जो विद्वान् पुरुष हैं वे परमात्मा के विषय में जिन पुरुषों की जिज्ञासा. उत्पन्न हो चुकी है उनके लिए रागद्वेष आदि दोष जिस प्रकार त्याज्य हैं उसी प्रकार सभी कर्म भी त्याज्य हैं ऐसा मानते हैं। और दूसरे यज्ञादि को त्याज्य नहीं मानते। ये दोनों मत श्रुति सिद्ध हैं–

**"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"**

**"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः"**

इन श्रुतियों में इन्हीं उपर्युक्त दोनों मतों का प्रतिपादन हुआ है। उन्होंने श्रीशंकराचार्य के मत का स्मरण करा दिया है कि ये दोनों पक्ष अविद्वान् के लिए ही हैं, क्योंकि जो विद्वान् हैं उनको तो कर्म में प्रवृत्ति का कारण जो अज्ञान है उसके नष्ट हो जाने के कारण कर्मों का त्याग स्वतः सिद्ध है। कहा गया है–

**"न कर्माणि त्यजेत् योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ"**

श्रीशंकराचार्य ने दोष युक्त कर्म को छोड़ने का यह अर्थ लगाया है कि शास्त्रों में जो निषिद्ध कर्म हैं वे दोष युक्त हैं जैसे–

**"न कलञ्जं भक्षयेत् न सुरां पिबेत्"**

इत्यादि शास्त्रों में कलञ्ज भक्षण और सुरापानादि का निषेध इसीलिये किया गया है कि वे दुर्गति और दुष्ट योनि को देने वाले हैं। अतः मुमुक्षु पुरुष को उन निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार शास्त्रों में दोषयुक्त जिन कर्मों का त्याग बतलाया गया है उन्हें ही त्याग शब्द से ग्रहण करना उचित है न कि काम्य कर्म या कर्म के फल का त्याग करना त्याग शब्द का तात्पर्य है, क्योंकि दोष विरहित कर्म

चाहे वे काम्य हों अथवा दूसरे प्रकार के हों, दुर्गति को देने वाले नहीं होते। फलत्याग को विधेय मान लेने पर तो मनुष्य की प्रवृत्ति ही कर्मों में नहीं होगी।

"यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि"

इत्यादि वाक्यों में दोष विरहित कर्मों के करने का स्पष्ट विधान है। साथ ही श्रीशंकरानन्द ने सांख्य सिद्धान्त का पक्ष भी प्रस्तुत कर दिया है कि समस्त यज्ञ यागादि विधियां दोष पूर्ण हैं, इसलिये उनका परित्याग उचित है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। ऐसा करने से विहित कर्म के न करने के कारण मनुष्य प्रत्यवाय का भागी बनेगा ऐसी शंका भी व्यर्थ है क्योंकि इस प्रत्यवाय से उस कर्मानुष्ठान में जो प्रत्यवाय या पाप होगा वह अधिक है। मीमांसक श्रुतिविहित कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक मानते हैं। अपने पक्ष में अनेक प्रमाण उनके हैं जैसे–

"अकृत्वा वैदिकं नित्यं प्रत्यवायी भवेन्नरः"

"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति"

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः"

"सत्यं वद, धर्मं चर"

"सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यम्"

"श्रौतं चापि तथा स्मार्तं कर्मालम्ब्य वसेद्द्विजः।
तद्विहीनः पतत्येव आलम्बरहिताम्भवत्।।"

"एकाहं जपहीनस्तु सन्ध्याहीनो दिनत्रयम्।
द्वादशाहमनग्निश्च शूद्र एव न संशयः।।"

"तस्मान्न लङ्घयेत् सन्ध्यां सायं प्रातः समाहितः।
उल्लङ्घयति यो मोहात् स याति नरकं ध्रुवम्।।"

इत्यादि। इन प्रमाणों से यही दिखाया है कि श्रुति में मनुष्यों के लिये जो आवश्यक तथा अनिवार्य कर्म हैं उन्हें करना ही चाहिये। उन कर्मों में जो दोष दिखाये जाते हैं उनका भी उनके यहां यह समाधान है कि मांस भक्षण स्त्रीसंसर्गादि मनुष्य के स्वभाव में सम्मिलित होने के कारण स्वाभाविक कृत्य हैं। मनुष्य इन कर्मों को स्वभाव से करता है। शास्त्र उसके स्वभाव पर ही यह नियन्त्रण लगाते हैं कि मांस भक्षण अमुक स्थान पर अमुक अवसर पर ही करना चाहिये। स्वाभाविक जो कामवासना मनुष्य में

है उस पर भी यह नियन्त्रण है कि विवाह विधि के द्वारा स्वीकृत अपनी भार्या से ही अपनी काम वासना को शान्त करना चाहिये। स्पष्ट है कि शास्त्र की विधियों ने मनुष्य की उच्छ्रृङ्खल प्रवृत्ति को संयत किया है। उन विधियों का अनुष्ठान भी त्याग के बिना नहीं हो सकता। बहुधा देखा जाता है सभी कर्मों के त्याग के नाम पर प्रच्छन्न रूप से सभी कर्मों का उपभोग चलने लगता है। यह बहुत बड़ा अनाचार है। मोक्ष या परमार्थ का उससे दूर का भी सम्बन्ध नहीं। अतः इन नियत कर्मों का परित्याग किसी भी दशा में उचित नहीं। यह भगवान् ने इन दोनों मतों का प्रतिपादन किया। इसके आगे इन अनेक पद्यों में मतिभ्रम न हो जाय इसलिए भगवान् ने अपना निर्णय दिया है।

# सैंतालीसवां-पुष्प

**निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ।**
**त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।४।।**
**यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।**
**यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।५।।**
**एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।**
**कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ।।६।।**

"हे भरत सत्तम ! त्याग के विषय में अब तुम मेरा निर्णय सुनो। हे पुरुष-व्याघ्र ! त्याग तीन प्रकार का माना गया है" (४)

यहाँ संन्यास और त्याग दोनों के विषय में किए गए अर्जुन के प्रश्न का केवल त्याग के विषय में अपना निर्णय देकर भगवान् ने जो समाधान किया उससे यह आशय निकालना सरल है कि भगवान् ने त्याग और संन्यास का एक रूप ही माना है। श्री शंकराचार्य ने यह भी लिख दिया है कि सात्विक, राजस और तामस भेदों से जो तीन प्रकार के त्याग का विवरण भगवान् ने किया है उससे यह प्रकरण शुद्ध ज्ञाननिष्ठ संन्यासी का नहीं अपितु कर्म में अधिकृत व्यक्ति का ही है यह सुस्पष्ट हो जाता है।

श्रीरामानुजाचार्य ने यहाँ जो त्याग को तीन प्रकार का कहकर निर्दिष्ट किया है उसका सत्वादि गुणपरक अर्थ नहीं लिया है अपितु "त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः" का अर्थ उन्होंने किया है कि भगवान् ने स्वयं गीता के विगत सन्दर्भों में त्याग का तीन प्रकारों का निर्देश किया है, उन्हीं का उन्होंने यहाँ स्मरण कराया है। समस्त कर्तव्यकर्मों का अनुष्ठान करते हुए भी उनके फल को भगवदर्पण करते जाना प्रथम प्रकार का त्याग है। जैसा कि उन्होंने पहिले कहा है–

**"मयि सर्वाणि कर्माणिसंन्यस्याध्यात्मचेतसा ।**
**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः" ।।**

(३।३०)

इसी उक्त पद्य में अपने द्वारा अनुष्ठित कर्मों से "मैंने यह कार्य किया है" इस प्रकार की ममता का परित्याग कर देना दूसरे प्रकार का त्याग है। इसी प्रकार जो भी

कुछ संसार में हो रहा है उस सबके कर्त्ता स्वयं सर्वेश्वर भगवान् हैं, मैं उसका कर्त्ता नहीं हूँ, इस तरह समझ कर अपने द्वारा सम्पादित कर्मों से अपनी कर्तृत्व बुद्धि भी हटा लेना तीसरे प्रकार का त्याग है। इन तीनों प्रकार के त्यागों का वर्णन पहिले किया जा चुका है, उसी का यहाँ संकेत है, यह श्रीरामानुजाचार्य का प्रस्तुत पद्य पर आशय है।

अन्य व्याख्याकारों ने सात्विक, राजस और तामस भेद से त्याग तीन प्रकार का होता है ऐसी ही व्याख्या लिखी है। श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि दृढ़ वैराग्य पूर्वक जो कर्म संन्यास है वह सात्विक त्याग है, शारीरिक परिश्रम के भय से जो कर्मों का परित्याग कर दिया जाता है वह राजस त्याग है, मूढ़तापूर्वक जो कर्म का त्याग है वह तामस त्याग की श्रेणि में आता है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती इसकी व्याख्या में लिखते हैं कि त्याग अभाव रूप होता है। अभाव तीन प्रकार का होता है, एक विशेषणाभाव, दूसरा विशेष्याभाव और तीसरा विशेषण और विशेष्य दोनों का अभाव। यहाँ कर्म विशेष्य है और फलाभिसंधि कर्म का विशेषण है। अतः जब फलाभिसंधिरूप विशेषण को छोड़ दिया जाय, फल की कामना के बिना ही कर्म किया जाय, वह प्रथम प्रकार का त्याग होगा। जब फलाभिसन्धि तो रहे परन्तु फलानुरूप कर्म न हो तो विशेषणरूप फलाभिसन्धि के रहने पर भी विशेष्य रूप कर्म न हो सका, अतः यह विशेष्याभाव रूप त्याग हुआ। तीसरी श्रेणी में फलाभिसन्धि रूप विशेषण भी नहीं है और तदनुरूप कर्म का भी अभाव हो जाता है अतः यह विशेषण और विशेष्य दोनों का अभावरूप तीसरे प्रकार का त्याग हुआ। यही तीन प्रकार का त्याग श्रीमधुसूदनसरस्वती ने न्याय शास्त्र की प्रक्रिया से यहाँ दिखाया है। आगे उन्होंने यह भी दिखाया है कि उक्त त्रिविध त्यागों में प्रथम प्रकार का त्याग सात्विक है, वह ग्राह्य है अर्थात् फलाभिसन्धि छोड़कर कर्म करना शास्त्रों में प्रशंसनीय और आदरणीय माना गया है। दूसरे प्रकार का जो त्याग है, जिसमें फलाभिसन्धि तो रहती है परन्तु तदनुरूप कर्म नहीं रहता वह राजस और तामस भेद से दो प्रकार का हो जाता है, शारीरिक कष्ट पर ध्यान देकर जो कर्म त्याग होता है वह राजस है, और बुद्धि विपर्यय से जो कर्म छोड़ दिए जाते हैं वह तामस है। दूसरे प्रकार का त्याग हेय है। यही दोनों प्रकार के त्याग यहाँ अर्जुन के प्रश्न और भगवान् के उत्तर के विषय हैं। तीसरे प्रकार का जो त्याग बतलाया, जिसमें कि कर्म का अभाव हो जाता है और फलाशा भी छूट जाती है वह यहाँ प्रश्नोत्तर का विषय नहीं है। वह तो गुणातीत अवस्था है जिसका निरूपण गीता के विगत अध्यायों में विस्तार से किया जा चुका है। जैसा कि एक व्याख्या का आशय स्पष्ट करते हुए हम पहिले भी दिखा चुके हैं कि मुख्य संन्यास भी दो प्रकार का होता है, एक तो पूर्ण ज्ञानी का संन्यास

अर्थात् कर्म परित्याग और दूसरा तत्त्व ज्ञानाभिलाषी का संन्यास अर्थात् कर्मपरित्याग जिसे कि विविदिषा संन्यास कहा गया है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने उसका भी यहाँ विवरण देते हुए लिखा है कि पूर्णज्ञान प्राप्तिवाला प्रथम कोटि का संन्यास तो जन्मान्तर के ज्ञान और वैराग्यसम्पन्न प्राणी को प्रारम्भ से ही हो जाता है, दूसरे प्रकार के संन्यास में प्राणी को इस जन्म में पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न के लिए सब कुछ त्याग करने को कहा जाता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के त्याग का विवेचन अब आगे भगवान् करते हैं। उससे पहिले अग्रिम पद्य में अब भगवान् ने यह बतलाया है कि शास्त्रों में जिन कर्मों का विधान है उन्हें अवश्य करना चाहिए। "यज्ञ, दान, तप, तथा अन्य शास्त्रीय कर्मों को छोड़ना नहीं अपितु उनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ, दान, तप तथा अन्य शास्त्रीय क्रियाकलाप मनुष्यों को पवित्र करने वाले होते हैं" (५)

यहाँ यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं छोड़ना चाहिए, इस प्रकार व्यतिरेक शैली से और "उन्हें करना ही चाहिए" यह अन्वय शैली से कहकर उन्हें अवश्य करना चाहिए यह इन कर्मों की अवश्य कर्त्तव्यता का विधान किया गया है। यज्ञ, दान, और तप आदि का स्वरूप पहिले विस्तार से बतलाया जा चुका है। श्री नीलकण्ठ ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों में प्रत्येक कार्य को लगाया है। गृहस्थ पुरुष को यज्ञ तथा दान करते रहना चाहिए, वानप्रस्थ को तप करते रहना चाहिए तथा ब्रह्मचारी को आचार्य शुश्रूषा तथा अध्ययन करते रहना चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् में भी इन कर्मों का कथन किया गया है कि–

**"त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति,**
**प्रथमस्तप एव, द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी,**
**तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व-**
**एते पुण्यलोका भवन्ति"**

(छां० उ० २।२३।१)

इन कर्मों का अनुष्ठान क्यों करना चाहिए इसका कारण भी भगवान् ने कृपा पूर्वक बतला दिया कि इन कर्मों के अनुष्ठान से मनीषि पुरुषों को पवित्रता प्राप्त होती है, अतः ये कर्म सर्वदा अनुष्ठेय हैं। पवित्रता प्राप्त होने का अर्थ है अपवित्रता का निवारण। वह अपवित्रता भी इसी जन्म में किए गए दुष्कृत्यों तथा जन्मान्तर में किए हुए कुकर्मों से संस्कार के रूप में मनुष्य के साथ लगी रहती है। कर्मों की अपवित्रता

भी कर्मों की पवित्रता से ही दूर की जाती है, इसका प्रतिपादन हम विगत प्रवचनों में यथा स्थान कर चुके हैं। यहाँ भगवान् ने पवित्रता रूप हेतु इन कर्मों के अनुष्ठान में बतलाकर यह भी बोधन कर दिया कि आत्मशुद्धि की कामना से ही इन कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए–न कि स्वर्ग आदि अन्य फलों की कामना से। मनीषि पद से यह भी सूचित कर दिया कि जो मनीषि या मनन शील नहीं हैं उनको इन कर्मों के अनुष्ठान से पवित्रता प्राप्त नहीं होती अपितु उन्हें इन कर्मों का अनुष्ठान करने के बाद गर्व आदि का ही अनुभव होता है, जैसा कि षोडश अध्याय में कहा गया है कि आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुषों की भी यज्ञ, दान, तप आदि में प्रवृत्ति होती है, परन्तु उनसे उनको पवित्रता प्राप्त नहीं होती अपितु उनमें अधिकाधिक अहंकार आदि का ही उदय विशेष रूप से देखा जाता है जिनसे प्रेरित होकर वे जगत् का अधिकाधिक विद्रावण ही करते हैं। अतः मनीषि गण ही इन कर्मों को करने के वास्तविक अधिकारी होते हैं, और उन्हें ही इन कर्मों के अनुष्ठान का पवित्रता रूप फल भी प्राप्त होता है।

श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि इस पद्य में मीमांसकों के मत को अंशतः स्वीकार किया है।

आगे के पद्य में भगवान् इन कर्मों के अनुष्ठान की युक्ति बतलाते हैं कि–

"इन कर्मों का अनुष्ठान भी संग और फलों का परित्याग करके ही करना चाहिए यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है" (६)

यदि इन कर्मों का अनुष्ठान भी अहंकार पूर्वक तथा फल की कामना से किया जायगा तो वह निरर्थक ही होगा। वह आसुरी सम्पत्ति के अन्तर्गत ही माना जायगा।

श्री शंकराचार्य ने लिखा है कि इस पद्य में भगवान् ने किसी नई बात को कहने का उपक्रम नहीं किया अपितु विगत–'निश्चयं शृणु मे तत्र'।

इत्यादि पद्य में जो कुछ कहने की प्रतिज्ञा की तथा आगे पावनत्व रूप उसका हेतु बतलाया उसी का इस पद्य में उपसंहार किया है। यहाँ 'अपि' शब्द का अर्थ बतलाते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि जो कर्म अन्य लोगों के लिए अर्थात् अहंकारयुक्त यथा फलाकांक्षी व्यक्ति के लिए बन्धन करने वाले हैं, उनका अनुष्ठान भी मुमुक्षु पुरुष को संग तथा फलाशा छोड़कर करना चाहिए। अपि शब्द का यहाँ यह अर्थ नहीं है कि इनके अतिरिक्त कर्म तो करने ही चाहिए साथ-साथ इनको भी करना चाहिए। परन्तु उक्त अर्थ ही यहाँ अभीष्ट है। वस्तुतः यज्ञ, दान और तप ये तीनों कर्म इतना व्यापक क्षेत्र रखते हैं कि इनकी व्याख्या में शास्त्रीय समस्त विधियों का अन्तर्भाव हो जाता है।

श्रीशंकराचार्य ने कुछ विचारकों के इस मत का खंडन किया है कि प्रस्तुत पद्य

में 'एतानि कर्माणि' का अभिप्राय केवल काम्य कर्मों से है क्योंकि नित्य कर्मों का तो फल बतलाया ही नहीं जाता, अतः नित्य कर्मों में फलों को छोड़ने की बात संगत नहीं होती। अतः उनके मत में पद्य का यह अर्थ होगा कि नित्य कर्म तो करने ही चाहिए, ये काम्य कर्म भी संग और फलाशा को छोड़कर किए जाने चाहिए। इसका खंडन करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि पवित्र करना रूप फल अभी भगवान् ने नित्य कर्मों का भी बतलाया ही है, इसी से यह सिद्ध होता है कि नित्य कर्मों के भी फल होते हैं। काम्य कर्म तो बन्धक अवश्य होते हैं चाहे वे किसी भी प्रकार की अभिलाषा से क्यों न किए जांय। अतः मोक्ष मार्ग के पथिक को काम्य कर्मों से तो अपना सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न कर ही लेना चाहिए, यह श्रीशंकराचार्य ने यहाँ स्पष्ट किया है।

श्रीरामानुजाचार्य ने कहा कि ये कर्म भगवदुपासना रूप हैं, ऐसा समझ कर इनका अनुष्ठान प्रयाण पर्यन्त आवश्यक होता है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने यहाँ यह शंका उठाई है कि यदि काम्य कर्म भी पवित्रता उत्पन्न करते हैं तो फलाभिसन्धि से करने पर भी उनसे पवित्रता तो प्राप्त होगी ही, तब फलाभिसन्धि के परित्याग के लिए इतना आग्रह क्यों ? इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि धर्मानुष्ठान का स्वभाव ही पवित्रता उत्पन्न करने का होता है अतः इन कर्मों से अवश्य ही पवित्रता प्राप्त होगी परन्तु यदि फलाभिसन्धि से ये कर्म किए जायेंगे तो इनसे प्राप्त होने वाली पवित्रता भी फल भोग कराने में ही सहायता देने वाली होगी न कि उससे पारमार्थिक ज्ञान प्राप्ति में किसी प्रकार की सहायता मिलेगी। निश्चय ही उत्तम फलों के उपभोग के लिए भी पवित्रता और उनके उपभोग की पात्रता आवश्यक होती है। उस प्रकार से कर्म करने पर उसी प्रकार की पवित्रता की और अतिशय की प्राप्ति हो सकेगी। सांसारिक दुःख और क्लेश से मुक्ति मिलने के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है और उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जो पवित्रता अपेक्षित होती है, वह फलाभिसन्धिपूर्वक कर्मानुष्ठान से नहीं मिल सकेगी। इसीलिए पवित्रता सम्पादन होने पर भी फलाभिसन्धि के परित्याग का आग्रह यहाँ किया गया है। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए वेदान्त के वार्तिक-कार ने कहा है कि–

**काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा ।**
**विड्वराहादिदेहेन न ह्यैन्द्रं फलमश्नुते ।।**

इसीलिए यहाँ भगवान् ने ज्ञानोपयोगिनी अत्यन्त दुर्लभ पवित्रता की प्राप्ति के लिए संग और फल के परित्याग पूर्वक इन कर्मों के अनुष्ठान का आदेश दिया है।

अब आगे त्याग के तामस, राजस, और सात्विक रूपों का परिचय देते हैं।

# अड़तालीसवां-पुष्प

**नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।**
**मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।७।।**
**दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।**
**स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत ।।८।।**
**कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन !**
**सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विकोमतः ।।९।।**

"नियत कर्म का परित्याग युक्तियुक्त नहीं होता, मोह से नियत कर्म को छोड़ देना तामस त्याग कहा जाता है।" (७)

जो अपने अपने नियत कर्म हैं उनके बिना तो शरीर यात्रा भी चलना संभव नहीं है। इस बात को भगवान् ने तीसरे अध्याय में–

**"शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः"**

इत्यादि पद्यों के द्वारा स्पष्ट बतला दिया है। यज्ञ शेष का भोजन करना विहित है। जो व्यक्ति बिना यज्ञ के भोजन करता है, उसके लिये भगवान् ने–

**"भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"**

कह कर उसकी निन्दा की है। उपनिषद् में भी–

"केवलाघो भवति केवलादी" कहकर उसकी निन्दा की गई है। अतः शिष्टाचार सम्मत मार्ग यही है कि यज्ञशेष का ही भोजन करना चाहिए, यज्ञ एक नियत कर्म है। इसको नहीं छोड़ा जा सकता। यज्ञशेष आहार को ही शुद्ध आहार माना गया है–

**"आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः**
**स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विमोक्षः"**

(छां० उ० ६।५।४)

इत्यादि श्रुतियों में आहार शुद्धि को निःश्रेयस प्राप्ति का मूल माना गया है। अतः आहारादि की पवित्रता के लिए यज्ञ आदि नियत कर्मों का सम्पादन आवश्यक होता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी अपने नियत कर्म का परित्याग करने–से समाज में अनेक प्रकार के विप्लव उठ खड़े होते हैं। अतः नियत कर्म का परित्याग किसी भी

अंश में क्षम्य नहीं माना जाता। जिसका जो कर्म नियत है, चाहे वह शास्त्रीय दृष्टि से हो अथवा व्यावहारिक दृष्टि से उसका अनुष्ठान तो नितान्त आवश्यक है।

भारतीय वर्ण व्यवस्था के अनुसार अन्याय के विरुद्ध शास्त्र उठाकर उससे प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय का कर्म है। यहाँ महाभारत युद्ध में अपने उस नियत कर्म को करने में ही मोहवश अर्जुन शिथिल होने लगा और उसने सीधा यही विचार व्यक्त किया कि मैं सब कामों को छोड़कर संन्यासी बन जाऊँगा, भिक्षा मांगकर जीवन निर्वाह कर लूँगा परन्तु यह युद्ध मुझसे नहीं लड़ा जायगा। उसका इससे उत्तर हो जाता है कि अपने नियत कर्म को त्यागकर संन्यास ग्रहण करने की अभिलाषा मोह के कारण होने से यह तामस त्याग है, जो शास्त्रों में निन्दित माना गया है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि यहाँ नियत कर्म से तो भगवान् का आशय यज्ञ, दान, तप से है। युद्ध तो इनमें से किसी में नहीं आता। उसका उत्तर है, कि यज्ञ में देवपूजा होती है और श्रेष्ठ देवपूजा वही है जो अपने नियत कर्म से देवता की अर्चना की जाय। आगे भगवान् ने कहा है–

**"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"**

अर्थात् अपने नियत कर्म से अपने इष्ट देव की पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। क्षत्रिय का यह अपना नियत कार्य है कि वह अन्याय के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करे। वैसा करके वह देवार्चन कर सकता है–जो कि उसका यज्ञ है। भट्टनारायण विरचित संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक वेणीसंहार में भीम ने महाभारत युद्ध को एक प्रकार का यज्ञ ही बतलाया है–

**"चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः**
**संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता ।**
**कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं**
**राजन्योपनिमंत्रणाय रसति स्फीतं यशो दुन्दुभिः ।।"**

अर्थात् भीमसेन कहता है कि–हम चारों भाई भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव तो इस यज्ञ के ऋत्विज हैं, यज्ञ के कर्मों के उपदेष्टा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, संग्राम रूप यज्ञ में स्वयं महाराज युधिष्ठिर ने दीक्षा ले रक्खी है, पत्नी द्रौपदी ने यज्ञ में व्रत ले रक्खा है। उसने अपने केश खोल रक्खे हैं, यही उसका व्रत है। इस यज्ञ में जिन पशुओं की बलि दी जायगी वे कौरव हैं, क्लेश की शान्ति ही इस यज्ञ का फल है। यज्ञ में राजाओं और स्वजनों को निमन्त्रण दिया जाता है, उसके लिए यह नगाड़ा और

दुन्दुभि बज रही है। यह काव्यात्मक शैली में युद्ध को ही यज्ञ के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। तात्पर्य यह है कि क्षत्रिय का अन्याय और अधर्म के विरुद्ध युद्ध करना यह नियत कार्य है। उसमें मोह के कारण पश्चात् पद होना यह तामसी मनोवृत्ति है, अतः उसका परित्याग करके अपने नियत कर्म को करते हुए उसके फल को भगवदर्पण कर देना यही सात्विक त्याग है, जैसा कि आगे भगवान् ने स्वयं सात्विक त्याग का लक्षण किया है। मोह तमोगुण का ही कार्य है, अतः मोह से नियत कर्म के परित्याग को तामस कहना सर्वथा युक्तियुक्त है।

एक व्याख्या में इससे सांख्य मत का निराकरण माना है। सांख्य मत में नियत कर्मों में भी अनेक प्रकार के दोष दिखाकर उनका त्याग ही बतलाया जाता है, उसका उत्तर यही है कि इस प्रकार दोषदर्शन करना मोहमूलक है। नित्य कर्मों में जो दोष दिखाये जाते हैं वे श्रुति और शास्त्र विहित होने के कारण दोष नहीं हैं। अतः दोष के भय से नित्य कर्मों का परित्याग कथमपि अभीष्ट नहीं।

दूसरी एक व्याख्या में इस पद्य के प्रारंभ में काम्य कर्मों का परित्याग करना संन्यास होता है ऐसा जो कवियों का मत दिखाया था, उसका उत्तर माना है। इसका आशय है कि जब वे काम्य कर्म भी शास्त्र विहित हैं तो शास्त्र पर श्रद्धा रखने वाले पुरुषों के लिए वे कर्म भी कैसे त्याज्य हो सकते हैं। उनका त्याग करना मोह मूलक होने के कारण तामस है। इतना तो इनको भी मानना होगा कि उन काम्य कर्मों का अनुष्ठान फलासक्ति छोड़कर ही करना चाहिए जैसा कि भगवान ने स्वयं ही कह दिया है।

यम अहिंसा आदि नियत कर्मों की प्रशंसा सर्वत्र मिलती है–

**''जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते**
**अहिंसया हि भूतानां जपयज्ञः प्रवर्तते''**
**''जाप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः**
**कुर्यादन्यत्र वा कुर्याद् ब्राह्मणो नात्रसंशयः''**

इत्यादि महाभारत तथा मनुस्मृति के सन्दर्भों में इन नियत कर्मों की श्रेष्ठता बतलाई गई है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने इस पद्य की अपनी व्याख्या में यह पूर्व पक्ष उठाकर कि यज्ञों में हिंसा का विधान है, अतः वे हेय हैं, उसका मीमांसा की शैली से विस्तृत समाधान किया है।

लोकमान्यतिलक ने यहां नियत कर्म को नित्य नैमित्तिक, काम्य जो मीमांसकों के कर्म विभाग है, वहां का नित्य कर्म स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अपने कर्तव्य को ही नियत कर्म माना है, और उसके त्याग को ही तामस कहा है।

आगे राजस त्याग का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"कर्म के अनुष्ठान में दुःख समझ कर शारीरिक क्लेश के भय से यदि कर्म का परित्याग कर दिया जाय, वह राजस त्याग है, वैसा करके त्याग का फल प्राप्त नहीं होता" (८)

मोह से कर्म त्याग तामस कहा गया। जिस व्यक्ति को मोह अर्थात् विपरीत ज्ञान नहीं है, वह यह जानता है कि इन कर्मों का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्धि होगी और मोक्ष की प्राप्ति होगी, परन्तु यह सब जानते हुए भी वह इन कर्मों के अनुष्ठान में बहुत बड़े शारीरिक क्लेश का अनुभव करता है। पहिले बहुत सा द्रव्य इकट्ठा करो, फिर यज्ञ की सारी सामग्री जुटाओ, पूजा के लिए अनेक प्रकार के उपकरण जो शास्त्रों में विहित हैं वे सब लाओ, फिर अनेक प्रकार के व्रत उपवासादि करो, ये सब शरीर के लिए कष्ट ही कष्ट उपस्थित करने वाली बातें हैं। शरीर को इतना कष्ट देने के लिए, यह सब सोच कर, कुछ व्यक्ति प्रस्तुत नहीं होते और इसीलिए आवश्यक कार्यों का परित्याग कर देते हैं। आजकल हम देखते हैं कि बहुत से लेगों में शास्त्रों के प्रति श्रद्धा है, विचार विमर्श के अवसर पर वे शास्त्रों की सभी बातों को युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध भी करने को प्रस्तुत रहते हैं, व्याख्यानों से जनता को भी शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान करने के लिए प्रेरित करते हैं, उनके प्रचार के लिए पुस्तकें भी लिखते हैं, परन्तु जब उनके सामने स्वयं शास्त्रीय विधियों के परिपालन का प्रश्न आता है तो इन कर्मों को करने में बड़ा कष्ट होता है ऐसा सोच कर स्वयं उन विधियों के पालन से हिचकते हैं। आजकल बहुधा यह भी कहते हुए लोग देखे जाते हैं कि पुराने जमाने में जब मनुष्यों को आराम से घर बैठे, बिना कुछ किए भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुएं मिल जाती थीं, तब उन्हें इन सब धर्म कार्यों को करने के लिए पर्याप्त अवसर मिलता था। उस समय ये सब कार्य संभव थे, आज तो अपने निर्वाह के लिए उपार्जन करने में ही हमारा सारा समय चला जाता है, समय ही कहां है कि हम सन्ध्या, पूजा, यज्ञ आदि शास्त्रीय कार्यों को करें, इस प्रकार का तर्क देकर वे यह तो मान लेते हैं कि ये सब कार्य मानव के लिए उन्नति के साधन हैं, परन्तु उनके अनुष्ठान में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, इसलिए वे लोग मोह से इन कामों को न छोड़ने के कारण तामस त्यागी नहीं परन्तु कायक्लेश से वे इन्हें छोड़ देते हैं, अतः उनका यह त्याग

राजस त्याग है। ऐसा करने से उन्हें त्याग का फल जो चित्त शुद्धि और मोक्ष है वह प्राप्त नहीं होता अपितु अपने आवश्यक कार्यों को छोड़ देने से वे प्रत्यवाय के भागी बनते जाते हैं और आध्यात्मिक, आधिदैविक, अधिभौतिक, पीड़ाओं से वे ग्रस्त होते चले जाते हैं। अतः इस प्रकार के कर्म त्याग को भी निन्दनीय ही माना गया है।

यहां राजस त्याग करने वाला व्यक्ति त्याग के फल को प्राप्त नहीं करता इस कथन पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि फल का तो परित्याग करने के लिए पहिले ही कह दिया फिर यदि त्याग का उसे फल नहीं मिलेगा तो ऐसा तो उसे अभीष्ट ही है, इसमें अनर्थ की कौन सी बात है। अवश्य ही फल का त्याग करने को भगवान् ने कहा है और फलाभिसन्धि रहित कर्म की ही उन्होंने प्रशंसा की है तथा अग्रिम पद्य में सात्त्विक त्याग के रूप में फलाभिसन्धि छोड़कर कर्म करने का कर्म में अधिकृत व्यक्ति को उपदेश भी दिया है। परन्तु इस प्रकार के फलाभिसन्धि रहित कर्म करने का जो फल चित्त शुद्धि और मोक्षावस्था की कामना है उस फल की तो इच्छा भी रहती है और इस प्रकार की युक्ति से कर्म करने वाले पुरुष को चित्त शुद्धि आदि फल भी मिलता देखा जाता है। अतः स्वर्गादि जो फल प्रत्येक कर्म के अलग-अलग बतलाए गए हैं उन्हीं का त्याग करना अभीष्ट होता है। चित्त शुद्धि आदि फल की अभिलाषा रखना तो आवश्यक भी है और वह फल प्राप्त भी होता है, वही फल राजस त्याग करने वाले को नहीं मिलता यह भगवान् का आशय यहाँ स्पष्ट है।

अग्रिम पद्य का अर्थ है कि–

"जो कर्म अपने लिए नियत है और जिसे कर्त्तव्य समझकर तथा संग और फल को छोड़कर किया जाता है वह त्याग सात्विक त्याग माना गया है" (९)

स्पष्ट है कि इस पक्ष में कर्म को नहीं छोड़ा जाता अपितु फल की आशा का परित्याग किया जाता है। श्रीशंकराचार्य यहाँ नियत कर्म का आशय नित्य कर्म से लगाते हैं जो कि मीमांसा में कहे गए तीन प्रकार के कर्मों में से एक है। नित्य कर्म का कोई फल नहीं सुना जाता, फिर उसके फल त्याग का क्या अभिप्राय है इस सम्भावित प्रश्न का उत्तर पहिले ही दिया जा चुका है कि लोक प्रवृत्ति को उद्बुद्ध करने के लिए नित्य कर्मों के फल भी शास्त्रों में बतलाए गए हैं। उन्हीं फलों के परित्याग से यहाँ अभिप्राय है। श्रीशंकराचार्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि इस प्रकरण में भगवान् ने संन्यास और त्याग दोनों शब्दों का ग्रहण किया है। अतः दोनों का अभिप्राय एक ही है।

श्रीरामानुजाचार्य भगवान् की आराधना के रूप में नित्य, नैमित्तिक कर्म तथा

वर्णाश्रमादि विहित कर्मों का अनुष्ठान फल कामना का परित्याग करते हुए सात्विक होता है ऐसा कहते हैं क्योंकि वह शास्त्रों के अर्थ को यथावत् जानकर तदनुसार ही किया जाता है।

श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं कि पुष्टि और पुरुषोत्तम के ग्रहण आदि को छोड़कर भगवान् की आज्ञा के परिपालन के रूप में कर्म करना सात्विक त्याग है। श्रीपुरुषोत्तम जी नियत कर्म का अर्थ करते हैं कि जो कार्य भगवद् भक्ति के अंग हैं वे नियत कार्य हैं।

श्रीनीलकण्ठ ने यहाँ उपनिषद् के मंत्र उद्धृत करके प्रकृत प्रकरण को पुष्ट किया है–

**''ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यांजगत्।**
**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ।।''**

(ईशोपनिषद् १)

**''कुर्वन्नेवेह कर्माणिजिजीविषेच्छतं समाः ।**
**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।''**

(ईशोपनिषद् २)

इन श्रुतियों में कर्म की निरन्तर करते रहने की प्रेरणा है। कुछ व्याख्याओं में भगवान् के इसी वचन से नियत कर्म भी फलवान् होते हैं ऐसा कहा गया है।

# उन्चासवाँ-पुष्प

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशय: ।।१०।।
नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषत: ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।११।।

"अकुशल अर्थात् क्लेशकारक कर्मों से त्यागी पुरुष जो मेधावी है, सत्वगुण में जो समाविष्ट है, जिसके संशय मिट चुके हैं वह द्वेष नहीं करता और कुशल अर्थात् शरीर को आनन्द देने वाले कार्यों में लिप्त नहीं होता।" (१०)

उक्त पद्य में त्यागी पुरुष की भगवान् ने परिभाषा दी है। जो व्यक्ति अपने आवश्यक कर्मों को छोड़ बैठते हैं उसका कारण यही है कि वे उन कर्मों को अकुशल समझते हैं। अकुशल का यहाँ अर्थ है कि जिनके अनुष्ठान से शरीर को क्लेश का अनुभव होता हो। अनेक कर्मों के प्रति मनुष्यों की यह बुद्धि हो जाती है कि अमुक कर्म को करने से क्या लाभ होगा और बिना लाभ के वह कर्म क्यों किया जाय। परन्तु त्यागी पुरुष नियत कर्मों के विषय में इन विचारों को स्थान नहीं देता, साथ ही जो कार्य कुशल अर्थात् आनन्ददायक हैं उनमें भी वह कभी लिप्त नहीं होता। उदाहरण के लिए भगवान् की पूजा में उनको पदार्थों का भोग लगाकर उसका प्रसाद स्वयं ग्रहण करना यह शास्त्र का विधान है। बहुत से व्यक्ति ऐसे अवसरों पर अनेक प्रकार के पदार्थों को बनाते हैं। प्रचुर मात्रा में घृत, शर्करा आदि का प्रयोग करके नाना प्रकार के पक्वान्न तैयार करते हैं और आवश्यकता से अधिक पदार्थों का उपभोग करते हैं। यही उनमें लिप्त हो जाना कहा गया है। त्यागी पुरुश इस प्रकार कभी आनन्द दायक कर्मों में लिप्त नहीं होता। उसकी इस निर्लेपता का कारण है उसका सत्वसमाविष्ट होना। अर्थात् आत्मा के विवेक ज्ञान से वह तृप्त रहता है इसीलिए उसे मेधावी कहा गया है। जिस बुद्धि के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे मेधा कहा जाता है। मेधावी होने के कारण ही उसके समस्त सन्देह भी निरस्त हो जाते हैं। इस प्रकार का त्यागी पुरुष ज्ञाननिष्ठ होता हुआ मोक्षमार्ग में अग्रसर हो जाता है यह श्रीशंकराचार्य का आशय है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि कर्मों में अपनी कर्तृत्व बुद्धि हटा लेना और फल की आशाओं का परित्याग शास्त्रीय त्याग कहलाता है। कर्मों को ही छोड़ बैठना कर्माधिकारी के लिए त्याग नहीं पाप है।

पैशाच भाष्य में अकुशल कर्म का उदाहरण अत्यन्त शीतकाल में प्रातःकाल स्नान को दिया है। बहुत से व्यक्ति शीतकाल में शारीरिक कष्ट के भय से स्नान करना ही छोड़ देते हैं। इसी प्रकार शीतकाल में अग्नि सेवन को कुशल कर्म का उदाहरण दिया है।

श्रीनीलकण्ठ ने इससे उस पुरुष की रागद्वेष शून्यता मानी है। उन्होंने यह भी प्रश्न उठाया है कि जो मेधावी है और जिसने संसार की अवास्तविकता को समझ लिया है वह उन कर्मों में लगेगा ही क्यों। जो व्यक्ति अपने दाह को मिटाना चाहता है वह यदि जानता हो कि पास में ही भगवती जाह्नवी की निर्मल धारा बह रही है तो वह एक क्षण के लिए भी गन्दे तालाब में क्यों रूकेगा। उसके लिये तो उपनिषद् कहता है–

**''यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्''**

(जाबालोपनिषद् ४)

**''एतमेव प्रव्रजनो लोकमन्विच्छन्तः प्रव्रजन्ति''**

(बृ० उ० ४।४।१२)

अर्थात् जिस दिन संसार से विरक्ति हो जाय उसी दिन कर्मों का परित्याग कर देना चाहिये। तब मेधावी पुरुष कर्मों का आचरण ही क्यों करता है। इसका उत्तर है यह सत्व समाविष्ट है। रज और तम तो इसके हट गये हैं परन्तु सत्वगुण इसमें अपना डेरा जमाये हुये है। फिर प्रश्न उठता है कि जो प्रधान संन्यास है उसमें संस्थित व्यक्ति भी तो सत्वगुण का आश्रय लेता है। इसका उत्तर है कि दोनों में यह महान् अन्तर है कि प्रधान संन्यास में गुणातीत अवस्था में पहुंचा हुआ मनुष्य अपनी इच्छा से सत्वगुण का परिग्रह करता है क्योंकि बिना गुण परिग्रह के संसार यात्रा ही नहीं चल सकती। परन्तु दूसरे प्रकार का व्यक्ति जिसका वर्णन प्रकृति में किया जा रहा है स्वेच्छा से सत्व का ग्रहण नहीं करता अपितु सत्वगुण जबरदस्ती उस पर हावी है। उसका पुरुषार्थ तो इतना ही है कि फलाभिसन्धि परित्यागपूर्वक कर्म करते करते उसने रज और तम को दबा दिया है। अग्रिम पद्य का अर्थ है–

"देहधारी पुरुष कभी भी कर्मों का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता। जो कर्मों के फल का परित्याग कर देता है वही त्यागी कहलाता है।" (११)

मनुष्य तभी तक जीवित माना जाता है, जब तक उसमें कर्म करने की शक्ति रहती है, जब उसमें से कर्म करने का सामर्थ्य चला जाता है तब मनुष्य मृत समझ

लिया जात है। यही जीवित मनुष्य की पहिचान कही जा सकती है। शरीर में क्रियात्मकता का रहना ही मनुष्य के जीवित रहने का प्रमाण है। यह बात केवल आदर्श पुरुष के लिये ही कही जाती हो ऐसा नहीं, आदर्श तो कर्मों के बिना कथमपि स्थापित हो ही नहीं सकता, परन्तु वास्तविक स्थिति भी यही है कि मनुष्य अपनी जीवित अवस्था में क्षणभर के लिये भी बिना कर्म के रह ही नहीं सकता इसी बात को भगवान् ने–

**''नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्''**

इत्यादि पद्यों में स्पष्ट कहा है। अन्ततः श्वास तो मनुष्य को जीवित रहने के लिए लेना परमावश्यक है। मनुष्य मर गया या वह अभी जीवित है इसका परीक्षण डाक्टर या वैद्य यही देख कर करते हैं कि उसका श्वास अभी चल रहा है या नहीं। यद्यपि श्वास लेना इच्छा पूर्वक नहीं होता इसलिए उसे इच्छा पूर्वक कर्म नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी कर्म सामान्य की परिभाषा में तो वह भी आ ही जाता है। इसलिए देहधारी सब कर्म नहीं छोड़ सकते। इस परिभाषा में भगवान् ने वह भी ले लिया। यदि श्वास वह ले रहा है तो वह जीवित समझ लिया जाता है और श्वास लेने की क्रिया के रुक जाने पर वह मृत समझ लिया जाता है। यह श्वास लेना भी कर्म ही है। अतः स्पष्ट हुआ कि मनुष्य चाहे अन्य समस्त कर्मों का परित्याग कर दें परन्तु जीवित रहने के लिए उसे श्वास तो लेना ही पड़ेगा, यह कर्म तो उसका चलता ही रहेगा, इसीलिए भगवान् ने यहाँ यह स्पष्ट शब्दों में दिखा दिया कि मानव या प्राणधारी का स्वरूप कर्ममय है, कर्म से जीवित अवस्था में उसका पीछा छूट ही नहीं सकता। आप विशेष विशेष कर्मों को छोड़ सकते हैं, परन्तु कर्म का ताना बाना ऐसा बुना हुआ है कि सर्वथा सब कर्मों को आप छोड़ बैठें यह कभी भी संभव नहीं है। जब कर्म करने से छुट्टी कभी मिल ही नहीं सकती तो पूर्ण उत्साह से कर्म में प्रवृत्त होकर कर्मक्षेत्र में अपना आदर्श स्थापित करना चाहिए। भारत वर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से कर्म की यह ओजस्विनी शिक्षा दी जाती रही है। प्राचीन भारतीय साहित्य को देखने से यह पता चलता है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कर्मों का कितना विशाल रूप हमारे पूर्वज ऋषि महर्षियों ने तैयार किया था। हमारा धर्मशास्त्र एक परिपूर्ण कर्मशास्त्र ही है। नित्य, नैमित्तिक, काम्य आदि कर्मों के वर्गीकरण में मानव की उन्नति तथा मोक्ष साधक कर्मों में से किसी भी कर्म को छोड़ा नहीं गया है। इसी कर्म शास्त्र पर चलते हुए हमारे पूर्वजों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने चरण आगे बढ़ाए थे और उन्होंने ऐसे ऐसे आदर्श उस्थित किए थे जो आज अपने क्षेत्र में पूर्ण विराम चिन्ह बन गए हैं। जब तक भारत ने उन आदर्शों का अनुसरण किया तब तक भारत वर्ष लौकिक

और पारलौकिक समुन्नति के परम शिखर पर स्थित रहा, और जब से भारत ने भगवान् के बतलाए हुए कर्मशास्त्र की अवहेलना प्रारम्भ की, नित्य अथवा नियत कर्मों का मोह वश तथा शारीरिक क्लेशों के भय से परित्याग किया और अपने कर्मों में फलाशा और अहंकार को स्थान दिया तभी से भारत दुरवस्था के गर्त में गिरता चला गया। फिर तो कितने आक्रान्ताओं ने भारत को दबोचा और सहस्त्रों वर्षों की दासता ने हमें दरिद्र बना दिया। इस युग में निष्काम कर्म की भगवान् के द्वारा समुपदिष्ट चेतना की एक झलक फिर देखने को मिली। लोकमान्य तिलक के समान भारतीय संस्कृति के प्रौढ़ मनीषियों ने एक ओर जहाँ भगवान् के उपदेश को लोक भाषा में बड़ी योग्यता से जनता के सामने रक्खा वहाँ दूसरी और स्वराज्य के जन्मसिद्ध होने के अपने अधिकार की भी प्रबल घोषणा की और उसी गीता के कर्म परिपालन की युक्ति के आंशिक अनुष्ठान के बल से आज हम स्वतन्त्र हैं। परन्तु आज हमें अपनी आगे की समुन्नति के लिए कदम कदम पर भगवान् के कर्मोपदेश को ध्यान में रखने की आवश्यकता है जिसका आज हम भारतीय जनता में व्यापक अभाव देख रहे हैं। जहाँ भगवान् ने संग और फलाशा को छोड़कर कार्य करने का उपदेश दिया, वहाँ आज हमारा सम्भवतः कोई काम आसक्ति और फलाशा के बिना होता ही नहीं जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण समाज में अनेक प्रकार की विशृङ्खलताएं फैलती जा रही हैं, जिससे शासक वर्ग और नेतृ वर्ग में भी चिन्तायें देखने को मिलती रहती हैं। आसक्ति और फलाशापूर्वक कर्म करने से ही स्वार्थ और भ्रष्टाचार समाज में स्थान बनाता है जो कि बढ़ते चले जाने पर समस्त समाज को ग्रस लेता है। भगवान् कृष्ण के समय में यह दूषित वातावरण और भी अधिक उग्र रूप में उपस्थित हो गया था, जिसके परिणाम स्वरूप महाभारत जैसा बड़ा संग्राम हुआ, जिसमें लाखों वीर काम आए। उन विषमताओं के मिटाने का एकमात्र उपाय उक्त युक्ति से कर्मानुष्ठान ही है। इसका अनुष्ठान करने वाले को भगवान् ने त्यागी की पवित्र संज्ञा दी है। वही अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग है।

# पचासवां-पुष्प

**अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।**
**भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।१२।।**

"त्याग न करने वाले अत्यागी पुरुषों को मरने के अनन्तर अपने कर्मों के अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित फल भोगने पड़ते हैं, संन्यासी पुरुषों को वह नहीं भोगने पड़ते।" (१२)

भगवान् ने पूर्व पद्यों में त्याग का जो स्वरूप बतलाया है उसका प्रभाव केवल वर्तमान जीवन में ही नहीं अपितु मृत्यु के अनन्तर भी उसका प्रभाव पड़ता है। जो पुरुष फलाभिलाषा का त्याग करके कर्मानुष्ठान नहीं करते और प्रत्येक कर्म में जिनका अहंता और ममता रूपी संग भी बना रहता है वे अत्यागी हैं। यद्यपि राजस और तामस त्याग के अन्तर्गत वे भी आ जाते हैं, अतः राजस त्यागी या तामस त्यागी उनको कहा जा सकता है परन्तु वह वस्तुतः प्रशंसनीय त्याग न होने के कारण और निन्दनीय हेने के कारण त्याग कहलाने का अधिकारी ही नहीं है। इसीलिए विगत पद्य में भगवान् ने सात्विक त्यागी को ही-"**स त्यागीत्यभिधीयते**" कहकर त्यागी कहा है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है बिना कर्म किए तो कोई कभी रह ही नहीं सकता, अतः जो सात्विक त्याग का अनुष्ठान नहीं करते वे भी कर्म तो करते हैं, अतः अनुष्ठित कर्म का फल भी उनको मिलता है, क्योंकि वे फलाशा से ही कर्म करते हैं। कर्मों का वह फल इस जीवन में भी मिलता है जैसा कि कहा गया है-

**त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।**
**अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते।।**

अर्थात् अत्यन्त उत्कट पुण्य और पाप का फल तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष अथवा तीन दिनों में यहाँ भोगना होता है। मृत्यु के अनन्तर उसका फल यहाँ भगवान् ने तीन प्रकार का बतलाया। या तो फल ऐसा मिलता है जो अभीष्ट नहीं होता अर्थात् मरने के बाद दुर्गति भोगनी पड़ती है, जिसका वर्णन आसुरी सम्पत्ति के प्रसङ्ग में भी भगवान् ने किया है तथा पुराण आदि शास्त्रों में भी नरक आदि की गति के रूप में उनका चित्रण किया गया है। दूसरा फल इष्ट प्राप्ति के रूप में भगवान् ने बतलाया है जो स्वर्गादि शुभगतियों के रूप में चित्रित हुआ है। तीसरा फल दोनों के मिश्रण के रूप में प्राप्त होता है, अर्थात् कुछ काल के लिए इष्ट फल मिलता है उसके अनन्तर अनिष्ट फल मिलता है, अथवा इष्ट के साथ ही साथ अनिष्ट फल भी जुड़ा रहता है।

व्याख्याकारों ने लिखा है कि यह बात उन्हीं के लिए है जो कर्मों में अधिकृत होते हुए फलासक्ति बिना छोड़े कर्मानुष्ठान करते हैं। आगे जो भगवान् ने संन्यासियों को यह फल नहीं होता ऐसा कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि जो फलासक्ति छोड़कर कर्म करते हैं वे भी संन्यासी हैं, वे गौण संन्यासी हैं, क्योंकि उन्हें अभी मोक्ष के उपयुक्त पूर्णज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, अतः उन्हें मृत्यु के उपरान्त पुनः जन्म अवश्य लेना पड़ेगा। परन्तु जो मुख्य संन्यासी हैं, जिनको आत्मज्ञान हो चुका है उन्हें कभी कर्मों के फल भोगने के लिए पुनर्जन्म ग्रहण करना नहीं पड़ता। वे तो–

**"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते"**

**"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"**

इत्यादि श्रुतियों के अनुसार यहीं मुक्त हो जाते हैं। यहाँ कुछ विचारकों ने यह व्यक्त किया है–

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः स संन्यासी"

इत्यादि पद्यों में कर्माधिकारी और अनासक्त पुरुष को संन्यासी कहा है, अतः यहाँ प्रकृत पद्य में भी संन्यासी का वही अर्थ लिया जाना उपयुक्त है कि जो सात्विक त्याग का आचरण करके संग और फलासक्ति छोड़कर शास्त्रविहित कर्मों का आचरण करते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने उसका उत्तर देते हुए लिखा है कि सात्विक त्यागी के लिये संन्यासी शब्द गौण ही है, जो पूर्ण ज्ञानपूर्वक कर्म परित्याग कर देते हैं उन्हीं के लिये संन्यास का मुख्य प्रयोग होता है। जब मुख्यार्थ का बाध नहीं है तो अमुख्य गौण अर्थ में संन्यास को क्यों माना जाय। फिर यह भी बात है कि जो अमुख्य संन्यासी हैं उनको इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित फल नहीं भोगने होंगे यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि फलोपभोग का अभाव तो मोक्ष अवस्था में ही होता है और कर्मों में अधिकृत होने के कारण पूर्ण ज्ञान के अभाव में वे मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते। अतः यहाँ जिन संन्यासियों को त्रिविध फलों के न भोगने की बात भगवन् ने इस पद्य में कही है वे पूर्ण ज्ञाननिष्ठ परावरदर्शी परमहंस परिव्राजकाचार्य ही हो सकते हैं, फलों का त्याग करके सात्विक त्याग करने वाले कर्माधिकृत जीव नहीं, यह श्रीमधुसूदनसरस्वती ने उक्त आशंका का उत्तर दे दिया है। जो लोग वैसा भी त्याग न करके राजस और तामस ही त्याग करते हैं वे तो इन फलों को अधिकाधिक भोगते ही रहते हैं, अतः उनके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है, वे सर्वदा ही कर्मों और उनके त्रिविध फलों से आबद्ध ही हैं।

एक यह भी शंका उद्‌बुद्ध होती है कि जो सात्त्विक त्याग करने वाले कर्माधिकृत संन्यासी कहे गये हैं और जिनके लिये यह फल कहे गये हैं, वे जब फलाशा छोड़कर कर्म करते हैं तो उनको फल प्राप्ति होगी ही क्यों ? यदि उनको भी फलों की प्राप्ति आवश्यक है तब फिर फलाशा का परित्याग करके कर्म करने वाले और फलाभिसन्धिपूर्वक कर्म करने वाले में भेद ही क्या रहा और यदि उन्हें फल मिलना किसी तरह स्वीकार भी कर लिया जाय तो अनिष्ट और मिश्रफल उन्हें क्यों मिलेंगे। उन्होंने तो शास्त्रविहित कर्मों का फलाभिसन्धि छोड़कर अनुष्ठान किया है। शास्त्रीय कर्म तो इष्ट फल के ही जनक माने गए हैं, यदि शास्त्रीय कर्मों से अनिष्ट फल के मिलने की आशंका भी हो तो मनुष्य की उन कर्मों में प्रवृत्ति ही क्यों होगी। इसका उत्तर यही दिया जाता है कि जिस त्यागी पुरुष की भगवान् ने प्रशंसा की है, वह अभी कर्म क्षेत्र के बाहर नहीं है, उसके पूर्व संचित शुभाशुभ कर्मों के संस्कार उसके साथ हैं, वे तभी क्षीण होंगे जबकि उसे पूर्ण ज्ञान हो जायगा। अतः अपने पूर्व कर्मों के संस्कार उसे अनिष्ट, इष्ट तथा मिश्र फल दिलावेंगे। कर्म स्वभावतः तीनों गुणों से अनुविद्ध रहते हैं। उक्त युक्ति से कर्मानुष्ठान न करने पर सत्वगुण बढ़ेगा, इतना ही होगा, परन्तु शेष दोनों रजोगुण और तमोगुण सर्वथा हट जायेंगे ऐसा कर्माधिकृत अवस्था में नहीं माना जाता। पूर्णज्ञानावस्था में तो संन्यासी स्वेच्छा से सत्वगुण को स्वीकार करता है, वह कर्मों के बन्धन के परे त्रिगुणातीत अवस्था में है अतः वह इन गुणों के फलों के प्रभाव खेत्र के बाहर है, उस पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः सत्व के बढ़ने पर भी कर्माधिकृत व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठित कर्मों में दबी अःवस्था में रज और तम भी सम्मिलित रहते हैं, अतः सत्वगुण के कारण जहाँ उसे इष्ट फल मिलेगा, वहाँ रज और तम के मिश्रित रहने के कारण अनिष्ट और मिश्रफल भी उसे प्राप्त होंगे। हाँ सात्विक पुरुष को इष्टफल अधिक मिलेगा अनिष्ट और मिश्रफल उसे कम मिलेंगे। इसके विपरीत जो राजस और तामस त्याग करके कर्मानुष्ठान करते हैं उन्हें अनिष्ट फल अधिक मिलेगा इष्ट अल्प मिलेगा।

एक यह भी व्याख्या है कि सात्विक त्याग करनेवाले को इष्टफल की प्राप्ति होती है, तामस त्याग करनेवाले को अनिष्ट फल मिलता है और राजस त्याग करने वाले को मिश्रफल मिलता है।

श्रीरामानुजाचार्य ने पद्य के 'प्रेत्य' पद का मरण अर्थ न करके 'कर्मानुष्ठान की समाप्ति के अनन्तर' ऐसा अर्थ किया है। इससे यही बात ध्वनित होती है कि सभी कर्मों के उक्त फल मृत्यु के अनन्तर ही भोगने होते हों यह आवश्यक नहीं, अपितु

कर्मानुष्ठान के अनन्तर इस जन्म में भी शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना होता है, जैसा कि हमने पहिले लिखा है कि अत्यन्त उत्कट शुभाशुभ कर्मों का फल तीन वर्ष, तीन मास, यहाँ तक कि दिन के अन्दर भी भोगने को मिलता है।

लोकमान्य तिलक का मत है कि गीता में सभी कर्मों को छोड़ देने से सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हुआ है। फलाशा को छोड़कर कर्म करते रहना ही मुख्य संन्यास है, अतः जो लोग फलाशा को नहीं छोड़ते उन्हें उक्त तीनों फल भोगने होते हैं। जो फलाशा का परित्याग कर देते हैं, वे संन्यासी हैं, उन्हें ये फल नहीं भोगने होते।

# इक्यावनवां-पुष्प

पञ्चेमानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।१३।।
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।१४।।
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।।१५।।
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।।१६।।

"हे महाबाहो ! समस्त कर्मों की सिद्धि के लिए कृतान्त सांख्य में कहे गए इन पांच कारणों को मुझसे समझो।" (१३)

यहाँ सांख्य और उसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त कृतान्तपद सबसे पहिले ध्यान अपनी ओर खींचते हैं। सांख्य शब्द महर्षि कपिल के द्वारा प्रणीत सांख्यदर्शन के लिए सुप्रसिद्ध है। परन्तु श्रीशंकराचार्य ने इस शब्द का निर्वचन करते हुए वेदान्तपरक इसे लगा दिया है। जिस शास्त्र में ज्ञातव्य पदार्थों की संख्या या गणना कर दी गई हो वह शास्त्र सांख्यशास्त्र कहलाता है। वेदान्त में ज्ञातव्य पदार्थों का पूर्ण परिगणन कर देने से वेदान्त दर्शन को ही सांख्य भी कह दिया जाता है। "कृतान्त" यह विशेषण भी वेदान्तापरपर्याय सांख्य का ही है। कृतान्त में दो पद हैं–कृत और अन्त, कृत का अर्थ होता है–कर्म ! जो किया जाय वही कृत है। कर्म ही किया जाता है। अतः कर्म ही कृत हुआ। उस कृत अर्थात् कर्म का जहाँ अन्त हो जाय वही कृतान्त होता है। वेदान्त में कर्म की समाप्ति या उसके परित्याग का प्रतिपादन होता है, अतः वेदान्त ही कृतान्त हुआ। जहाँ पहुँच कर कृत अर्थात् कर्मों की इति श्री हो जाय, जिसके अनन्तर कर्म को कोई अवकाश ही न रह जाय वही शास्त्र कृतान्त इस विशेषण से विशिष्ट हो सकता है। जिसने वेदान्त के अनुसार श्रवण मनन निदिध्यासनपूर्वक परम-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, उसके लिए कुछ भी कर्म आवश्यक रूप से करने को नहीं रहता, अतः उसे हम वेदान्ती की भाँति कृतान्ती भी कह सकते हैं। वेदान्त शब्द में भी यही तात्पर्य अन्तर्निहित है। वेद का अर्थ होता है ज्ञान। वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त जहाँ हो जाय अर्थात् जिसके ज्ञान के अनन्तर कुछ भी ज्ञातव्य शेष न बचे

यह दर्शन वेदान्त दर्शन समझा जाता है। गीता में सांख्य शब्द अनेक बार विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सांख्य दर्शन, वेदान्त दर्शन, ज्ञान, आदि अनेक अर्थ सांख्य शब्द के व्याख्याकारों ने किए हैं। यहाँ श्रीशंकराचार्य ने सांख्य का अर्थ वेदान्त करके कृतान्त विशेषण वेदान्त का ही है यह स्पष्ट किया है।

श्रीरामानुजाचार्य का आशय है कि सांख्य शब्द संख्या शब्द से बना है और संख्या शब्द में सम् और ख्या यह स्पष्ट विभाग है। सम् उपसर्ग है जिसका कि अर्थ है सम्यक् या अच्छे प्रकार से, ख्या का अर्थ है बुद्धि। जो बुद्धि सम्यक् है उसे संख्या कहते हैं, उसी से सम्बद्ध शास्त्र को सांख्य कहते हैं। सम्यक् बुद्धि वेदानुसारिणी बुद्धि ही होती है। वेद विपरीत बुद्धि सम्यक् नहीं होती। वेदबुद्धि ही शरीर इन्द्रिय प्राण और जीवात्मा रूप उपकरणों सहित परमात्मा को समस्त प्रपञ्च का कर्त्ता सिद्ध करती है। अतएव वही सम्यक् बुद्धि कही जा सकती है। सांख्य दर्शन तो वेदानुकूल न होने से वेद बुद्धि में गृहीत नहीं होता। उसमें तो ईश्वर को ''**एकमेवाद्वितीयम्**'' के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। अतः सांख्यदर्शन का सांख्य शब्द तो पारिभाषिक है, उक्त यौगिक अर्थ का परिग्रह करने पर सांख्य तो उसमें परिगृहीत होता नहीं। अतः सिद्धान्त प्रतिपादन के अवसर पर विपरीत मत वाले सांख्य का उल्लेख भगवान् क्यों करेंगे? अतः यहाँ भगवान् ने वेद और तदनुकूल शास्त्रों को सांख्य कहा है। प्रश्न उठ सकता है कि सांख्य दर्शन का एक वह भी तो विभाग है जिसमें ईश्वर को उसी रूप में स्वीकार किया जाता है जिस रूप में कि वेदों में उसका प्रतिपादन है। तब सांख्य दर्शन के उस अंश को ही वेदानुकूल होने से सांख्य शब्द का वाच्य क्यों न माना जाय, उसका उत्तर भी उन्होंने यही दिया है कि सेश्वर सांख्य भी अन्ततः उक्त प्रकार से वेद मूलक ही सिद्ध होता। अतः स्वयं वेद को ही सांख्य से क्यों न लिया जाय जिससे तन्मूलक समस्त शास्त्रों का स्वतः ग्रहण हो जाय। कृतान्त को विशेषण के रूप में ही उन्होंने भी लिया है और उसका यह तात्पर्य लिखा है कि जहाँ समस्त ज्ञातव्य तत्त्वों का यथावस्थित सन्निवेश है।

माध्व भाष्य में 'सांख्य कृतान्त' का अर्थ ज्ञान सिद्धान्त किया है।

पैशाचभाष्य में सांख्य का अर्थ उक्त प्रकार से वेदपरक करके कृतान्त का अर्थ निश्चय किया है, अर्थात् वह वेद जिसमें समस्त निश्चित ज्ञान का उपदेश हुआ है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि आत्मा को अकर्त्ता समझना यह जो उपदेश है, उसमें क्या वास्तव में तो आत्मा कर्त्ता है, उस पर हम अपनी इच्छा से उसे अकर्त्ता समझ लेते हैं ऐसा है, अथवा वास्तव में आत्मा अकर्त्ता ही है, हम व्यवहार दशा में

भ्रम से उसे कर्त्ता समझ लिया करते हैं। उसमें आत्मा वास्तव में अकर्त्ता है, हम उसे भ्रम वश कर्त्ता समझते हैं, यही सिद्धान्त है। तब यह बतलाना आवश्यक होगा कि कर्त्ता कौन है अथवा कर्मों का कारण कौन है ? उन्हीं कारणों को बतलाने का भगवान् ने इस पद्य में उपक्रम किया है।

आगे भगवान् पांचों कारणों को बतलाते हैं कि–

"अधिष्ठान अर्थात् शरीर, कर्त्ता अर्थात् चिदाभास, करण अर्थात् इन्द्रियाँ, चेष्टा अर्थात् शरीर में संचरण शील प्राणों के विविध व्यापार तथा पांचवां दैव ये सभी कर्मों के कारण हैं" (१४)

"शरीर वाणी और मन से मनुष्य जिस किसी भी कर्म का प्रारम्भ करता है, चाहे वे कर्म न्याय संगत हों अथवा उससे विपरीत अन्याय युक्त हों, उन सभी कर्मों में उक्त पांच ही कारण होते हैं" (१५)

"ऐसा होने पर जो व्यक्ति केवल आत्मा को ही कर्मों का कर्त्ता मान लेता है, वह दुर्मति असम्यक् दर्शी होने के कारण वास्तविक दर्शन नहीं करता" (१६)

शरीर को अधिष्ठान कहा गया है। जैसे वह मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि का अधिष्ठान या आधार है वैसे ही कर्मों का भी आधार है। अधिष्ठान से केवल बाह्य कर्मों का ही आधार नहीं अपितु कर्मजनित संस्कारों का भी आधार ग्रहण करने के लिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों प्रकार के शरीरों का ग्रहण कर लिया जाता है। शरीर न हो तो कोई कर्म नहीं हो सकता। यदि भौतिक शरीर हो और उसमें अवस्थित चिदाभास या जीवात्मा न हो तो भी कोई कर्म नहीं हो सकता। कर्त्ता शब्द से यहाँ श्री शंकराचार्यादि भाष्यकारों ने चिदाभास का ही ग्रहण किया है।

**"मन उत्क्रामन्मीलित इवाश्नन्पिबन्नास्ते"**

**"कर्त्ता शास्त्रार्थत्वात्"**

**"मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति"**

इत्यादि श्रुति, सूत्र तथा गीता के विभिन्न सन्दर्भों में चिदाभास को ही कर्त्ता कहा गया है। शुद्ध चैतन्य तो अकर्त्ता ही है, उसमें कर्तृत्व का सभी स्थानों पर निषेध मिलता है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती अहंकार को कर्त्ता शब्द से लेते हैं। उन्होंने कहा है कि जीवात्मा तो सभी में अनुस्यूत है। करण शब्द से विभिन्न ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और

मन, बुद्धि का ग्रहण होता है। विविध चेष्टा से शरीर स्थित पांच प्रकार के प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान इन प्राण भेदों का ग्रहण होता है। यद्यपि ये चेष्टाओं के कारण हैं, चेष्टा शरीर की हलचल को ही मुख्य रूप से कहते हैं। परन्तु व्यवहार में चेष्टा के कारण को भी चेष्टा गौण रूप से कहा जा सकता है। कई विद्वान् इसका यह भी आशय लगाया करते हैं कि मनुष्य जो कुछ काम करता है उसमें दूसरे मनुष्यों की क्रियाएँ भी सहकारी कारण हुआ करती हैं। किसी मनुष्य के कार्यों की सफलता अथवा निष्फलता अन्य मनुष्यों की क्रियाओं पर भी अवलम्बित होती हैं। एक मनुष्य ने जो उद्योग किया दूसरे मनुष्यों का भी यदि वही उद्योग हुआ तो संघर्ष में जिसका संघर्ष प्रबल होगा वही सफल होगा। अतः एक मनुष्य का कार्य भी और मनुष्यों की चेष्टाओं का अनुमान करके हुआ करता है। इसलिए उसको भी कारण कहा गया।

पांचवां कारण दैव को बतलाया है, जिसको कुछ व्याख्याकारों ने भगवदिच्छा माना है, और कुछ व्याख्याकारों ने पूर्वजन्म के संचित संस्कारों को दैव कहा है। कार्यसिद्धि में दैव को सहायक मानना भारतीय दार्शनिकों में सर्वदा से ही रहा है। बहुधा दैव को कर्मों का कारण मानने के भारतीय सिद्धान्त पर आधुनिक लोग उपहास किया करते हैं, और यह दोष लगाते हैं कि इस दैव सिद्धान्त ने आलस्य की वृद्धि में बड़ी सहायता पहुँचाई। परन्तु यह उनका भ्रम है। यहाँ गीता में ही लीजिए, यह नहीं कहा गया कि केवल दैव से ही सभी कार्य होते हैं अपितु तर्क संगत पांच कारणों को उपस्थित करते हुए उसे सबसे अन्त में स्थान दिया गया। कर्मों के कारण शरीर और उसकी चेष्टाएं भी हैं जिन्हें पहिले ही कहा गया, जिन्हें दैव के विपक्ष में आजकल पुरुषार्थ कहा जाता है। कुछ प्राचीन पद्यों में भी दैव का विरोध दिखाया जाता है। एक सुप्रसिद्ध पद्य है–

**"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-**
**दैंवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।**
**दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या-**
**यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः"।।**

अर्थात् जो उद्योगी पुरुष सिंह होते हैं उन्हीं के पास लक्ष्मी आती है, दैव या भाग्य से मिलेगा ऐसा कायर पुरुषों का कथन है, दैव को छोड़कर अपनी शक्ति से पुरुषार्थ करो, यदि यत्न करने पर भी कार्यसिद्धि नहीं होती तो इसमें तुम्हारा क्या दोष है, यह अन्वेषण करो कि तुम्हारे यत्न में क्या दोष रह गया। ऐसे कुछ प्राचीन सुभाषित

पद्यों में भी दैव की कारणता का तिरस्कार मिलता है। परन्तु इनका स्पष्ट तात्पर्य है कि जो लोग समस्त कर्मों की सिद्धि को सारे प्रयत्न छोड़कर केवल दैवाधीन मानकर बैठ जाते हैं उन्हीं की इनमें निन्दा की गई है। दैव को कार्यसिद्धि के लिए कारण मानने का यह अभिप्राय कभी नहीं है कि अपने सारे प्रयत्नों को छोड़कर केवल दैव के आधार पर मनुष्य बैठ जाय। परन्तु दैव की कार्यसिद्धि में कारण के रूप में स्वीकृति व्यावहारिक रूप में यही महत्व रखती है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी यदि कार्यसिद्धि न हो तो मनुष्य को कोई दुःख नहीं करना चाहिए, उसे यह सोचकर पुनः कार्य में जुट जाना चाहिए कि इस बार मेरे प्रयत्नों के होते हुए भी दैव प्रतिकूल रहा, इसीलिए कार्य सिद्धि में बाधा उपस्थित हो गई, इस बार मैं पुनः अपने प्रयत्न से कार्य को पूरा करूँगा और दैव को भी अपने अनुकूल बना लूँगा। दैव की स्वीकृति में जो प्रत्यक्ष लाभ है वह है संतोष। हम भरपूर कार्य करने पर उसके फल की अभिलाषा के लिए व्याकुल नहीं होते, फल मिलने न मिलने को दैव पर छोड़ देते हैं, हाँ दैव के आश्रय पर बैठकर कर्त्तव्य विमुख हो जाना सर्वथा निन्दनीय है जैसा कि उक्त सुभाषित का आशय है। जो लोग आर्थिक समृद्धि के लिए व्याकुल रहते हैं और उचित तथा अनुचित सभी उपायों को अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए काम में लेना चाहते हैं, उन्हें दैव की प्रबलता को सामने रखकर अनुचित उपायों को काम लेने और स्वार्थ दृष्टि से हटाया जाता है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध पद्य है–

**''यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद् वा धनं**
**तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम्।**
**तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः**
**कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम्''।।**

अर्थात् विधाता ने आपके भाग्य में अधिक या कम जितना भी धन लिखा है, यदि आप शुष्क मरुप्रदेश में जाकर रहेंगे तो वह उससे कम होकर आपको नहीं मिलेगा और यदि आप सोने के पहाड़ सुमेरु नाम के पर्वत पर जाकर रहेंगे तो भी आपको उससे एक कपर्दिका भी अधिक नहीं मिलेगी। एक सुन्दर दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि किसी घड़े को कुएं या समुद्र में डुबोकर उसे जल भर कर निकाला जाय तो भी कुएं या समुद्र में अत्यधिक जलराशि रहने पर भी घड़े में उतना ही जल भरेगा जितना कि उसमें समा सकेगा। उससे एक बूंद भी अधिक जल उसमें नहीं भरेगा। इसी दृष्टान्त से प्रकृत में यह समझ लेना चाहिए कि धन की तृष्णा करते हुए अपने सम्मान को ताक में रखकर धनी पुरुषों के आगे कृपणता से हाथ फैलाना अच्छा नहीं। जितना

धन भाग्य में होगा उतना अवश्य मिलेगा, हमें अपना कार्य निरन्तर करते रहना चाहिए। दैव को कार्य सम्पादन में कारण मानना तर्क दृष्टि से भी तब आवश्यक हो जाता है जब सभी कारणों के उपस्थित रहते भी अतर्कित रूप से किसी विघ्न के उपस्थित हो जाने पर कार्य हानि हो जाती है। यदि दैव अदृष्ट या भाग्य कार्यसिद्धि में करण न हो तो सभी मनुष्यों की सभी अभिलाषाएं पूर्ण हो जायं। मनुष्य अच्छी अभिलाषाएं रखता है और उनके अनुकूल चेष्टाएं भी करता है, परन्तु फिर भी जब उसका कार्य सिद्ध नहीं होता तो वहाँ कोई कारण अवश्य मानना होगा, वहीं कारण के रूप में दैव को मानना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार कर्म के सम्पादन में पांच कारण भगवान् कहते हैं कि–कर्मों की अभिव्यक्ति शरीर, वाणी और मन से ही होती है। न्याययुक्त या उससे विपरीत कहकर यह दिखलाया गया है कि केवल शुभ या शास्त्र विहित कर्मों के ही ये पांच कारण हैं, ऐसी बात नहीं अपितु कार्यमात्र के प्रति ये कारण हैं। दुर्योधन की उक्ति का एक श्लोक है–

> "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
> जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
> केनापि देवेन हृदि स्थितेन
> यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" ।।

दुर्योधन कहता है कि मुझे धर्म का ज्ञान है, परन्तु मेरी प्रवृत्ति धर्म की ओर नहीं होती, मुझे अधर्म का भी ज्ञान है, परन्तु अधर्म से मेरी निवृत्ति नहीं होती, हृदयस्थित किसी देव के द्वारा मैं जिस प्रकार नियुक्त किया जाता हूँ, वैसा ही आचरण करता हूँ। स्पष्ट है कि अधर्म या अन्याय की ओर प्रवृत्त होने में दैव सहित पांचों कारण होते हैं।

इस प्रकार सभी कर्मों के पांच कारण हैं, आगे भगवान् ने कर्म सामान्य के प्रति इन पांच कारणों के रहते हुए भी जो केवल आत्मा को ही कर्त्ता समझते हैं, उनको दुर्मति कहा है और उनकी समझ को भी भ्रम बतलाया है। इस कथन से भगवान् अर्जुन को यह भी चेतावनी देते हैं कि तुम केवल आत्मा को ही कर्त्ता मानकर युद्ध से निवृत्त होना चाहते हो, किन्तु अन्य योद्धाओं, की चेष्टाएं तुम्हें भी युद्ध के लिए खींच लेंगी अथवा दैव अर्थात् पूर्व जन्म का संस्कार भी उसमें कारण हो जायगा। यह बात आगे स्पष्ट रूप से भी कही जायगी।

# बावनवां-पुष्प

**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।**
**हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।१७।।**

"जिसका भाव अहंकार पूर्ण नहीं है, जिसकी बुद्‌धि लिप्त नहीं होती, वह इन सभी लोकों का हनन करके भी न तो मरता ही है और न उसके फल से ही लिप्त होता है" (१७)

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि पूर्व पद्य में 'जो कर्मों का कर्त्ता केवल आत्मा को समझता है वह दुर्मति है, वह देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता', ऐसा कहा गया है। तब प्रश्न होता है कि फिर सुमति कौन है और सम्यक् दर्शन क्या है ? उसी का उत्तर भगवान् ने इस पद्य में दिया है। शास्त्रों के अध्ययन, आचार्य के उपदेश आदि से जिसको यह ज्ञान हो जाय कि पांच अधिष्ठान आदि जो अविद्या के द्वारा आत्मा पर अध्यारोपित हैं, वही समस्त कार्यों के कर्ता हैं, मैं तो उनके इस कार्यकलाप का साक्षी मात्र हूं, ऐसा जिसका भाव दृढ़ हो जाता है, किये हुए कर्मों का जिसकी बुद्धि पर कोई लेप नहीं होता, "मैंने यह निन्दित पापाचरण किया, इससे मुझे निश्चित ही अधोगति प्राप्ति होगी", ऐसा लेप जिसकी बुद्धि पर नहीं आता, वह पुरुष समस्त संसार को मार देने पर भी मारने की क्रिया का कर्तृत्व अपने ऊपर न समझते हुए वस्तुतः मारता ही नहीं। अहंकार ही क्रिया का बोधक होता है, वह अहंकार ही जब बुद्धि में नहीं रहा तब वस्तुतः हो जाने पर भी वह क्रिया उसके लिए न होने के ही समान है। यदि उसकी बुद्धि पर उस क्रिया का लेप होता तब तो उसके फल के बन्धन में भी उसे अवश्य आना पड़ता, परन्तु अहंकार के न रहने से जब उसकी बुद्धि पर लेप ही नहीं रहा तो शरीर के द्वारा की गई समस्त प्राणियों के वध की क्रिया के फल से वह बद्ध भी नहीं होगा। इससे उक्त प्रश्न का भी उत्तर हो गया कि वही पुरुष सुमति वाला होता है और उसी का देखना-देखना कहलाता है। यहां यह प्रश्न होता है कि वह समस्त प्राणियों का हनन करके भी नहीं मारता यह विरुद्ध कथन है। जो मारता है वह नहीं मारता यह कैसे समझ लिया जाय। यह आलंकारिक शैली से उस पुरुष की स्तुति तो मानी जा सकती है, परन्तु इसको यथार्थ कैसे कहा जा कसता है। इस प्रश्न का उत्तर श्रीशंकराचार्य ने यह दिया है कि ये दोनों ही बातें दृष्टि भेद से उस पुरुष के विषय में यथार्थ हो जाती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से शरीर पर आत्मा का आरोप करके 'मैं मारने वाला हूं, ऐसा समझता हुआ भी वह पारमार्थिक दृष्टि से अपने को मारने वाला

नहीं समझता। इन दोनों दृष्टियों से देखने पर यथार्थ रूप से मारने पर भी न मारने की आपाततः परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाली बात सुसंगत हो जाती है।

आगे श्रीशंकराचार्य ने पुनः पूर्व पक्ष उठाया है कि 'अहं' शब्द से आत्मा ही गृहीत होता है। अहंकृत भाव के न होने का अर्थ आत्मा को कर्ता न समझना ही है। परन्तु विगत पद्य में कहा गया है कि किसी भी कार्य के पांच कारणों के रहते हुए जो केवल आत्मा को कर्ता समझे वही दुर्मति है, इससे यही प्रकट होता है कि केवल आत्मा कर्ता नहीं है अपितु अधिष्ठान आदि पांचों कारणों से युक्त आत्मा कर्ता होता है। जब इस प्रकार से पांचों करणों से मिले हुए आत्मा पर कर्त्तृत्व आ ही गया तो कर्ता का भाव अहंकार शून्य या आत्मा को अकर्ता समझने का कैसे होगा ?। इसका उत्तर देते हुए आचार्य लिखते हैं कि विगत पद्य के 'केवल' शब्द को लेकर अधिष्ठान आदि सहित आत्मा को कर्ता मानने का भाव लेना ही असंगत है। आत्मा में विकार नहीं आता, वह स्वभावतः अविकारी है। जब वह अविकारी है तब वह अधिष्ठान आदि से मिल ही नहीं सकता। एक विकारी वस्तु ही दूसरी विकारी वस्तु से मिलती है। अतः आत्मा अधिष्ठान आदि कर्म के पांचों कारणों के साथ मिलकर कर्मों का कर्ता बनता है यह कहना ही त्रुटि पूर्ण है, असंग रहना या केवलत्व आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। विगत पद्य में "आत्मानं केवलं तु यः" में केवल शब्द आत्मा के स्वभाव का अनुवादक मात्र है। उसका यह तात्पर्य ही नहीं है कि केवल आत्मा कर्ता नहीं होता अपितु अधिष्ठान आदि से युक्त होता हुआ आत्मा कर्ता होता है। आत्मा तो कभी भी कर्ता होता ही नहीं, क्योंकि वह केवल है, असंग है, वह कार्य करने के लिए अधिष्ठान आदि से सम्बद्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि वह विकारी नहीं है। सम्बद्ध वे ही पदार्थ हुआ करते हैं जो विकार युक्त हों। आत्मा अविकारी है अतः वह अधिष्ठानादि से सम्बद्ध होकर कोई कार्य नहीं करता। आत्मा पर कर्त्तृत्व को किसी भी प्रकार से समझना अविद्यामूलक ही है। उसे ही भगवान् ने विगत पद्य में दुर्मति कहा है। सुमति सम्पन्न पुरुष कभी आत्मा को कर्ता समझता ही नहीं, अतः उसका भाव कभी अहंकृत होता ही नहीं। ऐसे ही पुरुष के लिए इतनी बड़ी बात भगवान् ने कही है कि वह समस्त प्राणियों को यदि मार भी डाले तो भी वह उसके लिए मारना ही नहीं है। अहंकार ही मारने आदि का ज्ञान कराने वाला है। जब बुद्धि में लेप नहीं रहा और अहंकार भी जाता रहा तो उस पर किसी भी सम्पाद्यमान कार्य का कर्त्तृत्व ही नहीं रहा, फिर वह उन कार्यों के शुभाशुभ फलों से भी क्यों लिप्त होगा। आत्मा अविकारी है इस बात को श्रुति, स्मृति तथा तर्क से स्पष्टतया सिद्ध किया गया है। गीता में ही

**"अविकार्योऽयमुच्यते" ( २।२५ )**

**"गुणैरेव कर्माणि क्रियन्ते" ( ३।२७ )**

**"शरीरस्थोऽपि न करोति" ( १३।३१ )**

इन पद्यों में अनेकों बार आत्मा को अविकारी कहा गया है।

**"ध्यायतीव लेलायतीव" ( बृ. उ. ४।३।७ )**

आदि श्रुतियों में भी इसी बात का स्पष्टीकरण मिलता है। तर्क से भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि वह निरवयव है, जिसमें अवयव भेद नहीं है, जो किसी के भी आधीन नहीं है, अपरतंत्र है, स्वतन्त्र है ऐसा आत्म तत्त्व विकारी नहीं हो सकता। जो विकारी हो उसमें उपर्युक्त बातें नहीं मिल सकतीं।

पुन: शंका होती है कि जब आत्मा शरीर में उपस्थित रहता है, तब शरीर आदि के कार्य आत्मा के भी अवश्य होंगे। ऐसी स्थिति में अधिष्ठान अथवा शरीर में संस्थित आत्मा सर्वथा शरीर के द्वारा किये हुए कार्यों से पृथक् कैसे रह सकता है। इस शंका का उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि जो अविद्या के द्वारा किया जा रहा है वह आत्मा पर कैसे समझा जा सकता है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध करना अविद्या का ही कार्य है अत: अविद्या के द्वारा सम्पादित जो आत्मा का शरीर के साथ संयोग है उसमें शरीर के द्वारा किये हुए कार्यों को आत्मा के द्वारा किया हुआ नहीं समझा जा सकता। इस बात को वेदान्त दर्शन में प्रसिद्ध अनेक उदाहरणों को उपस्थित करते हुए आचार्य ने समझाया है कि सीपी में अविद्या, अज्ञान अथवा भ्रान्ति से हमने रजतत्त्व को समझ लिया, एतावता हमारे अज्ञान से समझे हुए सीपी में रजतत्त्व से सीपी रजत नहीं बन जाती। नासमझ बालक आकाश के तल को काला समझते हैं परन्तु इससे रूप रहित आकाश काला कैसे हो जायगा। इसी प्रकार अविद्या ने ही शरीर और आत्मा को सम्बद्ध किया है इसलिए उस शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के वास्तविक न होने से शरीर के द्वारा सम्पादित कार्य आत्मा के द्वारा सम्पादित नहीं कहे जा सकते और शरीरादि का कर्तृत्व आत्मा पर नहीं जा सकता। इसलिए भगवान् ने ऐसे सुमति संपन्न पुरुष के लिए 'वह न करता है और न लिप्त होता है" यह सर्वथा युक्ति-युक्त कथन किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि देह पर आत्मा का अभिमान अविद्याकृत और मिथ्या है, अत: जितने भी कार्य हैं सभी अविद्याकृत हैं। अविद्याकृत कर्मों का कर्तृत्व आत्मा पर कथमपि नहीं जा सकता। इस बात को सम्यक् रूप से अपनी बुद्धि में जब विद्वान् पुरुष जमा लेते हैं तब वे अविद्याकृत समस्त कार्य प्रपंच का परित्याग

कर आत्मलीन हो जाते हैं। वे समस्त कर्मों को छोड़ देते हैं और संन्यास मार्ग का अवलम्ब ग्रहण करके परम पुरुषार्थ मोक्ष के पूर्ण अधिकारी बन जाते हैं, यह श्री शंकराचार्य ने अपनी इस पद्य की व्याख्या के उपसंहार में अपने सिद्धान्त का स्मरण करा दिया है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि संसार के समस्त कार्य परमपुरुष की प्रेरणा से होते हैं, ऐसा निश्चित रूप से समझ कर जो युद्धादि कर्मों का कर्तृत्व अपने में नहीं समझता, उनके कर्तृत्व का अहंकार जिसको नहीं होता, वह समस्त लोकों को मार कर भी दोष से अनुलिप्त नहीं होता। श्रीरामानुजाचार्य ने इस पद्य का संकेत युद्ध स्थित अर्जुन की युद्ध दोष के भय से समुत्पन्न मनः स्थिति की ओर माना है। अर्जुन ने युद्ध में अपने पूज्य जनों को मारने से अपने में जिन दोषों की गीता के प्रथम अध्याय में संभावना की थी, उन्हीं का निराकरण यह भगवान् ने किया है जिसका तात्पर्य स्पष्ट है कि तुम युद्ध करो, परन्तु 'मैं शत्रुओं को पराजित करने के लिए युद्ध कर रहा हूं' ऐसा अहंकार मन में न लाओ, अपितु यह परम पुरुष की इच्छा है ऐसा समझो तब तुमने जो भीष्म, द्रोण आदि को मारने पर पाप लगेगा ऐसी शंका की थी, उसकी तो बात ही क्या, यदि तुम समस्त प्राणियों को भी मार दोगे तो भी तुम्हें जरा भी पाप नहीं लगेगा।

पैशाच भाष्य में कहा गया है कि जिस प्रकार इन्द्रजाल दिखाने वाला ऐन्द्रजालिक पुरुष अपना इन्द्रजाल दिखाते समय किसी को मार देता है तो प्रत्यक्ष रूप से मार देने पर भी वस्तुतः वह नहीं मारता, इसी प्रकार वह इन्द्रजाल रूप अविद्या के वश में अपने को समझने वाला पुरुष मारने पर भी वास्तव में मारने वाला नहीं है और जब वह अपने को अविद्या रूपी इन्द्रजाल में आबद्ध समझ कर कर्म कर रहा है तो उसकी बुद्धि उन कर्मों की फलाभिलाषा से प्रसन्नता या दुःख के रूप में लिप्त नहीं होगी।

श्रीपुरुषोत्तम जी ने 'इमाँल्लोकान्' का तात्पर्य लिखा है कि 'इदम्' का अर्थ सन्निकृष्ट है। उसी की ओर संकेत करते हुए भगवान् ने यह भी ध्वनित कर दिया कि ये आसुरी सम्पत्ति वाले लोग हैं। इनको मारने में किसी प्रकार का दोष लगेगा यह शंका ही निरर्थक है। साथ ही जो पुरुष अहंकार से युक्त नहीं है वह अपने हानि लाभ के लिए तो किसी को मारेगा ही क्यों। वह तो लोक के लाभ के लिए ही ईश्वरेच्छा से प्रवृत्त होगा। अतः उस कार्य से वह किसी दोष का भागी कथमपि नहीं बनेगा।

श्रीनीलकण्ठ ने 'यस्य नाहंकृतो भावः' इतने अंश से शरीर को ही आत्मा समझने

वाले चार्वाक आदि का निरास माना है और आगे के 'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' इतने अंश से बुद्धि को ही कर्ता मानने वाले बौद्ध दर्शन का निरास माना है। इसका तात्पर्य यही है कि देह को आत्मा मानने वाले अतएव सर्वदा अहं भाव से युक्त चार्वाक आदि वास्तव में हनन क्रिया भी करते हैं और उसके दोष से भी लिप्त होते हैं तथा बुद्धि को कर्ता मानने वाले बौद्ध आदि के विषय में भी यही बात है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से यह दोनों ही दृष्टियां त्रुटि पूर्ण हैं। उत्तरार्ध को श्रीनीलकण्ठ केवल स्तुति के लिए ही मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि इस प्रकार के पुरुष के विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह किसी को मारेगा। मारने आदि क्रियाओं के कारण तो राग द्वेष आदि ही होते हैं जो कि अहंकार के ही द्वारा उत्पन्न होते हैं। जब अहंभाव ही नहीं रहा तो राग द्वेष आदि भी नहीं होंगे, और राग द्वेष आदि के न होने पर मारने आदि की क्रिया भी संभव नहीं होगी। अतः उत्तरार्ध कथन केवल उक्त पुरुष की प्रशंसा के लिए ही किया गया है। जो आवश्यक कार्य उसे करने होंगे उसका भी फल नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि वह आत्मा को अकर्त्ता समझ गया है और कर्म उसके लिए यथार्थ हैं ही नहीं। जिस प्रकार रज्जु सर्प में रज्जु बुद्धि से रज्जु पर प्रहार करने वाला पुरुष सर्प के क्रोध, दंश, फुंकार आदि का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार कर्तृत्व शून्य बुद्धि से सांसारिक कार्य कलाप का परिचालक पुरुष कर्मों के गुण दोषों से आक्रान्त नहीं होता। यदि रज्जु को सर्प समझ कर उस पर कोई पुरुष प्रहार करेगा तो उसे उन सब बातों का भी काल्पनिक अनुभव अवश्य होगा जो सर्प पर प्रहार करने से होता है। इसी प्रकार शरीर को ही आत्मा समझ कर कार्य करने वाला पुरुष कर्मों के गुण दोषों से भी लिप्त अवश्य होगा।

# तिरपनवाँ-पुष्प

**ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।**
**करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।।१८।।**

"ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीन प्रकार की कर्मचोदना है, करण, कर्म और कर्ता ये तीन प्रकार का कर्म संग्रह है" (१८)

इस पद्य में जो 'कर्म-चोदना' और 'कर्म-संग्रह' शब्द आए हैं, ये पारिभाषिक शब्द हैं। दो प्रकार की परिभाषाएं इनसे प्रकट होती हैं। एक तो जो भी कोई कार्य हम करते हैं, उनके मूल में 'कर्म-चोदना' और 'कर्म-संग्रह' होते हैं। दूसरे मीमांसा शास्त्र में जो यज्ञों की विधियां बतलाई जाती हैं, उनमें 'चोदना' या 'कर्म चोदना' का प्रयोग बतलाया जाता है। दोनों ही प्रकार की परिभाषाओं के अनुसार प्रस्तुत पद्य का आशय व्याख्याओं में प्रकाशित किया गया है।

बुद्धिमान और विचारशील पुरुष किसी भी कार्य को करने से पहिले उस कार्य के विषय में अपना मानसिक निश्चय अवश्य करता है। यही मानसिक निश्चय उसे आगे कर्म में प्रवृत्त होने को प्रेरित करता है। सबसे पहिले किसी कर्म को करने में लगे हुए पुरुष को यह ज्ञान अवश्य होता है कि-

**"इदं मदिष्टसाधनं मत्कृतिसाध्यं च"**

अर्थात् यह कार्य मेरे अभीष्ट अर्थ को सिद्ध करने वाला और मेरे प्रयत्न से साध्य है। बहुत से कार्य इस प्रकार के होते हैं कि इष्ट तो वे होते हैं, परन्तु वे हमारी शक्ति से परे होते हैं। कौन व्यक्ति ऊंचा से ऊंचा पद प्राप्त करना तथा सब प्रकार के सुखोपभोग में लीन रहना न चाहता होगा। परन्तु इस प्रकार के अभीष्ट की सिद्धि के लिए सभी लोग इसीलिए प्रवृत्त नहीं हो पाते कि अभीष्ट होते हुए भी वे कार्य उनके प्रयत्नों से साध्य नहीं होते। साथ ही जो कार्य प्रयत्न साध्य तो हैं, परन्तु अभीष्ट नहीं हैं, ऐसे कार्यों में भी मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। विषपान कर लेना सभी के लिए शक्य है, कोई भी पुरुष जहर पी सकता है, परन्तु विषपान कोई भी इसीलिए नहीं करता कि उसका पान कर लेना संभव होते हुए भी वह इष्ट का विघातक है। जीवन सबसे अधिक इष्ट है, वह उसी का विघातक है, अतः कृतिसाध्यता और इष्ट-साधनता दोनों प्रकार के ज्ञान होने पर किसी भी कर्म में लोक-प्रवृत्ति होना देखा जाता है। परन्तु इतने मात्र ज्ञान होने से हम किसी काम को पूरा करने में समर्थ नहीं हो सकते। किसी काम को करने से पहिले हमें उसके विषय में यह मालूम होना चाहिए

कि हम इस काम को करने में समर्थ हैं, यही सामर्थ्य का परिज्ञान या अनुशीलन यहां 'परिज्ञाता' शब्द से बतलाया गया है। वह ज्ञाता या परिज्ञाता जो कुछ कार्य करता है, उस कार्य का स्वरूप क्या है इसका भी निश्चय कार्य करने से पहिले उसकी बुद्धि में अवश्य रहता है। यदि कार्य के स्वरूप का निश्चय उसकी बुद्धि में नहीं है, तो होगा यह कि वह जो कुछ भी करना चाहता है, उससे विलक्षण ही कार्य कर बैठेगा, एक उक्ति है–''**विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्**''

अर्थात् कोई मूर्ति बनाने वाला गणेश जी की मूर्ति बनाने बैठा, परन्तु बनाने से पहिले मूर्ति के रूप का निश्चय उसकी बुद्धि में नहीं था, परिणाम यह हुआ कि गणेश जी की मूर्ति बनाने चला था और बन्दर की मूर्ति बना बैठा। अतः जिस कार्य को हम जिस रूप में करना चाहते हैं, उस रूप का हमारी बुद्धि में पहिले से निश्चय रहना चाहिए। आधुनिक युग में इंजीनियरिंग विद्या का जो विकास है, वह वस्तु के स्वरूप के विषय में ही दी जाने वाली शिक्षा का एक विकसित रूप है, 'कर्म चोदना' में इसी को ज्ञेय कहा गया है। इसके साथ ही उस कार्य के सम्पादन की क्या रीति है, यह भी जानना आवश्यक है, प्रत्येक कार्य की एक विशेष प्रक्रिया होती है। यदि प्रक्रिया का अच्छे प्रकार परिज्ञान नहीं है, तो कार्यसिद्धि या तो होगी ही नहीं, यदि होगी तो बहुत आयास और समय व्यय होने पर भी अल्प मात्रा में ही होगी। ये ही उपर्युक्त तीनों बातें कर्मचोदना शब्द से यहां कही गई हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रक्रिया का प्रत्येक कार्य के सम्पादन में अनिवार्य स्थान है। उपर्युक्त प्रक्रिया के अनन्तर जब कर्म में मनुष्य प्रवृत्त होता है तब वह अपने कर्तृत्व को जागृत करता है, उसके साधन जुटाता है और अभीष्ट वस्तु को तैयार कर लेता है। ये तीनों करण, कर्म और कर्ता इन नामों से पद्य में कहे गए हैं, इन्हें कर्म संग्रह कहा गया है। लोकमान्य तिलक ने कर्म-चोदना शब्द से अन्तःकरण की क्रियाएँ और कर्म-संग्रह से उन्हीं आन्तरिक क्रियाओं के अनुसार होने वाली क्रियाओं का बोध माना है।

इसी प्रकार अनेक व्याख्याओं में मीमांसा के अनुसार कर्मचोदना तथा कर्मसंग्रह शब्द से शाब्दी भावना, आर्थी भावना तथा विधि का क्रिया रूप से समन्वय माना है।

श्रीशंकराचार्य ने 'परिज्ञाता' का अर्थ उपाधिरूप अविद्या के द्वारा कल्पित भोक्ता, किया है। उन्होंने लिखा है कि ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इन तीनों के एकत्रित हो जाने पर हेय और उपादेय की दृष्टि से सभी कर्मों का आरम्भ होता है। आरम्भ होने के अनन्तर करण, कर्म और कर्ता में क्रिया के बाह्य रूप का ग्रहण हो जाता है। करण शब्द से बाह्य श्रोत्र आदि कर्मेन्द्रियों तथा बुद्धि आदि आन्तरिक साधनों का उन्होंने ग्रहण किया

है। कर्म संग्रह शब्द का अर्थ करते हुए वे कहते हैं कि जहां कर्म का ग्रहण हो वही कर्म संग्रह है। कर्म इन तीनों में ही संगृहीत होता है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि पहिले जो कहा गया है कि स्वयं को अकर्ता समझना चाहिए, वह स्वयं में कर्तृत्व बुद्धि हटाना तभी संभव होता है जब सत्व गुण की अभिवृद्धि होती है। किसी भी कर्म में सत्व आदि गुणों के कारण जो वैषम्य आता है उसका विवरण देने के लिए यहां कर्म होता किस प्रकार है, यह बतलाया जा रहा है। कर्मचोदना का अभिप्राय उन्होंने वैदिक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ विधियों से लिया है, जिनमें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की आवश्यकता होती है।

माध्वभाष्य में कहा गया है कि पुरुष स्वरूपतः जब अकर्ता है, तब जिन विधियों का शास्त्रों में विधान प्राप्त होता है, वे विधियां किसको लक्ष्य करके बतलाई जाती हैं, इसी के उत्तर में कहा गया है कि ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता को लक्ष्य करके विधियों का विधान किया जाता है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि पूर्व में आत्मा को जो अकर्ता और अभोक्ता बतलाया गया है, वहां सांख्य दर्शन भी पुरुष को अकर्ता तो मानता है, परन्तु उनके यहां पुरुष भोक्ता अवश्य है। उसी सांख्य सिद्धान्त में स्वीकृत आत्मा के भोक्तृत्व का यहां समर्थन है कि चिदाभास ही भोक्ता है, शुद्ध चैतन्य जो आत्मा है, वह भोक्ता नहीं है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने यहां मीमांसा की दृष्टि से भी शाब्दी भावना का विस्तार से विवेचन किया है।

तात्पर्य यही है कि कर्म की प्रक्रिया उपर्युक्त है। इस प्रक्रिया को जान लेने पर कर्म के दोषों से मनुष्य बच निकलने की युक्ति जान लेता है।

# चौवनवां-पुष्प

**ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।**
**प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।।१९।।**

"गुणों के कार्यों के वर्णन प्रसंग में ज्ञान, क्रिया और कर्ता गुणों के भेद से तीन प्रकार के कहे जाते हैं, उनको यथावत् मुझसे सुनो" (१९)

श्रीशंकराचार्य ने कर्म का अर्थ क्रिया ही किया है और "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इत्यादि पारिभाषिक कर्म का ग्रहण यहां उन्होंने नहीं माना है। आनन्द गिरि कहते हैं कि कर्म शब्द यहां क्रिया का ही वाचक है परन्तु करण तथा कर्म कारक का भी इससे ग्रहण हो जाता है क्योंकि कारक क्रिया की ही उपाधियां हैं। तब प्रश्न होता है कि कर्ता भी तो क्रिया की ही उपाधि है फिर उसका पृथक् परिगणन क्यों किया गया, उसका उत्तर देते हुए आनन्दगिरि व्याख्या में लिखा गया है कि अज्ञान से आक्रान्त पुरुष आत्मा को ही कर्ता मानता है, उसके निराकरण के लिए कर्ता का पृथक् परिगणन यहां किया गया है। "त्रिधैव" में जो एव शब्द है उसके तात्पर्य को प्रकाशित करते हुए श्रीशंकराचार्य लिखते हैं कि ये तीनों गुणत्रय की सीमा के अन्तर्गत होने से तीन ही प्रकार के होते हैं। तीनों गुणों के बाहर इनका मिलना संभव ही नहीं है। 'गुणसंख्याने' का अर्थ श्रीशंकराचार्य तथा उनके अनुयायी सभी व्याख्याकारों ने सांख्य शास्त्र किया है। सांख्य शास्त्र में तीन गुणों के अनुसार ही ज्ञान, कर्म, कर्ता आदि का भेद दिखलाया गया है। श्रीशंकराचार्य ने यह भी लिखा है कि यद्यपि मूल तत्त्व के विषय में गीता में प्रतिपादित सिद्धान्त से सांख्य सिद्धान्त विपरीत जाता है, अतः मूल कारण के निरूपण के प्रसंग में सांख्य दर्शन को प्रमाण नहीं माना जाता, परन्तु गुण तथा उनके जो व्यापार हैं उसके प्रतिपादन में महर्षि कपिल के द्वारा प्रणीत सांख्य शास्त्र प्रमाण ही है। उसका आदर गीता में अनेकत्र देखा जाता है। तदनुसार ही यहां भी गुण प्रकरण में भगवान् ने आदर प्रदर्शनार्थ 'गुणसंख्याने' शब्द से महर्षि कपिल के द्वारा प्रणीत सांख्य शास्त्र का ग्रहण किया है। श्रीरामानुजाचार्य ने 'गुणसंख्याने' का ऐसा अर्थ नहीं किया। उन्होंने 'गुणसंख्याने' का अपनी व्याख्या में यही अर्थ किया है कि यहां गुण भेद के अनुसार जो तत्तत्पदार्थों के भेद दिखलाये जा रहे हैं उसमें ज्ञान, कर्म और कर्ता भी तीन प्रकार के माने जाते हैं। गुणभेद के अनुसार वस्तु भेद का निरूपण गीता में विगत षोडशाध्याय तथा उसके भी पहिले से प्रारंभ हो चुका है। यही यहां प्रकरण प्राप्त 'गुणसंख्याने' का अर्थ है।

विगत पद्य में ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, करण, कर्म और कर्ता इनका उल्लेख किया गया था। श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि उनमें ज्ञेय और करण तो जड़ होते हैं, उनकी तो वही स्थिति है जो घट, कुठार आदि की है, ये ही पदार्थ ज्ञेय होते हैं। अत: सात्त्विक भेदों का निरूपण करते समय भगवान् ने उन्हें छोड़ दिया। कर्ता से परिज्ञाता का भी ग्रहण हो जाता है। सांख्य शास्त्र में ज्ञेय और करण का भी गुणत्रयानुसारी विभाग देखा जाता है। उदाहरणार्थ एक ही स्त्री में उसके पति की प्रीति होने के कारण सात्त्विक, उसको न जानने वाले अन्य पुरुष की राजस और सपत्नी आदि की तामस बुद्धि होती है, इस प्रकार सात्त्विक आदि तीनों भावों का निरूपण एक स्त्री को ही दृष्टान्त बनाकर समझा दिया जाता है। परन्तु इस प्रकार की विभिन्न बुद्धियों का कारण उसी स्त्री के स्वरूप में किसी प्रकार की तीनों के प्रति विलक्षणता नहीं अपितु समझने वालों की चित्तवृत्ति ही इस प्रकार समझाने में कारण होती है। इसीलिए ज्ञेय पदार्थ को तीनों गुणों से विभक्त नहीं किया गया अपितु परिज्ञाता या ज्ञान कर्ता का ही भेद यहां बतलाया जाता है।

यह विषय गीता में चतुर्दश अध्याय से ही प्रारंभ हो चुका है और यहां पुन: उसका निरूपण पुनरुक्त सा प्रतीत होता है। उस संभावित पुनरुक्ति को हटाते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि चतुर्दश अध्याय में–

**"तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्"**

इत्यादि के द्वारा यह बतलाया गया कि गुण बन्ध के हेतु हैं। सप्तदश अध्याय में–

**"यजन्ते सात्त्विका देवान्"**

इत्यादि के द्वारा गुणों के आधार पर ही दैव आसुर विभाग का निरूपण हुआ। अब यहाँ जो गुणत्रय के आधार पर ज्ञान आदि के भेद का निरूपण है उसका तात्पर्य यही है कि आत्मा जो गुणातीत है उसका क्रिया कारक आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार समझ लेने से पुनरुक्ति की आशंका नहीं रह जाती।

---

# पचपनवां-पुष्प

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।२०।।
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।२१।।
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम्
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

"उस ज्ञान को सात्विक समझो जिससे समस्त विभक्त भूतों में एक अव्यय तथा अविभक्त भाव का दर्शन होता है" (२०)

सात्विक, राजस, तामस जिस ज्ञान के भेद हैं वह ज्ञान ईश्वर के स्वरूप भूत चेतना रूप ज्ञान से भिन्न है। ईश्वर के स्वरूप में सम्मिलित जो ज्ञान है वह तो गुणातीत है। उसमें इन गुणों के कारण कोई भेद उपस्थित नहीं होता। यहां जिस ज्ञान का निरूपण है वह तो वस्तुतः 'ज्ञायते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान का साधन है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के निरूपण के पहिले 'अमानित्व, अदम्भित्व' आदि जो 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' कह कर ज्ञान का स्वरूप बतलाया गया था, उसी के यहाँ सात्विकादि विभाग हैं। स्पष्ट है कि वह निरूपण ज्ञान के साधन या साधन रूप ज्ञान का ही था। अतः यह ज्ञान का निरूपण भी साधन रूप ज्ञान का ही है। ज्ञान के साधन को भी ज्ञान शब्द से उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार कहा जाता है। सात्विक ज्ञान या सात्विक ज्ञान साधन वह है जिससे कि समस्त भूतों में एक अव्यय भाव का दर्शन किया जा सके। इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि भगवान् यहाँ ज्ञान के साधन के विषय में ही कह रहे हैं। इस ज्ञान को प्राप्त करके इसके द्वारा सब भूतों में एक भाव देखने का विधान है, एक भाव देखने का यह सात्त्विक ज्ञान साधन ही हुआ। भाव का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने प्रस्तुत किया है कि सब भूतों में अर्थात् संसार के समस्त पदार्थ में एक वस्तु देखे। तात्पर्य स्पष्ट है कि सब पदार्थ एक नहीं अनेक हैं। परन्तु पदार्थों में वस्तु तत्त्व एक ही है। यह देखना कोई वस्तु स्थिति के साथ जबर्दस्ती या मिथ्या आरोप नहीं है अपितु वास्तविक बात यही है कि आत्मसत्ता ही समस्त दृश्यमान प्रपंच में अनुस्यूत है। आत्मा ही संसार का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। स्वर्णनिर्मित कटक कुण्डलादि सहस्रों पदार्थों में वस्तुभूत पदार्थ स्वर्ण ही है। मिट्टी के बने अनन्त पदार्थों

में वस्तु तत्त्व मिट्टी ही है, धागों से बने हुए अनन्त वस्त्रों में वस्तु तत्त्व धागे ही होते हैं, उसी प्रकार समस्त संसार के समस्त पदार्थों में वस्तु तत्त्व आत्मा या ब्रह्म ही है। यही वस्तु स्थिति का परिचय देने वाला ज्ञान सात्विक कहा जा सकता है। इसी प्रकार दूसरी बात जो भगवान् ने कही कि जो ज्ञान विभक्त पदार्थों में अविभक्त वस्तु तत्त्व का दर्शन करा दे वह सात्विक होता है यह स्पष्टता के लिए ही कथन हुआ है। जब सब भूतों में एक अव्यय भाव का दर्शन हो चुका तो विभक्तों में अविभक्त दर्शन स्वतः सिद्ध हो गया। प्रत्यक्ष दृश्यमान् पदार्थ विभक्त अथवा पृथक् पृथक् रूप से अवस्थित हैं, उनमें सात्त्विक ज्ञान के द्वारा यह बोध होता है कि ये विभक्त पदार्थ एक अव्यय अविभक्त वस्तु तत्त्व की ही भ्रम के कारण दिखाई देने वाली अवस्था मात्र हैं। राजाओं के महलों में ऐसे शीशे जड़े रहते हैं जहां घुसते ही एक व्यक्ति हजारों व्यक्तियों के रूप में दिखाई देने लगता है। महाकवि माघ ने लिखा है—

**रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे**
**एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ।**

अर्थात् रत्ननिर्मित स्तम्भों में प्रतिबिम्बित आकृति वाले कृष्ण, बलराम आदि एकाकी होते हुए भी ऐसे प्रतीत होते थे मानों पुरुष समुदाय से घिरे हों। परन्तु वस्तुतः प्रतीति में विभिन्नता रहते हुए भी वे एक ही थे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, इत्यादि मनुष्यों के जो व्यावहारिक विभाग हैं जो कि कर्मों की अधिकार दृष्टि से स्वतः होते हैं तथा काले, गोरे, लम्बे आदि जो आकारों के विभाग हैं उन सब में ज्ञान रूप आत्मा एक ही है, उन सबमें आत्म तत्त्व में कोई भी विभाग नहीं है, जिसे कि—

**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'**

इत्यादि श्रुतियों में सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित कहा गया है, उसमें किए हुए कर्मों के फलों से भी कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं हो सकता, इस प्रकार के आत्म तत्त्व को जिस ज्ञान के द्वारा विभिन्न कर्मों के अनुष्ठान करते समय भी ध्यान में लिया जा सके उसी ज्ञान को सात्त्विक ज्ञान कहा जाता है।

माध्व भाष्य में कहा गया है कि सभी विभक्त भूतों में एक भाव देखने का अभिप्राय भगवान् विष्णु को सर्वत्र देखना है।

व्याख्याओं में यह भी कहा गया है कि इस प्रकार के सर्वत्र विभिन्न पदार्थों में एक रूप से समवस्थित स्वरूप का दृष्टान्त आकाश है। जिस प्रकार आकाश विचित्र

पदार्थों में एक रूप से अनुप्रविष्ट है उसी प्रकार एक ही आत्मतत्त्व समस्त भूतों में एक रूप से अनुप्रविष्ट है। यही समझना सात्त्विक ज्ञान कहलाता है।

सात्त्विक ज्ञान के स्वरूप को समझाने के अनन्तर आगे राजस ज्ञान का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् कहते हैं–

"पृथक् भाव से जो ज्ञान अनेक प्रकार के पदार्थों को समस्त भूतों में ग्रहण करता है, वह ज्ञान राजस कहलाता है" (२१)

संसार में जो पदार्थ हमें उपलब्ध हो रहे हैं वे सब पृथक् रूप से ही अवस्थित होकर ज्ञान में आते हैं। पार्थक्य में ही सृष्टि का स्वरूप है और साम्य में लय माना जाता है। सृष्टि की प्रक्रिया का प्रारंभ भी यहीं से बतलाया जाता है कि परब्रह्म एकाकी अवस्था में रमण नहीं कर सकता था। उसने क्रीड़ा के लिए दूसरे की इच्छा की, उसी से संपूर्ण चराचर प्रपंच का प्रादुर्भाव हो गया। इससे भी यही प्रकट होता है कि संसार दशा में पृथक् भाव में ही पदार्थों की उपलब्धि होती है। तब प्रश्न होता है कि जब संसार अवस्था में ज्ञान में आने वाले समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप भेद गर्भित ही है, तब उनका यथार्थ ज्ञान भी भेद गर्भित ही होगा। ऐसी स्थिति में यथार्थ ज्ञान को राजस पक्ष में गिनना कैसे उपयुक्त होगा। उसका उत्तर है कि देखे जाने वाले पदार्थ तो भिन्न हैं परन्तु उनके अन्दर अनुप्रविष्ट जो आत्म तत्त्व है वह तो सर्वत्र एक ही है। जब हम उपलभ्यमान वस्तुओं के भेद को देखते-देखते आत्म तत्त्व को भी भेद दृष्टि से ही ग्रहण करने लगते हैं तब वह यथार्थ ज्ञान नहीं रह जाता है। काले, गोरे, मोटे, दुबले, साधु स्वभाव वाले, दुष्ट स्वभाव वाले, सुखी, दुःखी इत्यादि प्रकार के प्राणियों को देखकर हम उनमें अवस्थित आत्मा को वैसे ही गुण धर्म वाला समझने लगते हैं, यह हमारा यथार्थ ज्ञान नहीं है। आत्मा काला, गोरा, मोटा, दुबला नहीं है। अतः पृथक्-पृथक् पदार्थों के स्वरूप विधारक एक आत्म तत्त्व को पृथक् समझना यथार्थ ज्ञान न होने से राजस ज्ञान होता है। इस पर पुनः प्रश्न होता है कि उपर्युक्त पद्य में तो 'आत्मा को पृथक्-पृथक् समझना राजस ज्ञान होता है', ऐसा नहीं कहा गया। वहां तो जो ज्ञान नाना भावों को पृथक् रूप से समझे वह राजस होता है, यही कहा गया है। भाव शब्द से यहां संसार के पदार्थ ही लिये जाते हैं। तब संसार के पदार्थों को नाना रूप में समझना तो यथार्थ ही है, तब उसे राजस ज्ञान क्यों कहा गया। इसका उत्तर यही है कि एक अद्वितीय ब्रह्म ही संसार का अभिन्ननिमोत्तोपादान कारण वेदान्त में माना गया है। संसार में प्रतीत होने वाली पदार्थों की अनेकता यथार्थ ज्ञान नहीं अपितु भ्रम है। इसीलिए श्रीशंकराचार्य ने संसार को भ्रम रूप कहा है। समस्त

संसार में एकत्व दर्शन ही यथार्थ ज्ञान होता है। पार्थक्यगर्भित दर्शन अयथार्थ ज्ञान ही है, अतः उसे राजस कोटि में गिनना सर्वथा समीचीन है। श्रीरामानुजाचार्य ने यह भी लिखा है कि आत्मा को फल संयुक्त समझना भी पृथक् समझने के अन्तर्गत है। अतः इस प्रकार का ज्ञान राजस ही कहा जायगा। अनेक व्याख्याओं में ५ प्रकार के भेदों को "**नाना भावान् पृथग्विधान्**" से लिया है। कुछ लोग प्रति शरीर में आत्मा को भिन्न-भिन्न मानते हैं। उन आत्माओं को ईश्वर से भिन्न समझते हैं, आत्मा, ईश्वर और जड़ को भी वे सर्वथा भिन्न-भिन्न समझते हैं। यह आत्मा के विषय में भेद ज्ञान सर्वथा राजस कोटि का ही ज्ञान है। सात्त्विक ज्ञान में तो कोई भी भेद ज्ञान ठहरता ही नहीं। श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि 'नानाभावान्' और 'पृथग्विधान्' में जो बहुवचन है उसका तात्पर्य यह है कि राजस ज्ञान में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से नितान्त भिन्न प्रतीत होता है, उनका आपस में स्वरूपगत कुछ भी साम्य समझ में नहीं आता। यहां यह भी एक विचारणीय विषय टीकाओं में लिखा गया है कि '**यत् ज्ञानं पृथग्विधान् नानाभावान् वेत्ति**' यह शब्द प्रयोग उचित प्रतीत नहीं होता। ज्ञान कैसे जानेगा। उसका समाधान व्याकरण की दृष्टि से यही किया जाता है कि 'एधांसि पचन्ति' (काष्ठ ही पकते हैं) जैसे व्यवहार होता है, वैसा ही शब्द व्यवहार यहां भी समझ लेना चाहिए। अग्रिम पद्य में तामस ज्ञान का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"किसी एक ही कार्य में उसे सम्पूर्ण कार्य की भांति समझ कर लिप्त हो जाना, ऐसा जिस ज्ञान के द्वारा होता है, जिसमें कोई हेतु नहीं दिखाया जा सकता, जो कि तात्त्विक अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, जो अल्प होता है, वह ज्ञान तामस कहा जाता है" (२२)

तामस ज्ञान अत्यन्त तुच्छ होता है इस बात को पद्योक्त 'तु' शब्द से बतलाया गया है।

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि एक अपने देह या प्रतिमा आदि में आत्मा की पूर्णता को समझ लेना शरीर या प्रतिमा आदि के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता को न मानना तामस ज्ञान कहलाता है। शरीराकार आत्मा को समझ लेना भी इसी ज्ञान भेद के अन्तर्गत माना गया है। इसी प्रकार पत्थर या लकड़ी की प्रतिमा में ईश्वर को सीमित समझना भी तामस ज्ञान है। तब तो मूर्तिपूजा भी तामस ज्ञान से संभूत हुई, उसका उत्तर है कि मूर्ति की इस भावना से पूजा करना कि वह मूर्ति ही ईश्वर है, उसी से समस्त कामनाओं की प्राप्ति हो जायगी यह तामस ही है। ईश्वर सर्वत्र व्यापक है। वह मूर्ति में भी विद्यमान है। भक्ति से आराधना करने पर वह प्रकट होकर दर्शन देता है, इस भावना

से पूजन करना सात्त्विक भेद के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार का ज्ञान 'अहेतुक' होता है, उसमें कोई युक्ति नहीं होती, इसीलिए उसे अतात्त्विक भी कहा गया है, और उसका विषय अल्प होने के कारण वह अल्प भी कहा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य ने लिखा है कि प्रेत भूत आदि किसी एक की आराधना करते हुए उसे ही सब कुछ मान लेना अहेतुक और अल्प ज्ञान का ही फल होने से तामस है। इस प्रकार की आराधना आदि का विषय परमार्थ नहीं अपितु जघन्यस्वार्थ ही होता है।

बहुत से लोग देह को ही ईश्वर या आत्मा समझते हैं और प्रतिमादि की आराधना करने से अभीष्ट कामनाओं की सिद्धि होती देखकर प्रतिमादि को ही ईश्वर मान लेते हैं और उससे अतिरिक्त ईश्वर है, इस बात पर उनकी दृष्टि नहीं जाती। उनको उत्तर देते हुए श्रीशंकरानन्द ने यहां लिखा है कि यदि शरीर ही आत्मा होता तो "मैंने स्वप्न देखा" यह ज्ञान कैसे होता। शरीर तो स्वप्न दर्शन काल में निश्चेष्ट पड़ा है, तब स्वप्न का द्रष्टा कौन है। तथा यदि शरीर ही आत्मा है तो शरीर के जला दिए जाने पर आत्मा को भी भस्म हुआ मानना होगा। ऐसा मत चार्वाक के अतिरिक्त और किसी दार्शनिक का नहीं है। सुतरां चार्वाक आदि भौतिकवादियों का ज्ञान तामस ज्ञान है, यही इस विवेचन से प्रतिफलित होता है।

इसी प्रकार यदि अभीष्ट कामनाओं के प्रदाता होने के कारण ही प्रतिमा आदि को ईश्वर मान लिया जाय तब तो ओषधियां और वनस्पतियां तथा अनेक वृक्ष जो रोग निवारण करके आरोग्यरूप अभीष्ट को देने वाले हैं वे सभी ईश्वर हो जायेंगे। इसलिए ईश्वर की व्यापक सत्ता की ओर दृष्टि रखना ही पारमार्थिक और तात्त्विक ज्ञान कहा जा सकता है, अल्प प्रदेश में ईश्वर को सीमित समझ बैठना तामस ज्ञान के अन्तर्गत ही आता है।

इस प्रकार ज्ञान के तीनों भेदों का विवरण यहाँ दिया गया। इनमें अनेक जन्मों में किया हुआ सात्त्विक यज्ञ यागादि से समुत्पन्न जो ज्ञान है वह सात्त्विक है, वह मोक्ष के लिए उपयोगी होता है, राजस ज्ञान स्वर्गादि के उपभोग कराने में सहायक होता है और तामस ज्ञान केवल मूढ़ पुरुषों के व्यवहार का परिचालक होता है, जिसका फल निरन्तर जन्ममरण प्रवाह में पड़े रहना ही होता है।

---

## छप्पनवां-पुष्प

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।२३।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।२४।।
अनुबन्धक्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।२५।।

"नियत, सङ्ग रहित, बिना रागद्वेष के, फल की इच्छा को छोड़कर किया हुआ कर्म सात्त्विक कहलाता है" (२३)

पहिले ज्ञान के गुणत्रय के भेद से तीन भेद कहे गए थे। अब कर्म के तीन भेद कहे जा रहे हैं। पहिले ज्ञान होता है, तभी कर्म बनता है, इसका पौर्वापर्य क्रम भी यहाँ समझ में आ जाता है। नियत का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने नित्य ही किया है, परन्तु लोकमान्य तिलक वर्णाश्रम लोक मर्यादादि के अनुसार अपने-अपने कर्मानुष्ठान को ही नियत मानते हैं। सङ्गरहित होना सात्विक कर्म के विषय में आवश्यक है। उस कर्म में रागद्वेष बुद्धि भी नहीं होनी चाहिए। अन्त में कर्ता के विषय में भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह फल की इच्छा बिना रक्खे कर्म का अनुष्ठान करे। यद्यपि आगे कर्त्ता के भी सात्विक आदि भेद कहे जा रहे हैं। वहाँ भी सात्विक कर्त्ता को फलाशा शून्य होना चाहिए। परन्तु कर्म का स्वरूप बिना कर्त्ता के बनता ही नहीं, इसलिए सात्विक कर्म में भी फलाशा रहित कर्त्ता का स्मरण आवश्यक हुआ। श्रीनीलकण्ठ "अफलप्रेप्सुना' की व्याख्या में 'फल' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं कि- "**फल्गु च लीयते चेति फलम्**" जो छोटा हो और लीन भी हो जाय उसे फल कहा जाता है, वह फल क्रिया से प्राप्त होता है और वह अनात्म वस्तु होती है। उक्त फल से अतिरिक्त कोई अफल या आत्मवस्तु कहते हैं जो कहीं से लाना नहीं पड़ता, जो परिपूर्ण और अविनाशी है उसी आत्म रूपी अफल की इच्छा रखने वाले को यहाँ 'अफलप्रेप्सू' कहा गया है। सात्विक कर्मानुष्ठान करने वाला आत्मा को ही चाहता है। इसी बात को उपनिषदों ने यह कहकर समझाया है कि ब्राह्मण लोग उसी आत्मतत्त्व को अध्ययन, यज्ञ, दान आदि सात्विक फलाशाशून्य कर्मों से प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। '**सङ्गरहितम्**' की व्याख्या करते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि अपने किए हुए कर्म का आत्मा पर कोई राजस सम्पर्क नहीं होना चाहिए। आवश्यक यज्ञादि

का अनुष्ठान करते हुए यह भाव मन में न आवे कि '''मैं एक बड़ा याज्ञिक हूँ', ''ऐसा यज्ञ मेरे अतिरिक्त और कौन कर सकता है।'' इस प्रकार का अहंकार राजस अहंकार है, उससे रहित होना ही संग रहित कर्म करने का तात्पर्य है। कर्तृत्व के अहंकार से सर्वथा शून्य तो कर्त्ता कभी अज्ञान दशा में हो नहीं सकता और अज्ञान दशा से ऊपर उठ जाने पर कर्म करने का अधिकार रहता नहीं यह अद्वैत सिद्धान्त में प्रसिद्ध ही है।

राजस कर्म का विवरण देते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि–

''कामनाओं की पूर्ति की अभिलाषा से अथवा अहंकार के साथ अधिक परिश्रम से साध्य जो कर्म किया जाता है वह राजस कर्म कहा जाता है।'' (२४) यहाँ भी ''कामेप्सुना'' और ''साहङ्कारेण'' ये दोनों कर्ता के ही विशेषण हैं। राजस कर्म वही है जो फल की अभिलाषा से किया जाय और जिसमें दम्भ या अहङ्कार भी सम्मिलित हो। ''मैं इतने महत्व के कार्यों को करने वाला हूँ' इत्यादि प्रकार से कर्त्ता के चित्त में कर्मानुष्ठान के समय अहंकार आ जाता है उसका कर्म के स्वरूप पर भी प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार फल की अभिलाषा से भी कर्म के स्वरूप में परिवर्तन आता है। इसीलिए कर्ता की विशेषता होते हुए भी इनका निवेश कर्म के विभाजन में आवश्यक होता है। श्रीशंकराचार्य ने यहाँ भी 'साहङ्कारेण' की व्याख्या में यह कहा है कि सर्वथा निरहंकारी जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं उनको तो कर्माधिकार प्राप्त ही नहीं है। अत: साहंकार का अर्थ यहां अपने महत्व का अभिमान ही लगाना होगा। वैसे तो सात्विक कर्म का कर्त्ता भी अनात्मवेत्ता होने के कारण साहंकार होता है, राजस और तामस कर्मों के कर्ता की तो बात ही क्या है। परन्तु लोक व्यवहार में अनात्मवेत्ता पुरुष को भी निरहङ्कार कह दिया जाता है।अमुक व्यक्ति को बिल्कुल अहङ्कार या अभिमान नहीं है ऐसा अनेक पुरुषों के लिए समझा जाता है। वही सात्विक कर्म का कर्ता है। उसकी अपेक्षा जिसे लोक में अहङ्कार वाला समझा जाय उसके द्वारा अनुष्ठित कर्म राजस होता है यह विभाग बन जाता है, अत: साहङ्कार शब्द को यहाँ पारमार्थिक दृष्टि से नहीं अपितु लौकिक दृष्टि से ही लगाना चाहिए। राजस कर्म के लिए तीसरी बात '**बहुलायासम्**' कही गई है। जो कर्म अधिक परिश्रम से साध्य हो वह राजस होता है। निष्काम भाव से जो यज्ञ तपस्या आदि किये जाते हैं वे भी बहुत परिश्रम से साध्य होते हैं तब वे भी राजस श्रेणी में ही आ जायंगे। फिर अधिक और कम परिश्रम तो सापेक्ष ही होगा, किसकी अपेक्षा अधिक यह अपेक्षा बनी ही रहेगी, अनेक अल्प परिश्रम से सम्पन्न होने वाले कर्म भी उससे कम परिश्रम में हो जाने वाले कर्म की अपेक्षा 'बहुलायास' ही

कहे जायंगे, तब इसका कोई निश्चय न हो सकेगा कि कौन कर्म बहुलायास हैं और कौन अल्पायास वाले हैं। इसका अन्तर यह है कि यहाँ यही अभिप्राय है कि जिन कर्मों के करने में बहुत सा व्यर्थ परिश्रम उठाना पड़े वे राजस होते हैं वे बहुलायास मात्र होते हैं। यहां बहुलायास के साथ मात्र शब्द को और जोड़ देने से संगति ठीक लग जाती है कि जो बहुलायास मात्र होते हैं जिनका कोई पारमार्थिक फल नहीं होता। श्रीरामानुजाचार्य ने लिखा है कि कर्त्ता को जिस कर्म के करने से यह अभिमान होता है कि बहुत अधिक परिश्रम से साध्य इस कार्य को मैं ही कर सकता हूँ, अन्य कोई नहीं वह राजस कर्म है। तामस कर्म का विवरण देते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि–

"परिणाम, शक्ति का अपव्यय, प्राणिपीडा और पौरुष की अपेक्षा को बिना किए जो कार्य मोह पूर्वक आरम्भ किया जाता है वह तामस कार्य कहलाता है" (२५)

कर्म के करने के अनन्तर उसके फल स्वरूप जो दुःख प्राप्त होता है, वह अनुबन्ध कहलाता है। अमुक कर्म करने पर मुझे बड़ा भारी कष्ट उठाना पड़ेगा, चोरी करने पर जेल जाना होगा, इत्यादि परिणाम की चिन्ता जिसमें नहीं रहती वह तामस कर्म कहा जाता है। ऐसे कर्म में शक्ति का जो अत्यधिक अपव्यय होता है वह तामस कर्म कहा जाता है। ऐसे कर्म में शक्ति का जो अत्यधिक अपव्यय होता है उसकी भी चिन्ता नहीं रहती। यदि हिंसा या हत्या भी करनी पड़े तो तामस कर्म में नियत पुरुष उसकी भी परवाह नहीं करता। पौरुष की अपेक्षा न करने का तात्पर्य है कि जो चार पुरुषार्थ हैं उनमें से किसी की भी सिद्धि उस कार्य से होती है या नहीं यह भी नहीं देखा जाता, स्पष्ट है कि ऐसे कार्य मूढ़ता वश ही किये जाते हैं अतः इन कार्यों को तामस कहा गया है।

उक्त कर्म विभाग में समस्त संसार में होने वाले कर्मों का समावेश हो जाता है। इनमें से सात्विक कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए और राजस और तामस कार्यों से बचना चाहिए यह निष्कर्ष पूर्व की भांति यहाँ भी प्रस्फुटित हो ही जाता है।

---

# सत्तावनवां-पुष्प

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युसाहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ।।२६।।
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।२७।।
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।२८।।

"संग से रहित, अहंवाद से शून्य धैर्य और उत्साह से युक्त, कार्य की सिद्धि और उसकी विफलता में समान दृष्टि रखने वाला कर्त्ता सात्विक होता है।" (२६)

यहाँ संग के परित्याग का अर्थ कर्म के फल की ओर दृष्टि न रखना ही है। सात्विक कर्त्ता की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह कर्तव्य के फल की ओर कर्म करते समय या उससे पहिले कभी दृष्टि न रक्खे। तब फल की ओर दृष्टि न रखने पर कर्म की ओर उसकी प्रवृत्ति ही कैसे होगी। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने से पहिले यह ज्ञान आवश्यक होता है कि यह कर्म मेरा अभीष्ट सिद्ध करने वाला है। इस ज्ञान के बिना तो किसी भी पुरुष की किसी भी कार्य में प्रवृत्ति ही नहीं होती। यदि इष्टसाधनता का ज्ञान उसे हो गया तब आप कह देंगे कि यह कर्त्ता तो सात्विक नहीं रहा, क्योंकि इसकी दृष्टि इष्टसाधनता रूपी फल की ओर पहिले ही चली गई। ऐसी स्थिति में सात्विक कर्त्ता बनना असम्भव ही हो जायगा। इसका उत्तर अनेक प्रकार से दिया जा सकता है। पहिली बात तो यही है कि यह परिभाषा सामान्य जनों के विषय कार्यों को दृष्टि में रखकर बनाई गई है। अनेक कार्य ऐसे भी होते हैं, जिनमें इष्टसाधनता का ज्ञान हुए बिना भी मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। अनेक महापुरुषों के ऐसे भी उदाहरण देखने को मिलते हैं कि वे अपने अनिष्ट करने वाले कार्य में भी लोकोपकार को दृष्टि में रखकर प्रवृत्त हो जाते हैं। तब यही कहना पड़ेगा कि यह नियम कुछ विशेष परिस्थितियों में ही दृष्टिगोचर हो सकता है। कर्म मात्र के विषय में सामान्य रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि परोपकार के लिए कष्ट सहन करने वाले व्यक्ति को भी तो परोपकार करना इष्ट ही है, उसके फलस्वरूप आत्मतुष्टि की प्राप्ति तो उसे होती ही है, तो इस पर यही कहना होगा कि आत्मतुष्टि रूप फल की कामना से बचने का यहाँ विधान नहीं है। यहाँ सांसारिक फलों से बचने का ही 'मुक्त सङ्ग' से आशय

लेना चाहिए। जिस व्यक्ति में सांसारिक फल की अभिलाषा होती है वह कर्तव्य कार्यों में प्रमाद करता है और अकर्तव्य निषिद्ध कार्यों का अनुष्ठान करने लगता है। उसी स्थिति से बचाने के लिए सात्विक कर्ता को यहाँ 'मुक्त सङ्ग' कहा गया है। सात्विक कर्ता की दूसरी विशेषता है उसका 'अहंवादी' न होना। यद्यपि मुक्तावस्था में पहुँचने के पूर्व उसका अहंकार सर्वथा विगलित नहीं हो सकता। परन्तु वह निमित्त मात्र के रूप में अहंकार का आश्रय लेता है, कार्य का प्रधान कारण तो वह परमेश्वर की इच्छा को ही मानता है। जैसा कि विगत एकादश अध्याय में भगवान् ने विश्व रूप दिखाकर अर्जुन से कहा था कि विपक्ष के योद्धागणों को तो मैं पहिले ही मार चुका हूँ–

**''निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्''**

''हे अर्जुन ! तुम तो इनके मारने में निमित्तमात्र बन जाओ।'' इस प्रकार की भावना से किसी भी कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्त होने पर उसके फलाफल का प्रभाव कर्त्ता पर स्वतः नहीं आता। किए हुए कार्यों पर से अपने अहंकार को मिटाने के लिए कर्त्ता को यह सोचना चाहिए कि यदि मैं इस कार्य को न करता तो भी यह कार्य अवश्य होता, भगवान् ने कृपा करके यह कार्य मुझसे ही करवा दिया। इस प्रकार का विचार करते रहने से कर्त्ता को 'अहंवाद' से छुट्टी मिल सकती है। सात्विक कर्ता की तीसरी विशेषता है उसका धृति अर्थात् धैर्य और उत्साह से समन्वित रहना। आगे चलकर भगवान् धैर्य के भी गुणानुसारी तीन भेद कहेंगे। उनमें जो सात्विक धैर्य है, उसी से सात्विक कर्ता को समन्वित होना चाहिए। धैर्य ही चित्त की वह अवस्था है जिससे किसी भी कार्य का स्वरूप पूर्ण हो सकता है। धैर्यवान् पुरुष आरम्भ किए हुए कार्य को कभी बीच में नहीं छोड़ता, चाहे उसे कितनी भी बड़ी विपत्ति का सामना क्यों न करना पड़े। उत्साह का भी कर्म सम्पादन में प्रमुख स्थान है। यदि उत्साह नहीं हुआ तो कर्म की प्रवृत्ति ही मनुष्य में नहीं होगी।

अन्तिम बात सात्विक कर्त्ता के विषय में कही गई है उसका सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार होना। कार्य की पूर्णरूपेण सम्पन्नता ही सिद्धि कही जाती है, और उसका पूर्णरूप से सम्पन्न न होना ही असिद्धि कही जाती है। जब कार्य के पूर्ण रूप से सम्पन्न होने में कोई बाधा आती है तो कर्ता का मन विचलित हो जाता है। अनेक लोग तो जरा बाधा उपस्थित होते ही अपने प्रारम्भ किए हुए कार्य का बीच में ही परित्याग कर देते हैं। भर्तृहरि ने नीतिशतक में इसी आशय का एक पद्य लिखा है–

**''प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः**
**प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।**

**विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना**
**प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ।।"**

अर्थात् नीच श्रेणी के लोग किसी भी महत्वपूर्ण कार्य को विघ्नों के आ जाने के भय से प्रारम्भ ही ही नहीं करते। द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति प्रारंभ कर देते हैं परन्तु मध्य में विघ्न के आते ही उस कार्य को अधूरा ही छोड़ बैठते हैं। उत्तम श्रेणी के व्यक्ति वे माने गए हैं जो कितने भी विकट विघ्नों के उपस्थित हो जाने पर भी प्रारम्भ किए हुए कार्य को कभी बीच में नहीं छोड़ते। किसी भी कार्य में विघ्न उपस्थित होना तो स्वभाव सिद्ध है। भगवान् ने स्वयं कहा है–

**"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः"**

सभी कार्यों के आरम्भ विघ्नरूपी दोषों से उसी प्रकार ढँके रहते हैं जिस प्रकार अग्नि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में धुएं से ढँक जाती है। परन्तु सात्विक कर्ता कार्य की सिद्धि और उसकी असिद्धि में अपने चित्त में कोई विकार नहीं आने देता। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि कार्य की असिद्धि में विकार न होना तो ठीक है, परन्तु कार्य की सिद्धि में तो विकार के उपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता, तब कार्य सिद्धि में निर्विकार कहने का क्या आशय है। उसका उत्तर स्पष्ट ही है कि कार्य की सिद्धि होने पर "यह कार्य मेरे द्वारा सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ, मैं बड़ा प्रवीण कार्य कर्ता हूँ", इस प्रकार के चित्त के विकार को अवकाश मिलता है। सात्विक कर्ता की बुद्धि में यह विकार नहीं आता। वह तो अपने को कार्य सिद्धि में निमित्त मात्र समझता है। श्रीशंकराचार्य ने लिखा है कि सात्विक कर्ता के कर्मानुष्ठान का उद्देश्य शास्त्र की आज्ञाओं का पालन मात्र होता है। कार्य की सिद्धि और असिद्धि से उसे कोई मतलब नहीं होता।

आगे राजस कर्ता का विवरण करते हुए भगवान् कहते हैं–

"रागी, कर्म के फल को प्राप्त करने की कामना रखने वाला, लोभी, हिंसा का आचरण करने वाला, अपवित्र, हर्ष और शोक का अनुभव करने वाला कर्ता राजस कहा गया है"' (२७)

सात्विक कर्ता को 'मुक्त सङ्ग' कहा गया था, परन्तु राजस कर्ता फल में अनुराग रखता है। बिना फल की कामना के उसका कोई कार्य नहीं होता। प्रत्येक कार्य का अनुष्ठान करने से पूर्व वह यह अच्छी तरह से जान लेना चाहता है कि इस कार्य का फल क्या होगा, इससे क्या फायदा होगा, उसका फल के विषय में उत्कट अनुराग

ही यहाँ 'रागी' का तात्पर्य है। उसका विषय भोग आदि सांसारिक फलों की ओर ही विशेष ध्यान रखता है। अतः वह आत्मचिन्तन आदि शुभ कर्मों में प्रवृत्ति नहीं रखता क्योंकि उनका लौकिक फल उसे दिखाई नहीं देता। दूसरी बात उसके विषय में '**कर्मफलप्रेप्सुः**' कही गई है। जब वह किसी कार्य के प्रारंभ में ही उसके फल की ओर इतना अधिक राग रखता है तो स्वभावतः कर्म के उपरान्त उसके फल को प्राप्त करने की भी उसकी इच्छा बलवती हो जाती है। वह लुब्ध भी हो जाता है। मेरे अमुक कर्म का फल केवल मुझे ही मिले जिससे मैं उसका अधिक से अधिक उपभोग कर सकूँ, यह लोभ उसके मन में आ जाता है। इससे उसकी उदार वृत्ति नष्ट हो जाती है और संकुचित बुद्धि वाला होता हुआ स्वार्थी बन जाता है। चौथी बात उसके लिए भगवान् ने कही है कि वह 'हिंसात्मक' होता है। हिंसा भी एक कर्म ही है। राजस कर्ता अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए हिंसा का भी आश्रय लेता है, प्रारम्भ में उसे रागी कह दिया गया उसी से उसमें द्वेष का भी अस्तित्व सिद्ध हो गया। द्वेष ही हिंसा है। जिस वस्तु में उसे राग होता है, उसकी प्राप्ति में जो प्रतिबन्धक होते हैं उनसे उसका द्वेष भी होता है। उन प्रतिबन्धकों को मार्ग से हटाने का प्रयत्न करना ही हिंसा है। बहुधा ऐसे पुरुषों की अभिलाषाएं अनुचित और दुस्साध्य हुआ करती हैं,उनमें प्रतिबन्धक भरे रहते हैं और उन प्रतिबन्धों को हटाते-हटाते वह इतनी अधिक हिंसा करने लगता है कि उसका स्वरूप ही हिंसा से भर जाता है। इसीलिए भगवान् ने उसे "**हिंसात्मकः**" कहा है; अर्थात् उसकी आत्मा या स्वरूप ही हिंसामय हो जाता है। हिंसा के आश्रय लेने के कारण ही उसमें अपवित्रता आ जाने से वह अशुचि अर्थात् अपवित्र ही बना रहता है। जब उसे अपने प्रयत्नों से अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तब वह अत्यधिक हर्षित हो जाता है, और जब उसका प्रयत्न विफल हो जाता है, प्रयत्न करने पर भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती तो वह शोक से भर जाता है। इस प्रकार का कर्ता राजस कहा जाता है।

आगे तामस कर्ता का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं-

"असावधान, अल्पबुद्धि वाला, स्तब्ध, धूर्त, दूसरे को हानि पहुँचाने वाला, आलसी, अप्रसन्न रहने वाला, कार्य को अधिक समय में करने वाला कर्ता तामस कर्ता कहा जाता है।"' (२८)

अयुक्त का अर्थ करते हुए व्याख्याकारों ने कहा है कि तामस कर्ता की चित्त वृत्ति के निकृष्ट विषय में निरन्तर फँसे रहने के कारण वह शास्त्रीय कर्मों का अधिकार खो बैठता है। वह शास्त्रीय कार्यों के लिए अयोग्य हो जाता है। लोकमान्य तिलक ने

अयुक्त का अर्थ चञ्चल बुद्धि वाला किया है। अत्यन्त विषयासक्त होने से उसकी बुद्धि की स्थिरता समाप्त हो जाती है। प्राकृत का अर्थ लोकमान्य तिलक ने असभ्य किया है। यथा जात को ही प्राकृत कहा जाता है। दूसरी व्याख्याओं में प्राकृत का अर्थ कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से शून्य, अत्यल्प बुद्धि वाला आदि किये गए हैं, तात्पर्य एक ही है। स्तब्ध का अर्थ करते हुए श्रीशंकराचार्य ने लिखा है कि वह काष्ठ के दण्ड के समान किसी के सामने झुकता नहीं, श्रीरामानुजाचार्य ने लिखा है कि वह किसी भी शुभकाम का आरम्भ नहीं करता। लोकमान्य ने स्तब्ध का अर्थ गर्व से फूलने वाला किया है। नैष्कृतिक का अर्थ है दूसरे के हित का विघातक होना, उपर्युक्त तीन प्रकार के कर्ताओं से सात्विक कर्ता ही सर्वोत्कृष्ट है, वह कर्त्तव्य बुद्धि से शास्त्रीय आज्ञाओं का पालन और सत्कर्मों का अनुष्ठान करता रहता है। आगे बुद्धि के भेदों का विवरण होगा।

# अट्ठावनवां-पुष्प

**बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।**
**प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ! ।।२९।।**
**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।**
**बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ! सात्विकी ।।३०।।**
**यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।**
**अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ।।३१।।**
**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।**
**सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ।।३२।।**

"हे धनञ्जय ! अब तुम मेरे द्वारा सम्पूर्ण रूप से पृथक्-पृथक् कहे जा रहे, बुद्धि और धृति के गुणों के अनुसार होने वाले तीन-तीन भेदों को सुनो।" (२९)

कर्ता के तीन भेदों का विवरण पूर्व प्रवचन में आ चुका है। सांसारिक व्यवहार परिचालन में बुद्धि का ही व्यापार मुख्य होता है, अतः भगवान् ने बुद्धि का भेद भी बतलाने की कृपा की। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि अर्जुन ने सत्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में 'जो शास्त्र विधि को बिना जाने भी शुभकार्य करते हैं उनकी क्या निष्ठा होती है, यही प्रश्न किया था। मूल प्रश्न वही है। सांसारिक गुणत्रय का विवेचन वहीं से भगवान् ने कहना प्रारम्भ किया है। श्रद्धा और त्याग का गुणानुसारी भेद वहीं भगवान् ने कहकर त्याग के स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करके उसकी इतिकर्त्तव्यता का भी संकेत कर दिया। त्याग के ही विवरण प्रसङ्ग में अर्जुन ने त्याग और संन्यास का तत्त्व जानने के लिए प्रश्न कर दिया और भगवान् ने उसका उत्तर देते हुए संन्यास और त्याग का स्वरूप और उनकी मर्यादा कह दी। प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भिक प्रवचनों में उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अर्जुन के अवान्तर प्रश्न का उत्तर हो जाने पर भगवान् ने पुनः असमाप्त उसी गुणगणानुसारी विवेचन को उठाया। श्रद्धापूर्वक किए गए सभी कार्य सुन्दर और कल्याणकारी ही होंगे इस भ्रम को भगवान् ने श्रद्धा को त्रिगुणवती दिखाकर दूर कर दिया। सात्विकी शास्त्रानुगामिनी श्रद्धा ही फलवती होती है, उसी का अनुमोदन किया जा सकता है, राजसी और तामसी श्रद्धा श्रेयोमार्ग के लिए कथमपि अभीष्ट नहीं होती। इसी प्रकार त्याग को भी सर्वथा पवित्र समझना भ्रम पूर्ण है। सात्विक त्याग ही ग्राह्य और करणीय है, राजस और तामस

त्याग हेय हैं, यह भी स्पष्ट हो गया। श्रद्धा और त्याग का इस प्रकार त्रैविध्य बतलाकर फिर भगवान् ने ज्ञान, कर्म और कर्ता का त्रैविध्य अष्टादश अध्याय के १९वें श्लोक से बतलाना आरम्भ किया। यहाँ यह प्रश्न स्वतः ही उपस्थित हो जाता है कि अर्जुन का सप्तदश अध्याय के आरम्भ में प्रश्न तो केवल इतना ही था कि शास्त्र विधि को बिना जाने भी जो व्यक्ति श्रद्धा से कर्मानुष्ठान करते हैं उनकी स्थिति सत्व रज और तम में से किसमें है। उस प्रश्न का तो श्रद्धा के त्रैविद्ध्य कथन से ही उत्तर हो गया। उससे अर्जुन यह समझ गया कि श्रद्धा भी तीन प्रकार की है, जिस प्रकार की श्रद्धा से जो कार्य करने में प्रवृत्त होगा उसकी स्थिति उसी गुण में मानी जानी चाहिए। उसके आगे फिर भगवान् ने ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख के विविध विभागों का कथन क्यों किया। यों तो संसार के सभी पदार्थ तीन गुणों की सीमा में ही आते हैं, यदि सभी का परिगणन करना हो तो वह एक असम्भव बात होगी, जैसा कि भगवान् ने आगे उपक्रम भी नहीं किया। सुख के त्रैविध्य को कहकर इस बात का उपसंहार कर दिया। परन्तु फिर भी तो यह प्रश्न रह ही जाता है कि आखिर श्रद्धा के अतिरिक्त त्याग, ज्ञान आदि का त्रैविध्य कहने की भी यहाँ भगवान् को क्या आवश्यकता हुई। उसका उत्तर यह है कि अर्जुन के प्रश्न का आशय यही था कि शास्त्र को बिना जाने भी हमें अनेक बातों के बल पर यह भरोसा रहता है कि हम ठीक मार्ग पर चल रहे हैं और युक्ति और आत्मविश्वास से प्रेरित होकर हम यह समझ बैठते हैं कि हमें सत्कर्मानुष्ठान के लिए शास्त्र ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। बिना उसके भी हम श्रेयोमार्ग का आश्रय लेकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यह भरोसा जिन बातों के बल पर हमें प्राप्त होता है, उनमें प्रधान स्थान श्रद्धा का है। उसी के लिए अर्जुन ने प्रश्न भी किया। अपनी श्रद्धा के बल पर हम बहुधा शास्त्र की अवहेलना करते हैं और यह समझते हैं कि यदि हममें श्रद्धा है तो हमें उसके अनुसार कार्य करते रहना चाहिए। उससे बिना शास्त्र ज्ञान के भी हम अवश्य मोक्ष या परम पुरुषार्थ के अधिकारी बन जायेंगे। श्रद्धा के उपरान्त फिर त्याग के बल पर हमें शास्त्रों की अवहेलना करने का अवसर मिलता है। दान आदि भी उसी के अङ्ग हैं। शास्त्र के प्रतिकूल आचरण करने वाले व्यक्ति भी बहुधा ऐसा सोचते हैं कि त्याग, दान आदि से हमें लोकप्रतिष्ठा और सद्गति दोनों प्राप्त हो सकते हैं। उसके उपरान्त ज्ञान का स्थान आता है। बहुत से व्यक्ति अपने ज्ञान के बल पर शास्त्रीय आज्ञाओं की अवहेलना करते हैं और यह समझते हैं कि ज्ञान से बढ़कर संसार में कोई बात नहीं हो सकती और ज्ञान हो जाने पर शास्त्रीय विधिनिषेधों का पालन करने की अनिवार्यता नहीं रह जाती। कुछ लोगों को यह भी विश्वास हो जाता है कि अच्छे-अच्छे कार्य हमेशा करते रहना चाहिए उसी से सद्गति मिलती है।

बहुत से लोगों को अपने कर्त्तृत्व का ही बड़ा बल मालूम होता है। जब मैं अमुक-अमुक कार्यों का कर्ता हूँ तो मेरी अधोगति क्यों होगी, यह बात उनके मन में रहनी चाहिए। इसके बाद बुद्धि का क्रम आता है। कुछ लोगों का यही विश्वास होता है कि सभी कार्य बुद्धि के अनुसार करते रहने से श्रेयोगति अवश्य होगी। हम चाहे कुछ भी करें, परन्तु हमारी बुद्धि शुद्ध रहनी चाहिए तो हमें अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होगी। इसके आगे कुछ लोग जीवन में धृति या संयम को ही सब कुछ मानते हैं, और अन्ततः कुछ लोगों का सुख प्राप्त करने में ही बड़ा बल रहता है कि जब हम सुखों का उपभोग कर रहे हैं तब हमें श्रेय की प्राप्ति क्यों नहीं होगी। इन्हीं सब शक्तियों के आधार पर शास्त्र विधि का परित्याग विचारक लोग भी कर दिया करते हैं औरों की तो बात ही क्या। उन्हीं सबका भगवान् ने क्रमशः निराकरण करते हुए तीनों गुणों के योग से उनको तीन-तीन प्रकार का दिखाकर यह सिद्ध कर दिया कि इन सबके सात्विक भेद ही श्रेयोमार्ग की ओर ले जाने वाले होते हैं, राजस और तामस भेदों का आश्रय लेने वाला पुरुष लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। आगे सात्विकी बुद्धि का स्वरूप दिखाते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष का सम्यक् ज्ञान रखती है, वह बुद्धि सात्विकी बुद्धि होती है" (३०)

कर्म मार्ग को यहाँ प्रवृत्ति शब्द से और मोक्ष मार्ग को निवृत्ति शब्द से कहा है, ऐसा श्रीशंकराचार्य आदि आचार्यों का आशय है। निवृत्ति को श्रीशंकराचार्य ने संन्यास मार्ग कहा है। कार्य और अकार्य का तात्पर्य शास्त्रविहित कर्मों का करणीय रूप से ज्ञान और शास्त्र के द्वारा निषिद्ध कर्मों का वर्जनीय रूप से ज्ञान है। शास्त्रविहित कर्म दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन वाले होते हैं, उनमें भी देश, काल, पात्र आदि का विचार किया जाता है। सात्विक बुद्धि में इन सभी बातों को जानने की शक्ति होती है। भय और अभय का ज्ञान भी सात्विक बुद्धि में ही प्रतिफलित होता है। सात्विक बुद्धि ही संसार बन्धन के और मोक्ष के स्वरूप को जानने में समर्थ हो सकती है। साथ ही सात्विक बुद्धि में सांसारिक बन्धन और मोक्ष के कारणों को भी जानने की शक्ति रहती है। आगे राजसी बुद्धि का विवेचन करते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"धर्म, अधर्म तथा कार्य, अकार्य को जिससे समझने वाला पुरुष विपरीत रूप से समझने लगता है वह बुद्धि राजसी कही जाती है" (३१)

राजसी बुद्धि के द्वारा धर्म अधर्म तथा कार्य अकार्य के विषय में जो निर्णय किया जाता है, वह विपरीत होता है। राजसी बुद्धि से हम जिसे धर्म समझते हैं, वह

वस्तुतः अधर्म होता है। मनुष्य राजसी बुद्धि के प्रभाव से हो अधर्म को भी धर्म समझ बैठता है। इसी प्रकार राजसी बुद्धि जिसे अधर्म समझती है, वह वस्तुतः धर्म होता है। यही बात कार्य तथा अकार्य के साथ है। जिसे राजसी बुद्धि कर्त्तव्य के रूप में बोधन करती है वह वस्तुतः कर्त्तव्य की सीमा से पृथक् होता है और जिसे न करने को राजसी बुद्धि समझती है, वह कर्त्तव्य की सीमा में होता है। श्रीनीलकण्ठ ने यहाँ 'अयथावत्' का अर्थ 'सन्दिग्ध रूप' से किया है। अर्थात् राजसी बुद्धि के धर्म, अधर्म तथा कार्य अकार्य के विषय में किए गए निर्णय सर्वदा सन्दिग्ध ही रहते हैं। राजसी बुद्धि के मनुष्यों को अपने ज्ञान तथा कार्यों के विषय में सर्वदा सन्देह ही बना रहता है कि हमारा यह ज्ञान समीचीन है अथवा नहीं, अथवा हमारे द्वारा किया गया यह कार्य उचित है या नहीं।

आगे तामसी बुद्धि का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"जो बुद्धि अधर्म को धर्म समझती है, जो तमोगुण से आवृत होती है, जिससे सभी बातें विपरीत ही दिखलाई दिया करती हैं, हे पार्थ ! वही बुद्धि तामसी बुद्धि है" (३२)

तम से आवृत रहने वाली बुद्धि तामसी होती है। तम का विवरण करते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि किसी भी पदार्थ की विशेषता को समझाने में जो प्रतिबन्ध आता है उसे ही तम कहते हैं। इस प्रकार के प्रतिबन्ध से युक्त जो बुद्धि होती है उसमें किसी भी पदार्थ की भेदक विशेषता का आभास नहीं होता। जब तक हम किसी भी पदार्थ की अन्य पदार्थों से भेदक विशेषता को न समझें तब तक उस पदार्थ का यथार्थ रूप क्या है यही हम नहीं जान सकते। हम उसकी आपाततः प्रतीत होने वाली विशेषता से ही उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न करते हैं जिससे उस वस्तु के विपरीत गुण धर्म ही हमारे ध्यान में आ सकते हैं। इसी के फल स्वरूप तामसी बुद्धि वाले मनुष्य अधर्म को धर्म समझ बैठते हैं, तथा अन्य सभी पदार्थों को विपरीत ही समझते हैं।

जो सज्जन बुद्धिवाद के बल पर ही समस्त व्यवहारों का सञ्चालन करने की सलाह देते हैं और शास्त्रों के ज्ञान को एक तरफ रख देने का उपदेश देने का साहस करते हैं, उनको बुद्धि के भेदों के गीता के इस प्रकरण का विशेष मनन करना चाहिए। आज प्रायः लोगों की यह धारणा देखने में आती है कि अच्छे और बुरे की पहिचान के लिए हमें भगवान् ने बुद्धि दी है। हमें अपनी बुद्धि से ही सब कुछ निर्णय लेना चाहिए, व्यर्थ ही शास्त्रों के आधारके अन्वेषण का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इस

प्रकार के विचार रखने वाले सज्जनों से हमारा यही कहना है कि शास्त्रों को अपने व्यवहारों में प्रमाण रूप मानने का परिश्रम हमारे प्राचीन आचार्यों ने व्यर्थ ही नहीं उठाया था। जो लोग शास्त्रानुसार आचरण करते हैं उन्हें अपने क्रिया कलाप में कोई श्रम न करना पड़ता हो, ऐसी बात नहीं है। परन्तु फिर भी अपनी बुद्धि के अनुसार न चलकर शास्त्रों में नियत की गई मर्यादाओं का पालन करने का भार स्वीकार करने में यही रहस्य है कि यदि हमने पूरे व्यवहार संचालन का भार अपनी बुद्धि पर ही छोड़ दिया तो हमारी बुद्धि रजोगुण और तमोगुण की ओर हमें घसीट ले जायगी और हम न तो ऐहलौकिक उन्नति ही संपादित कर सकेंगे और पारलोकिक दृष्टि के नष्ट हो जाने से पारलौकिक उन्नति तो हमसे बहुत दूर चली जायगी। हमें अपनी बुद्धि को सात्विक बनाने के लिए शास्त्रानुसार ही आचरण करना पड़ेगा। शास्त्रानुगामिनी बुद्धि ही सात्विक कहलाती है। इसीलिए भगवान् ने कार्य और अकार्य के निर्णय में पहिले ही शास्त्र को प्रमाण मानने के सिद्धान्त का विस्पष्ट रूप से प्रतिपादन कर दिया है।

लोकमान्य तिलक ने यहाँ पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा सत् और असत् कार्य के निर्णय के लिए जो एक देवता की कल्पना की है उसका उत्तर देते हुए लिखा है कि वह कोई पृथक् देवता नहीं अपितु सात्विक बुद्धि ही है। आगे धृति और सुख के भेद कहे जाते हैं।

# उनसठवाँ-पुष्प

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ।।३३।।
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ! ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ।।३४।।
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ।।३५।।

"हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं का मनुष्य योग से धारण करता है वह धृति सात्त्विक कही जाती है" (३३)

श्रीशंकराचार्य का यहां यह आशय है कि धृति का कार्य है रोकना। सात्त्विक धृति से मनुष्य अपने मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को उन्मार्ग में जाने से अथवा शास्त्र विरुद्ध आचरण से रोकता है। वह धृति अव्यभिचारिणी होनी चाहिए, अर्थात् इधर-उधर डिगने वाली न होनी चाहिए। अव्यभिचारिणी का अर्थ कुछ व्याख्याओं में समाधियुक्ता भी किया गया है। समाधि ही धृति की परम अवस्था है। मन, प्राण और शारीरिक व्यापारों का जो धारण धृति के द्वारा होता है वह योग के द्वारा होता है। योग का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने समाधि किया है। श्रीरामानुजाचार्य ने योग का अर्थ मोक्ष साधन का उपायभूत भगवदाराधन 'योगेन' शब्द से लिया है और योग को ही इस धृति के द्वारा क्रियाओं के धारण का प्रयोजन कहा है। श्रीनीलकण्ठ ने चित्त वृत्ति के निरोध को ही योग कहा है, जो कि योग का लक्षण है। वस्तुतः योग शब्द के साथ तृतीया विभक्ति के श्रुत होने से यही अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है कि योग यहाँ धृति का साधन ही है। योग दर्शन में योग को या समाधि को परम प्रयोजन ही माना जाता है। आलम्बन के लिए वहाँ ईश्वर को स्वीकार कर लिया जाता है। परन्तु गीता का तो स्पष्ट सिद्धान्त है कि परमलक्ष्य तो ब्रह्म साक्षात्कार ही है। अतः यहाँ योग को साधन के रूप में स्वीकार करना ही युक्तियुक्त है।

लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि धृति का अर्थ 'धैर्य' होता है, परन्तु यहाँ शारीरिक धैर्य से तात्पर्य नहीं अपितु मानसिक धैर्य से तात्पर्य है। मन का दृढ़ निश्चय ही यहाँ धृति शब्द का अर्थ है। मन और बुद्धि ये दो पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। बुद्धि का कार्य है निश्चय करना, परन्तु बुद्धि के द्वारा किए गए निश्चय यदि स्थिर न हों, उनकी

स्थिति यदि कहीं न हो तो वे बुद्धि के निश्चय किसी काम के नहीं होते। अनेक पुरुष इस प्रकार के देखने में आते हैं, जिनकी बुद्धि तो बड़ी प्रखर होती है, उनके निर्णय भी बिल्कुल ठीक उतरते हैं, परन्तु उनके द्वारा किए हुए कार्य उनकी बुद्धि के निर्णय के अनुकूल नहीं होते। इसका कारण यही है कि बुद्धि के सात्विक होने पर भी उनकी धृति सात्विक नहीं होती। सात्विक धृति में योग की उपादेयता बतलाते हुए लोकमान्य तिलक कहते हैं कि अव्यभिचारी या इधर-उधर न जाने वाले धैर्य के बल पर मन, प्राण और इन्द्रियों के क्रिया कलापों को आधारित करना चाहिए। साथ ही यह भी बतलाना आवश्यक हो जाता है कि वे क्रियाकलाप होते किस पर हैं, दूसरे शब्दों में उन क्रियाओं का कर्म कौन है। उसी कर्म को यहाँ भगवान् ने योग शब्द से कहा है। लोकमान्य तिलक ने योग शब्द का अर्थ किया है 'कर्मफल त्याग'। उनका कथन है कि योग का अर्थ केवल 'एकाग्रचित्त' कर देने से काम नहीं चलता, अपितु जैसे सात्विक कर्त्ता का परिचय देते समय फल की आसक्ति छोड़ने को ही उसका प्रधान गुण कहा गया था, उसी प्रकार सात्विक धृति के लक्षण में भी फल की आसक्ति छोड़ने का कथन करना आवश्यक है, वही यहाँ योग शब्द से भगवान् ने कहा है। राजसी धृति का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"हे अर्जुन ! अवसर आने पर फल की आङ्क्षा से प्रेरित होकर मनुष्य जिससे धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है, वही राजसी धृति है" (३४)

लोकमान्य तिलक ने विगत पद्य के 'योगेन' पद पर जो बात कही थी, हमारी दृष्टि में उसका समाधान यहाँ के प्रसङ्गेन' पद से हो जाता है। वहाँ यह कहा गया था कि वह धृति सात्विक होती है जो अव्यभिचारिणी अर्थात् अविचलित ही होती हुई मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को योग से धारण करें। विगत पद्य में धर्म, अर्थ, काम का नाम ग्रहण नहीं किया है, परन्तु यहाँ के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ भी धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धिनी मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं से ही तात्पर्य है। विशेषता केवल यही है कि वहाँ धृति को अव्यभिचारिणी कहा है और यहाँ कर्त्ता के लिए फलाकांक्षी कहा है। सात्विक धृति धर्मादि क्रियाओं को अव्यभिचरित अर्थात् नियत रूप से धारण करती है और राजसी धृति फलाकांक्षी होने पर धर्मादि को धारण करती है। सात्विक धृति नियम से धारण करती है अर्थात् सात्विक धृति कभी धर्मादि क्रियाओं को छोड़ती नहीं, परन्तु राजसी धृति प्रसङ्ग आने पर ही धर्मादि को धारण करती है। जो सात्विक धृति वाले होते हैं, वे कितनी ही आपत्ति आने पर भी धर्मादि क्रियाओं से अणुमात्र भी विचलित नहीं होते, परन्तु राजस धृति वाले धार्मिक आदि कृत्यों का

नियमित रूप से अनुष्ठान करना छोड़ते हैं। केवल विशेष प्रसङ्ग या अवसर आने पर धार्मिक आदि कृत्यों का अनुष्ठान कर लेते हैं।

तामसी धृति का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं–

"तामसी धृति वह है जिसके वशीभूत होकर तामसी बुद्धि वाला पुरुष निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद को नहीं छोड़ता" (३५)

तामसी धृति के उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि वह धैर्य का अत्यन्त विगर्हित रूप है। निद्रा में लिप्त रहने वाला पुरुष जाग्रत अवस्था में भी निद्रित के समान ही आचरण करता है। तामसी धृति उसे सर्वदा आशंकाओं से युक्त रखती है, अत: वह सर्वदा अनेक प्रकार के भयों से आक्रान्त रहता है। वह धृति कभी उस पर से भय की छाया हटने नहीं देती। एक भय हटते ही दूसरा भय उस पर सवार हो जाता है। भय के ही फल स्वरूप उसका चित्त विषाद से आकुल रहता है। वह मद से भी सर्वथा मत्त रहता है। अनेक प्रकार के मादक द्रव्यों का सेवन वह करने लगता है। तामसी धृति के इस विवरण को देखकर इससे सर्वथा बचने की प्रेरणा भगवान् ने दी है यह स्पष्ट है। मन के धर्म धृति का गुणानुसारी विवेचन करके और सात्विक धृति के ही प्राप्त करने योग्य होने को अभिव्यञ्जित करके आगे भगवान् सुख को भी तीन प्रकार का बतलाते हैं।

# साठवां-पुष्प

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ! ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।३६।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।३७।।
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।३८।।
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालयस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।३९।।
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।४०।।

"हे भरत श्रेष्ठ ! अब मुझसे तीन प्रकार के सुख का विवरण सुनो, जिसमें मनुष्य अभ्यास वश रमण करता है और दुःख का अन्त प्राप्त कर लेता है।" (३६)

प्रस्तुत पद्य की अवतरणिका में व्याख्याकारों ने लिखा है कि अब तक क्रिया और कारकों का गुणों के अनुसार भेद कथन भगवान् ने किया। अब इनका जो फल है, वह सुख ही है। अतः सुख का भी गुणों के अनुसार त्रिविध वर्गीकरण करते हुए उसका स्वरूप निर्देश भगवान् करते हैं। सुख के स्वरूप कथन के उपक्रम रूप प्रस्तुत पद्य में–

**'अभ्यासाद्रमते'**

का अर्थ है कि मनुष्य सुख में अभ्यास वश आनन्द प्राप्त करता है। अभ्यास का अर्थ है बार-बार उसका अनुभव करना। सुख का एक बार ही यदि अनुभव हो और उसके उपरान्त सुख का अनुभव यदि बन्द हो जाय तो ऐसे अल्प सुख के लिए मनुष्यों की इतने संरम्भ से प्रवृत्ति न हो। सुख का प्रमुख आकर्षण इसी बात में होता है कि वह बार-बार कारण सामग्री उपस्थित रहने पर प्राप्त होता रहता है। सुख की दूसरी विशेषता है कि मनुष्य सुख का अनुभव करता हुआ ही दुःख के अन्त को प्राप्त करता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इस पद्य में तो सुख के सामान्य परिचय में ही यह कहा जा रहा है, ऐसा मानना होगा। तब राजस और तामस सुख प्राप्त करता

हुआ भी मनुष्य दुःख के अन्त को कैसे प्राप्त करेगा। सात्विक सुख के विषय में ही केवल यदि यह कहा जाय तब तो ठीक हो सकता है। परन्तु अवतरणिका के इस पद्य में तो सुख के सामान्य रूप का ही परिचय मानना होगा। सात्विक सुख का विशेष विवरण तो अग्रिम पद्य में किया जायगा। तब सभी प्रकार के सुख से दुःख का अन्त मनुष्य कैसे प्राप्त कर लेगा। राजस और तामस सुख तो दुःख का अन्त कर देने वाले होंगे नहीं।

श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि ने "दुःखान्तं च निगच्छति" का अर्थ करते हुए लिखा है कि समाधि में होने वाला सुख ही वह सुख है जिसमें अभ्यास करते करते मनुष्य रम जाता है और सांसारिक दुःखों से छूट जाता है। समाधि सुख सात्विक सुख ही है। तब इस कथन की संगति इसी प्रकार लगानी होगी कि यहाँ यद्यपि भगवान् ने सामान्य रूप से ही सुख का परिचय दिया। परन्तु जिस प्रकार पहिले कहे गए विवेचनों में सात्विक भेद ही उपादेय हैं, राजस और तामस हेय होते हैं, उसी प्रकार यहां भी सात्विक सुख जो समाधि सुख आदि के रूपों में अनुभूत होता है वही श्रेष्ठ और उपादेय है। राजस और तामस सुखभेद पूर्ववत् ही हेयता दिखलाने के लिए ही कहे गए हैं, इसमें तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

श्रीनीलकण्ठ ने सुख सामान्य पर भी इसे इस प्रकार लगाया है कि व्यवहार दशा में जब मनुष्य पुत्रमरणादि के अवसर पर परम दुःख से आकुल हो उठता है, उस समय अभ्यास वश पुनः जिन बातों में उसे सुख प्राप्त हुआ करता है, उससे तात्कालिक दुःख का उपशम हो जाता है। उस सुख का ही आश्रय लेकर मनुष्य बड़ा से बड़ा दुःख भी कालान्तर में भुला देता है। यदि ऐसा न होता तो यह संसार तो दुःखों से भरा है, उन दुःखों से दबा रहने के कारण मनुष्यों का अनेक वर्षों तक जीवित रहना ही कठिन हो जाता है। परन्तु जैसे संसार में दुःख ही दुःख भरा है, वैसे ही उसके साथ सुख भी सर्वत्र विद्यमान् है। उस सुख के ही आधार पर मनुष्य बड़े से भी बड़े दुःख के आघात को सहन कर जाता है और शनैः शनैः उस दुःख के अन्त को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार राजस और तामस दुःख पक्ष में श्लोक को लगाकर फिर श्रीनीलकण्ठ ने सात्विक सुख की ओर भी इस पद्य को पूर्व क्रम से लगा दिया है। आगे सात्विक सुख का विवरण करते हुए भगवान् कहते हैं–

"अपनी बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होने वाला वह सुख सात्विक सुख माना गया है जो आगे तो विष के समान प्रतीत होता हो परन्तु परिणाम में अमृत के समान हो" (३७)

श्रीशंकराचार्य ने इसका विवरण करते हुए लिखा है कि ज्ञान, वैराग्य, ध्यान तथा समाधि के आरम्भ में अत्यन्त परिश्रम होने के कारण विष के समान वह कठोर प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में ज्ञान, वैराज्ञ आदि की प्राप्ति होने पर वह अनुभव सर्वथा विपरीत स्थिति में पहुँचकर अमृत के समान मधुर हो जाता है। उसे ही सात्विक सुख की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः सुख और दुःख अंधकार और प्रकाश की भांति सर्वदा सम्बद्ध रहते हैं। भेद इतना ही होता है कि कभी आरम्भ में ही अत्यधिक सुख प्राप्त हो जाता है और अन्त में दुःख ही दुःख शेष रह जाता है, जैसा कि आगे तामस दुःख के स्वरूप विवरण में भगवान् कहेंगे और कहीं प्रारम्भ में ही अत्यधिक विष के समान अप्रिय दुःख की अनुभूति हो जाती है, परन्तु अन्त में फिर सुख ही सुख अवशिष्ट रह जाता है, जिसकी उपमा यहां अमृत से दी गई है। परन्तु सुख दुःख से सर्वदा अनुगत रहता है और दुःख सुख से अनुगत रहता है। मनुष्य को सात्विक सुख प्राप्त करने की चेष्टा में निरत रहना चाहिए। अर्थात् शास्त्रों के उपदेशों के पालन में निरत रहना चाहिए। शास्त्रों के उपदेशों के परिपालन में प्रारम्भ में तो महान् कष्ट उठाना पड़ेगा, परन्तु अन्त में सुख ही सुख अवशिष्ट रह जाता है। यहाँ सुख के परिचय में भगवान् ने अलंकारिक शैली का आश्रय लिया है। उपमा देते हुए उन्होंने सात्विक सुख के स्वरूप को समझाया है। उपमा उसी वस्तु की दी जाती है, जिसको सभी लोग, विशेष कर जिसको सम्बोधन करके कहा जा रहा हो, वह अवश्य जानता हो, अपनी जानी पहचानी वस्तु की समानता की कल्पना करके बिना जानी हुई वस्तु का भी आंशिक परिचय मिल जाया करता है। यदि किसी व्यक्ति ने 'गवय' नाम का पशु नहीं देखा तो उसे समझाने के लिए कह दिया जाता है कि 'गवय' पशु गाय के समान ही होता है। गाय को उसने प्रत्यक्ष देखा है। उसी के गुण धर्मों की कल्पना वह गवय में भी कर लेता है। यहाँ जो भगवान् ने विष तथा अमृत का प्रत्यक्ष अनुभव अर्जुन को तो है नहीं; क्योंकि विष का प्रत्यक्ष अनुभव करने के उपरान्त तो मृत्यु हो जाती है, और अमृत का प्रत्यक्ष अनुभव करने के उपरान्त प्राणी अमर हो जाता है। अर्जुन में ये दोनों बातें नहीं हैं। तब वह इन उपमानों के आधार पर सात्विक सुख के रूप को कैसे समझेगा। इसका उत्तर यही है कि उपमान का प्रत्यक्ष अनुभव आवश्यक नहीं होता। उपमान प्रसिद्ध होना चाहिए इतना ही आवश्यक होता है। विष और अमृत का अनुभव यद्यपि किसी को नहीं होता फिर भी वे इतने प्रसिद्ध हैं कि सभी को उनके विषय में ज्ञान होता है। इसलिए इतने प्रसिद्ध उपमान के आधार पर सात्विक सुख के स्वरूप को भगवान् ने समझा दिया। सात्विक सुख के विषय में भगवान् ने यह भी इस पद्य में कहा है कि वह अपनी बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है। लोकमान्य

तिलक ने इस पद्य की विशेषता बतलाते हुए लिखा है कि बुद्धि हमारे स्वरूप में एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा आत्म स्वरूप परब्रह्म का भी दर्शन हो सकता है और संसार का भी अनुभव होता है। यह समान रूप से प्राणि मात्र में व्याप्त है। यह बुद्धि जब आत्मा की ओर उन्मुख होती है तब जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसी से उत्पन्न होने वाला सुख सात्विक कहा जाता है।

श्रीशंकरानन्द ने अपनी व्याख्या में यह प्रश्न उठाया है कि हम देखते हैं कि ब्रह्मवेत्ताओं को जो ब्रह्मज्ञानरूपी सुख प्राप्त होता है उसमें योग साधन और समाधि में अत्यन्त क्लेश सहन करना पड़ता है। पुराण आदि में ऋषियों की तपस्याओं का जो वर्णन प्राप्त होता है, उसे देखने से यही स्पष्ट होता है कि अपने शरीर को अनेक प्रकार के शीतातप सहन करने के कष्ट देकर ब्रह्म सुख की प्राप्ति वे करते थे। उसकी तुलना में जो विषयों का सुख है, वह अति सुलभ है। सुख दोनों को ही कहा जाता है। तब अनायास या अल्प आयास से प्राप्त होने वाले विषय सुख की ही प्राप्ति क्यों की जाय। उसे ही सात्विक सुख क्यों माना जाय, विषय सुख को भी सात्विक सुख क्यों न समझा जाय। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीशंकरानन्द ने अपनी व्याख्या में अनेक विकल्प उठाए हैं। विषयों का सुख किसका धर्म कहा जाय ? उत्तर नकारात्मक है। विषय सुख को विषयों का धर्म नहीं माना जा सकता। यदि वह विषयों का धर्म होता तो विषयों की उपस्थिति में सर्वदा उस सुख की अनुभूति होनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। विषयों का सेवन करते समय प्रारम्भ में जो सुख उपलब्ध होता है, दूसरे क्षण में वह सुख उपलब्ध नहीं होता। अधिक विषय सेवन करने पर उन विषयों से अरुचि ही हो जाती है। उदाहरण के लिए किसी को कोई मिठाई बड़ी प्रिय है। परन्तु पर्याप्त मिठाई खा लेने के अनन्तर जब पुन: वही मिठाई सामने उपस्थित होती है तो वह उससे अरुचि प्रकट करने लगता है। इससे स्पष्ट है कि विषय तो उपस्थित है, परन्तु उससे अब सुख के स्थान पर अरुचि ही मिल रही है। अत: विषयों से प्राप्त होने वाला सुख विषयों का धर्म नहीं है। तब यदि यह कहा जाय कि विषयों का सुख विषयों का धर्म नहीं अपितु इन्द्रियों का धर्म है तो यह भी समीचीन नहीं होता, क्योंकि विषयों के सन्निहित रहने पर ही उस सुख की उपलब्धि होती है, विषय यदि दूर स्थित हों तो इन्द्रियों के रहते हुए भी उस सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। अत: वैषयिक सुख को इन्द्रियों का धर्म भी नहीं माना जा सकता। यदि कहा जाय कि वैषयिक सुख कर्मों का धर्म है। विशेष प्रकार के कर्मों के करने से वैसा सुख प्राप्त होता है तो यह भी उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि सुख को पुण्य कर्मों से उत्पन्न होने वाला उनका कार्य माना गया है। जो जिससे उत्पन्न होने वाला है, जिसका कार्य

है, वह उसका धर्म नहीं होता। अग्नि से भोजन उत्पन्न होने वाला है, जिसका कार्य है, वह उसका धर्म नहीं होता। अग्नि से भोजन बनता है भोजन बनाना अग्नि का कार्य है, न कि धर्म। यदि सुख को कर्मों का कार्य न मानकर धर्म ही माना जाय तो उसमें यह आपत्ति आती है कि जैसे अग्नि के जलते ही उसके धर्म उष्णता का तत्काल अनुभव होने लगता है वैसे ही पुण्य कार्य करते ही उसके सुख का भी अनुभव होना चाहिए। ऐसा नहीं देखा जाता। कर्म करने के समकाल में ही उसके सुख का अनुभव नहीं होता। अतः वैषयिक सुख को कर्मों का धर्म भी नहीं माना जा सकता। यदि कहा जाय कि वह सुख भोक्ता का ही धर्म है तो वह भी नहीं बनता, क्योंकि भोक्ता सर्वदा सुखी नहीं रहता, वह दुःखों के आघात से पीड़ित भी देखा जाता है। स्वर्गादि स्थान सुखमय माने गए हैं। यहाँ भी जब सुख का अनुभव होता है तो यही कहा जाता है कि यह स्वर्ग है। इसलिए सुख को स्वर्गादि स्थान विशेषों का धर्म ही क्यों न समझ लिया जाय। परन्तु ऐसा भी स्वीकार नहीं किया जा सकता यदि सुख को स्थान विशेष या देश विशेष का ही धर्म मान लें तब जो सुख की अभिलाषा रखते हैं उनके स्वर्ग जाने का प्रसङ्ग ही समाप्त हो जाता है। स्वर्ग में भी सुख ही मिलेगा और यहाँ भी विशेष स्थान पर सुख मिल ही रहा है, तब स्वर्ग जाने का प्रसङ्ग ही नहीं आवेगा। साथ ही किसी भी स्थान के लिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि वहां सुख ही मिलेगा, दुःख का वहाँ सर्वथा अभाव रहेगा। स्वर्ग में भी असुरों के त्रास से देवताओं को कष्ट प्राप्त होने की कथाएं पुराणों में वर्णित हैं। अतः वैषयिक सुख को स्थान विशेष या देश विशेष का धर्म भी नहीं कहा जा सकता। अब यह कहें कि जब सुख का समय आता है तभी सुख मिलता है। भाग्यानुसार सुख और दुःख के प्राप्त होने का समय निश्चित रहता है। उसी के अनुसार सुख की प्राप्ति देखी जाती है। अतः सुख को समय या काल का धर्म कहना चाहिए। तो यह कथन भी यथार्थ नहीं, यदि ऐसा हो तो जैसे सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि कालानुसार सर्वत्र होते हैं, वैसे ही काल धर्म होने पर निश्चित काल में सर्वत्र सुख का ही अनुभव होना चाहिए। किन्तु किसी विशेष काल में सर्वत्र सबको सुख का ही अनुभव होता हो ऐसा नहीं देखा जाता। अतः सुख काल का भी धर्म नहीं है।

विषय सुख को अज्ञान का ही धर्म मान लिया जाय यह भी एक पक्ष है। किसी भी सुख पहुँचाने वाली वस्तु के यथार्थ रूप को जान लेने पर उस सुख की प्रतीति समाप्त हो जाती है। सुख तभी तक मिलता है जब तक हम उसका वास्तविक रूप नहीं जानते। अतः सुख को अज्ञान का ही धर्म क्यों न माना जाय इस पक्ष का उत्तर तो सरल ही है, कि यदि किसी वस्तु के विषय में यह ज्ञान न रहे कि अमुक वस्तु

हमारी भोग्य है, तब तक सुख नहीं होता। भोग्यत्व के अज्ञान में सुख नहीं होता, इससे सिद्ध है कि सुख अज्ञान का भी धर्म नहीं है। तब सुख को ज्ञान का ही धर्म मान लिया जाय। भोग्यत्व ज्ञानरहने पर तो सुख का अनुभव होता ही है। इसका उत्तर है कि विरक्त पुरुष को वस्तु के भोग्यत्व का ज्ञान रहने पर भी उससे सुख का अनुभव नहीं देखा जाता। अतः सुख को ज्ञान का भी धर्म नहीं कहा जा सकता।

एक पक्ष यह भी उठता है कि सुख तब होता है जब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य से विरत हो जाती हैं। अतः सुख को इन्द्रियों के व्यापार का अभाव रूप ही कह देना चाहिए। परन्तु यह पक्ष तो अनुभव विरुद्ध है। स्वप्न में मनुष्य को सुख प्राप्त नहीं होता, जबकि सभी इन्द्रियों के व्यापारों को विराम हो जाता है। व्यतिरेक के अभाव का भी उदाहरण इस पक्ष में मिल जाता है कि भोजनादि के समय इन्द्रियों के व्यापार जब चलते रहते हैं, उस समय सुख का अनुभव होता है। अतः सुख को इन्द्रियों के व्यापार का अभाव रूप मानना यह पक्ष भी अनुभव विरुद्ध है। वैषयिक सुख के स्वरूप के लिए अन्तिम पूर्व पक्ष लिखते हुए श्री शंकरानन्द कहते हैं कि अन्ततः सुख को दुःखाभाव रूप कह देने से सुख का परिचय मिल जाता है। सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी सुख के अभाव के समय दुःख के अभाव का अनुभव करता ही है। अतः सुख दुःख का अभाव रूप है, ऐसा कह देने से सांसारिक सुख का परिचय हो जाता है। परन्तु यह पक्ष भी त्रुटिशून्य नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए जो जड़ पदार्थ पत्थर, लकड़ी, मिट्टी आदि हैं, उन्हें दुःख नहीं होता। उनमें सर्वदा दुःख का अभाव रहता है। दुःख के अभाव को ही सुख मानने पर सभी जड़ पदार्थों में सर्वदा सुख की स्थिति माननी पड़ेगी। इस पक्ष को अत्यन्त निम्नकोटि का पक्ष दिखाते हुए श्रीशंकरानन्द ने लिखा है कि दुःख के अभाव को ही सुख कहने का अभिप्राय सुख को अभाव रूप मानना ही है। परन्तु आपामर प्राणीमात्र का अनुभव इस बात का साक्षी है कि सुख अभाव रूप नहीं अपितु भाव रूप है। तब क्या सुख को आत्मा का ही धर्म मानना चाहिए। इस पर श्रीशंकरानन्द लिखते हैं कि सुख आत्मा का धर्म नहीं, अपितु आत्मा का स्वरूप ही है। फिर प्रश्न होता है कि यदि सुख आत्मा का ही स्वरूप है तो जैसे-"मैं सुखी हूँ" यह अनुभव होता है, वैसे ही "मैं दुखी हूँ" यह भी अनुभव होता है। अतः दुःख को भी आत्मा का स्वरूप मानना चाहिए। उसका उत्तर देते हुए श्रीशंकरानन्द कहते हैं कि दुःख आत्मा का स्वरूप नहीं है अपितु वह आत्मा पर कल्पित या आरोपित है। जैसे किसी महान् कष्ट का अनुभव होने पर "मैं मर गया" ऐसा कोई कहे तो वह वास्तव में मरता नहीं, मरना उसका मिथ्या ज्ञान या आरोपित अनुभव ही है, वैसे ही "मैं दुखी हूँ" यह भी उसका आरोपित ज्ञान,

अतएव मिथ्या अनुभव ही है। आत्मा तो सुख स्वरूप ही है। अतः आत्मा का सुख ही वास्तविक सुख है। विषयों में जो सुख का अनुभव होता है वह भी उनकी आत्मा के प्रति अनुकूलता के कारण ही होता है। आत्मसुख का साक्षात्कार समाधि आदि के द्वारा ही हो सकता है। इसलिए सात्विक सुख में उसी की गणना यहाँ अभीष्ट है और समाधि आदि के प्रारम्भ में क्लेश का अनुभव होने से यहाँ भी सात्विक सुख का वैसा ही लक्षण भगवान् ने किया है कि जो प्रारम्भ में विष के समान और परिणाम में अमृत के समान हो वही सात्विक सुख है।

"राजस सुख का परिचय देते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि–विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो प्रारम्भ में तो अमृत के समान प्रतीत होता है परन्तु परिणाम में जो विष के समान हो जाता है, वह सुख राजस सुख माना गया है" (३८)

विषयों और इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होने वाला सुख, विषय सुख या वैषयिक सुख कहा जाता है इसके विषय में अनुभवी पुरुषों का यह अनुभव होता है कि यह सुख कभी संतोष देने वाला नहीं होता। जितना ही अधिक विषयोपभोग से सुख प्राप्त किया जायगा उतना ही अधिक उसे और अधिक मात्रा में प्राप्त करने की अभिलाषा बढ़ती जायगी। राजा ययाति ने अपने पुत्र की युवावस्था का उपभोग करने के उपरान्त अपना यही अनुभव इस गाथा में प्रकाशित किया है कि–

**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।**
**हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।**

अर्थात् विषय सुखों का अनुभव करने पर काम वासनाएं शन्त हो जाती हों यह बात नहीं है। अपितु जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति डालने पर अग्नि और अधिक भभकती है उसी प्रकार विषयों के सेवन करने पर विषयों के प्राप्त करने की अभिलाषा और भी अधिक उग्र रूप धारण करती है। महात्मा भर्तृहरि ने वैषयिक सुख की निस्सारता का बड़ा आकर्षक वर्णन किया है कि–

**तृषा शुष्यत्यास्ते पिबति सलिलं स्वादु सुरभि ।**
**क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादि वलितान् ।।**
**प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूम् ।**
**प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ।।**

अर्थात् जब प्यास से मुंह सूखने लगता है तब स्वादिष्ट और सुगन्धित जल

पीकर प्यास बुझाई जाती है। जब भूख से मनुष्य व्याकुल हो जाता है तो अनेक प्रकार के शाक आदि के साथ स्वादिष्ट अन्न का सेवन करता है। जब कामाग्नि प्रदीप्त होती है तब पत्नी का आलिङ्गन करके कामाग्नि को शान्त की जाती है। इस प्रकार ये सब विषय सुख व्याधियों के प्रतीकार मात्र हैं, मनुष्य भ्रम वश ही इन्हें सुख समझता है। विषय सुखों को आनन्द दायक समझना उसी प्रकार भ्रमपूर्ण है जिस प्रकार रोग के मिटाने के लिए ली गई मीठी औषधि से पेट भरने की इच्छा करना होता है।

पद्य में कहा गया है कि विषय सुख या राजस सुख प्रारम्भ में अमृत के समान प्रतीत होता है। प्रारम्भ (अग्रे) का अर्थ श्रीशंकराचार्य जी ने प्रथम क्षण किया है। प्रथम क्षण में विषय सुख अमृत के समान प्रतीत होता है और परिणाम अर्थात् अन्त में विष के समान हो जाता है। इसका कारण बतलाते हुए श्रीशंकराचार्य जी कहते हैं कि राजसी सुखोपभोग काल में बल, वीर्य, रूप, प्रज्ञा, मेधा, धन, और उत्साह की हानि हो जाती है। विषयोपभोग निरत व्यक्तियों का बल नष्ट हो जाता है, उनमें जो पराक्रम शक्ति है, तथा शरीर का जो सर्वश्रेष्ठ धातु वीर्य है उसका भी विषय सेवन से नाश हो जाता है। विषयी पुरुष का रूप भी साथ छोड़ दता है। अत्यन्त सुन्दर तथा कान्तिमान् पुरुष भी विषयों का सेवन करते रहने पर कुरूप प्रतीत होने लगता है। मेधा और प्रज्ञा की हानि जो श्रीशंकराचार्य ने कही है वह भी स्पष्ट ही है। धारण शक्ति को मेधा और नई-नई स्फूर्ति करने वाली बुद्धि को प्रज्ञा कहा जाता है। दोनों का ही वैषयिक सुख का उपभोग करने पर क्षय होता है। धन का व्यय करने पर ही इस प्रकार के उपभोग प्राप्त होते हैं, अतः धन की हानि भी स्पष्ट ही है। विषय सुखों का सेवन करने से उत्साह भी क्षीण हो जाता है। इसीलिए यह परिणाम में विष के समान कहा गया है। विषय सुख में या राजस सुख में लिप्त पुरुष बहुधा अधर्माचरण भी करने लगता है और इस प्रकार अधर्माचरण करने से उसे नरक में जाकर वहाँ के कष्टों को सहन करना पड़ता है। इसलिए भी इस सुख को परिणाम में विष के समान कहा गया है।

आगे तामस सुख का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"जो प्रारम्भ में तथा अन्त में भी आत्मा का मोहन ही करता हो, जो निद्रा, आलस्य, और प्रमाद से सम्भूत होता हो वह सुख तामस कहलाता है।" (३९)

राजस सुख प्रारम्भ में अमृत के समान प्रतीत होता है, उससे तामस सुख का यही भेद है कि वह प्रारम्भ और अन्त दोनों में ही कष्टप्रद है। तब उसे सुख ही क्यों कहा जाय, इसका उत्तर यही है कि मध्य में उसमें आनन्द का अनुभव होता है। मोह की व्याख्या करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि यहाँ मोह का यही तात्पर्य है कि

किसी भी वस्तु का जो यथार्थ स्वरूप है उनका परिज्ञान न होना। आत्मा के प्रकाश में ही वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप झलकता है। तामस कोटि का सुख आत्मा को ही आवृत कर देता है, अतः वस्तु का यथार्थ स्वरूप ही बुद्धि में नहीं आ पाता। आत्मा का यह मोह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से होता है। निद्रा आदि अनुभव के समय मोह के कारण बनते हैं। जब मनुष्य निद्रित अवस्था में रहता है तब उसे किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, इससे निद्रा मोह का कारण है, यह स्पष्ट ही है। आलस्य का परिचय देते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि इन्द्रियों की चेष्टाओं में मन्दता आ जाना ही आलस्य है। इन्द्रियों की चेष्टाओं में मन्दता आ जाने पर उनसे प्राप्त होने वाले ज्ञान में मन्दता आ जाती है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है, इसलिए आलस्य से समुद्भूत सुख को आत्मा का मोह हेतु कहा गया है। आवश्यक कर्त्तव्यों का अवधान न करना, जो कार्य जिस समय अवश्य ही करना चाहिए उसका ध्यान छोड़ देना, यही प्रमाद है। इस प्रमाद से भी ज्ञान की मन्दता बढ़ती है, इसलिए प्रमाद भी मोह का हेतु माना गया है।

इस प्रकार सुख के सात्विक, राजस, और तामसी रूपों का निरूपण हुआ, जिससे भगवान् का अभिप्राय जो कि इस प्रकरण का सार है वह स्पष्ट ही है कि राजस और तामस सुख का परित्याग करके सात्विक सुख का उपभोग करने से मनुष्य का कल्याण होता है। मुमुक्षु पुरुष को उपर्युक्त समस्त भेदों में सात्विक भेदों का ही अवलम्बन लेना चाहिए। राजस और तामस सुखादि का परित्याग कर देना चाहिए।

इन भेदों के निरूपण को सुनकर यह बात कही जा सकती है कि उपर्युक्त सुखादि में सत्व आदि गुणों की सीमा कहां तक है, कौन सा सुख कहाँ तक सात्विक कहलायेगा, कहाँ से वह सुख राजस हो जाता है, उसका कौन सा सुख तामस भेद के अन्तर्गत आता है, यह ज्ञान होना व्यवहार दशा में बड़ा कठिन है। अतः ऐसी बात मुमुक्षु को क्यों न कह दी जाय जिसके राजस और तामस रूप ही न हों, केवल सात्विक रूप ही उसका हो, उसी का सेवन मुमुक्षु पुरुष करता रहे, फिर उसे राजस और तामस रूपों को पहिचान कर उससे बचने का आयास ही न करना पड़े। इसका उत्तर देते हुए तथा गुणानुसार त्यागादि के भेदों की गणना का उपसंहार करते हुए भगवान् अग्रिम पद्य में कहते हैं।

"पृथ्वी में और स्वर्ग में, तथा देवताओं में ऐसा कोई भी सत्व नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों से मुक्त हो।" (४०)

हम अपने से आर्थिक शारीरिक आदि से उन्नत पुरुषों को सुखी और दुःखी से

शून्य समझते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। ब्रह्म से लेकर घास फूस तक के सभी पदार्थ सत्व, रज और तम से आवृत हैं। स्वर्ग के देवता भी इन तीन गुणों से आवृत हैं। स्वर्ग और देवताओं का निर्देश भगवान् ने इसलिए किया कि प्राय: लोगों की स्वर्ग के लिए यही धारणा रहती है कि वहाँ आनन्द ही आनन्द है। देवताओं को भी ऐसा समणा जाता है कि उन्हें कभी किसी कष्ट का अनुभव नहीं होता। परंतु भगवान् इस धारणा को निर्मूल करते हुए स्पष्ट कर रहे हैं कि कहीं भी कोई भी पदार्थ ऐसा मिल ही नहीं सकता जो इन गुणों की सीमा के बाहर हो। देवताओं को भी अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं, जो कि तमोगुण के कार्य हैं। अत: यह समझना चाहिए कि मुमुक्षु पुरुष केवल वही करे जो केवल सात्विक हो, जिसका रज और तम से सर्वथा कोई सम्बन्ध ही न हो, सर्वथा भ्रमपूर्ण है। अत: यही एक मार्ग कल्याण का सामने रह जाता है कि प्रत्येक कार्य करते समय उसकी सात्विकता की परीक्षा कर लेनी चाहिए और यह निश्चय हो जाने पर ही उस कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए कि वह कार्य सात्विक है। इसी से मोक्ष और कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है–

**"नान्य: पन्था विद्यते"**

# इकसठ-पुष्प

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ! ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।४१।।
शमो दमस्तथा शौचं शान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।४२।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।४३।।
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यादिकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।४४।।

"हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न होने वाले गुणों के द्वारा विभक्त कर दिए जाते हैं।" (४१)

गत प्रकरण में गुणों के अनुसार त्याग से लेकर सुख तक के विभाग का विस्तार से निरूपण हो चुका है। उन भेदों में सात्विक रूप का ही आश्रय लेना उचित है, यह भी भगवान् का आशय स्पष्ट किया जा चुका है। सात्विक रूप शास्त्रों में निश्चित हैं। कौन कर्म किसके लिए उपयुक्त होता है, इसका निरूपण स्वभाव से समुद्भूत गुणों के अनुसार शास्त्रों में विस्तार से लिखा गया है। अर्जुन ने जो अध्याय के प्रारम्भ में ही प्रश्न किया था कि जो लोग शास्त्र की विधियों को छोड़कर श्रद्धा पूर्वक यज्ञ यागादि करते हैं, उनकी स्थिति सत्व, रज और तम में से किसमें मानी जाय, इसका उत्तर भी इतने लम्बे निरूपण से हो ही गया कि सात्विक आचरण के लिए शास्त्रज्ञान पूर्वक कर्म करना ही अनिवार्य है। शास्त्रविधि की अवज्ञा करके किया गया क्रिया-कलाप रज और तम की ही श्रेणी में जाता है, उसे सात्विक कभी नहीं कहा जा सकता। इसी निर्णय के आधार पर अब यह प्रकरण प्रारम्भ होता है कि शास्त्रों में किस किस के लिए कौन-कौन कर्म सात्विक कहे गए हैं जिनका अनुष्ठान करके पुरुष श्रेय का भागी बनता है। क्या इस प्रकार का शास्त्रों में विभाग प्राप्त होता है। उसी के समाधान के रूप में भगवान् ने यह पद्य कहा है कि मनुष्यों के स्वभाव और गुणों के अनुसार कर्मों का विभाग शास्त्रों में कहा गया है। उसी के अमुसार आचरण करना चाहिए। मनुष्यों को ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्णों में विभक्त करके उनका कर्म विभाग किया गया

है। हम पहिले अपने वर्ण व्यवस्था के व्याख्यान में वर्णों की वैज्ञानिकता पर प्रकाश डाल चुके हैं।

पद्य में जो "स्वभावप्रभवैः" पद आया है, उसका आशय स्पष्ट करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि सत्व, रज और तम ये तीनों 'स्वभाव' से समुद्भूत होते हैं। 'स्वभाव' शब्द से ईश्वर की प्रकृति या त्रिगुणात्मिका माया का ग्रहण किया गया है। उसी ईश्वर की स्वभावभूता या उसकी प्रकृतिरूपा माया से तीनों गुण उद्भूत होते हैं। इससे यह भी आचार्यवर ने ध्वनित कर दिया कि माया या प्रकृति सांख्य दर्शन के समान स्वतन्त्र यहाँ नहीं कही गई, यहाँ माया या प्रकृति को स्वभाव शब्द से कहने का यही आशय है कि जैसे मनुष्य पशु-पक्षी आदि का स्वभाव उनको छोड़ देने पर नहीं रह जाता, वैसे ही ईश्वर की स्वभावरूपिणी प्रकृति या माया भी अपने आश्रय ईश्वर के बिना नहीं रह सकती। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि गुण माया या प्रकृति से उत्पन्न नहीं होते अपितु गुणों की समष्टि का ही नाम माया या प्रकृति है। स्वभाव अर्थात् माया से गुणों को उत्पन्न हुए बतलाना यहाँ कैसे संगत होगा। इसका उत्तर यही है कि प्रकृति या माया की अवस्थाओं का नाम गुण है। गुणावस्था का उद्भव प्रकृति, माया अथवा स्वभाव से होता है, इसी आशय से यहाँ गुणों को स्वभाव से प्रभूत बतलाया गया है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रकृति से समुद्भूत गुणों के द्वारा ब्राह्मणादि के कर्मों का विभाग किया जाता है।

दूसरे प्रकार से व्याख्या करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्मणादि के स्वभाव के कारण जो गुण हैं वे ही ब्राह्मणादि के स्वभाव के उत्पादक गुण ब्राह्मणादि के स्वभाव के पूर्व कैसे रहेंगे। कारण को तो कार्य के पूर्व अवश्य विद्यमान होना चाहिए। यदि ब्राह्मणादि के स्वभाव के उत्पादक गुण होते हैं तो उन्हें उनके स्वभाव के पूर्वस्थित रहना चाहिए। स्वभाव जन्म के साथ ही सम्बद्ध है। अतः जब ब्राह्मण आदि का जन्म ही नहीं हुआ तब उनके स्वभाव के उत्पादक गुण विद्यमान् रहते हैं और वे ही इस जन्म के स्वभाव के उत्पादक बनते हैं। श्री शंकराचार्य तथा अन्य व्याख्याकारों ने भी किस वर्ण के स्वभाव का कौन सा गुण कारण बनता है इस बात को इस प्रकार लिखा है कि ब्राह्मण का स्वभाव सत्त्वगुण से सम्पन्न होता है। क्षत्रिय का स्वभाव गौण रूप से सत्व तथा प्रधान रूप से रजोगुण से बनता है। वैश्य का स्वभाव तमोगुण मिश्रित रजोगुण से बनता है और शूद्र का स्वभाव रजोगुण की गौण अवस्था और तमोगुण की प्रबल अवस्था से निर्मित होता है। इसी के फल स्वरूप ब्राह्मण प्रशान्त होते हैं, क्षत्रिय ऐश्वर्य शाली होते हैं, वैश्य अभिलाषा मय होते हैं और शूद्रों में मूढ़ता या अज्ञान की मात्रा अधिक होती है।

श्रीशंकराचार्य ने एक और प्रश्न उठाया है कि ब्रह्मणादि के कर्मों का विभाग तो शास्त्रों के द्वारा किया जाता है, अतः शास्त्रों ने ब्रह्मणादि के कर्मों का विभाजन किया है, ऐसा कहना चाहिए। गुणों ने विभाग ब्रह्मणादि के कर्मों का किया है यह कथन कैसे उपयुक्त होगा। उसका उत्तर देते हुए श्री शंकराचार्य लिखते हैं कि शास्त्रों ने जो ब्रह्मणादि के कर्मों का विभाग किया है वह भी गुणों के अनुसार ही किया है। अतः कर्मों के विभाजन के आदि कारण तो गुण ही हैं। गुणों के अनुसार जब ब्रह्मणादि के कर्म विभक्त हो जाते हैं तब शास्त्रों में उन्हीं का अनुवाद कर दिया जाता है। गुणों की पहिचान के बिना शास्त्रों में कर्म विभाग नहीं हुआ है।

आगे ब्रह्मणादि के कर्मों का क्रमश विवरण करते हैं :-

"शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मण के स्वभाव सिद्ध कर्म होते हैं।" (४२)

अन्तःकरण की चञ्चलता को वशीकृत करने का नाम शम है। बाह्य इन्द्रियों को विषयों के असंयत सेवन से उपरत करने का नाम दम है। मृत्तिका आदि से शरीर को शुद्ध रखने का नाम शौच है। अपराधी के अपराध का प्रतीकार न करके उसके अपराध को भुला देने को क्षान्ति या क्षमा कहा जाता है। अभिमान आदि को छोड़कर सरलता धारण करने का नाम आर्जव है। ज्ञान और विज्ञान पर पहिले पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। ईश्वर में मन को लगाए रखना या ईश्वर विश्वासी होने का नाम आस्तिकता है। कुछ व्याख्याओं के अनुसार वेदों की आज्ञाओं को मानना और परलोक में विश्वास करने वालों को ही आस्तिक कहा जाता है। श्री शंकराचार्य कहते हैं कि वेदार्थ पर किसी भी कारण से आस्तिक पुरुष को कभी कोई शंका नहीं होती। श्रीरामानुजाचार्य ने अस्तिकता की विस्तृत व्याख्या करते हुए भगवान् में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखना, इसके विरुद्ध जो शब्द या तर्क हों उन्हें हेय दृष्टि से देखना, उनके अनुकूल शब्दों और तर्कों पर पूर्ण आस्था रखना ही आस्तिक्य है यह निर्वचन किया है। गीता में ही–

**"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"**

(१२।५)

**"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते"**

(१०।८)

**"मयि सर्वमिदं प्रोतम्"**

(७।७)

"भोक्तारं यज्ञतपसां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति"

(५।२९)

"मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय !"

(७।७)

"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्"

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"

(१८।४६।)

"यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्"

(१०।३।)

इन सन्दर्भों में भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं, वे ही परब्रह्म कहे जाते हैं, उनमें किसी भी प्रकार के दोष का गंधमात्र भी नहीं है, स्वभाव से ही उनमें अनन्त ज्ञान विज्ञान आदि गुण-गण विद्यमान् हैं, वेदान्त आदि समस्त शास्त्रों के द्वारा उन्हीं का ज्ञान कराया जाता है, समस्त जगत् के वे ही एक मात्र कारण और आधार हैं, समस्त जनन मरणादि कार्यों के वे ही प्रवर्त्तक हैं, वेद शास्त्रों में जितने कर्मों के विधान हैं, वे सब उन्हीं की आराधना के लिए हैं। उन कर्मों के द्वारा मनुष्यों से आराधित होकर वे ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी फलों के प्रदाता होते हैं, इत्यादि का प्रतिपादन किया गया है, उक्त भावों से पूर्ण रहने वाले आस्तिक कहे जाते हैं। ये सब ब्राह्मणों को स्वभाव से प्राप्त होते हैं। यहाँ श्री मधुसूदन सरस्वती के कथनानुसार ब्राह्मणों के ज्ञान विज्ञान आदि असाधारण धर्म भी बतलाए हैं और शम, दम आदि साधारण धर्म भी बतलाए गए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अध्ययन अध्यापन यज्ञ यागादि ऐसे कर्म हैं जिनका अनुष्ठान का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही शास्त्रों में दिया गया है। तथा शम दम आदि ऐसे धर्म हैं जिनका धारण ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य लोग भी करते हैं। उन्हें यहाँ ब्राह्मणों का कर्म बतलाने का यही अभिप्राय है कि अन्य लोगों को शम दमादि के लिए पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। ब्राह्मणों को वह स्वभाव से ही मिले रहते हैं। अन्य लोगों में यदि शम दमादि का अभाव हो जाता है तो वह क्षन्तव्य भी हो सकता है, परन्तु ब्राह्मण यदि शम, दमादि से शून्य होता है तो वह ब्रह्मणत्व से गिर जाता है, वह अपना स्वभाव छोड़ देने से पतित कहलाने का अधिकारी है। केवल आपत्काल के लिए शास्त्रों ने छूट दे दी है कि यदि ऐसे ही किसी संकट का अवसर आ जाय तो ब्राह्मण को भी शस्त्र ग्रहण करना चाहिए और कर्त्तव्य से बाध्य होकर ही संग्राम में प्रमुख भाग ग्रहण किया था। ऐसे आपत् काल में ब्राह्मण भी शम, दम आदि छोड़

सकता है, परन्तु साधारण रूप से यदि ब्राह्मण इन कर्मों को छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्त होता है तो वह अवश्य ही ब्राह्मणत्व से पतित हो जाता है। ब्राह्मण का स्वभाव सत्वगुण प्रधान माना गया है। शम, दमादि सत्वगुण के ही कार्य हैं। सत्वगुण से प्रेरित होकर ही वह इन कार्यों में प्रवृत्त होता है ब्राह्मण जब अपने स्वभाव रूप उक्त कर्मों का परित्याग करता है तो वह विक्षोभ सारे समाज में फैल जाता है। इसलिए कहा गया है–

**"ब्राह्मणत्वे संरक्षिते सर्वं संरक्षितं भवति"**

अर्थात् यदि ब्राह्मणत्व सुरक्षित रहे तो सभी कुछ सुरक्षित रहता है। यदि ब्राह्मणत्व पर ही आघात हुआ, यदि ब्राह्मण ने अपने कर्मों का परित्याग किया तो सारा समाज ही कर्त्तव्यच्युत होकर अधोगामी बनने लगता है। इसीलिए शास्त्रों में अपने विहित कर्मो का परित्याग कर देने वाले ब्राह्मण के लिए कहा गया है कि–

**सत्यं दानं क्षमाशीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।**
**दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र ! स ब्राह्मण इति स्मृतः ।।**
**यत्रैतल्लक्ष्यते वृत्तं सर्प ! स ब्राह्मणस्मृतः ।**

यह महाभारत वनपर्व में सर्प और युधिष्ठिर के संवाद का सन्दर्भ है। इसमें स्पष्ट ही उपर्युक्त कर्मों के परित्याग करने वाले को निन्द्य बतलाया है। मनु आदि स्मृतियों में भी ब्राह्मण को कभी इन धर्मों से विचलित नहीं होना चाहिए ऐसा स्पष्ट निर्देश है। अतः भगवान् ने ब्राह्मण के उक्त सत्वगुणानुसारी कर्मों का यहाँ उल्लेख किया है। आगे क्षत्रिय के स्वभावज कर्मों को भगवान् बतलाते हैं कि–

शैर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में पश्चात् पद न होना, दान करना, ईश्वर भाव रखना, ये क्षत्रिय के स्वभावज कर्म हैं।

शूरता का भाव शौर्य कहलाता है। अन्याय के आगे कभी सिर न झुकाना, प्रगल्भ रहना, यही तेज है। सभी अवस्थाओं में धैर्य रखना, सहसा किसी कार्य के उपस्थित हो जाने पर चतुरता से उस कार्य को पूर्ण कर देना दाक्ष्य या चातुरी कहा जाता है। जहाँ युद्ध में शत्रु समुदाय सामने खड़ा हो वहाँ भय के कारण शत्रुओं को प्रबल देखकर भी युद्ध से उपरत न होना, सर्वदा दान देते रहना तथा ईश्वर में सर्वदा निष्ठा रखना ये क्षत्रिय के कर्म हैं। ईश्वर भाव का यह भी तात्पर्य है कि क्षत्रिय को अपनी प्रभु शक्ति या ईशन शक्ति को प्रकाशित करते रहना चाहिए। शासक में ईश्वरत्व या ईशन कर्तृत्व अवश्य प्रकट रहना चाहिए। उसी से दण्डनीय पुरुष उसके शासन में दबे रहते हैं और उद्दण्डता को प्रश्रय नहीं मिलता।

आगे वैश्य तथा शूद्र के कर्त्तव्य कर्म का निर्देश है कि–

"खेती करना, गोरक्षा अर्थात् पशुपालन करना तथा वाणिज्य अर्थात् व्यापार करना वैश्य के स्वभाव सिद्ध कर्म हैं, परिचर्या करना, शूद्र का भी स्वभाव सिद्ध कर्म है।"

वैश्य और शूद्रों के कर्मों के आधार पर ही समाज की स्थिति और समृद्धि निर्भर है। कृषि के बिना तो भोजन के अन्न की प्राप्ति होना ही सुदुर्लभ है। वह वैश्य का स्वभाव सिद्ध कर्म माना गया है। पशु पालन करना भी वैश्य का ही स्वभाव सिद्ध कर्म है। यहाँ 'गोरक्ष्य' में गो शब्द पशु सामान्य का वाचक है। सभी प्रकार के उपयोगी पशुओं का पालन करना आवश्यक है। वहाँ भी रक्षा शब्द से यह ध्वनित किया जाता है कि पशुओं को कष्ट देकर उन्हें अपने उपयोग में लेना निन्दनीय है। सबसे पहिले पशुओं की रक्षा होनी आवश्यक है। जब उपयोगी पशु हृष्ट-पुष्ट हों तभी उन्हें अपने उपयोग में लेना चाहिए। प्राचीन काल में गाय अश्व आदि पशुओं के परिपालन और संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। गाय तो भारत में इतनी पूज्य और आदरणीय मानी गई हैं कि उसमें सभी देवताओं का निवास है। कोई भी धार्मिक विधि गोघृत, गो दुग्ध, गोमय आदि के बिना पूरी नहीं हो सकती। गोरक्षा तो सभी का सामान्य कर्त्तव्य उस समय माना गया था। स्वयं भगवान् कृष्ण ने बाल्यावस्था में गोकुल और वृन्दावन में गोपाल रूप ही धारण किया था।

**"गावो मे चाग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः ।**
**गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ।।"**

यह भगवान् की उक्ति प्रसिद्ध है। उन्होंने गौवों के परिपालन में एक आदर्श उपस्थित किया था। गो रक्षा के लिए बड़े-बड़े राजा तथा सम्राटों ने अपने प्राणों का मोह भी छोड़ दिया था इसकी कथाएं सुप्रसिद्ध हैं। इसलिए गो रक्षा का तो भारत में एक आदर्श के रूप में बहुत प्राचीन काल से ही प्रचलन रहा है। उसकी रक्षा का भार यहां विशेष रूप से वैश्य को दे दिया गया है। वाणिज्य का अर्थ है व्यापार। व्यापार वैश्यों का प्रधान कर्म है। आगे चलकर यही वैश्य वर्ण का परिचायक चिन्ह अवशिष्ट रह गया। अन्य कार्य अन्यवर्णों ने भी अपना लिए। देश का व्यापारी वर्ग वैश्य वर्ण ही आज भी बना हुआ है पशुपालन कृषि आदि को भी व्यापार का ही रूप दे दिया गया। परन्तु गीता में इन कर्मों का निर्देश करते समय अनासक्ति का विशेष महत्व माना गया है। इन कर्मों को करते समय अनासक्ति अर्थात् फल की आशा का परित्याग आवश्यक है। आज वह बात देखने में नहीं आती। आज कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्य

या व्यापार अधिकाधिक धनोपार्जन के लिए समझे जाने लगे हैं भले ही वे अन्याय पूर्वक किए गए हों। परन्तु गीता में इनको स्वभावज कहने का यही अभिप्राय है कि जैसे स्वाभाविक अन्य कर्मों को हम बिना किसी फलाभिसन्धि के करते हैं वैसे ही ये कर्म बिना फलाभिसन्धि के किए जाने चाहिए। भगवान् की आज्ञानुसार समाज व्यवस्था का यथावत् परिचालन ही इन कर्मों का प्रधान उद्देश्य होता है। यदि फलाकांक्षा का भी इन कर्मों के स्वरूप में निवेश कर दिया गया तो इन सबका वास्तविक रूप बिगड़ कर समाजविध्वंसक रूप ही प्रकट होने लगता है। व्यापार या वाणिज्य को ही लीजिए। यदि वैश्य वर्ग समाज की व्यवस्था के सम्यक् परिचालनार्थ ही व्यापार करे तो सभी को सभी वस्तुएं बिना आयास के उपलब्ध हो जायं तो समाज में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रहती है। परन्तु जब व्यापार का उद्देश्य अधिकाधिक धन संग्रह हो जाता है, उस उद्देश्य मं जब समाज की व्यवस्था का सम्यक् परिचालन गौण स्थान ग्रहण कर लेता है, तब सभी वस्तुओं का मूल्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि समाज के अधिकांश निर्धन व्यक्ति उन वस्तुओं के उपयोग से वंचित हो जाते हैं, कुछ धनाढ्य व्यक्तियों तक ही उन वस्तुओं का उपयोग सीमित हो जाता है। फलतः समाज में असन्तोष व्याप्त होकर एक विशृङ्खलता फैलने लगती है। यदि ऐसा न हो, यदि व्यापार के उद्देश्य समाज के सभी व्यक्तियों को सभी वस्तुएँ प्राप्त करा देने की भावना से वैश्य वर्ग अपने स्वाभाविक कार्य वाणिज्य का संचालन करे तो समाज के सभी व्यक्तियों को संतोष हो, और सर्वत्र शान्ति व्याप्त रहे।

इसी प्रकार शूद्र वर्ग का स्वाभाविक कर्म भगवान् ने उपर्युक्त तीनों वर्णों के कार्यों में सहायता देकर उनकी सेवा करना बतलाया है। कुछ लोग वर्तमान में यह आक्षेप करते हैं कि इस व्यवस्था में शूद्रों के साथ अन्याय किया गया है। उन्हें अत्यन्त निम्नकोटि के सेवा कार्य में नियत किया गया है, परन्तु यह धारणा बड़ी भ्रामक है। पहली बात तो यह है कि शूद्रवर्ण के आधार पर ही पूरे समाज का रूप खड़ा होता है। तीनों वर्णों की सेवा का अर्थ ही यही है कि उनके कार्यों में शूद्र वर्ण से ही अत्यधिक सहायता मिलती है। यदि इस वर्ग की सहायता न हो तो किसी भी वर्ण का कार्य सुचारू रूप से चल ही नहीं सकता। सेवा कर्म को हेय दृष्टि से देखना भी बड़ा भारी भ्रम है–

**"सेवा धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः"**

इत्यादि नीति वाक्यों में सेवा के महत्व को स्वीकार किया गया है। भगवान् ने यहाँ सेवा कर्म को शूद्र का स्वभाव सिद्ध कर्म बतलाते हुए यह ध्वनित किया है

कि जिस सेवा कर्म को अन्य वर्ण के लोग बड़े अभ्यास से सीखते हैं, वह शूद्र वर्ण के लोगों को स्वभाव से ही प्राप्त रहता है। अन्य वर्ण के लोग स्वाभाविक रूप से सेवा कर्म में बड़ी कठिनता से प्रवृत्त होते हैं, परन्तु शूद्रवर्ण के व्यक्तियों में सेवा की ऐसी लगन रहती है कि सभी कार्यों में सहायता के लिए वे अनायास समुद्यत हो जाते हैं। सेवा कार्य की व्यापकता को ही ध्यान में रखकर उनपर से अध्ययनादि का भार हटा लिया गया, क्योंकि सेवा अपने आप में एक इतना बड़ा कार्य है कि उसको करने के अनन्तर अन्य कार्यों के लिए शक्ति और समय ही अवशिष्ट नहीं रह जाता इसके अतिरिक्त स्मृतियों में शूद्रवर्ण के लिए यह भी व्यवस्था की गई है कि

**''शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरेत्''**

इस व्यवस्था से तो समाज का प्रधान आधार शिल्प ही शूद्र जाति के हाथ में दे दिया जाता है। शिल्प के आधार पर ही तो सब समाज का जीवन व्यवस्थित है। इसलिए शूद्र का स्थान बहुत ऊँचा हो जाता है यह सिद्ध ही है। हमने प्रकरणान्तर में इसका विवरण किया है, इसलिए यहाँ विस्तार नहीं करते। उन पर से शास्त्रीय कर्मों के अनुष्ठान का भी भार हटा लिया गया। रह जाती है यह बात कि उनको सेवा में लगाकर उनका स्तर गिरा दिया गया। तो इसमें शास्त्रों का या निर्देष्टाओं का कोई अपराध नहीं, सामाजिक व्यवस्था में फलाकांक्षा और स्वार्थ प्रवृत्ति का बढ़ जाना ही इसमें कारण है। शास्त्रों ने तो समाज व्यवस्था का सुचारु संचालन ही अपना लक्ष्य रक्खा था। वैज्ञानिक दृष्टि से भी इससे अच्छी और कोई समाज व्यवस्था नहीं बन सकती यह बात हम अपने वर्ण व्यवस्था के व्याख्यान में सिद्ध कर आए हैं, फलाभिसन्धि और स्वार्थ बुद्धि का आश्रय ले लेने पर तो शूद्र ही क्या ब्राह्मण भी हेय हो जाता है। वह भी निन्दनीय हो जाता है। उसके लिए स्वार्थ वश अपना कर्तव्य परित्याग कर देने पर उसे अपमानित कर समाज से बाहर कर देने की मनुस्मृति आदि में स्पष्ट आज्ञा है। अत: इस व्यवस्था में, जो कि नि:स्वार्थ और कर्मों की सहजता के आधार पर निर्दिष्ट की गई है, कोई दोष नहीं आता। जो भी कोई दोष या अव्यवस्था उत्पन्न होती है वह अपने कर्मों के स्वभाव सिद्ध रूप को बिगाड़ कर उनको फलाभिसन्धि से करने पर ही होती है। भगवान् के उपदेश का यही सार है कि अपने अपने कर्मों का स्वाभाविक रूप में ही आचरण होना चाहिए। कोई भी काम जीवन निर्वाहार्थ ही किया जाता है। अत: काम में लग जाने से जीवन यात्रा का निर्वाह अवश्य होगा। आसक्ति या फलाशा और स्वार्थ बुद्धि छोड़ देने से हम अपनी जीवन यात्रा पूरी करने के साथ अन्य लोगों के भी जीवन मार्ग में अग्रसर होने में सहायक बनेंगे और यदि

हमारे कर्म ऐसे होंगे जो फलाशा और स्वार्थ से परिपूर्ण होंगे तो हम न तो अपनी ही जीवन यात्रा में सुखी होंगे और दूसरों के जीवन में तो बाधा पहुँचाएंगे ही। स्वार्थ सिद्धि या फलाशा का तो स्वरूप ही ऐसा है कि जिसमें अन्य लोगों के हितों पर आघात होता ही है। समस्त संसार की सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ भारत की इस सामाजिक व्यवस्था की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इससे अधिक विज्ञान की कसौटी पर कसी हुई, तर्क और युक्ति से दृढ़, सुन्दर और सुगठित और कोई भी समाज व्यवस्था हो ही नहीं सकती। आज जो देश धन तथा ज्ञान विज्ञान में संसार का नेतृत्व कर रहे हैं, उनमें भी वहाँ के विचारक समय-समय पर यह मत प्रकट करते रहते हैं कि सामाजिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिए यह आवश्यक है कि जब कामों का मनुष्यों में वितरण किया जाय तब उनकी रुचि किस कार्य में है, इसका परीक्षण कर लिया जाय। रुचि के प्रतिकूल कार्य मनुष्य को दे देने से या तो वह उस कार्य के सम्पादन में असफल रहेगा या उसे बहुत विलम्ब से सफलता प्राप्त होगी। इसके विपरीत यदि मनुष्यों की रुचि का परीक्षण करके उसके अनुसार उन्हें कार्य दिए जायं तो वे अपने कार्यों के सम्पादन में अवश्य और शीघ्रता से सफलता प्राप्त करेंगे। अनेक उन्नत देशों में आज इस प्रकार परीक्षण करके कार्यों के विभाजन की प्रक्रिया चल भी रही है। वहाँ भी धीरे-धीरे इस सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित हो रही है कि मनुष्यों की रुचि का निर्माण इसी जीवन की घटना और परिस्थितियों के आधार पर नहीं होता अपितु उस प्रकार की रुचि के निर्माण के लिए इस जीवन काल से बहुत अधिक समय का अभ्यास अपेक्षित होता है। एक प्रकार से इस निष्कर्ष से भारतीय वर्णों के स्वभावानुसार कर्मों के विभाजन का सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से भी पुष्ट होता जा रहा है।

जहां तक दोषों का प्रश्न है तो, वे तो जैसा हम कह चुके हैं कि फलाकांक्षा और स्वार्थ दृष्टि से कर्म करने के कारण होते हैं। वे तो इस प्रकार की दृष्टि रखने पर अच्छी से अच्छी व्यवस्था जो आज बनाई जायगी उसमें भी आ ही जायंगे। अतः अपने स्वभाव सिद्ध कर्मों को निष्काम बुद्धि से अपना कर्त्तव्य समझ कर करते जाना ही मनुष्य का जीवन में प्रधान लक्ष्य होना चाहिए, यही शास्त्रों का निष्कर्ष है, जिसे भगवान् ने यहां संक्षेप से कह दिया है।

# बासठ-पुष्प

**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।**
**स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।**

"अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य सम्यक् प्रकार से सिद्धि को प्राप्त करता है। अपना कर्म करते हुए मनुष्य को किस प्रकार सिद्धि मिलती है, यह सुनो" (४५)

प्रत्येक वर्णों के स्वभावानुसार कर्मों का परिगणन करके आगे भगवान ने उस प्रकार के कर्म विभाग का क्या फल हाता है यह कहना प्रारम्भ किया। फल या प्रयोजन का ज्ञान हुए बिना किसी मन्दपुरुष की भी किसी कर्म में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। अतः इतने विस्तृत कार्य-कलाप के अनुष्ठान का क्या फल है यह जाने बिना वर्ण धर्मों में मानव का प्रवृत्त होना कठिन है। अतः भगवान् ने इन कर्मों का निर्देश करने के साथ ही इसका फल बतलाते हुए कहा है कि इस प्रकार के कर्मानुष्ठान का वही फल है जिसकी कामना सभी कर्म करने वालों की होती है। सभी कर्म करने वाले मनुष्यों की यही इच्छा रहती है कि जिस कार्य को उन्होंने अपनाया है उसमें उन्हें सफलता प्राप्त हो, उसका उद्देश्य पूरा हो। यदि किसी कर्म में प्रवृत्त मनुष्य को सफलता नहीं मिलती तो उसे बहुत कष्ट होता है। अतः यह स्वभाव सिद्ध बात है कि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कार्यों में सिद्ध की अभिलाषा रखता है। इसी सर्व-साधारण की सामान्य अभिलाषा की पूर्ति को भगवान् ने उक्त प्रकार के कर्मानुष्ठान का फल बतलाया है। अपना-अपना कार्य करते हुए ही मनुष्य को सफलता प्राप्त होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो पुरुष अपने स्वभाव सिद्ध कर्म का परित्याग कर अन्य वर्ण के स्वभाव सिद्ध कर्म को ग्रहण करता है, वह संसिद्धि प्राप्त नहीं करता। इसका कारण स्पष्ट है। प्रत्येक कार्य की सफलता का बीज उस कार्य में अपनी अभिरुचि और उस कार्य की कुशलता में निहित रहता है। जो अपना स्वभाव सिद्ध कार्य है, उसमें सभी की अभिरुचि भी होती है और उसमें वह जन्म से ही कुशलता भी प्राप्त करता जाता है। यदि कोई पुरुष अपने स्वभाव सिद्ध कार्य का परित्याग कर स्वभाव के विपरीत कार्य को अपनाता है तो वह उसमें या तो सर्वथा असफलता होता है, या उसे उस कार्य में आंशिक सिद्धि ही मिलती है, पूर्ण सिद्धि नहीं मिलती, अथवा पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के लिए उसे बहुत अधिक समय तक अभ्यास करना पड़ता है। इसीलिए यहाँ भगवान् ने 'संसिद्धि' शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है कि सम्यक् प्रकार से सिद्धि मिलना। आंशिक सिद्धि और चिरप्रयास के उपरान्त सिद्धि सम्यक् सिद्धि नहीं कही जा सकती।

सिद्धि की व्याख्या में व्याख्याकारों ने लिखा है कि कर्मों की सिद्धि परमतत्त्व का ज्ञान हो जाना ही है। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि स्वभावानुसार शास्त्रबोधित कर्मानुष्ठान करने पर जो कुछ पूर्वसंचित अथवा इस जन्म में उपार्जित अपवित्रता रहती है, वह समाप्त हो जाती है। वह अशुचिता ही सिद्धि या ज्ञान की प्रतिबन्धक है। अपने में अशुचिता धारण करने वाले व्यक्ति में कभी शुद्ध ज्ञान का उदय नही हो सकता। जो अशुचिता अपने में आ गई है उसको हटाने का उपाय यही है कि शास्त्रों के द्वारा निर्दिष्ट कर्मों का मनुष्य अनुष्ठान करता रहे। निकृष्ट और घृणास्पद कर्मों के अनुष्ठान से मनुष्य में अपवित्रता कस संचार होता है। वही अपवित्रता मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने देती।

**''कण्टकं कंटकेनैव शोधयेत्''**

**''विषस्य विषमौषधम्''**

''अर्थात् कांटा चुभ जाने पर उसे कांटे से ही निकाला जाता है। विष का प्रभाव विष से ही दूर किया जाता है।''

इत्यादि नीति वाक्यों के अनुसार कर्मों के द्वारा आई हुई अशुचिता कर्मों के द्वारा ही दूर की जाती है। जिस प्रकार चुभने वाले कांटे के स्वरूप से उसे निकालने वाले कांटे के स्वरूप में भेद होता है, तथा जिस प्रकार अपने दुष्प्रभाव को प्रकट करने वाले विष से उसके प्रभाव को दूर करने वाले विष के स्वरूप में या उसके प्रयोग की प्रक्रिया में भेद होता है, उसी प्रकार अशुचिता का संचय करने वाले कर्मों के स्वरूप में और उस अशुचिता को दूर करने वाले कर्मों के स्वरूप में भी भेद होता है। अपनी इच्छानुसार असत् कर्मों के अनुष्ठान से अशुचिता का संचार होता है और शास्त्रों के द्वारा निर्दिष्ट कर्मों के अनुष्ठान से उस अशुचिता का क्षय होता है। इस प्रकार अशुचिता के क्षीण हो जाने पर मनुष्य को ज्ञान रूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

यहाँ भगवान् ने जो 'नर:' पद कहा है उसका आशय खोलते हुए व्याख्याओं में लिखा गया है कि देवताओं को कर्म करने का अधिकार नहीं है, उन्हें केवल उपासना का ही अधिकार है। अत: उनसे पृथक् करने के लिए यहाँ 'नर' शब्द कहा गया है। यहाँ प्रश्न होता है कि अपने-अपने कर्मों का अनुष्ठान तो सभी करते हैं या अधिकांश व्यक्ति करते हैं परन्तु सबको तो ज्ञान नहीं हो जाता। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भगवान् ने प्रस्तुत श्लोक का उत्तरार्ध कहा है कि जिस प्रक्रिया से कर्म करने पर मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है, उसका प्रकार मैं कहता हूँ अर्जुन तुम सावधान होकर उसे सुनो।

---

# तिरसठवां-पुष्प

**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।**
**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः (४६)**

"जहाँ से समस्त भूतों अर्थात् जड़ चेतन का उद्भव होता है, जिसने यह समस्त दृश्य जगत् फैला रक्खा है, मनुष्य अपने कर्म से उसकी अर्चना करके सिद्धि को प्राप्त करता है" (४६)

यदि मनुष्य केवल अपने अपने कर्मों में ही लगे रहें उससे भी सिद्धि नहीं मिल सकती। सिद्धि मिलने का प्रकार यही है कि अपने-अपने कार्यों का अनुष्ठान भगवान् को अर्पण करने की बुद्धि से किया जाय। मन में सर्वदा यही रहे कि मेरा यह कार्य भगवान् की अर्चना ही है। अपने-अपने कार्यों का अनुष्ठान करते समय ईश्वर के अर्चन की बुद्धि रखने पर ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यही युक्ति यहाँ भगवान् ने बतलाई है। इस बुद्धि से कर्म करने पर चित्त का अहंकार और ज्ञान के प्रतिबन्धक अन्य दोष जिनकी सिद्धि के विघ्न के रूप में सर्वदा आशंका बनी रहती है, वे स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। इस बुद्धि को रखकर अन्य घृणास्पद कार्य भी यदि कोई करता है तो वह भी निन्दनीय नहीं अपितु अग्रगण्य ही माना जाता है।

पितामह भीष्म ने भगवान् को संग्राम में शस्त्रग्रहण कराने की प्रतिज्ञा कर ली थी। भगवान् जब अर्जुन के सारथी बनकर संग्राम में भीष्म के सामने पहुँचे तब उन्होंने अपने क्षत्रियोचित शस्त्रप्रहार रूपी कर्म से ही भगवान् की अर्चना की। उन्होंने इतने तीव्र शस्त्रों का भगवान् पर प्रहार किया कि उनका सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया। अर्जुन पितामह भीष्म के प्रताप के सामने कुछ नहीं कर सका। अन्ततः भगवान् को युद्ध में शस्त्र न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा छोड़कर शस्त्र ग्रहण करना पड़ा। अपने रथ से कूद कर पितामह भीष्म को कटुवचन कहते हुए भगवान् टूटे हुए रथ का एक पहिया हाथ में लेकर उसी से पितामह भीष्म पर प्रहार करने के लिए दौड़ पड़े। इस पर पितामह ने कहा कि हे भगवन् ! आज आपने अपने भक्त की प्रतिज्ञा रखने के लिए अपनी शस्त्र न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा तोड़ दी। अन्यथा समस्त लोकों को क्षणभर में उत्पन्न और समाप्त कर देने की अनिर्वचनीय शक्ति रखने वाले आपके लिए मेरे जैसे क्षुद्र पुरुष का संहार कर देना निमिष मात्र का कार्य था। पितामह भीष्म दुर्योधन का पक्ष लेते हुए भी भगवान् में पूर्ण श्रद्धा रखते थे। उन्होंने भगवान् कृष्ण के स्वरूप को पहिले ही पहिचान कर यह घोषणा कर दी थी कि भगवान् कृष्ण सामान्य मानव

नहीं, परब्रह्म के पूर्णावतार हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भीष्म पितामह ने ही भगवान् कृष्ण का अग्र पूजन करने की सलाह युधिष्ठिर को दी थी। भगवान् के भक्तों की गणना में पितामह भीष्म का अग्रस्थान है। उन्होंने जब भगवान् पर प्रहार किया तो दुर्योधनादि के समान द्वेष बुद्धि से नहीं अपितु अपने कर्म से भगवान् की अर्चना करने की ही बुद्धि से। विपक्ष की ओर से युद्ध कर रहे थे। जीवन भर जिसका साथ निभाया जिसके आश्रय में रहे, हृदय से पाण्डवों का हित चाहते हुए भी अपने कर्म का सम्यक् परिपालन करने के लिए संग्राम में उन्होंने दुर्योधन की सेना का सेनापतित्व ही स्वीकार किया और १८ दिन के संग्राम में पूरे १० दिन तक उनके ही सेनापतित्व में युद्ध होता रहा। उन्होंने पांच दिन में निष्पाण्डवा पृथ्वी कर देने की दुर्योधन के सामने प्रतिज्ञा भी की और अपनी उस चरम अवस्था में ब्रह्मचर्य के अतुल प्रभाव से वह पराक्रम दिखाया कि पांडव सेना में त्राहि-त्राहि मच गई और युद्ध का अन्तिम निर्णय समीप दिखाई देने लगा। परन्तु विजय तो भगवान् कृष्ण जहाँ थे उसी पक्ष की होनी थी।

अपनी आयु के अन्तिम समय में भीष्मपितामह ने जो भगवान् की स्तुति की, उसमें भी उन्होंने भगवान् के अपने पराक्रम से क्षत-विक्षत हो जाने वाले रूप का ही ध्यान किया है—

**युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।**
**मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विगलत्कवचेऽस्तुतिर्मदीया ।।**

(भागवत्)

**स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।**
**धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिमं गतोत्तरीयः ।।**

(भागवत् प्र० स्कन्ध० ९ अ०)

भीष्म पितामह अपने अन्तिम समय में भगवान् के उस रूप का ध्यान कर रहे हैं जो युद्ध के समय में घोड़ों के चलने से उठी हुई धूलि से ढँक गया था, जो श्रम के कारण पसीने से आप्लुत हो गया था और उनके शरीर की त्वचा भीष्म के पैने बाणों के प्रहार से कट-कट कर गिर रही थी, रक्त का प्रवाह जिसमें बह रहा था, जिसमें भगवान् अपनी प्रतिज्ञा को छोड़कर भीष्म की प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए रथ से कूदकर टूटे हुए रथ के पहिए को लेकर प्रहार करने क लिए उद्यत हो गए थे। यही भीष्म का उपास्य रूप था। यही अपने कर्म से ईशार्चन है। भीष्म को इसी से सिद्धि मिली और भक्तों की गणना में उनको अग्र स्थान प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत पद्य में कहा गया है कि जिस परब्रह्म से समस्त जगत् की उत्पत्ति तथा उसमें क्रियाशक्ति का संचार होता है, उसकी पूजा अपने कर्म से करने पर मनुष्य को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक कार्य करते हुए परब्रह्म के स्वरूप और उसके माहात्म्य का ध्यान रखना चाहिए। शास्त्रों के द्वारा बोधित सात्विक कर्म भी इस ईशार्चन की भावना के बिना किए जाने पर अकिञ्चित्कर हो जाते हैं। यथार्थ ज्ञान जो सिद्धि रूप है, वह नहीं हो पाता।

# चौंसठवां-पुष्प

**श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**
**स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।**

"गुण शून्य भी अपना स्वभावनियतधर्म अच्छे प्रकार से अनुष्ठित परधर्म से श्रेष्ठ है, अपने स्वाभाविक कर्म को करने वाला मनुष्य पाप का भागी नहीं बनता" (४७)

यहाँ भगवान् ने अपने स्वाभाविक कर्मों के परिपालन पर बहुत अधिक बल दिया है। अपने स्वभाव नियत कर्मों की व्याख्या ऊपर के पद्यों में हो चुकी है। यह जोर यहाँ भगवान् ने इस बात को ध्यान में रखकर दिया है कि यह मानव मात्र की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी वर्तमान स्थिति में असन्तुष्ट रहता है और दूसरे की गिरी हुई स्थिति को भी बहुत उच्चकोटि की मानता है। इस भावना के वशीभूत होकर बहुत से मनुष्य अपना काम छोड़कर दूसरों का काम अपना लेते हैं और इसमें बड़े सुख का अनुभव करते हैं। परन्तु यह सुख तामस सुख है। यह पहले तो अमृत के समान प्रतीत होता है, पर आगे चलकर विष के समान दुःखद हो जाता है। हम उदाहरण के लिए समाज की वर्तमान दशा को ही लें। इस समय भगवान् ने जो नियत और स्वभावसिद्ध कर्म बतलाए उनका तिरस्कार ही परम पुरुषार्थ माना जाता है। कहा जाता है कि विज्ञान के इस युग में अब वह प्राचीन कर्म विभाग निकम्मा हो चुका। प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक कर्म करने की पूरी स्वतंत्रता है। व्यवहार में भी बहुत कुछ यही बात आ रही है और ब्राह्मण क्षत्रिय आदि वर्ण विभाग की बात करना भी एक निन्दनीय बात समझी जा रही है। प्राचीन कर्म विभाग व्यवस्था को भेद-भाव पर आधारित बतलाकर उसकी पूर्णरूप से अवहेलना की जा रही है। परन्तु हमारा विनम्र प्रश्न है कि क्या प्राचीन कर्म विभाग की व्यवस्था को बदल डालने से समस्त भेद-भाव समाप्त कर दिये गये। देखने में तो आज यह आ रहा है कि प्राचीन भेद-भाव को मिटाकर हमने उससे दस गुने अधिक भेद-भाव उत्पन्न कर लिये और उन अपने बनाए भेद-भाव में इस तरह जकड़ गये कि वह पूरे समाज के लिए गहरी चिन्ता का विषय हो गये। भारत की प्राचीन व्यवस्था में परिवर्तन आज कोई नया नहीं है। इसके प्रारम्भ के बीज महाभारत के युद्ध के साथ ही जम गए थे। उस महायुद्ध में सम्पूर्ण भारत के सभी वीर पुरुष काम आये, वीरों के कुल के कुल नष्ट हो गए और उत्तर काल में भारतीय समाज में उन दोषों ने क्रमशः पदार्पण किया जिनकी

आशंका अर्जुन ने प्रथम अध्याय में ही की थी। वीर विहीन हो जाने के कारण भारत पर बाहरी आक्रान्ताओं ने आक्रमण किये और धीरे धीरे भारत दासता की ओर अग्रसर होने लगा। गीता में कही गयी समाज व्यवस्था पर बौद्ध मत ने भी आक्रमण किया और बौद्धकाल में भारत से रही सही वीरता भी जाती रही। आक्रान्ताओं ने हमारी समाज व्यवस्था को पूर्णशक्ति लगाकर नष्ट-भ्रष्ट किया और परिणाम स्वरूप वर्ण धर्म और आश्रम धर्मों का जो रूप बचा वह दोष युक्त हो गया। शास्त्रों को लोग भूलने लगे। शास्त्रों का मनन चिन्तन कुछ ही अंगुलिगणनीय लोगों में सीमित रह गया। अधिकांश जनता में शास्त्र ज्ञान के अभाव में मनमानी रूढ़ियों ने घर कर लिया और शास्त्रों की पवित्र मर्यादाओं पर अन्धकार छाता चला गया। उसी परिस्थिति का चरम विकास अब हम अनुभव कर रहे हैं। प्रश्न होता है कि यदि महाभारत युद्ध में इस व्यवस्था की विकृति के बीज निहित थे और अर्जुन ने अपनी दूरदर्शिनी बुद्धि से उन्हें यदि पहिले ही जान लिया था, तो भगवान् की दृष्टि में वह बात क्यों नहीं आई ? उन्होंने अर्जुन को जबर्दस्ती युद्ध के लिए प्रेरित क्यों किया ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि भगवान् ने युद्ध को टालने का कम प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने सन्धि के लिए दूत बनना भी स्वीकार किया। परन्तु दुर्योधन की हालत इतनी बिगड़ गई थी कि बिना युद्ध के और कोई उपाय नहीं रह गया था। इस विवेचना से यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पथ भ्रष्टता के लिए इतना लम्बा इतिहास दोषी है उसका समाधान हम कैसे कर सकते हैं। यह बात नहीं है। यदि हम उस व्यवस्था के महत्व को समझ कर उसकी स्थिति को सम्हालने की चेष्टा में शक्ति भर योगदान करते हैं और तब भी प्रकृति के प्रवाह के कारण वह गिरती चली जा रही है तब तो हमारा उसमें दोष नहीं है। परन्तु यदि हम बिना उसके यथार्थ स्वरूप को जाने उसके महत्व पर आघात करते हुए स्वयं उसको बिगाड़ने में योगदान करते हैं तो अवश्य ही हम दोष के भागी बनेंगे। इस प्रश्न का समाधान तो हम पहले अपने वर्ण व्यवस्था की वैज्ञानिकता को सिद्ध करते हुए कर ही चुके हैं कि सामाजिक मनुष्यों के कार्यों से वैज्ञानिक रीति से इससे श्रेष्ठ विभाजन सम्भव ही नहीं, उसको हटाकर जो भी कोई दूसरी व्यवस्था बनाई जायगी वह उन दोषों से कई गुना अधिक दोषों वाली होगी जो दोष समय चक्र से इस व्यवस्था में आते हैं।

यहाँ भगवान् ने इतना संकेत कर दिया है कि अपना कर्म चाहे उसमें कुछ भी गुण प्रतीत न होता हो फिर भी श्रेष्ठ है, क्योंकि किसी लाभ के मिलने की अपने कर्मानुष्ठान में सम्भावना नहीं होती तो भी इतना तो अवश्य होता ही है कि अपना कर्म करते हुए मनुष्य पाप का भागी तो नहीं बनता। दूसरे कर्मों में प्रवृत्त हो जाने पर तो अज्ञान वश उसमें अनेक प्रकार के अपराधों की सम्भावना रहती है इसी लिए भगवान् ने यहाँ अपने विगुण अर्थात् लाभ से रहित कर्म को भी श्रेयस्कर बतलाया है।

# पुरुषार्थ

प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था के मूल आधार पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ के लिए पुरुष की सृष्टि होती है। अतः पुरुषार्थ का भी थोड़ा निरूपण यहाँ आवश्यक है।

आर्य-शास्त्रों में चार पुरुषार्थ बतलाए गए हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरुषार्थ शब्द का अर्थ है '**पुरुषैरर्थ्यते पुरुषार्थः**' पुरुष की इष्ट वस्तु ही पुरुषार्थ है। पूर्वोक्त चारों पदार्थ पुरुष को इष्ट होते हैं, अतः ये पुरुषार्थ कहे गए हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर तो यही प्रतीत होता है कि अर्थ और काम ही पुरुषार्थ हैं। पुरुष स्वभावतः अर्थ और काम की ओर ही झुकते हैं। द्रव्योपार्जन और उसके द्वारा विविध प्रकार के सुखोपभोग करना कौन नहीं चाहता ? सच पूछिए तो इन दोनों के बिना पुरुष किसी काम का नहीं। अर्थ और काम से सर्वथा शून्य पुरुष को संसार में कोई 'पुरुष' कहने को भी तैयार न होगा। अर्थ और काम में जो जितनी उन्नति कर चुका है, जितनी संपत्ति जिसके पास है, जितने उपभोग के साधन-सुन्दर विशाल भवन, अच्छी से अच्छी सजीली गाडियाँ, चमकीले वस्त्राभूषण आदि जिसको उपलब्ध हैं, वह उतना ही उन्नत कहलाता है। संसार में उतना ही आदर पाता है। इसीलिए बालक से बूढ़े तक, मूर्ख से प्रकांड विद्वान् तक, ग्रामीण से चतुर नागरिक तक, सब इन दोनों के हेतु यथाशक्ति उद्योग करते हैं। जैसी सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इन दोनों की ओर होती है, वैसी धर्म और मोक्ष की ओर नहीं। धर्म और मोक्ष की ओर यदि प्रवृत्ति होती भी है तो केवल विद्वानों को ही, सो भी अपनी इच्छा से नहीं, केवल शास्त्र की आज्ञा से। तब तो जिसमें पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं उसे पुरुषार्थ कहना सर्वथा अनुचित है। आज्ञा और प्रेरणा से प्रवृत्ति होना औा बात है, तथा स्वतः इष्ट समझकर प्रवृत्ति होना और बात। प्रभु आदि की आज्ञा से तो पुरुष ऐसे कार्य में भी प्रवृत्त देखे जाते हैं जो उनको सर्वथा अनिष्ट है। इसके अतिरिक्त धर्म में प्रवृत्ति भी बहुधा अर्थ और काम के लिये ही होती है। प्रायः आस्तिक पुरुष कीर्त्ति के लिये या परलोक में धन-प्राप्ति की इच्छा से ही दान करते हैं। परलोक में विविध कामों की प्राप्ति के उद्देश्य से यज्ञ, तप आदि किए जाते हैं। अतः धर्म यदि पुरुषार्थ हो भी, तो स्वयं पुरुषार्थ नहीं, किन्तु अर्थ और काम का अंगभूत होकर-उनका साधन होने से गौण पुरुषार्थ हो सकता है। बिना किसी उद्देश्य के, केवल धर्म की इच्छा प्रायः किसी को नहीं होती। मोक्ष का तो स्वरूप ही बहुत कम इने गिने आदमी समझ सकते हैं, फिर उसकी इच्छा और उसके विषय की प्रवृत्ति की क्या कथा। सुतरां जिस सार्वभौम भाव से अर्थ और काम पुरुषार्थ कहे जा सकते हैं उस भाव से धर्म और मोक्ष नहीं। यदि कुछ पुरुषों को इनकी चाह

हो, तो भी सामान्य रूप से इन्हें पुरुषार्थ नहीं कह सकते। स्थूल दृष्टि से ऐसा ही प्रतीत होता है। किन्तु, यदि आप विचार-दृष्टि से काम लेंगे, तो सिद्ध हो जायगा कि धर्म और मोक्ष भी सार्वभौम भाव से पुरुषार्थ हैं, प्रत्युत ये ही मुख्य पुरुषार्थ हैं, अर्थ और काम गौण हैं।

इस पर विचार करने से पहले धर्म और मोक्ष शब्द का अर्थ जानना अत्यावश्यक है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'धारण करना' है। इससे केवल यही अभिप्राय नहीं कि जो धारण किया जाय वही धर्म है। किन्तु 'ध्रियते इति धर्मः' और 'धरतीति धर्मः'–इन दोनों व्युत्पत्तियों के अनुसार जो धारण किया हुआ–तत्तद् वस्तु के स्वरूप को धारण करने वाला हो, वह उसका धर्म कहा जाता है। धर्म पद का यही अर्थ महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है–

**"धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।**
**यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।।"**

'धारण करने के कारण धर्म को धर्म कहते हैं, धर्म ही प्रजा को धारण करता है'–इत्यादि। अभिप्राय यह कि प्रकृति के प्रवाह में किसी का उत्थान और किसी का पतन बराबर चलता रहता है। शास्त्रकारों का निश्चय है कि यह उत्थान या पतन यादृच्छिक अकारण नहीं, किन्तु सकारण ही होता है। उत्थान का कारण उपस्थित होने पर उन्नति, और पतन का कारण उपस्थित होने पर पतन अवश्य होगा। इतना भी अवश्य स्मरण रहे कि इस उत्थान वा पतन का कारण क्रिया ही होती है। यह संपूर्ण संसार क्रिया-शक्ति का विजृंभण मात्र है। बस, जो क्रिया पतन नहीं होने देती स्वरूप को स्थिर रखती हुई उन्नति की ओर बढ़ती है, वही धर्म कहलाने योग्य है। सुतरां स्वरूप-रक्षा ही धर्म का एकमात्र उद्देश्य है। इसके विपरीत जिस क्रिया से पतन होता है–जो क्रिया वस्तु के स्वरूप को नष्ट कर देनेवाली है, वही अधर्म कही जाती है। इसलिये उसका दूसरा नाम है 'पातक' अर्थात् पतन का गिरने का कारण।

ये धर्म और अधर्म शब्द सब वस्तुओं के संबंध में व्यवहृत हो सकते हैं। उदाहरण के लिये समझिए कि जिन क्रियाओं द्वारा वृक्ष हरा-भरा रहे–पुष्पित और फलित होने के उन्मुख रहे, वे क्रियाएं वृक्ष के संबंध में धर्म होंगी, चाहे वे वृक्ष की स्वयं शक्ति से उत्पन्न हों या आगंतुक पदार्थों के संबंध से पैदा हुई हों। इसके विपरीत जिनके द्वारा वृक्ष अपना वृक्षत्व छोड़कर स्थाणु (ठूंठ) के रूप में चला जाय, वे क्रियाएं उसके संबंध में अधर्म होंगी। किन्तु जहां इतर जड़ पदार्थ वा क्षुद्र प्राणी केवल स्वाभाविक वा अन्यकृत क्रियाचक्र के अधीन उत्थान या पतन के प्रवाह में उछलते

और गोते लगाते हैं, वहां ज्ञान-प्रधान पुरुष-जाति स्वाभाविक क्रियाचक्र पर अपना अधिकार जमाती हुई अपने को पतित होने से रोककर, उन्नति की ओर प्रवृत्त हो सकती है। अतएव मनुष्य को धर्म और अधर्म का उपदेश शास्त्र द्वारा किया जाता है। शास्त्र हमें बतलाता है कि अमुक क्रिया के करने से तुम अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए उन्नति की ओर बढ़ सकोगे, अतएव यह तुम्हारे पक्ष में धर्म है, और अमुक क्रिया से तुम स्वरूप से पतित हो जावोगे, अतः यह तुम्हारे पक्ष में अधर्म है। विचारशील पाठक स्वयं विचार कर सकेंगे कि उत्थान और पतन में अपेक्षाकृत अवांतर-भेद बहुत हैं। अतएव सामान्य विशेष भाव से धर्म के भी अवांतर-भेद बहुत हो जाते हैं। जो क्रिया मनुष्यत्व सामान्य के उपयोगी है-जिस कार्य के करने में मनुष्य की मनुष्यता में कोई बाधा नहीं होती, प्रत्युत मनुष्यत्व के उच्च कोटि की ओर ले जाने वाली जो क्रिया हो, वह मनुष्य के पक्ष में सामान्य धर्म कही जायगी, किन्तु जो काम करने से मनुष्य मनुष्यत्व से पतित माना जा सकता है, वह मनुष्य-सामान्य के पक्ष में अधर्म होगा। पूर्वोक्त सामान्य धर्म का परिपालन करते हुए भी-मनुष्यत्व में कोई बाधा न होते हुए भी-जो क्रिया ब्राह्मणत्व में बाधक होगी, जिस क्रिया के द्वारा ब्राह्मण की मूलभूत ज्ञान शक्ति पर आघात होगा, वह ब्राह्मण के पक्ष में अधर्म होगी। किन्तु ब्राह्मणोचित शक्तियों का विकास जिसके द्वारा हो सके, वह ब्राह्मणों का धर्म होगा। यह धर्म विशेष-धर्म या ब्राह्मण-धर्म कहा जायगा। इस विशेष-धर्म के संबंध में यह भी अत्यावश्यक होगा कि जो क्रिया ज्ञान-शक्ति के सबंध में परम उपकार करती हुई भी क्षत्रियत्व की मूलभूत पराक्रम-शक्ति पर आघात पहुंचाने वाली होगी, वह ब्राह्मणों का धर्म होते हुए भी क्षत्रियों के पक्ष में अधर्म कही जायगी। उनकी शक्ति का विकास जिसके द्वारा हो सके, वह उनका धर्म होगा। इस प्रकार प्रति जाति, प्रति श्रेणी, प्रति कुल और प्रति व्यक्ति विशेष धर्म के अनंत भेद होंगे, जिनका विस्तार करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हां, इतना और स्मरण करा देना है कि धर्म के विचार में वही उन्नति 'उन्नति' कही जाती है जो भविष्य में पतन का कारण न हो। जहां केवल तात्कालिक उन्नति की चमक-किन्तु भविष्यत् में अवनति का घोर अंधकार हो, उसे यहाँ उन्नति नहीं कहा जा सकता। यह तो पतन का पूर्वरूप मात्र है और पतन के दुःख को बहुत अधिक कर देने वाली है। वर्तमान में चाहे कुछ कष्ट भी सहना पड़े, किन्तु परिणाम अमृतमय हो, वही सच्ची उन्नति है। उसी को शास्त्रों में श्रेय कहते हैं। केवल परलोक ही नहीं, इस लोक की भी स्थिर उन्नति धर्म के ही अधीन है। शास्त्रकार भी धर्म के निरूपण में यही विश्वास दिलाते हैं-

"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च।।"

–महाभारत, अनुशासन-पर्व, अध्याय २६५

अर्थात् लोकस्थिति के निर्वाह के लिए ही धर्म का नियम किया गया है। वह धर्म इहलोक और परलोक में भी परिणाम में सुख देने वाला होता है।

यहां परिणाम से केवल मेरा अभिप्राय यह था कि जैसे कोई चोर या छली अपने पाप के प्रकट होने तक कुछ द्रव्य इकट्ठा कर ले और कुछ काल तक उसका इष्ट उपभोग करता हुआ उसी को उन्नति मानने लगे, तो उन्नति शब्द का यह अर्थ यहां नहीं है। वह तो उसके पतन का पूर्वरूप मात्र है, जिसके अनंतर पतन अवश्यंभावी है। साथ ही यह भी याद रखना होगा कि जो एक व्यक्तिमात्र की उन्नति उन्नति नहीं कही जा सकती, किन्तु स्वजनों की और स्वदेश की उन्नति के अनुकूल उन्नति ही सच्ची उन्नति है। जो मनुष्य स्वार्थवश समुदाय को हानि पहुंचाएगा, समुदाय के अंतर्गत होने से उसका प्रभाव उस पर भी पड़ेगा। अतएव यहां भी स्पष्ट कहना होगा कि उन्नति के नाम से प्रकारांतर से वह अपनी ही अवनति कर रहा है। समुदाय के प्रश्न को छोड़कर अन्य व्यक्तियों को हानि पहुंचाने से भी इन सब व्यक्तियों द्वारा इसकी भी हानि अवश्य होगी। मान लीजिए कि धर्म का बंधन तोड़कर सब लोग स्वेच्छाचार में लगे हुए हों, ऐसी दशा में यदि मनुष्य औरों को कष्ट पहुंचाकर चोरी, छल आदि से अपने को धनी बनाता है, तो आगे उसकी ही स्थिरता क्यों होगी ? उससे अधिक चतुर मनुष्य उसकी भी वही दशा करेंगे जो उसने अन्य सीधे-सादे मनुष्यों की की है। इसी आधार पर शास्त्रकार बार-बार आज्ञा देते हैं कि–

"अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि।।" –मनु
"यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्मपूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ।।"

–महाभारत, भीष्मानुशासन-पर्व, अध्याय २६५

"अन्य प्राणियों के द्रोह के बिना या अंततः अल्पद्रोह से जो वृत्ति हो सके, उसी का आश्रय ब्राह्मण को ग्रहण करना चाहिए।"–"मनुष्य जिस कार्य का औरों के द्वारा अपने लिये किया जाना नहीं चाहता, वह स्वयं भी दूसरों के लिये न करे।"

हां, तो जो क्रिया स्वरूप की रक्षा करती हुई उन्नति की ओर ले जाती है उसी का नाम धर्म है। अब आप स्वयं विचारें कि क्या कोई मनुष्य ऐसे काम वा अर्थ की इच्छा करेगा जो स्वरूप को नष्ट करने वाला हो। संसार में जहां तक दृष्टि फैलाकर देखिए, यही प्रतीत होगा कि पहले स्वरूप की रक्षा सब चाहते हैं। कितना ही कोई अर्थ या काम में आसक्त पुरुष हो, स्वरूप-नाश का प्रश्न उपस्थित होते ही वह तुरंत अर्थ या काम को नमस्कार कर देता है। कुछ थोड़े-से बुद्धि के शत्रु उन कृपणाचार्यों वा विषय-लंपटों की बात जाने दीजिए, जो क्षुधा से शरीर का नाश करते हुए भी धन ही धन की माला जपते या मद्य सेवन करते हैं तथा वारांगना-बाहुपाश से बंधे हुए जानते ही नहीं कि स्वरूप क्या होता है और उसका नाश किस चिड़िया का नाम है। वे तो नित्य नए राग और विलास की धुन में मृत्यु के आवाहन-मंत्र स्वयं जपा करते हैं। ऐसे विषयांध जगत् में कम नहीं हैं। इनकी प्रवृत्ति का कारण भी आगे दिखाया जायगा। सार्वभौम भाव से यदि प्रवृत्ति सर्वसाधारण की देखी जाय तो यही स्पष्ट होगा कि अर्थ और काम आदि सबसे बढ़कर पहले स्वरूप रक्षा की आवश्यकता है। वह स्वरूप-रक्षा धर्म के अधीन है। अत: धर्म ही प्रथम पुरुषार्थ हुआ। यह स्वरूप-रक्षा किसी दूसरे का अंग नहीं, किन्तु स्वत: सबकी अग्र है, अत: प्रधान पुरुषार्थ है। सच पूछिए तो अर्थ और काम इसी के अंग हैं। जिस पुरुष को जैसे स्वरूप का अभिमान होता है, वह वैसे ही अर्थ और वैसी ही काम-सामग्री की इच्छा किया करता है। स्वरूप-विरोधी अर्थ और काम की इच्छा कोई नहीं करता। इच्छा क्या नहीं करता, बिना स्वरूप के अर्थ और काम हो ही नहीं सकते। अतएव शास्त्रकारों का निश्चय है कि बिना धर्म के अर्थ और काम की स्थिति ही नहीं है–

**"अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिण: कुत: ।**
**तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाभ्यां बहिष्कृतात् ।।"**

महाभारत, आपद्धर्म, अध्याय १६५

**"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।"** –भारत-सावित्री

**"परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।"**–मनु

अस्तु, संक्षेपत: यह सिद्ध हो चुका कि "स्वरूप-रक्षा" का साधन धर्म है, और स्वरूप-रक्षा के बिना अर्थ और काम की कोई स्थिति नहीं। अब किंचित् यह भी देखना होगा कि स्वरूप-रक्षा का क्या अभिप्राय है। जिस प्रकार के समाज, जाति, कुल, श्रेणी आदि का अभिमान हमको हो, वह सब हमारे स्वरूप में ही प्रविष्ट मान लिया जाता है। इसीलिये धर्म में अवान्तर तारतम्य बहुत अधिक हो जाते हैं। जो

असभ्य मनुष्य अपने में किसी प्रकार की सभ्यता का अभिमान नहीं रख सकते, उनके पक्ष में धर्म की व्याख्या बहुत कम रह जाती है। उनको केवल अपने स्थूल शरीर का अभिमान है, वही उनका स्वरूप है। उसकी रक्षा जितने से–अर्थात् जिस प्रकार के आहार–विहार से–उनके विचार में हो सकती है, उस धर्म को वे भी बड़े आदर और आग्रह से मानते हैं। स्थूल शरीर के नाशक विषभक्षण आदि से वे भी दूर ही रहेंगे और उनकी उन्नति के लिए बराबर यत्न करेंगे। किन्तु तत्काल की उन्नति ही उनके ध्यान में आती है, परिणाम को वे अविद्यावश नही समझ सकते। इसी से स्थूल शरीर के लिए भी परिणाम में अपकारक मद्यपान आदि से वे बचना नहीं चाहते। इसी प्रकार कुलरक्षा, समाजरक्षा और सभ्यता, यश आदि की रक्षा को अविद्यावश वे अपनी स्वल्प-रक्षा के अंतर्गत नहीं मानते, और अविद्या के कारण ही इन सबकी हानि सह लेते हैं। किन्तु जो कुछ वे अपना सर्वस्व मानते हैं उसकी रक्षा के साधनों में अवश्य उनकी भी प्रवृत्ति रहती है, इसी से धर्म उनके लिए भी पुरुषार्थ है ही। यही बात सभ्य मनुष्यों के लिए भी कही जा सकती है। ज्यों–ज्यों मनुष्य विद्वान् होता है त्यों–त्यों सामाजिकता, सभ्यता, कुलमर्यादा, यश आदि को भी अपने स्वरूप में प्रविष्ट मानने लगता है, और अपने शरीर के समान ही–प्रत्युत उससे बढ़कर–इन सबकी रक्षा के लिये ध्यान देता है। स्पष्ट देखा जाता है कि शरीर का कष्ट सहते हुए भी सभ्य पुरुष वस्त्र-विन्यास, उठने-बैठने आदि में सभ्यता के नियमों का पालन आवश्यक समझते हैं। जिनको कुल मर्यादा पर विशेष अभिमान है वे मर्यादा को और जो यश के अभिमानी हैं वे यश को नहीं बिगड़ने देते। "रघुवंश" के द्वितीय सर्ग में महाकवि कालिदास की यह उक्ति कितनी मार्मिक है–

**"किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।**
**एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।।"**

सिंह से राजा दिलीप कहते हैं कि 'हम लोगों का केवल यह हाड़-मांस का शरीर ही शरीर नहीं, एक यश–रूप शरीर हमारा और भी है, और हम लोग इस हाड़-मांस के शरीर की अपेक्षा उस यश–रूप शरीर का बहुत अधिक मूल्य समझते हैं। सो यदि तुम्हें भी मुझ पर दया दिखाना है तो उस यश–रूप शरीर पर ही दया दिखाओ।"

बुद्धिमान् प्रतिष्ठित मनुष्यों की यह स्वाभाविक बात है कि वे यश को अपना स्वरूप मानते हुए उसकी रक्षा के लिये अर्थ और काम को तो तुच्छ समझते ही हैं, शरीर को भी कष्ट देने में किंचित् संकोच नहीं करते। इसी उद्देश्य से यश के साधन 'परोपकार' को सबसे बड़ा धर्म माना गया है।

बुद्धिमान् सभ्य पुरुषों की विवेकशील दृष्टि में समाज भी अपना स्वरूप ही है। समाज और कुछ नहीं, बहुत से व्यक्तियों का समूह है। यदि सब व्यक्ति उसे अपना स्वरूप न समझें, तो फिर समाज का अस्तित्व कहां रहेगा। ऐसे विचारवालों की दृष्टि में जो समाज की उन्नति के साधन हैं वा जिन साधनों के बिना समाज की स्वरूप रक्षा नहीं हो सकती, वे सब भी धर्म के मुख्य स्वरूप माने जाते हैं।

कल्पना कीजिए एक ऐसे समाज की, जो धन-धान्य से पूर्ण है, सब प्रकार के शिल्प और उच्च कोटि के व्यापार जिसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, जिसको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कभी दूसरे का धन हड़प जाने को तैयार हैं, परस्पर धोखा देने में अपना पुरुषार्थ मानते हैं, आपस में लड़ाई-झगड़े करते हैं और अवसर पाते ही एक दूसरे को मार डालने में भी नहीं हिचकते, तो क्या पूर्वोक्त सब ऐश्वर्यों के रहते हुए भी उस समाज को कोई उन्नत कह सकता है ? उन्नति तो दूर रहे, क्या उस समाज की जीवन-रक्षा भी कभी हो सकती है–उसे कुछ भी सुख और शांति मिल सकती है ? अतएव 'स्वरूप-रक्षा' को समाज-रक्षा के अधीन समझकर ही सभ्य समाज में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धर्मों का बहुत ऊँचा आसन है। इतना ही नहीं, समाज को निज स्वरूप माननेवालों के लिए समाज-रक्षा का प्रश्न बड़े महत्व का है। उसके सामने वे अपने धन, जन, सुख और शरीर तक का त्याग भी एक सामान्य बात समझते हैं। इसी भांति देश को स्वरूप माननेवाले, देशरक्षा के लिये, सबका बलिदान करते हैं। इससे भी बढ़कर, जो अपने को ब्रह्माण्ड का एक अंश मानते हुए–समस्त ब्रह्माण्ड में एक आत्मा देखते हुए–समस्त ब्रह्माण्ड को निज स्वरूप मान चुके हैं, वे ब्रह्माण्ड के हित के लिये सर्वस्व का बलिदान करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसी भाव से प्रेरित होकर जगत् की रक्षा के लिये दधीचि ने अपनी हड्डियाँ भी दे दी थीं। ऐसे ही पुरुषों के लिये कहा गया है कि

**''उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'।**

आप विचारेंगे कि इसी प्रकार विद्वान् सभ्य पुरुषों के पक्ष में क्रमश: धर्म की व्याख्या विस्तृत होती जाती है। यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि विद्या से मनुष्य परिणामदर्शी बनता है, अतएव ज्यों-ज्यों किसी कार्य से परिणाम में बुराई प्रतीत होती जाती है त्यों-त्यों वह कार्य विद्वानों के समाज में हेय माना जाता है। इसी आधार पर मद्य-मांस-वर्जन आदि विद्वत्समाज में बड़े धर्म समझे गए हैं।

यह स्वरूप के बाह्य विस्तार का संक्षेप हुआ, अब आंतर विस्तार की ओर आइए।

जिस समाज में दर्शन-शास्त्र का विशेष प्रचार या चर्चा नहीं वह स्वरूपरक्षा का कोई यत्न नहीं कर सकता, अथवा यों कहिए कि जो पूर्णतया यह स्पष्ट नहीं जानते कि इस स्थूल शरीर के बाद भी कुछ रहता है–परलोक में जानेवाला या पुनर्जन्म पानेवाला भी कोई है, वे उसकी स्वरूप-रक्षा या उन्नति के लिये भी कोई यत्न नहीं कर सकते, उनकी धर्म-व्याख्या स्थूल तत्त्वों पर ही समाप्त हो जाती है। किन्तु जो अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर का भी पूर्ण अनुभव कर चुके हैं, और गंभीर तत्त्व के तल तक पहुंचाने वाली जिनकी दृष्टि उस सूक्ष्म शरीर की स्वरूप-रक्षा और उन्नति के उपायों को भी देख चुकी है, उन विद्वान् महानुभावों के समाज में धर्म की व्याख्या बहुत विस्तृत है। वे स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर की उन्नति को बहुत अधिक प्रतिष्ठा देते हैं। अतएव परलोकसंबंधी धर्म ऐसे समाज में सबसे प्रधान माने जाते हैं। "परिणाम" शब्द से इनके यहां परलोक की उन्नति ही समझी जाती है। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर बहुत अधिक स्थायी है, वह इस शरीर को छोड़कर अनेक लोकों तथा दूसरे शरीरों में भी जाता है, उसको आगे सद्गति की ओर ले जाना या दुर्गति की ओर गिराना अपने ही कर्मों पर निर्भर है–इस तत्त्व को समझ जाने वाला विद्वान् या विद्वत्समाज स्वभावतः उसकी की उन्नति के यत्नों में लग जाता है। यही कारण है कि आर्य-जाति के धर्म का विशेष संबंध परलोक से है और इस जाति की धर्म-व्याख्या अति विस्तृत एवं कठिन है। सहस्रों वर्ष पूर्व यह जाति दार्शनिक विज्ञान में चरम उन्नति कर चुकी थी–और स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर, आत्मा, लोक, परलोक गति आदि का पूर्ण ज्ञान भी प्राप्त कर चुकी थी, साथ ही अपने तलस्पर्शी विज्ञान के द्वारा परलोक की उन्नति के साधन भी निश्चित कर चुकी थी। हमारे यज्ञ, तप, उपासना, योग श्राद्ध आदि धर्मों का उच्चतम विज्ञान से घनिष्ठ संबंध है, और वे सब सूक्ष्म शरीर की उन्नति के द्वारा परलोक की सद्गति के युक्तियुक्त साधन हैं। भले ही हम आज अज्ञानवश कर्मकांड के वायु-शुद्धि आदि छोटे-छोटे फलों की कल्पना किया करें, किन्तु कर्मकांड के आकर-ग्रंथ "ब्राह्मण" आदि हमें ऐसा नहीं बताते। वहां स्पष्ट परलोकगति ही अधिकतर कर्मों का मुख्य फल माना गया है। मीमांसा में एक "विश्वजित् अधिकरण" नाम का न्याय ही इसलिये है कि जिस कर्म का कोई फल श्रुति में न लिखा हो उसका फल स्वर्ग ही समझना। उपासना और ज्ञानकांड का तो परलोकगति से मुख्य संबंध ही है। ये सूक्ष्म शरीर, कारण-शरीर वा व्यावहारिक आत्मा की उन्नति के लक्ष्य से ही नियमित हैं।

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का भेद न जानते हुए जनसाधारण भी अविज्ञात भाव से सूक्ष्म शरीर की वृत्तियों का अभिमान रखते हैं, और उन वृत्तियों को ही अपना मुख्य

स्वरूप मानते हुए उनकी रक्षा में शरीर तक का समर्पण कर बैठते हैं। सूक्ष्म शरीर में मन प्रधान है, अतः मन की सब वृत्तियां सूक्ष्म शरीर के ही अंतर्गत मानी जाती हैं। बहुत-से दयालु पुरुष दयावृत्ति को प्रधानता देते हुए-उसी को स्वरूप मानकर जैसे विपत्ति में पड़े हुए प्राणी की रक्षा के लिए अपना धन, जन, शरीर, प्राण सब कुछ छोड़ सकते हैं वैसे ही लोभी पुरुष लोभवृत्ति के चक्कर में पड़कर वा कामी पुरुष कामवृत्ति के वश में होकर भी सबका त्याग कर सकते हैं। यह त्याग भी स्वरूप-रक्षा के अभिमान से ही होता है। यह दूसरी बात है कि वह अभिमान उचित है वा अनुचित, सत्य है वा मिथ्या। लोभ, काम आदि वृत्तियां आगंतुक हैं, ये स्वरूप नहीं कही जा सकतीं, अतएव इनकी रक्षा के उपाय भी धर्म नहीं हो सकते। किन्तु जिन्होंने भ्रांतिवश इनको स्वरूप समझ लिया, वे अधर्म को धर्म समझ कर इन वृत्तियों के परिपालन में लगते हैं। अतः धर्म की अभिलाषा वहां भी है, धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं है। सूक्ष्म शरीर, कारणशरीर वा आत्मा का तत्त्व जानने पर धर्म का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और आचरण में सत्यता आ जाती है। तात्पर्य यह कि जो समाज दर्शन-विज्ञान प्राप्त कर चुका हो उसकी "स्वरूप-रक्षा' कुछ और ही है, और उस जाति की धर्म व्याख्या अति विस्तृत एवं उच्च विज्ञान से संबंध रखने के कारण अति कठिन होती है। वह जाति अपने मुख्य धर्म के सामने अर्थ-कामादि सब प्रकार की उन्नति को गौण समझती है। उस जाति का धर्म औरों के धर्म की अपेक्षा विलक्षण ही होता है। यही कारण है कि हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि लौकिक उन्नति को गौण और तुच्छ ही मानते रहे। यद्यपि वे लौकिक उन्नति के भी सब साधनों के पारंगत विद्वान् तथा आचार्य थे। पारलौकिक उन्नति का जिनको पूर्ण अधिकार नहीं उन्हें वे लौकिक उन्नति के साधनों की पूर्ण शिक्षा भी दे गए हैं, तथापि उनका अपना लक्ष्य यही था कि

**"ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते,**
**इह कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च**

अर्थात् ब्राह्मणों की देह छोटी कामनाओं की पूर्ति करने के लिये नहीं है। वे इस जन्म में पूरा क्लेश उठावें और परलोक में अनंत सुख प्राप्त करें।" यह तो एक स्वाभाविक बात है कि बड़ी और अधिक काल की उन्नति के सामने छोटी और अल्पकाल की उन्नति को सभी छोड़ दिया करते हैं। आगे उत्पन्न होने वाले धान्य की आशा से घर के थोड़े धान्य को खेत में फेंक देने वाले कृषक वा घर की पूंजी को पहले ही खपा देने वाले व्यापारी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। फिर जिनको परलोक का निश्चित

ज्ञान है–जो उस विभूति के सामने यहां की विभूतियों को तुच्छ ही नहीं, तृण के समान नि:सार मानते हैं और इसकी अपेक्षा उसके बहुत स्थिर होने का जिनको निश्चय है, वे उस उन्नति की आशा में यदि इसे छोड़ें तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक आख्यायिका है। महर्षि याज्ञवल्क्य संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहते थे। उनके दो स्त्रियाँ थीं। वे अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं– "मैत्रेयी ! मैं अब संन्यास लेता हूं, मैं अपने धन का तुम दोनों में विभाग कर देना चाहता हूँ" मैत्रेयी पूछती है–"भगवन् ! क्या यह संपूर्ण पृथ्वी धन से भरी हुई मुझे मिल जाय तो मैं अमृत दशा को प्राप्त हो सकूंगी ?" याज्ञवल्क्य ने कहा–"नहीं ! धनवानों की तरह तेरा जीवन होगा, धन से अमृतदशा की तो आशा नहीं की जा सकती।' बस, मैत्रेयी बोल उठी–"जिससे मैं अमर न होऊंगी उस धन को लेकर क्या करूंगी ? जो आपका मुख्य धन आत्मज्ञान है वही मुझे दीजिए। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने समझाया कि आत्मा के संबंध से ही सब वस्तुओं में प्रियता होती है, इसलिये आनंदघनरूप आत्मा का ही विज्ञान प्राप्त करना चाहिए–इत्यादि। सत्य है। जिसे जिस रस का चसका है वह उसी के लिये मत्त है, संसार में उसे और कुछ नहीं सूझता। जिस प्रकार संसारी मनुष्य धन, पुत्र, कलत्र आदि के सुख में मस्त हैं उसी प्रकार भक्त भक्ति में और ज्ञानी ज्ञान में मत्त रहते हैं। सबकी प्रवृत्ति स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अर्थ और काम स्वरूपरक्षा की तुलना में, तुच्छ सिद्ध होते हैं। अत: पुरुषार्थ-विचार में धर्म का, अर्थ और काम सबसे, बहुत अधिक गौरव है। लौकिक और पारलौकिक, सब प्रकार की, उन्नति धर्म के ही अधीन है। किन्तु जो जितना अपना स्वरूप समझ सकता है वा जिस स्वरूप का जिसे मुख्य रूप से अभिमान है–अर्थात् स्वरूप में प्रविष्ट बहुत से पदार्थों में से जिसे जिसने मुख्य मान रक्खा है, उसी की रक्षा के लिए वह यत्न करता है। एक गरीब को केवल अपनी कुटिया की रक्षा की चिंता होती है, किन्तु राजा को संपूर्ण राज्य की रक्षा की चिंता लगी रहती है। इसी प्रकार अधिकाधिक विद्या के कारण जो अपना स्वरूप जितनी उत्तमता से जान सके, उसका धर्म उतना ही विस्तृत होता है। स्वरूपांत:प्रविष्ट पदार्थों में से भी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कोई किसी को और कोई किसी को मुख्य मानता है, उसी पर उसका स्वरूपाभिमान दृढ़ होता है और उसी की उन्नति में वह प्रयत्नशील होता है। इसी आधार पर धर्मों के बहुत भेद हो जाते हैं, और इसी आधार पर कुछ साधारण धर्म सब के एक-से रहते हैं क्योंकि मनुष्यता, सामाजिकता आदि का अभिमान सबको एक-सा ही रहता है। आर्य-जाति अनादि काल से विद्वत्ता के उच्च आसन पर आरूढ़ है, इससे इसका धर्म भी बहुत विस्तृत है।

स्वरूप-रक्षा का साधन होने के कारण, अर्थ और काम से धर्म की उत्कृष्टता सिद्ध की जा चुकी है। अब उस विषय में दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जाय। वास्तव में पुरुषार्थ 'सुख' है, और सब गौण पुरुषार्थ हैं। आनन्द ही के लिये सब मनुष्य सब काल में, सब दशा में, लालायित रहते हैं। सबकी दृष्टि एक ही लक्ष्य 'आनंद' पर है। कोई धन कमा रहा है तो आनंद के लिये, और कोई धन खर्च कर रहा है तो आनंद के लिये। अर्थ, काम, धर्म आदि जिस-किसी वस्तु की इच्छा पुरुष को होती है, बस आनन्द के लिए ही होती है। इसलिये "पुरुषैरर्थ्यते यः स पुरुषार्थः"- पुरुष को जिसकी इच्छा हो वह 'पुरुषार्थ' है-इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पुरुषार्थ' आनंद या सुख ही हुआ, और सब उसके साधन होने से गौण पुरुषार्थ हुए। सुख के साधन ये तीनों हैं-धर्म, अर्थ और काम, इसलिये ये भी 'पुरुषार्थ' कहाते हैं। इनमें भी 'धर्म' ही सुख का मुख्य साधन है, अतः वह साधनों में मुख्य पुरुषार्थ है, इतर दोनों गौण हैं। इसका कारण यह है कि शुभ आचरण-रूप धर्म के बिना अर्थ और काम की प्राप्ति ही असंभव है। शास्त्राज्ञा-रूप धर्म का आचरण करते हुए ही सब वर्ण और जाति के मनुष्य अपनी-अपनी वृत्ति से उपयुक्त धनोपार्जन कर सकते हैं। धर्म के विरुद्ध साधनों से उपार्जन किया हुआ धन कभी सुख का कारण नहीं हो सकता, प्रत्युत अनन्त दुःख उत्पन्न करने वाला होता है। यह चोरी आदि के दृष्टान्तों से नीतिवेत्ता भी मानेंगे। साथ ही, धर्म-विरुद्ध परस्त्री आदि काम-भोग भी कभी सुखजनक नहीं हो सकता। मोहवश चाहे उन कामों में बहुत से लोग प्रवृत्त हो जाते हों, पर उनका समर्थन वे स्वयं भी नहीं कर सकते, और उन अर्थ-कामों से उन्हें कितना सुख और कितना दुःख होता है-यह तो उनका आत्मा ही जानता है। यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि अर्थ या काम से सुख तभी होता है जब उनमें संतोष हो और ईश्वर पर लक्ष्य हो। संतोष की मात्रा के बिना, धन कमाने से अधिकाधिक तृष्णा बढ़ती जाती है, और तृष्णा की ज्वाला से तपे हुए इधर-उधर दौड़-धूप करने वाले विश्राम-शून्य मनुष्यों को सुख का लेश भी नहीं मिल सकता। स्वयं काम भोग करते हुए भी जो दूसरों की ईर्ष्या से जले जाते हैं, अथवा जो उत्कट काम-भोग के द्वारा अपनी इच्छा को बढ़ाते हुए भी काम-भोग के साधन-शरीर, इन्द्रिय आदि को जर्जर कर लेते हैं, वे क्या स्वप्न में भी सुखी होते हैं ? फिर अर्थ और काम का स्वभाव ही नश्वर है, वे कभी स्थिर रह नहीं सकते, उनके विनाश पर ईश्वर-लक्ष्यवाले पुरुष ईश्वरेच्छा को बलवान् मानते हुए दुःख से बच सकते हैं, किन्तु जो उधर लक्ष्य नहीं रखते वे अथाह दुःख-सागर में डूबते हैं। इस प्रकार धर्म की सहायता भी सुख-साधन में अत्यावश्यक सिद्ध हुई। सारांश यह कि सुख वही पुरुषार्थ है जो दुःख से दबाया न जाय। जहां सुख एक अंश और दुःख

दो-तीन अंश हो वहां कोई विद्वान् प्रवृत्त नहीं होता। यदि धर्म के द्वारा अर्थ और काम की मर्यादा रक्खी जाय तो वे सुख-साधन हो सकते हैं, परन्तु धर्म की मर्यादा के बिना वे सुख की अपेक्षा दु:ख ही अधिक उत्पन्न करते हैं। इससे भी सुख के साथ धर्म का ही घनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है और सुख के साधनों में धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ मानने योग्य ठहरता है। शास्त्रों में जो सुख का स्वरूप बड़ी विवेचना के साथ निरूपित हुआ है उस पर एक दृष्टि डालने से तो यह विषय अत्यंत स्फुट हो जाता है। सुख या आनंद बाहर की वस्तु नहीं, यह आंतरिक वस्तु है, या यों कहिए कि आत्मा का स्वरूप है। अविद्या के परिणाम अंत:करण के आवरण से ढँके रहने के कारण यह आनंद हमें सदा प्रतीत नहीं होता। किन्तु जब अंत:करण में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है और वह स्वच्छ हो जाता है तब जैसे स्वच्छ शीशे से निकलकर दीपक की प्रभा चारों ओर फैल जाती है वैसे ही आत्मा की आनंदज्योति प्रकट होकर बाह्य विषयों तक फैल जाती है। उसी को हमलोग आनंदानुभव–सुख की प्रतीति–मानते हैं। सुख की प्रतीति सत्त्वगुण की प्रधानता पर अवलंबित है, और सत्त्वगुण की प्रधानता के साधन का ही नाम "धर्म" है।

जिस अर्थ या काम की प्राप्ति के लिये पुरुष विकल रहता है और जी-तोड़ परिश्रम करता रहता है, उसकी प्राप्ति के समय वह विकलता–वह चित्त की चंचलता– दूर हो जाती है और स्थिर चित्त में सत्त्व का उदय होता है। इसी से अर्थ और काम की प्राप्ति में सुख की प्रतीति होती है। महात्मा भर्तृहरि की उक्ति कैसी मार्मिक है–

**तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि**
**क्षुधार्त्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान् ।**
**प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिंगति वधूं**
**प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ।।**

अर्थात "जब तृषा से मुख सूखने लगता है तब सुन्दर जल पीकर उसका प्रतिकार किया जाता है। क्षुधा की व्याधि उपस्थित होने पर शाक-ओदन आदि द्वारा उसका निवारण होता है। काम की अग्नि ज्वलित होने पर स्त्री-संयोग से उसे शांत किया जाता है। इस प्रकार रोग के प्रतिकारों को ही मनुष्य धोखे से सुख मान रहे हैं।"–तात्पर्य यही है कि दु:ख-जनित चित्त की चंचलता मिटाना ही बाह्य विषयों के संग्रह का उद्देश्य है, सुख तो स्थिर चित्त में स्वत: प्रकाशित होता है। यह चित्त की स्थिरता अर्थ-कामों से, बिना धर्म की नियंत्रणा के, नहीं हो सकती। अधिकाधिक इच्छा से चंचलता बढ़ती ही जायगी। अत: धर्म के बिना अर्थ और काम पुरुषार्थ नहीं। किन्तु

धर्म, बिना अर्थ और काम के भी, पुरुषार्थ है। कारण, इच्छा-वृत्तियों को रोककर वा समाधि द्वारा, बिना बाह्य विषयों के भी, चित्त की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। इसका आशय यह है कि इच्छा, द्वेष आदि वृत्तियां जो मन में चंचलता पैदा करने वाली हैं, उनके हटने पर चित्त की चंचलता दूर होना ही सुख है। उन वृत्तियों का हटना दोनों प्रकार से संभव है—उनके अनुकूल पदार्थ प्राप्त करके या विचार द्वारा उन्हें पैदा ही न होने देने से। पहला उपाय सभी प्राणी करते हैं, किन्तु उससे यथार्थ सिद्धि नहीं होती। एक इच्छा के पूरी होने पर भी आगे इच्छा का स्रोत बहता ही रहता है। सब इच्छाएं तो कभी किसी की पूरी हो ही नहीं सकती, और यदि पूरी हों भी तो यह नहीं कहा जा सकता कि अब आगे इच्छा होगी ही नहीं, जहां फिर इच्छा उत्पन्न हुई कि फिर चंचलता और दु:ख। ऐसा ही द्वेष आदि के संबंध में भी समझिए। अंत:करण में इस द्वेष दुष्ट का राज्य होने पर भले-भले आदमी भी क्या नहीं कर डालते। अपने उपकारकों पर भी यह दुष्ट आक्रमण करवा देता है। सीधे-सादे और भोले-भाले आदमियों से भी यह छल-प्रपंच करा डालता है। इस भूत के आवेश में आकर मनुष्य अपने-आपको योग्य पुरुषों की दृष्टि से गिरा लेता है। कलुष हृदय की आकृति बाहर तक प्रकट हो जाती है। किन्तु यदि पूर्ण उद्योग से छल-प्रपंच कर आप कदाचित् अपने शत्रु पर विजय भी पा सकें, तो क्या वह सुख चिरस्थायी है ? याद रखिए, अंत में सत्य की विजय होगी और जिस सुख पर आप फूल रहे हैं उसका परिणाम घोर दु:ख होगा।

इसी प्रकार मन के सब विकारों पर विचार कर लीजिए। किन्तु जो धर्ममार्ग के पथिक हैं वे संतोष, निर्वैरता, करुणा आदि की ऐसी सघन छाया में बैठ जाते हैं कि इन मनोविकारों का प्रचंड आतप उन्हें सता ही नहीं सकता। योगदर्शनकार भगवान् पतंजलि कहते हैं—"यदि चित्त की प्रसन्नता चाहते हो तो किसी प्राणी का अभ्युद देखकर उसके साथ ईर्ष्या करने के स्थान में उसे अपना मित्र समझो। किसी को दु:ख पाता देखकर प्रसन्न मत हो, उस पर करुणा करो। पवित्र कार्य करते हुए पुरुषों को देखकर हर्ष-युक्त हो। पापियों की—यदि वे नहीं मानते हैं तो—उपेक्षा करो, उनसे झगड़ा मत करो, प्रत्युत उनको सुबुद्धि देने के हेतु परमपिता जगदीश्वर से प्रार्थना करो।"

यही प्रसन्नता के उपाय हैं जो धर्म-कल्प-वृक्ष के आश्रय के बिना मिल ही नहीं सकते।

निष्कर्ष यह कि हर तरह से मुख्य पुरुषार्थ 'सुख' ही है, और दु:खों के अभाव के बिना सुख प्रतीत हो नहीं सकता। केवल अर्थ और काम से कुछ काल तक सुख

हुआ भी तो वह दुःख के साथ ही रहेगा, दुःख को दबा नहीं सकता। किन्तु धर्म तो अर्थ और काम के साथ रह कर भी सुख प्रतीत करा सकता है और उनकी सहायता के बिना भी सुख-साधन हो सकता है।

जब यह सिद्ध हो चुका कि धर्म ही मुख्य पुरुषार्थ है, तब, अब मोक्ष के संबंध में थोड़ा विचार करना चाहिए। हम पहले कह आए हैं कि प्राणिमात्र दुःख का अभाव चाहते हैं। सुख के साथ भी दुःख भोगना कोई स्वीकार न करेगा। दुःख से छुटकारा पाने की ओर सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में मोक्ष के परम पुरुषार्थ होने में किसी प्रकार की शंका ही नहीं रह जाती, क्योंकि दुःख-निवृत्ति का ही नाम मोक्ष है। यह दूसरी बात है कि संसार में सब दुःखों का अभाव कभी हो नहीं सकता, अतः मोक्षार्थी पुरुषों को संसार से विमुख होना पड़ता है, इसे भयंकर समझ कर सब उसके लिए प्रवृत्त न हो सके, किन्तु मुक्ति की ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं।

जो सज्जन इस प्रकार की शंका उठाते हैं कि जिस मोक्ष-दशा में सुख या दुःख किसी का भी अनुभव नहीं होता उसकी तरफ भला कौन प्रवृत्त हो, उनसे हमारा यही संक्षिप्त निवेदन है कि आप अतुल सुख भोगते हुए भी–विविध प्रकार की विलास-सामग्री सामने रहते हुए भी–क्यों नित्य शयन की इच्छा करते हैं–कौन सा हेतु है जो आपको सब सुखों से हटाकर उस निद्रा की ओर बलात् खींच ले जाता है जिसमें किसी दुःख या सुख का अनुभव नहीं होता ? अगत्या मानना पड़ेगा कि सांसारिक श्रम-रूपी दुःख से बचने के लिए शांति-रूपी निद्रा की ओर सबका झुकाव स्वाभाविक है, किन्तु अनादिकाल की वासना से घिरे हुए हम लोग उस शांति का चिरानुभव नहीं कर सकते–वासना हमें फिर उधर से इधर घसीट लाती है। तब, जो महानुभाव शांति का तत्त्व समझ जाते हैं वे सब वासनाओं के क्षय में लगकर मोक्ष-मार्ग के पथिक बन जाते हैं। शांत्यानंद ही मुख्य आनन्द है, समृद्ध्यानंद तो उसका साधनमात्र है। जिस समय मनुष्य कोई कोई नई उन्नति करता है–उसे कुछ धन मिले, ऐश्वर्य मिले वा पुत्र जन्म हो, उस समय कुछ काल के लिये अन्तःकरण में विकास होता है, मानों उस नए विषय को पकड़ने के लिये अंतःकरण फूल उठता है। किन्तु थोड़े समय के अनन्तर उस धन, ऐश्वर्य और पुत्र के विद्यमान रहने पर भी वह आनंद-प्रतीति नहीं रहती। अब वह नया पदार्थ भी अपने स्वरूप में आ गया, इसलिए स्वरूपभूत शांत्यानंद ही अब रह गया, वह चित्तवृत्ति का विकास होते समय जो एक विशेष चमत्कार रूप से आनन्द का अनुभव हुआ था, अब न रहा। हां, यदि वह नया पदार्थ अब चला जाय

तो दुःख होगा। पहले जब वह न था तब दुःख की वेदना वैसी न थी जैसी अब उसके चले जाने पर होगी। इसका कारण स्पष्ट है कि पहले वह पदार्थ अपने स्वरूप में नहीं था, अब उसके हटने से स्वरूप-हानि-प्रयुक्त दुःख होगा ही।

कहने का तात्पर्य यह कि यों समृद्ध्यानन्द क्रम से शांत्यानंद के रूप में परिणत हो जाता है, और शांत्यानंद आत्मा का स्वरूप है। मोक्ष के संबंध में जो यह विवाद दर्शनों में है कि कोई मोक्ष में सुख मानते हैं और कोई नहीं मानते, उसका भी निपटारा इसी रूप में ठीक होता है कि स्वरूपानंद–अर्थात् शांत्यानंद–मोक्ष में है, समृद्ध्यानंद नहीं। मोक्ष "सर्वात्मभाव" कहा जाता है, अर्थात् सब कुछ उसके आत्मस्वरूप–में आ चुका। जब सब स्वरूप बन गया, तब फिर नई वस्तु मिलेगी कैसे और विकास कहाँ से होगा ? इसलिए समृद्ध्यानन्द वहां नहीं होता, किन्तु सब कुछ हमारा हो जाने पर– या हमारे सर्वस्व हो जाने पर कमी किस बात की रही ? शांत्यानन्द जो मुख्यानन्द है वह तो अनंत रूप में प्राप्त हो गया। मान लीजिए, एक पुरुष ऐसा है जो सांसारिक दृष्टि से पूर्ण उन्नति प्राप्त कर महाराजाधिराज बन गया। उसे अब प्राप्तव्य कुछ न रहा! दूसरा क्रम-क्रम से अपना अधिकार बढ़ाता जाता है और अधिकार बढ़ने की दशा में नित्य-नित्य सुख का अनुभव करता है। इन दोनों में ऊँचे दर्जे का तो वही कहलाएगा जो सब कुछ प्राप्त कर चुका है। यह दूसरा भी कभी उस स्थिति पर पहुंचेगा–उसके लिये यह लालायित है। बस, इसी तरह सर्वात्मभाव प्राप्त कर चुकने वाला मुक्त पुरुष ही पूर्ण शांत है, संसारी लोग उसी स्थिति में पहुंचकर झंझट से छूटेंगे।

इस प्रकार, संक्षेप में सिद्ध यह किया गया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम से जो चार पुरुषार्थ आर्यशास्त्रों में निरूपित हुए हैं उनका स्वरूप क्रम से स्वरूप-रक्षा, सांसारिक उन्नति, भोग-विलास और दुःख-निवृत्ति है। ये ही प्राणिमात्र के इष्ट पदार्थ हैं। किसी भी इच्छा का लक्ष्य इनसे बाहर नहीं जा सकता। इसलिये ये चारों ही पुरुषार्थ हैं। और, चार ही पुरुषार्थ हैं भी, अधिक नहीं। सामान्यतः तो चारों ही पुरुषार्थ हैं, किन्तु विचार-दृष्टि से सिद्ध यही होता है कि मोक्ष तो परम पुरुषार्थ है, किन्तु सांसारिकों के लिये त्रिवर्ग में "धर्म" ही मुख्य पुरुषार्थ है, और अर्थ तथा काम गौण पुरुषार्थ हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों पर दृष्टि रखकर दो प्रकार से धर्म की मुख्य पुरुषार्थता संक्षेप से सिद्ध की गई है। धर्म की ओर सबकी स्वाभाविक वृत्ति रहने पर भी धर्मानुष्ठान में और धर्म के मंतव्य में क्यों सबका परस्पर भेद हो जाता है, इसका उत्तर भी यथोचित देने की चेष्टा की गई है।

# धर्म और विज्ञान

हमारे सर्वश्रेष्ठ धर्म-प्रवक्ता भगवान् मनु ने स्पष्ट घोषणा की है कि जैसे-जैसे मनुष्य ज्ञान में अग्रसर होता जाता है, वैसे ही वैसे उसकी रुचि ज्ञान में बढ़ती जाती है और दृढ़ धार्मिक हो सकता है। धर्मोपदेश को जो मनुष्य तर्कबल से भी समझ लेता है, वही धर्म का पूर्ण विज्ञाता होता है। यह हमारे धर्म ग्रन्थों का डिण्डिमघोष है। भारत के इतिहास में वैज्ञानिकों या दार्शनिकों का धार्मिकों के साथ कभी संघर्ष हुआ हो ऐसा कहीं नहीं मिलता। दर्शन ही हमारे विज्ञान हैं और वे ही धर्म के मूल हैं। धर्मशास्त्र-प्रवक्ताओं ने भी इसीलिए दार्शनिक विषयों को अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। भगवान् मनु ने आरम्भ के प्रथमाध्याय में और उपसंहार के बारहवें अध्याय में दोनों जगह दार्शनिक विवेचन किया है। इससे स्पष्ट बतला दिया कि धर्म का मूलस्तम्भ दर्शन-शास्त्र है। याज्ञवल्क्य भगवान् ने भी यतिधर्म-प्रकरण में पूर्ण दार्शनिक विवेचन किया है।

'दर्शन' और 'विज्ञान' को 'साइंस' और 'फिलासफी' नाम देकर इनको अलग अलग कर देना भी पाश्चात्य देशों की ही रूढ़ि है। उन्होंने इस पार्थक्य का आधार यह नियत किया है कि "जो नियम अनुभव में आकर दृढ़ बन जांय, वे 'साइंस' की कोटि में आ जाते हैं और जो केवल विचारों में रहें, अनुभव में न आये हों या जिनकी दृढ़ता संदिग्ध हो, वे 'फिलासफी' की श्रेणी में रखे जाते हैं। जो काम जैसे हो रहे हैं, वे साइंस की श्रेणी में हैं और 'क्यों हो रहे हैं ?" इसका मूल खोजना फिलासफी के अन्तर्गत है। किन्तु भारतीय दर्शन-शास्त्रों में ऐसी बात नहीं। वे दार्शनिक सिद्धान्तों को भी अनुभव में लाकर उत्तीर्ण कराते हैं, अतएव उनके नियम सुनिश्चित और दृढ़ हैं। साथ ही वे प्रत्येक कार्य-कारणभाव का मूलतत्त्व भी खोजना अपनी सीमा के अन्तर्गत मानते हैं। यह दूसरी बात है कि दर्शनों का श्रेणीबद्ध एक क्रम रखा गया है, जिसके अनुसार धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश कराया जाता है। किन्तु जो भी दर्शन जहां से आरम्भ करता है, उसका दृढ़ नियमों से पूर्ण विवेचन करता है। इससे दर्शन और विज्ञान का पृथक्करण हमारे यहां नहीं है। धर्म से भी उनका कोई विरोध या संघर्ष नहीं, प्रत्युत एक दूसरे के सहायक हैं। दर्शन धार्मिक नियमों की उपपत्ति बतलाते हैं और धर्मशास्त्र नियमों के पालन द्वारा विशुद्धि कर अन्तःकरण को दार्शनिक तत्त्वों के समझने योग्य बनाते हैं।

अन्यान्य देशों के साथ भारत की इस विषमता का कारण यही है कि दूसरे देशों में धार्मिक नियम किसी प्रतिष्ठा प्राप्त विवेचक विद्वान् के द्वारा संघटित हुए हैं।

किन्तु भारत के धार्मिक नियम मनुष्य-बुद्धि द्वारा प्रसूत नहीं। वे प्रकृति के शाश्वत नियमों के आधार पर संघटित हैं। अतएव हमारे यहां धार्मिक नियमों को 'ईश्वरीय नियम' समझा और कहा जाता है। प्रकृति के परिचालक का नाम ही 'ईश्वर' है, अत: प्राकृतिक नियम कहें चाहे ईश्वरीय नियम, बात एक ही होती है। हमारे छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जिन जिन नियमों की आधुनिक विज्ञान ने परीक्षा की, उन्हें अपनी परीक्षा में भी उत्तीर्ण ही पाया। प्राकृतिक या वैज्ञानिक होने के कारण ही भारतीय धार्मिक नियमों में परिवर्तन का कोई स्थान नहीं। मनुष्य-बुद्धि द्वारा संघटित नियमों का परिवर्तन दूसरे मनुष्य की बुद्धि कर सकती है। किन्तु ईश्वरीय प्रकृति के द्वारा संघटित नियमों का परिवर्तन मनुष्य के द्वारा असाध्य है। ऐसा परिवर्तन तो वह तभी कर सकता है, जब वह स्वयं ईश्वर बन जाय। हमारे शास्त्र तो यहाँ तक कहते हैं कि ईश्वर भी अपने नियमों को बदलता नहीं। यदि बदल दे, तो उसमें अज्ञता सिद्ध हो जाय। पहले कोई काम भूल से कर दिया जाय, तब उसका परिवर्तन, समझ लेने पर, होता है। किन्तु जो सदा ही सर्वज्ञ है, उससे भूल कैसे हो और परिवर्तन का स्थान ही कैसे प्राप्त हो ? इसके एक-दो उदाहरण देना यहां अप्रासंगिक न होगा। हमारे यहां का एक सामान्य नियम है कि सन्ध्या, पूजा आदि के समय हम कुशा, ऊर्णवस्त्र (ऊनी वस्त्र) और रेशमी वस्त्र को पवित्र मानते हैं। इनका ही आसन रखते हैं और शरीर पर ओढ़ने की आवश्यकता हो तो भी ऊर्णा वा रेशम का वस्त्र ही लेते हैं। 'भगवद्गीता' में आसन के लिए आज्ञा है-"चैलाजिनकुशोत्तरम्।" अर्थात् कुशा, मृगचर्म या ऊन का वस्त्र अथवा रेशम का वस्त्र ये क्रम से ऊपर रखे जाने चाहिए। साथ ही यह भी नियम है कि आवृत (आच्छादित) स्थान में बैठकर ही पूजा आदि करनी चाहिए, खुले आन्तरिक्ष में नहीं। वर्तमान विज्ञान की परीक्षा द्वारा सिद्ध हो गया है कि उक्त तीनों वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनमें होकर विद्युतशक्ति प्रसृत नहीं होती। इससे स्पष्ट आशय समझ में आ जाता है कि जप, पूजा आदि के द्वारा अन्त:करण में संचित हमारी शक्ति को पृथिवी अपने आकर्षण-बल से खींच न ले, इसलिए ऐसी वस्तुएँ बीच में दे दी जाती हैं, जिनमें होकर बिजली के आकर्षण का प्रभाव ही न पड़ सके। साथ ही सूर्यमण्डल के द्वारा आकर्षण न हो जाय इसलिए आवृत स्थान का आग्रह किया जाता है, जहां कि सूर्य का आकर्षण बहुत मन्द गति से होता है। अब इन पृथ्वी या सूर्य में से आकर्षण-शक्ति निकाल दी जाय या कुश, मृगचर्म आदि में भी विद्युत की शक्ति प्रवाहित करने की योग्यता उत्पन्न कर दी जाय तो धर्म में परिवर्तन न हो। ऐसा परिवर्तन यदि मनुष्य-शक्ति के बाहर है, तो इन नियमों का परिवर्तन भी मनुष्य के द्वारा कैसे किया जा सकता है ? गोमय (गोबर) के उपलेपन की भी यही स्थिति है। उसकी भी वैज्ञानिक परीक्षा हो चुकी है।

दूसरा उदाहरण भी देखिये। पूजा आदि प्रत्येक कार्य का आरम्भ करने से पहले हमारे यहां आचमन करने का नियम है। इस पर 'शतपथ-ब्राह्मण' के आरम्भ में ही प्रश्न उठाया गया है कि 'यज्ञकर्म के आरम्भ में आचमन क्यों किया जाय ?' दो कारण बतला कर वहां इसका उत्तर दिया है। जल का स्वभाव है कि वह मलिनता को धो देता है और दो वस्तुओं को आपस में संयुक्त कर देता है। या यों कहिये कि एक प्रकार का चेप उत्पन्न कर देता है। इसीलिए जल को 'पवित्र' और 'मेध्य' कहा जाता है। पवित्र शब्द का अर्थ है 'शोधन करनेवाला' और मेध्य शब्द का अर्थ है 'परस्परयोग की शक्ति पैदा करनेवाला।' यहाँ दोनों ही शक्तियों की आवश्यकता है। मनुष्य समय समय पर झूठ बोल देता है, इसलिए उसके अन्त:करण में मलिनता आ जाती है। मन, वाणी और कर्म का एक क्रम में रहना ही शुद्धता है। झूठ बोलने से वह क्रम बिगड़ जाता है, क्योंकि मन में कुछ और ही है, वाणी से कुछ और ही निकलता है और क्रिया कुछ और ही होती है। वह इन तीनों का क्रम बिगड़ना ही एक प्रकार का मैल है। इसलिए झूठ बोलने से अन्त:करण में मलिनता आ जाती है। इसी प्रकार अन्यान्य बुरे विचारों से भी उन बुरे विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ने से मलिनता आती है। उस मलिनता को धो डालने की आवश्यकता है और यज्ञ, पूजा आदि के द्वारा जो नये संस्कार उत्पन्न करने हैं, वे अन्त:करण में दृढ़ता से चिपक जांय इसकी भी आवश्यकता है। इसलिए आचमन सब कर्मों के आरम्भ में आवश्यक माना जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि कोई भी बुरा काम करके हम जल पी लिया करें, तो वह पाप की मलिनता हमारी दूर हो जायगी। नहीं, बुद्धिपूर्वक जो काम किया जायगा, उसका संस्कार तो बुद्धि में दृढ़ता से बैठेगा। वह केवल जल से दूर नहीं हो सकता। उसके लिए तो प्रयश्चित्त-स्वरूप विस्तृत कर्म करने की आवश्यकता होती है। जैसे वस्त्र या पात्र में यदि अधिक मल लग जाय, तो वह केवल जल से दूर नहीं होता, उसे हटाना हो तो मलशोधक रीठा, क्षार आदि से रगड़ने की आवश्यकता होती है। किन्तु अज्ञानवश बहुत बार इच्छा न रहते हुए भी हमारे मुख से झूठ बात निकल जाती है। श्रुति में स्पष्ट लिखा है कि "कौन मनुष्य सदा सत्य बोलने का दावा कर सकता है ? मनुष्य का ज्ञान ही परिमित है। वह कई जगह असली बात को न समझ कर उलटा समझ जाता है, तब उस असत्य को वह कैसे बचा सकता है ?" बस ऐसे अनिच्छापूर्वक अज्ञात दशा में होने वाले असत्य आदि दुष्कर्मों से जो अल्प मल आता है, वह आचमनादि द्वारा दूर कर दिया जाता है। साथ ही आचमन गंगा, विष्णु आदि के स्मरण पूर्वक मन्त्र से किया जाता है, इसलिए मन, वाणी और वस्तु तीनों की शक्ति मिलकर हमारे अभीप्सित को सिद्ध करती हैं। केवल जल पी लेने से वह काम नहीं

हो सकता। आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान केवल वस्तुशक्ति का दिग्दर्शन करा सकता है। वाक् और मन की शक्ति में अभी उसका प्रवेश नहीं। इसलिए हमारे धार्मिक नियमों का आंशिक समर्थन ही विज्ञान के द्वारा हो सका है। संस्कार आदि की प्रत्येक क्रिया हमारे यहां वाक्शक्ति, मनःशक्ति और वस्तुशक्ति, तीनों पर अवलम्बित है। इसलिए आधुनिक विज्ञान धार्मिक नियमों का पूरा पता देने में अभी अपर्याप्त है, किन्तु वस्तुशक्ति का जितना पता वह दे सकता है, उससे उतने अंश में हमारे धार्मिक नियमों का समर्थन हो जाता है। हमारा विज्ञान तो तीनों शक्तियों को मिलाकर ही चलता है। मन, प्राण और वाक् तीनों मिलकर ही आत्मा के सहचर हैं। इसीलिए तीनों की ही प्रवणता धार्मिक कार्यों में आवश्यक है। इसी गम्भीर विज्ञान के आधार पर धार्मिक नियमों का पूरा समर्थन होता है और इस विज्ञान का अभाव होने के कारण ही आजकल प्रत्येक बात में मनुष्यों को शंका होती है। शंका-निराकरण का एक ही उपाय है कि भारतीय विज्ञान का मनन हो, इसका प्रसार हो, इसकी परिभाषाएं समझी जांय। तब फिर कोई शंका का स्थान नहीं रह जायगा। हमारे दर्शनशास्त्रों का विज्ञान इसी प्रकार का है, जिसमें मन, वाक् और वस्तु तीनों की शक्तियों का सम्मिश्रण है। उस विज्ञान से धर्म का अटूट सम्बन्ध है और उस संबंध को जानने पर ही सब शंकाएं दूर हो सकती हैं।

## मनुष्य जन्म की सफलता

शास्त्रदृष्टि और लौकिकदृष्टि–दोनों से यह प्रश्न बड़े महत्व का है कि मनुष्य का जन्म क्यों है ? सब योनियों में मनुष्य की प्रधानता क्यों है ? वा इस मनुष्य की सफलता किस वस्तु पर अवलम्बित है ? स्वभाव से ही यह प्रश्न सबके अन्तःकरण में स्थान पाता है, और अपनी अपनी बुद्धि और विवेक के अनुसार सबही इस प्रश्न पर समय-समय में विचार भी करते हैं। केवल लौकिक दृष्टि वाले मनुष्य विचार की गम्भीरता के अभाव से साधारण आहार, विहार आदि के उत्कर्ष में ही मनुष्य जीवन की सफलता मान लेते हैं, और इन लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये ही नाना दुःख सहकर विविध प्रयास करते रहने में उनका जीवन व्यतीत हो जाता है। किन्तु दृष्टि में किंचित भी गम्भीरता आने से स्पष्ट भासित हो जाता है कि यह लौकिक दृष्टि सम्यग्-दृष्टि नहीं कही जा सकती, वा किसी लौकिक वस्तु की प्राप्ति ही मात्र मनुष्य जीवन की सफलता नहीं समझी जा सकती।

एक साधारण मनुष्य बड़े परिश्रम से जैसा गृह वा जितना द्रव्य प्राप्त कर अपनी पूर्ण सफलता मान बैठता है, दूसरा उच्च स्थिति वाला मनुष्य उतना प्राप्त होने

पर सफलता के स्थान में उलटी अपनी बड़ी भारी हानि समझता है, वैसी प्राप्ति को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता है।

यदि वस्तु पर ही सफलता अवलम्बित रहती, तो ऐसा कदापि न होता। उस वस्तु के मिलने पर सबही सफलता मान लिया करते। यों ही एक अथार्थी पुरुष केवल संपत्ति के लाभ में ही सफलता मान रहा है, संपत्ति लाभ के आगे उसकी दृष्टि में स्त्रीपुत्रादि-सौख्य का लाभ सर्वथा छोटा दिखाई देता है, यहां तक कि प्राणाधिक पत्नी, आत्मनिर्विशेष पुत्र वा स्वयं अपने शरीर के निमित्त संपत्ति का किंचित् अंश भी व्यय करना उसे प्राणान्त कष्ट से कहीं अधिक प्रतीत होता है, किन्तु उसके विरुद्ध दूसरा कामपरायण पुरुष भोग्य वस्तुओं के संग्रह में द्रव्य की कंकड़ पत्थर से बढ़कर कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं करता। सुखभोग के–ऐशो आराम के–सामान मिलना ही उसकी बड़ी भारी सफलता है। वैसे उपकरण प्राप्त करने के लिये वह झूंठ बोल सकता है–छल कर सकता है, आचार छोड़ सकता है–प्राण तक निछावर कर सकता है। एक तीसरे पुरुष का इन दोनों ही से बिलकुल पृथक् मार्ग है। वह अपने सदाचार की रक्षा को ही अपनी पूरी सफलता समझे हुए है। संपूर्ण भूमण्डल का राज्य प्राप्त करने की, व दिव्यमाला, दिव्यचन्दन, दिव्यभवन और दिव्यवनिताओं के प्राप्त करने की प्रबल लालसा भी उसे अपने कर्तव्य से नहीं हटाती। वह उसे सत्यपथ से एक पैर नहीं डिगा सकती, कोई भी वासना उसे परद्रोह करने को तैयार नहीं कर सकती, वह नित्याचार के साधारण नियमों पर अटल है, और उनकी दृढ़ता ही उसकी सर्वाधिक सफलता है। कहां तक कहें ? संसार के मनुष्यों की भिन्न-भिन्न रुचि प्रतिपद दृष्टिगोचर होती है। कोई राज्य प्राप्ति के लिये व्यग्र है, तो दूसरा कीर्ति के उपार्जन की धुन में ही लगा हुआ है। उसका यही विश्वास है कि "कीर्तियस्य स जीवित:" जिसकी कीर्ति संसार में है, वह मर कर भी जीवित ही है। किसी को तप ही प्रिय है, तो कोई संन्यास में ही सर्वलाभ माने बैठा है। यों भिन्न-भिन्न पुरुषों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है, और उस ही वस्तु की प्राप्ति में वह उसे पुरुष सफलता मान बैठता है। साथ ही एक वस्तु की प्राप्ति में जहां एक पूर्ण सफलता समझता है, वहां दूसरा उसकी प्राप्ति को कुछ भी महत्व नहीं देता और जहां किसी विशेष वस्तु की प्राप्ति से एक अपने को सफल समझ रहा है, वहीं अन्य लोग उस ही को सर्वथा सफलता से गिरा हुआ बतलाते हैं एवं एक ही पुरुष आज जिस वस्तु की प्राप्ति में सफलता मानता है, कल उसकी कुछ भी कीमत नहीं समझता। इन सब प्रत्यक्ष घटनाओं पर दृष्टि देने से यह तो सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि लौकिक वस्तुविशेष के साथ सफलता का कुछ भी संबन्ध नहीं। सफलता न धन से ही संबंध रखती है, न स्त्री पुत्रादि से ही, और न यश आदि से ही। हां,

इन लौकिक बातों पर अधिक बुद्धि लड़ाने से केवल एक ही बात निकल सकती है–वह यह कि जिस पुरुष को जिस वस्तु की इच्छा–या चाह–हो, उस वस्तु को प्राप्त कर लेना ही उस पुरुष की सफलता है। किसी विशेष–खास–वस्तु पर सफलता आलम्बित नहीं।

अब इस इच्छा–या चाह–का ही विचार करें कि पुरुषों की इच्छा का प्रवाह किस ओर है। किन्तु लौकिक दृष्टि से इसमें भी अव्यवस्था ही रहेगी। लौकिक पुरुषों का झटपट यही उत्तर मिलेगा, कि इच्छा का प्रवाह नियत नहीं है। उसके नाना स्रोत हैं। पूर्वोक्त रीति के अनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुओं की भिन्न-भिन्न समय पर इच्छा हुआ करती है, किसी एक ही वस्तु की इच्छा सबको होती हो, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। सुतरां सफलता का मार्ग भी भिन्न–भिन्न ही होगा। तो क्या यथार्थ में मनुष्य की इच्छाओं का प्रवाह एक क्षेत्र पर जाता ही नहीं ? क्या वस्तुतः सफलता के मार्ग सर्वथा आपस में विभिन्न ही हैं ? विचारशक्ति उत्तर देती है कि नहीं, कदापि नहीं। ऊपर से विभिन्नता रहने पर भी इच्छाओं का स्रोत अवश्य किसी एक ओर को प्रवाहित है। सब पुरुषों की विभिन्न इच्छाओं में किसी एक प्रकार की प्रतिध्वनि निगूढ़ भाव से गूंज रही है। वही सफलता का मुख्य लक्ष्य है, और उसका पहले पता लगाना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। उस एकता को बिना लक्ष्य में रक्खे सफलता का मुख्य तत्त्व जानना या सफलता प्राप्त करना सर्वथा ही असंभव बात है।

शास्त्रकारों ने भी मनुष्य की इच्छा वृत्तियों के इस प्रवाह का खूब विचार किया है। सब पर दृष्टिपात कर उनने चार इस प्रवाह के क्षेत्र माने हैं। चार तरफ को यह इच्छाप्रवाह बह रहा है जिन्हें चार पुरुषार्थ कहते हैं, जिनके नाम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। पुरुष के अर्थनीय, वांछनीय पुरुष की इच्छा विषय, वा पुरुष की इच्छा जिनको लक्ष्य बनाती है–वे पुरुषार्थ ये चार हैं। इनमें धर्म शब्द का अर्थ है–स्वरूपरक्षा के साधन अर्थ कहते हैं, संपत्ति, समृद्धि या अभ्युदय को भोग का नाम काम है। और दुःख की अत्यन्त निवृत्ति–फिर दुःख का कभी संबन्ध न होना मोक्ष है। वस्तुतः विचार करने पर मनुष्य समाज का संपूर्ण इच्छाप्रवाह इन चार धाराओं में ही बंधा दीख रहा है, जो कोई भी इच्छा मनुष्य मात्र को होगी, वह इन चारों में से ही किसी एक की ओर झुकेगी। या तो मनुष्य इस उद्देश्य से किसी काम प्रवृत्त होता हुआ देखा जायेगा कि मैं अपने स्वरूप से गिर न जाऊं, मेरा स्वरूप सुरक्षित रहे। यह उद्देश्य अन्य सब उद्देश्यों से बड़ा है, विवेकशील मनुष्य संपत्ति या भोग आदि सबकी अपेक्षा प्रथम अपने स्वरूप की रक्षा पर ही मुख्यतया ध्यान देते हैं। स्वरूपरक्षा होने पर ही संपत्ति या भोग पर दृष्टि जाती है। जो संपत्ति या भोग स्वरूपरक्षा का बाधक हो, स्वरूप से

गिरा देनेवाला हो—उसका स्वीकार कोई बुद्धिमान् न करेगा। अतएव शास्त्रों में अर्थ काम की अपेक्षा धर्म को मुख्य पुरुषार्थ माना गया है।

लोक सिद्ध भी ऐसा ही है, जैसे कि उष्णता को अग्नि का धर्म कहा जाता है, क्योंकि उष्णता अग्नि में रहती है, और अग्नि के स्वरूप की रक्षा भी करती है उष्णता जब तक रहे, तब ही अग्नि का अग्निपन स्थिर है, उष्णता चली जाने पर उसे अग्नि कोई नहीं कहता। यों ही मनुष्य का मनुष्यपना जिस पर अवलम्बित हो, वह मनुष्य का धर्म और ब्राह्मण का ब्राह्मणपना जिस पर स्थिर हो, वह ब्राह्मण का धर्म कहा जाता है। सारांश यह कि मनुष्य की इच्छाओं का एक प्रधान लक्ष्य धर्म होता है।

दूसरा लक्ष्य अर्थ या सम्पत्ति वा अभ्युदय है। अपनी उन्नति की इच्छा साधारणतः सब मनुष्यों में देखी जाती है, इसमें किसी प्रकार का संदेह ही नहीं। तीसरा लक्ष्य होता है भोग। भोग वा काम के लिये प्रायः मनुष्य निरन्तर प्रवृत्त रहते हैं। और चौथा सबसे प्रधान लक्ष्य होता है दुःखनिवृत्ति। यही दुःखनिवृत्ति आत्यन्तिक हो तो इसे कई दर्शनों के सिद्धान्तानुसार मोक्ष कहते हैं। इन चार बातों के अतिरिक्त और कोई इच्छा का विषय नहीं होता। इस ही तत्त्व पर शास्त्रकारों की चार पुरुषार्थों की व्यवस्था है।

यों इच्छाप्रवाह की चार धारा निश्चित होने से सफलता का भी लक्ष्य निश्चित हो जाता है। जब इनकी सबको स्वाभाविक इच्छा है, तो इनको प्राप्त कर लेना ही मनुष्य जन्म की सफलता होगी। किन्तु और गम्भीर विचार करने से यहां भी परितोष नहीं होता। प्रथम तो चार प्रवाह निश्चित होने पर भी जिस निगूढ़ एकता का पता लगाने की आवश्यकता थी, वह न मिल सकी। अनुभव करना है कि, चार के भीतर भी कोई एक ही भाव छिपा हुआ है, जो सबकी इच्छाओं और प्रवृत्तियों का लक्ष्य है। उस एक को प्राप्त किये बिना चार प्रवाह जान लेने से परितोष नहीं हो सकता। दूसरे इन चारों में भी मनुष्य की इच्छाओं का समान भाव नहीं देखा जाता। कोई धर्म को प्रधान समझता है तो कोई अर्थ को तीसरी काम ही की प्राप्ति में सफलता मान बैठा है, तो चौथा मोक्ष के लिये सबको छोड़ रहा है। इस इच्छा वैषम्य से सफलता की अव्यवस्था यहां भी बनी रही है। कई शास्त्रों में भी इन चारों का गौण प्रधान भाव निरूपित हुआ देखते हैं। मोक्ष को परम पुरुषार्थ कह कर सबने पृथक् कर दिया है, और धर्मादि त्रिवर्ग में कोई यों कार्यकारण भाव मानते हैं कि धर्म से अर्थ होता है, और अर्थ से काम मिलता है। ऐसा स्वीकार करने पर धर्म गौण, अर्थ उससे प्रधान और काम सबसे प्रधान मानना पड़ा, क्योंकि धर्म जब अर्थ के लिये है, तो अर्थ ही इच्छा का मुख्य लक्ष्य रहा। धर्म तो उसके साधन के लिये उसके अंगमात्र बना। यों ही अर्थ काम के

प्रति गौण बन जायगा। तब एकमात्र काम ही त्रिवर्ग में मुख्य पुरुषार्थ रहेगा। इस सिद्धान्त का श्रीमद्भागवत में खण्डन देखते हैं :–

**धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोर्थायोपकल्पते ।**
**नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।**
**कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।**
**जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।**

(श्री भा० प्र० स्कन्ध २ अ० श्लो० ९।१०)

इसका अर्थ है कि धर्म वस्तुतः आपवर्ग्य अर्थात् मोक्ष संबंधी है, धर्म का फल मोक्ष ही कहा जा सकता है, अर्थ-धर्म का प्रयोजन कदापि नहीं हो सकता। और अर्थ का उपयोग धर्म के लिए मुख्य है, काम प्राप्त करना अर्थ का उद्देश्य नहीं। यों ही काम का उद्देश्य भी इन्द्रिय प्रीति नहीं है–केवल जीवन यात्रा मात्र है। एवं जीवन का उद्देश्य तत्त्व विचार है, न कि कर्मजनित अर्थ वा काम।

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने श्री सुबोधिनी में इसका जो तात्पर्य विवरण किया है उसका संक्षेप यों है कि–

**"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (मीमांसा सूत्र)**

यह धर्म का लक्षण शास्त्रसंमत है। चोदना नाम विधिवाक्य का है उसके द्वारा जो लक्षित हो, अर्थात् जिसके साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता वेदविधि द्वारा प्रकाशित हो वह धर्म कहलाता है। धन, पशु, पुत्र आदि अर्थ लौकिक हैं, ये विधिबोधित नहीं हो सकते। जो वस्तु प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय नहीं, वही वेदप्रतिपाद्य होती है, लौकिक धन, पशु, पुत्रादि प्रत्यक्ष सिद्ध है–वहां विधिस्पर्श नहीं होता इससे अर्थ साधक क्रियाओं को उक्त लक्षणानुसार धर्म कह ही नहीं सकते। यों साधारण सुख साधन को ही धर्म कहने लगें, तब तो औषध पीना भी धर्म कहा जायगा। दूसरे उक्त लक्षण में 'अर्थ' पद आया है, उसका तात्पर्य है कि जो साक्षात् अथवा परम्परा से आत्मा की अवनति का कारण न हो, उसे ही धर्म कहना चाहिए इसीलिए वेदविहित भी श्येनयाग धर्म नहीं कहलाता। क्योंकि श्येनयाग का फल शत्रुमारण है, और हिंसा द्वारा आत्मा का पतन होता है। ऐसी स्थिति में, धन, पशु, पुत्र आदि जो आत्मा के बन्धन के साधन होकर उसका पतन कराने वाले हैं–उनकी साधक क्रियाएं श्येनयाग की तरह धर्म नहीं कही जा सकती। तीसरे किसी लौकिक पुरुष के आचरणीय धर्म का फल किसी प्रकार अर्थ को कह भी सकते हैं, किन्तु मुमुक्षु पुरुषों के आचरण जो वस्तुतः धर्म कहाने

योग्य हैं–उनका फल तो अर्थ कहा ही नहीं जा सकता। अतः सिद्ध हो गया कि धर्म का फल अर्थ नहीं।

अर्थ का फल भी काम को नहीं कह सकते। क्योंकि काम नाम विषयसुख का लोकप्रसिद्ध है। वह विषय सुख इन्द्रिय और विषयों के अधीन है। जब शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषय भी प्राप्त हों, और उनका ग्रहण करने की इन्द्रियों की भी शक्ति हो, तब विषयसुख सिद्ध होता है। अब विचार करने की बात है कि इस काम में अर्थ का कहां उपयोग हो सकता है। इन्द्रिय वा इन्द्रियशक्ति सर्वथा अर्थ के अधीन नहीं–यह स्फुट सिद्ध है। विषय-रूप, स्पर्श आदि के निर्माण में भी अर्थ की प्रभुता नहीं। अर्थ से रूप आदि में अपना स्वत्व संपादित होता है–इतना मात्र उपयोग कहो, तो भी उलटी बात है। क्योंकि अर्थ की सत्ता में काम प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत अर्थ का नाश होने पर कामप्राप्ति होती है। अर्थ का व्यय करके काम साधन किया जाता है–यह लोकसिद्ध है। इसलिए अर्थ को काम का कारण नहीं कह सकते। अर्थनाश कथंचित् काम का हेतु हो सकता है। दूसरे अर्थ का काम के साथ अन्वयव्यतिरेक भी नहीं। देखते हैं कि कृपण मनुष्य के पास धन रहने पर भी उसे कामप्राप्ति नहीं होती, और पशु आदि का बिना अर्थ के भी काम सिद्ध हो जाता है। फिर बिना अन्वयव्यतिरेक के कारणता कैसी ?

काम तो इन्द्रियप्रीति का कारण हो ही नहीं सकता। क्योंकि कामभोग से इन्द्रियों की लालसा बढ़ती ही जाती है, कभी पूर्ण नहीं होती, और बिना पूर्ति के प्रीति या तृप्ति कहां ?

विषयों के भोग से कामना–इच्छा की शान्ति होती ही नहीं, घृत से अग्नि की तरह इच्छाएं बढ़ती ही जाती है। फिर जो जिससे प्राप्त ही नहीं होता, वह उसका फल कैसे माना जाय।

इस सिद्धान्त के अनुसार काम स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं, उसका फल जीवनयात्रा मात्र है। अर्थ भी स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं, उसका फल धर्म है। धर्म भी मोक्ष के प्रति गौण है–स्वतन्त्र नहीं। तो अन्ततः एकमात्र मोक्ष ही पुरुषार्थ रहा। अब प्रकृत विषय पर आइये कि यों शास्त्र के भिन्न-भिन्न विवेचन द्वारा भी चार पुरुषार्थों पर एक रूप से इच्छा प्रवाह की विश्रान्ति नहीं मिलती।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने भी षोडशग्रन्थान्तर्गत बालबोध में इस पुरुषार्थवाद पर विंचार किया है। उन्होंने–

**धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोर्था मनीषिणां**
**जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ।।**

इत्यादि आज्ञा द्वारा लौकिक और अलौकिक रूप से उक्त चारों पुरुषार्थों के दो दो भेद बतलाये हैं। वेद में ईश्वराज्ञा द्वारा जिन धर्म आदि चारों-पुरुषार्थों का विचार हुआ है, वे अलौकिक पुरुषार्थ हैं। और जीवकोटि के अत्युच्च विद्वान् परमपूज्य ऋषि, मुनियों ने धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र आदि में जिन धर्म आदि का विचार किया है वे लौकिक पुरुषार्थ हैं। इनमें लौकिक पुरुषार्थ निरूपण में अधार्मिक जनों के वंचनार्थ ईश्वरशिक्षानुसार ऋषि मुनियों ने कई जगह अपसिद्धान्त भी कहा है—ऐसा श्रीआचार्यचरणों का आशय है और इस सब पर संक्षिप्त विचार करते हुए मोक्ष की ही मुख्य पुरुषार्थता आचार्यचरणों ने भी प्रदर्शित की है। और मोक्षविषय में भी सांख्य आदि दर्शनों के अनुसार सिद्ध स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष को गौण रखकर भगवदाश्रय से प्राप्त होनेवाले निरतिशयानन्द मोक्ष को मुख्य पुरुषार्थ कहा है। उक्त बालबोध ग्रन्थ के टीकाकार श्रीदेवकीनन्दन जी महाराज ने यह निष्कर्ष निकाला है कि काम और मोक्ष ये दो मुख्य पुरुषार्थ हैं। यहां कामशब्द से आत्मसुखरूप निरतिशयानन्द का ग्रहण करना चाहिये, और मोक्ष पद से दुःखनिवृत्ति का। धर्म इनका साधक रूप पुरुषार्थ है, और अर्थ धर्म का साधन होने से पुरुषार्थ कोटि में गिना जाता है। तो बस, उक्त सबही सिद्धांतों की एकवाक्यता हो जाती है, और इससे अन्त में दो ही पुरुषार्थ ठहरते हैं—दुःखाभाव और सुख। इन ही दो को लक्ष्य रखकर मनुष्य की प्रवृत्ति है, ये ही दो सब पुरुषों की सब काल की इच्छा के विषय हैं, इन ही की प्राप्ति सफलता कही जा सकती है।

परन्तु एकता के पक्षपाती इस द्वैत को भी सहन नहीं कर सकते। वे कहते हैं—लक्ष्य एक ही होना चाहिये, दो नहीं और उक्त दोनों बातें हैं भी नियत साथ रहनेवाली। सुख और दुःख ये दोनों विरुद्ध गुण एकसाथ नहीं रह सकते। इससे निरन्तर सुख को पुरुषार्थ मानने पर दुःखाभाव अपने आ जाता है, फिर उसे स्वतन्त्र पुरुषार्थ मानना सर्वथा अनावश्यक है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि फिर दुःखाभाव को ही क्यों न पुरुषार्थ मान लिया जाय, दुःख का अभाव होने पर उसका विरुद्ध गुण सुख अपने आप ही गृहीत हो जायगा। किन्तु यह प्रश्न विचार संगत नहीं। सुखस्थान में दुःख का अभाव सर्वत्र रहता है, किन्तु दुःखाभाव के स्थान में सर्वत्र सुख का रहना प्रामाणित नहीं हो सकता। सुषुप्ति, मूर्च्छा और प्रलय आदि में भी दुःख का अभाव है, किन्तु वहां सुख कदापि नहीं है और उन मूर्च्छा, प्रलय आदि की कोई भी पुरुष कदापि इच्छा भी नहीं करता। इससे सुखविरहित दुःखाभाव की पुरुषार्थता भी सिद्ध नहीं हो सकती।

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य भी भगवदाश्रय से प्राप्त निरतिशय सुख को ही मुख्य पुरुषार्थ बतलाते हैं और जिन सांख्य आदि दर्शनों ने मोक्ष का यह स्वरूप माना है कि प्रकृति पुरुष का विवेक होने पर भी जीव की अहन्ता, ममता नष्ट हो जाती है और प्रकृतिगत सुख, दुःख का भोग पुरुष को नहीं होता, तब जीवन स्वरूपस्थित होने से कृतार्थ हो जाता है—उनके उस मोक्ष को आपने 'स्वतः' मोक्ष कह कर उत्तमाधिकारियों की उपेक्षणीय कोटि में स्थापित किया है। अतः सुख ही मुख्य पुरुषार्थ सिद्ध होता है। सब मनुष्य इस तत्त्व को एक मुख से स्वीकार करेंगे कि सुख सबका लक्ष्य है। सुतराँ सुख की सबको इच्छा, वा चाह है। और सुख को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यजन्म की पूरी सफलता है।

वैज्ञानिक युक्ति भी इसके सर्वथा अनुकूल है। इस जीव को शास्त्रों ने भगवान् का एक अंश कहा है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द स्वयं आज्ञा करते हैं कि—

**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**

श्रीदेवकीनन्दजी महाराज ने भी वैदिक प्रकरण में संगति लगाने को दो पुरुषार्थ लिखे हैं—किन्तु ग्रन्थ के निष्कर्षरूप से आप वा श्रीपुरुषोत्तम जी सब ही एक सुख को मुख्य पुरुषार्थ कहने में सहमत हैं।

अब सबका एक लक्ष्य-निशाना-मिल गया, जिस एकता को ढूँढ़ते थे—वह निकल आई। एकमात्र सुख वा आनन्द ही सबकी प्रवृत्ति का लक्ष्य है—उस ही की ओर सब इच्छाओं के प्रवाह प्रवाहित हैं। उसही के लिये न केवल मनुष्यमात्र ही, किन्तु प्राणिमात्र व्यग्र हो रहे हैं—उस ही की खोज में दिनरात भटकते हैं और उस ही का किंचित् अंश भी प्राप्त कर लेने पर अपने को कृतार्थ समझते हैं। उस ही के उपाय रूप से धर्म, अर्थ, काम आदि की प्रतिष्ठा है—और उस मुख्य पुरुषार्थ के साथ लगने से ही ये भी बेचारे पुरुषार्थ कहलाये हैं। उस ही के लिये गृह, वनिता, पुत्र, जप, तप, संयम, संन्यास आदि भिन्न-भिन्न उपायों का परिग्रह पुरुष करते हैं। इसमें किसी को संदेह नहीं, किसी के अनुभव का विसंवाद नहीं।

भगवान् व्यास भी 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इत्यादि उत्तर-मीमांसा सूत्र में इस अंशवाद के सिद्धान्त को दृढ़ कर रहे हैं—और उपनिषद् में भी अग्नि-विस्फुलिंग आदि के कई दृष्टान्त देकर यह वाद समर्थित हुआ है। भगवान् का स्वरूप आनन्दमय है, अतः यह जीव आनन्द का ही अंश हुआ। वैज्ञानिक प्रक्रिया में यह सिद्धान्त स्फुट प्रसिद्ध है कि जो जिसका अंश होता है, वह स्वभावतः अपने अंशी की ओर ही प्रवृत्त रहता है। जैसे ऊपर फेंका हुआ मिट्टी का ढेला हाथ का वेग समाप्त होने पर अपने

अंशी पृथिवी गोल की ओर ही स्वभावतः आ जाता है, या जैसे प्रकाश का एक अंश दीपक सदा प्रकाशघन द्युलोक की ओर ही प्रवृत्त रहता है, या जलमात्र की प्रवृत्ति जैसे जलघन समुद्र की ओर ही स्वाभाविक है–इसमें संदेह नहीं रह सकता। अतः सफलता लाभ करने के लिये जीव को आनन्द प्राप्ति अत्यावश्यक है।

इस प्रकार वैज्ञानिक युक्तिवाद और अनुभव के अनुसार सुख वा आनन्द की अभिमुखता जीवमात्र में सिद्ध होने पर प्रश्न यह उठता है कि जीव सच्चिदानन्द भगवान् का अंश है, तो स्वयं ही आनन्द रूप होना चाहिये। जो जिसका अंश होता है, उस अंश में उस अंशी के धर्म अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं, जैसा पृथिवी का अंश एक मिट्टी का ढेला है उसमें भी पृथिवी के धर्म रूप, रस, गन्धादि अवश्य हैं, एवं अग्नि का अंश एक छोटासा विस्फुलिंग (अग्निकण) है, उसमें भी अग्नि के धर्म उष्णता और प्रकाश रहते ही हैं, इसी प्रकार आनन्द के अंश जीव में आनन्द अवश्य रहेगा तो फिर इसे आनन्द की इच्छा वा अभिलाषा क्यों ? जो वस्तु स्वतः प्राप्त है, उसकी अभिलाषा कभी नहीं होती, फिर जो आनन्द जीव के स्वरूप में प्रविष्ट है–उसके लिये जीव का नित्य उत्सुक रहना–यह विलक्षण बात समझ में नहीं आती। इसका उत्तर श्रीशुद्धाद्वैत संप्रदाय के सिद्धान्तानुसार इस प्रकार है–

सजातीय–विजातीय–स्वगत–भेदवर्जित सत्यादि–अनन्तगुणगणाशय नित्य शुद्ध, जगत्कारण, जगदाधार परमात्मा ने जब क्रीड़ा के लिये जगत् को उत्पन्न किया, और आकाशादि जड़ वर्ग की तरह अग्नि–विस्फुल्लिंग न्याय से जब अनन्त जीव परमात्मा से उत्पन्न हुए तब उसी परमात्मा की जगत् के नियमन करनेवाली इच्छा से जीव में आनन्दांश का तिरोभाव हो गया। कारण यह कि परमात्मा को क्रीड़ा के लिये उच्च, नीच आदि भेदभिन्न जगत् की रचना अभीष्ट थी और परमात्मा के अंशभूत जीवों में यदि स्वाभाविक आनन्द बना रहता, तो उनमें उच्चता नीचता कुछ भी न जाती। स्वरूपभूत आनन्द से सबही नित्यतृप्त रहते, और विषयव्यासंग के लिए उनकी विविध वृत्तियां भी न होतीं। सुतरां जगत् का स्वरूप कुछ न होता, और न यह जगत् चल सकता, परमात्मा की इच्छा भी सफल न होती। अतएव जगत् निर्माण करनेवाली इच्छाशक्ति ने जीव में आनन्दांश न रहने दिया, आनन्दांश को चित् 'ज्ञान' अंश में छिपा दिया, आनन्द लीन कर दिया। इस ही प्रकार जड़ और चेतन का भेद करने के लिये–अंश से उत्पन्न होनेवाले आकाश आदि में चित् 'ज्ञान' अंश भी प्रकट न रक्खा–उसे सत्–अंश में ही लीन कर दिया। यह सब विषय श्री वल्लभाचार्य ने तत्त्वदीप निबन्ध में स्पष्ट लिखा है–

बहुस्यां प्रजायेयेति दीक्षा तस्य ह्यभूत्सती ।
तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः ।।
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया
विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि
आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ।
सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता
अत एव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपतः ।
जडो जीवोन्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मतः ।।

"मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक रूप से प्रकट होऊं, यह परमात्मा की अप्रतिहत इच्छा हुई, और उसकी इच्छामात्र से उस ही परमात्मा ब्रह्म से जिस प्रकार अग्नि में से विस्फुलिंग (अग्निकण) निकलते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मरूप ब्रह्म के अंश, चैतन्यप्रधान, निराकार, अनन्दजीव, सृष्टि के आरंभ में निकले और सत् अंश की प्रधानता से आकाश, वायु आदि जड़ वर्ग भी परमात्मा से ही प्रकट हुए। परमात्मा के तीसरे आनन्द अंश की प्रधानता से अन्तर्यामी प्रकट हुए, जिनका सब के अन्तः प्रविष्ट रह कर सबका नियमन करना श्रुति वर्णन करती है। इस प्रकार जड़, जीव और अन्तर्यामी इन तीनों में परस्पर भेद का भी कारण यही है कि ब्रह्म के सत्, चित्, आनन्द इन तीनों धर्मों में पूर्व में उत्तर लीन हो गया है। अर्थात् अन्तर्यार्मी में तीनों हैं, जीव में सत्, चित् दो धर्म तो रहते हैं, किन्तु आनन्द धर्म चित् में अर्थात् ज्ञान में लीन हो जाता है। इससे जड़ में केवल सत्-मात्र धर्म रहता है, इस ही कारण जड़ वर्ग में केवल सत्ता की प्रतीति होती है, चेतना धर्म आनन्द की नहीं, और जीव में सत्ता और चैतन्य दो धर्म प्रतीत हैं, किन्तु आनन्द तिरोभूत है। अन्तर्यामी में तीनों हैं। इस आनन्द के कारण ही जड़ और जीव निराकार हो गये, अर्थात् भगवदंश होने पर भी भगवान् का चतुर्भुज आदि आकार इनमें प्रतीत नहीं होता।

अन्तिम श्लोक का तात्पर्य यह है कि श्री भगवान् का आकार हम लोगों की तरह अस्थि, मांस, मज्जा आदि का बना हुआ भौतिक शरीर रूप नहीं है, किन्तु उनके आकार के संबन्ध में "आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः" लिखा है, अर्थात् भगवान् के हाथ, पांव, मुख उदर–सब आनन्दरूप हैं, आनन्द ही हाथ है, आनन्द ही पांव है, वही मुख है, वही उदर है–इत्यादि। अतएव वह आकार भौतिक आकारों की तरह विनाशी न होकर नित्य सनातन है। अस्तु, जब आनन्द ही हस्तपादादि आकार हुआ,

और आनन्द का जीव में और जड़ में तिरोभाव हो गया तब जीव और जड़ में उस आनन्दमय आकार का प्रसंग ही कहां से हो, सुतरां आनन्द के लोप या तिरोभाव से जीववर्ग एवं जड़वर्ग उस दिव्य आकार से विरहित अतएव निराकार कहलाने योग्य हो गये और यही कारण है कि जीव परिच्छिन्न, अणुमात्र हो गया, क्योंकि उपनिषद् में लिखा है कि **"यो वै भूमा तत्सुखम्"** आनन्द ही भूमा अर्थात् महत्व है, और महत्व ही आनन्द है, इसके विपरीत 'यदल्पं तद् दुःखम्' अर्थात् दुःख ही अल्पता है, एवं अल्पता ही दुःख है। यों भूमा अर्थात् महत्व और आनन्द की जब समव्याप्ति है, एक के बिना दूसरा रहता ही नहीं, तब आनन्द का तिरोभाव होने पर महत्व का तिरोभाव होना स्वतः सिद्ध है।

दूसरे वेदान्ती भी आनन्द का तिरोभाव मानते हैं। उक्ति के प्रकार का कुछ थोड़ा सा भेद है। उनके मत में अविद्या का जीव के साथ अनादि संबन्ध है और अविद्या की आवरण और विक्षेप दो शक्तियां है। यह आवरण शक्ति ही जीव को अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव नहीं होने देती, और उस ही ने जीव के आनन्द भाव को छिपा रक्खा है। उनका मत है कि सर्वथा छिपाया भी नहीं है, सामान्य रूप से कुछ भान है। स्फुट भान नहीं। इसका उपपादन मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुतियों में भी स्पष्ट प्रतिपादित है। अब विचार यह है कि जीव यदि अपनी आनन्द रूपता को न जानता तो उसे अपने आप पर, वह असाधारण परम प्रेम भी न होता। आनन्द ही जब प्रेम रूप से परिणत होता है, तो बिना आनन्द के प्रेम कैसा ? सुतरां प्रेम के द्वारा, अनुमान होता है कि अपनी परानन्दरूपता आत्मा को विदित है। किन्तु यदि आत्मा अपने को परमानन्दरूप समझ लेता, तो आनन्द के लिए निरंतर उत्सुकता न रहती, आनन्द के लेशमात्र के लालच से यों गली-गली भटकता न फिरता, फिर उसे आनन्द के लिए विषयों की इच्छा ही न होती। जैसे कस्तूरी मृग अपनी ही कस्तूरी का गन्ध प्राप्त करता हुआ उसे बाहर से आया समझ कर उसकी पूर्ण प्राप्ति के लिए इधर उधर वन में भटकता है, वैसे ही विषयसंनिधान में अपने ही आनन्द की एक झलक देख कर यह जीव भी पूर्ण आनन्द ही प्राप्ति के लिये विषयों की ओर दौड़ता रहता है। मृग को यह ज्ञान नहीं की गन्ध का संपूर्ण खजाना कस्तूरी मेरे शरीर में ही मौजूद है। यों ही जीव भी नहीं जानता कि इस आनन्द का घन मैं ही हूं। तो आनन्द रूपता के सर्वथा अविदित रहने पर प्रेम न हो सकता और सर्वथा विदित हो जाने पर विषयवांछा न रहती। दोनों बातें होती हैं, इससे यह मानना पड़ा कि सामान्य रूप से अपनी आनन्दरूपता प्रतीत भी है, और अविद्या के आवरण के कारण आवृत भी है, अर्थात् अप्रतीत भी है। प्रतीति और अप्रतीति दोनों कैसे संभव हो सकती हैं इसके लिए एक दृष्टान्त देते हैं कि एक

पिता अपने पुत्र का अध्ययन शब्द सुनना चाहता है, किन्तु पुत्र कई अपने सहपाठियों के साथ मिलकर एक ही स्वर में पढ़ रहा है। तो अब पुत्र के शब्द का ज्ञान पिता को है भी, और नहीं भी है। सामान्यरूप से सब शब्दों के साथ यह पुत्र का शब्द भी सुन रहा है, किन्तु यही पुत्र का शब्द है–ऐसी प्रत्यभिज्ञा विशेषरूप से नहीं होती। वहां पुत्र के शब्द का विशेष भान इसलिए नहीं होता कि दूसरे शब्द उसके प्रतिबन्धक हैं, यहां भी आत्मा को अपनी आनन्दरूपता का भान इसलिये नहीं होता कि अविद्या की आवरणशक्ति उसकी प्रतिबन्धक है, इस अविद्या का आत्मा पर इतना प्रभुत्व मानने की अपेक्षा भगवदिच्छानुसार जीव में आनन्दांश तिरोभूत हो गया है। है तो, किन्तु प्रतीत नहीं होता–यह श्री वल्लभाचार्य का सिद्धान्त ईश्वरानुरक्त पुरुषों के लिये विशेष हृदयग्राही सिद्ध होगा।

हमारा प्रयोजन यहां इतना ही है कि आनन्द का अंश होने पर भी आनन्द धर्म का जीव में तिरोभाव है, आनन्द छिपा हुआ है, उस आनन्द का विवेचन विद्यारण्यस्वामी ने अपने पंचदशी ग्रन्थ में इस प्रकार किया है कि–

**अभानेन परं प्रेम भानेन विषये स्पृहा ।**
**अतो भानेप्यमाताऽसौ परमानन्दतात्मनः ।।**
**अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ।**
**भानेप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते ।।**

इसका तात्पर्य यह कि आनन्द के साधन पदार्थ में ही सर्वत्र प्रेम देखने में आता है, जिस वस्तु के संबन्ध से आनन्द प्राप्त करते हैं उस ही से प्रेम किया करते हैं। या एक प्रकार का आनन्द ही प्रेमरूप में परिणत होता है। आत्मा या जीव सबसे बढ़कर अपने आप में प्रेम करता है, स्व-स्वरूप में यह जितना प्रेम किये हुए है, उतना किसी के साथ नहीं करता। कोई मनुष्य स्त्री, पुत्र, धन आदि में कितना ही प्रेम करता हो, किन्तु घर में आग लगते ही सबको छोड़ कर पहले अपने आप बाहर भागता है, अपनी रक्षा, सबकी रक्षा से बढ़कर समझता है। प्रबल आपत्ति के समय सबकी उपेक्षा कर अपने बचाव की चिन्ता करना स्वाभाविक है। इसके विपरीत जो कहीं दृष्टान्त मिलते हैं, वे कृत्रिम भाव को प्रबलकर स्वाभाविकता को दबा देने के निदर्शन हैं, प्राकृतिक नियम पूर्वोक्त ही है और जहाँ किसी दूसरे के लिये अपने शरीर के परित्याग के उदाहरण देखे जाते हैं, वहाँ भी शरीर से भी बढ़कर कोई बाधा नहीं आती। साधारणतः मनुष्यों को शरीर पर्यन्त में आत्मबुद्धि अविद्या की कृपा से दृढ़ हो रही

है, इस कारण आत्मभावना से शरीर की रक्षा करने में सब ही पूर्ण यत्नशील है। किन्तु जहाँ शरीर के किसी अवयव के विकृत होने के कारण मन पर विशेष दुःखरूप आघात होने लगता है, वहाँ शरीर का भी वह अवयव कटवाने में झट से प्रवृत्ति हो जाती है, क्योंकि शरीर की अपेक्षा मन में आत्मभाव प्रबल है। इस विषय का विस्तार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। कहना केवल यही है कि आत्मा को अपने आप में सबसे अधिक प्रेम है, और अपना संबन्ध होने से ही और वस्तुओं पर प्रेम होता है। यह बात अनुभवसिद्ध भी है। और 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री से कहा है कि हे मैत्रेयि ! पति के काम के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने काम के लिये पति प्रिय होता है। स्त्री के काम के लिये स्त्री प्रिय नहीं होती, अपने काम के लिये स्त्री प्रिय होती है, इत्यादि रूप से धन, पुत्र, मित्र, आदि सबकी प्रियता आत्मा के लिये बतलाई है। इससे आत्मा ही पर प्रेमास्पद है–यह सिद्ध किया है। यह प्रतीति आत्मा को जीवन में नहीं होती, और उस छिपे हुए आनन्द की तलाश में ही यह अज्ञानवश इधर उधर भटकता है, उसे प्राप्त कर लेना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझता है इसके सब कामों में उस ही आनन्द को प्राप्त करने की प्रबल लालसा निगूढ़ भाव से विद्यमान है और सच्चा आनन्द प्राप्त कर लेना ही मुख्य कृतार्थता है। यही मनुष्यजन्म की सफलता है। इतना अंश सबके ही मत से निर्विवाद सिद्ध हो गया।

अब प्रश्न यह रहा कि वह सफलता हो कैसे ? वह सच्चा आनन्द मिले कैसे? बस, इस ही प्रश्न की मीमांसा में सारा जगत् लगा हुआ है। लौकिक लोग अपने अपने बुद्धिबल के अनुसार आनन्द की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न उपाय निकालते हैं, दर्शनों के आचार्य अपनी अपनी युक्तियों के द्वारा जीववर्ग को सच्चे सुख के भिन्न भिन्न मार्ग बतलाते हैं। अब किस का मार्ग अच्छा, और किस का बुरा–इस विवेचना के चक्कर में पड़कर अनधिकार चेष्टा तो हम करना नहीं चाहते, और विषयानन्द सच्चा आनन्द नहीं है–इस पर दार्शनिक युक्तियों की उलझन में पड़कर पाठकों का अधिक समय नष्ट करने की भी इस समय हमारी इच्छा नहीं है। इस समय तो हम सीधी सी बात की ओर दृष्टि दिलावेंगे कि जब आनन्द जीव की अपनी पैतृक संपत्ति है, तो उसे लेने के लिये इसे दूसरों के दरवाजे खटखटाने की तो कुछ भी आवश्यकता प्रतीत होती नहीं, अपनी वस्तु को लेने के लिये यह विषय वा इन्द्रियों की शरण में क्यों जाय? न वह वस्तु उनके पास उसे मिलेगी ही, वह उनकी वस्तु ही नहीं, वे इसे देंगे कहाँ से ? वह तो इसकी अपनी ही वस्तु है, और अपने स्वरूप में ही मिलेगी। किन्तु जिसने छिपाई है, वही देगा। जिसकी इच्छा से खोई गई है, उस ही की इच्छा से प्राप्त

भी हो सकेगी। उसके पास अब भी वह अनन्त अटूट खजाना मौजूद है, और सदा रहता है, वह चाहे, तो इस ही क्षण हमारी सब अभिलाषा पूर्णकर सकता है, हमें स्वयं आनन्द का बड़े भारी सेठ बना सकता है। किन्तु वह ऐसा चाहे, इसके लिये हमें उसे प्रसन्न करना चाहिये, उसके पास जाना चाहिये, उसका ध्यान अपनी दुर्गति की ओर दिलाना चाहिये। तभी कृतकृत्य होंगे, तभी वह हमारा अभाव दूर करेगा। सारांश यह कि जगदाधार, जगन्नियन्ता, भगवान्, परमात्मा को प्राप्त करना, उसे प्रसन्न करना यही हम जीवों का प्रधान कर्त्तव्य है, और इस ही कर्त्तव्य का पालन कर हम सफल हो सकते हैं।

अब परमात्मा की प्राप्ति के एवं उसे प्रसन्न करने के भी भिन्न-भिन्न साधन शास्त्रकार बतलाते हैं। कोई कहते हैं परमात्मा की आज्ञा–श्रुति, स्मृति के अनुसार कर्मों का अनुष्ठान यावज्जन्म करते जाओ–इससे ही परमात्मा प्रसन्न होगा, और इससे ही हम परमात्मा को प्राप्त कर सकेंगे। दूसरे कहते हैं–परमात्मा को यथार्थ रूप में जान लो, बस इससे ही परमात्मा प्रसन्न हो जायगा। तीसरे कहते हैं–विषयों से मन हटा लो, इस वैराग्य से ही परमात्मा प्रसन्न होगा और यों ही मिलेगा। कोई तप करने को कहता है तो कोई जप, उपासना बतलाता है। कोई तीर्थयात्रा का ही आदेश करता है, तो कोई व्रत करने की बात उठाता है। यों भिन्न-भिन्न मार्ग अपनी-अपनी रुचि और बुद्धि के अनुसार सब कह रहे हैं किन्तु यथार्थ विचार करने पर श्रुति सबका खण्डन करती है। वह तो कहती है–

**'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो'**
**न मेधया न बहुना श्रुतेन ।**
**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष**
**आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।**

अर्थात् न तो वह परमात्मा-ईश्वर-प्रवचन अर्थात् वेद पढ़ने पढ़ाने से प्राप्त होता है, न बुद्धि से मिलता है, न शास्त्र से मिलता है। जिसको यह ईश्वर स्वयं वरण करता है–अर्थात् चाहता है, उसे ही मिलता है, और उसके ही प्रति अपना यथार्थ स्वरूप प्रकट करता है। यहां प्रवचन पद वेदोक्त कर्मकाण्ड का भी उपलक्षण है, मेधा–अर्थात् बुद्धि से बुद्धि संबंधी ज्ञान आदि सब साधन ले लिये जाते हैं, और श्रुति अर्थात् शास्त्र से शास्त्रोक्त तप आदि सब आगन्तुक साधनों का ग्रहण कर लेना चाहिये। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदोक्त साधन, जीव विचारित साधन, व आगन्तुक साधन

कोई भी परमात्मा को प्राप्त नहीं करा सकते। साधनों के वश में वह है ही नहीं, वह तो स्वतन्त्रेच्छ है। इच्छानुसार जिसे चाहता है, उसे मिलता है। यहां श्रुति में 'वृणुते' पद दिया है, जैसे स्वयंवर में कन्या जिसका इच्छानुसार पतिरूप से वरण करती है, उसे ही वह प्राप्त होती है, किंवा वर जैसे भार्यारूप से जिस कन्या का वरण करता है–उसे ही प्राप्त होता है और जैसे कन्या के वरण कर चुकने पर फिर उस वर की दूसरी कन्याओं की ओर प्रवृत्ति नहीं होती, किंवा वर के वरण कर चुकने पर फिर वह कन्या दूसरे स्थान में विनियुक्त नहीं होती, वैसे ही परमात्मा के स्वीकार कर चुकने पर फिर वह पुरुष किसी दूसरे का दास कहाने का या और कर्म करने का अधिकारी नहीं रहता ऐसा श्री विट्ठलेश जी ने भक्तिहंस में स्पष्ट कहा है। साथ ही यह भी बात है कि स्वयंवर में जैसे किसी पुरुष को पहले से यह नहीं मालूम होता कि कन्या मुझे वरेगी, ऐसे यहां भी वरण से पूर्व किसी को यह नहीं मालूम हो सकता है कि परमात्मा मुझे वरण करेगा। इच्छानुसार जब वह वरण करेगा, तब हमें अनुमान होगा। इस अनुमान के क्या-क्या साधन हैं ? किन-किन हेतुओं से ऐसे वरण का अनुमान हो सकेगा, यह हम आगे चलकर दिखावेंगे।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने स्वयं श्रीभगवद्गीता और श्रीमद्भागवत में उक्त श्रुति का तात्पर्य श्रीमुख से कहा है–

**नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।**
**शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।**

(श्रीभगवद्गीता)

**न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।**
**न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो वेष्टापूर्वं न दक्षिणा**
**व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।**

(श्रीभागवत)

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि अर्जुन ! जैसा मेरा यह विश्वरूप अभी तुमने देखा है, इस प्रकार का मेरा पूर्णरूप न वेद पढ़ने से और वेदोक्त कर्म करने से देखा जा सकता है, न तप से, न दान से, न यज्ञ से यह रूप देखने की शक्ति हो सकती है। श्रीभागवत में श्री उद्धवजी के प्रति यही उपदेश है कि न सांख्य, न योग, न धर्म, न वेदाध्ययन, न त्याग (संन्यास) न यज्ञ, वापी कूप आदि, न दक्षिणा, न व्रत, न तीर्थ यम नियम ये कोई भी मुझे अनुरोधपूर्वक प्राप्त कराने के साधन नहीं हैं। ये मुझे वश

में नहीं कर सकते। इन सब वाक्यों पर दृष्टि देने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि पुरुष के प्रयत्नमात्र से भगवत्प्राप्ति सुलभ नहीं। भगवान् पुरुष के प्रयत्न के वश में नहीं, वे सर्वथा स्वतन्त्रेच्छ हैं, जिस पर कृपा होती है–उसे ही प्राप्त होते हैं। अन्य किसी साधन की वहां कोई गति नहीं।

तो क्या भगवान् ऐसे निष्ठुर हैं कि वे हमें बराबर दु:खसागर में ही पटके रक्खेंगे? हमारे नित्य सुख की प्राप्ति के उपायों की वे कोई कदर नहीं करेंगे ? क्या परमात्मा के यहाँ भी यह पक्षपात और अन्याय है कि किसी पर कृपा हो जाय और कोई कृपा का भिखारी ही बना रहे, कृपा की आशा में ही दु:खसागर में डूबता उतराता गोते खाता रहे ? ऐसा अन्याय तो किसी साधारण राजा का भी सह्य नहीं होता, किसी के यहाँ ऐसा अन्धेर होता दिखाई दे, तो उसकी आश्रित, उसकी प्रजा एक मुख से उसके विपरीत हो जाते हैं, विप्लव हो जाता है, घर घर उसकी निन्दा होने लगती है। सब यही कहने लगते हैं–'बाबा यह राज्य के योग्य नहीं' 'ऐसे पक्षपाती से राजकाज नहीं चल सकता'। तो भला फिर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के नियन्ता परमात्मा की यदि यह दशा रहे, तो ऐसे परमात्मा के पीछे जगत् का तो खातमा हुआ। ऐसे परमात्मा का महत्व ही क्या ? उसकी प्रतिष्ठा ही कौन करे ? शास्त्र भी हमें परमात्मा का स्वरूप नहीं बतलाते, वे तो कहते हैं–परमात्मा समदर्शी व न्यायकारी है, भगवान् अपने मुख से भी यही कहते हैं–

**"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः"**

मैं सबके लिए समान हूँ, न कोई मेरा शत्रु है, न मित्र है तब यह कृपा और अकृपा की बात समझ में नहीं आती, इस पर तो बड़ा संशय उठता है।

वेदान्तसूत्रप्रणेता भगवान् व्यासदेव ने भी इस प्रकार का सन्देह उठाया है कि किसी को सुखी और किसी को दुखी उत्पन्न करने के कारण सृष्टिकर्ता परमात्मा में विषमता का दोष आ जायगा, और समर्थ होकर दुखियों का दु:ख न निवारण करने पर वह निर्दय भी कहावेगा। इस आपत्ति का उत्तर उन्होंने वेदान्तसूत्र में यह दिया है कि जीवों के कर्मानुसार परमात्मा फल देता है, इसलिये विषमता वा निर्दयता का वहाँ कोई प्रसंग नहीं। परमात्मा का न पक्षपात है, न द्वेष है। जो जैसा करता है, वह वैसा पाता है, और किये हुये कुकर्म को परमात्मा क्षमा भी नहीं कर सकता। वह दयालु अवश्य है, परन्तु संसार के प्रबन्ध में बाधा न पड़े–इसलिये किये कर्म का फल उसे देना ही पड़ता है। यही संक्षेपतः व्यास भगवान् ने कहा है "**वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्**"।

किन्तु श्रीवल्लभाचार्य निबन्ध और उसके स्वकृत प्रकाश में आज्ञा करते हैं कि सूत्रकार व्यासजी का यह समाधान लौकिक बुद्धि के अनुसार है, वस्तुतः ऐसा मानने पर कर्म ही प्रधान हो जायगा, और परमात्मा को कर्म के वश में मानना पड़ेगा। तो बस, स्वतन्त्रता जाती रहने से परमात्मा असमर्थ कोटि में गिना जाने योग्य होगा, अतः उक्त समाधान वास्तविक नहीं। तब वास्तविक समाधान क्या है, इस पर वे कहते हैं कि–

**''आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैर्घृण्यं चापि वर्तते''**

(निबन्ध श्लो० ७६)

इसका तात्पर्य है कि निर्दय वह कहलाता है जो किसी दूसरे को दुःख दे, अथवा दुःख पाते हुए दूसरे की रक्षा न करे। एवं विषमता अथवा अन्याय उसमें माना जाता है कि जो दूसरों के साथ पक्षपात वा द्वेषवश भिन्न-भिन्न प्रकार का बर्ताव करे। किन्तु अपने आप ही कोई सुख, दुख को कौतुक मात्र समझता हुआ भिन्न-भिन्न स्थानों में कभी सुख और कभी दुःख का स्वीकार करता रहे, साथ ही दोनों को क्रीड़ामात्र जानता हुआ दोनों में ही लिप्त न हो तो वह निर्दय कभी नहीं कहला सकता। एवं अपने आपके लिये ही भिन्न-भिन्न साधन प्रस्तुत करता हुआ उनका भिन्न-भिन्न फल क्रीड़ामात्र के रूप में ग्रहण करे, तो वह पक्षपाती भी नहीं कहा जा सकता। श्रुति कहती है कि 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' परमात्मा ने अपने आपको ही जगद्रूप किया है। जगत् के जड़-जीव परमात्मा से भिन्न नहीं, उसके ही अंश हैं। तब जीव विशेष के साथ पक्षपात या द्वेष करना मानों अपने ऊपर ही पक्षपात या द्वेष करना है। अपने आपके संबन्ध में पक्षपात द्वेष का कभी व्यवहार ही नहीं होता। अतः यह सब परमात्मा की स्वस्वरूप में लीलामात्र है, निर्दयता, वा विषमता का वहां कोई प्रसंग ही नहीं। इस समाधान को ही प्रकृत प्रश्न पर भी लगा लीजिए कि क्रीड़ामात्र के लिए जगत् की उत्पत्ति और निरोध करता हुआ भगवान् सच्चिदानन्द परमात्मा क्रीड़ारूप से ही किसी जीव पर कृपा कर देता है, उसके कृपा रूप वरण से ही वह जीव उस अपने खोए हुए आनन्द को प्राप्त कर लेता है, और यों उसके मनुष्य जन्म की सफलता हो जाती है।

अब तक सिद्ध यह हुआ कि, मनुष्य जन्म की सफलता सुख प्राप्त करने पर ही अवलम्बित है, और सच्चा सुख आनन्दमय भगवत् स्वरूप को प्राप्त किये बिना मिल नहीं सकता; एवं भगवत्स्वरूप तब ही प्राप्त हो सकता है, जब भगवान् की कृपा हो, वही कृपा कर जिसका वरण करते हैं वह व्यक्ति उनके स्वरूप को प्राप्त कर

सकता है। मनुष्य के यज्ञ, दान, तप आदि किसी प्रयत्न से भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते, भगवान् स्वतन्त्र हैं वे किसी साधन के वश में नहीं। तो अब प्रश्न यह उठता है कि, फिर मनुष्य बेचारा अपने जन्म की सफलता के लिए क्या कर सकता है ? मनुष्य के वश की ही यह बात नहीं, तब मनुष्य को अपना जन्म सफल करने का उपदेश देना भी व्यर्थ है। मनुष्य तो प्रभु की इच्छानुसार एक प्रवाह में बह रहा है, प्रभु, ही कृपा कर जब प्रवाह से निकालना चाहेंगे, तब निकाल लेंगे, वह स्वयं तो विवश है, फिर जन्म सफल न करने के लिये किसी मनुष्य को उपालम्भ देना–उसे बुरा कहना–बिलकुल अन्याय है और मनुष्य को उपदेश देने के लिये ऋषि, मुनि, आचार्य महात्माओं का इतना आयोजन, इतने ग्रन्थ बनाना सर्वथा व्यर्थ है।

इसका उत्तर यह है कि, भगवत्स्वरूप की प्राप्ति के द्वारा सच्चा सुख प्राप्त करना भगवान् की इच्छा या कृपा पर ही निर्भर है, किन्तु भगवान् की कृपा का पात्र बनने के लिये भगवत्सेवा करना तो अवश्य ही मनुष्य का कर्तव्य है। जिस प्रभु का यह जीव एक अंश है, जिसकी एकमात्र कृपा से ही इसे सांसारिक सब प्रकार के सुख और भोग–जिन्हें यह सुख और भोग समझ रहा है वे सब प्राप्त हैं, और जिसकी कृपाकटाक्ष से ही सांसारिक सब दु:खों के बन्धन से सर्वथा इसका मुक्त होना संभव है–उस परम दयामय प्रभु को भूलकर यदि यह सांसारिक विषयों में ही आसक्त हो जाय, और यों निरन्तर मोहपाश में बँधकर अपने अध:पात के ही साधन इकट्ठे करता जाय, तो फिर उसे उपालम्भ क्यों न दें ? उसे बुरा क्यों न कहें ? और उसे सन्मार्ग पर लाने के लिये आचार्यों के उपदेश क्यों न आवश्यक होवें ? यद्यपि जीव का मोहान्ध होना भी भगवान् की इच्छा का ही परिणाम है, उनकी ही अविद्याशक्ति के द्वारा यह मोहजनित बन्धनों में प्रवृत्त किया जाता है, किन्तु उस अपनी अविद्या शक्ति को उपसंहृत कर ज्ञान के प्रकाश में लाने और अपने चरणारविन्द का दृढ़ प्रेम प्रदान करने के लिये जीव को निरन्तर भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये इस उद्देश्य से ही प्रभु की सेवा करनी चाहिये। यही अपने जन्म सफल करने के लिये मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है, यही शास्त्रों व आचार्य्यों का उपदेश है।

जो जीव मनुष्ययोनि पाकर भी पशु आदि की तरह भगवदिच्छा सेवा अपने पूर्वकर्मपरिपाक से अविद्या के इतने वशीभूत है कि अपने भगवदंश होने के ज्ञान का या अविद्या की निवृत्ति के लिये भगवान् से प्रार्थना करने की आवश्यकता का जिनके हृदय में अंकुर ही नहीं निकलता, मिथ्या आवेश के वश में पड़कर जो सत्य उपदेश से उलटी घृणा करते हैं, उनके लिये वस्तुत: शास्त्रों का वा आचार्यों का उपदेश नहीं

है। वे आचार्यों के दयापात्र होने पर भी उपदेश के पात्र नहीं। उनको भगवदिच्छा से प्रवाह में बहना ही होगा। अपने कर्मों का फल भोगना ही होगा। सब कार्यों के भगवदिच्छानुकूल होने पर भी हर एक का भला बुरा कहने की जिनकी आदत है, वे उन्हें बुरा भी कहेंगे और सत्पुरुष उनकी दशा पर दया करेंगे उनके उद्धार के लिये भगवान् से प्रार्थना करेंगे, किन्तु उनको उपदेश देना सर्वथा व्यर्थ मानेंगे। जब कभी सत्कर्म के परिपाक से उनपर भगवान् की कृपा हो और उनकी बुद्धि में सत्व का उदय हो–उस काल की प्रतीक्षा करनी ही होगी। किन्तु जो जीव दैवी संपत्ति प्राप्त किए हुए भी चित्त की चंचलता से या कुसंगति के प्रभाव से सन्मार्ग पर सुस्थिर नहीं होते, बार बार भटकते हैं, बहकते हैं उन्हें योग मार्ग पर दृढ़ करना, मिथ्या आवेश में न जाने देना शास्त्रों और आचार्यों के उपदेश से ही दृढ़ होता है। सब कुछ भगवान् की इच्छा से हो रहा है, उनकी ही कृपा पर दुःख से मुक्त होना और सच्चा सुख प्राप्त करना अवलम्बित है। हम जो चंचलतावश सन्मार्ग से विचलित होते हैं यह भी उनकी ही इच्छा है। हमें सर्वथा अविद्या के पंजे से निकलने के लिये भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये और उनकी ही सेवा करनी चाहिये। हमें आचार्यों का उपदेश प्राप्त होना भी भगवान् की कृपा का ही फल है यह उन भावुक जीवों के अन्तःकरा में दृढ़ हो जाता है।

आचार्य महानुभावों के व योग्य विद्वानों द्वारा शास्त्रों के अमूल्य उपदेश प्राप्त करके भी जिनके अन्तःकरण में ऐसे विपरीत विचार उठें कि भगवान् की इच्छा होगी, तब वे हमें मुक्त कर ही देंगे हमें सेवा आदि की आवश्यकता क्या ? तो उनके लिए उपदेश अनर्थक है। समझ लेना चाहिए कि ये अभी अविद्या देवी के कटाक्षों पर कुछ काल संसार-रंगभूमि में नृत्य करेंगे। किन्तु जिन भव्य जीवों के ऐसे विचार हों कि, भगवान् के अनुग्रह से ही हमें आचार्यों का उपदेश मिला है, भगवत्कृपा से हमारा उद्धार अवश्य होगा, हमें निरन्तर दृढ़ चित्त से भगवत्सेवा करनी चाहिये, बस, उन पर ही उपदेश सफल है, वे ही मनुष्य जीवन की सफलता प्राप्त करने में कुछ विलम्ब भी हुआ तो उपदेश पर दृढ़ श्रद्धा होने से वे यही समझेंगे, कि यह भगवान् की इच्छानुसार विलम्ब है, हमारा इसमें कोई दोष नहीं। यों अनुताप दुःख से भी वे सदा बचे रह सकेंगे। सिद्ध हुआ कि शास्त्रों व आचार्यों के उपदेश व्यर्थ कदापि नहीं, जीवों को भगवत्सेवा में दृढ़ता से प्रवृत्त करने के लिये उनकी अत्यन्त आवश्यकता है।

अवश्य ही भगवान् स्वतन्त्र हैं, किसी साधन के वशीभूत नहीं हो सकते कोई भी किसी भी साधन के द्वारा हठात् उनको प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु वे

करुणामय कृपामय एवं वात्सल्यमय हैं अतः अपनी सेवा करने वालों का वरण (स्वीकार) अवश्य करते हैं। उनकी सेवा व्यर्थ नहीं होती। इसकी वे स्वयं प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि–

**कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मद्भक्तः प्रणश्यति**

(श्रीभगवद्गीता)

'अर्जुन ! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता, यह तुम निश्चय जानो। अथवा स्वयं तुम ही (मेरी ओर से) इस बात की प्रतिज्ञा कर दो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

स्वतन्त्र होने पर भी अपना भक्ति के और भक्त के वश में होना वे स्वयं कहते हैं, जहां उन्होंने **'नाहं वेदैर्न तपसा'** इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य के द्वारा दूसरे साधनों से अपना प्राप्त न होना बतलाया है वहीं भक्ति के द्वारा अवश्य प्राप्त होना भी सिद्धान्त रूप से प्रकट किया है–

**भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन ! ।**
**ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं न परन्तप ।।**

(श्रीभगवद्गीता)

तात्पर्य यह कि, अर्जुन ! और उपायों से तो मेरे इस विश्वरूप का दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु अनन्य भक्ति के द्वारा तो भक्त लोग मुझे तत्वतः जान भी सकते हैं, देख भी सकते हैं, और मेरे इस रूप में स्वयं प्रविष्ट भी हो सकते हैं। श्रीमद्भागवत में भी योग आदि अन्य उपायों द्वारा अपने वश में होने का प्रतिषेध करते हुए भक्ति के द्वारा वश में होना स्फुट कर दिया गया है–

**न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ! ।**
**न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ।।**

अर्थात् योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, वा त्याग मुझे सिद्ध अर्थात् वशीभूत नहीं करते, जैसे कि, प्रबल (दृढ़) भक्ति वश में कर लेती है। अन्यत्र भी श्री भागवत में स्पष्ट अपना भक्त के वश में होना भगवान् कहते हैं–

**अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।**
**साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।।**
**नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।**

**श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् ! येषां गतिरहं परा**
**ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् ।।**
**हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे**
**मयिनिर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः ।**
**वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिंयथा ।।**

(भक्तिहंस)

इनका क्रमशः तात्पर्य है कि, मैं विवश की तरह भक्तों के अधीन हूँ। भक्तजन मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, इसलिये सत्पुरुष भक्तों के द्वारा मेरा हृदय मानों पकड़ा हुआ रहता है। 'जिन भक्तों ने मुझे ही परमगति मान रक्खा है–ऐसे सज्जनों के बिना रहना मैं कभी नहीं चाहता, और उत्कृष्ट लक्ष्मी को भी उन भक्तों के बिना नहीं चाहता।' 'जो अपने स्त्री, घर, पुत्र, बान्धव और प्राणों को एवं दुर्लभ धन को छोड़ कर मेरी शरण में चले आये हैं, उनको छोड़ने का साहस मैं कैसे कर सकता हूं' 'जिन्होंने अपना हृदय सर्वथा मानो मेरे साथ बांध रक्खा है जो साधु एवं समदर्शी हैं, वे मुझे इस प्रकार वश में कर लेते हैं, जैसे श्रेष्ठ, पतिव्रता स्त्री अपने सदाचारी पति को वश में करती है। तात्पर्य यह, कि, या तो स्त्री में कोई दोष हो, तो उसका पति उससे रुष्ट रहेगा, और यदि स्त्री पूर्ण साध्वी पतिव्रता है, और पूर्ण प्रेम करती है, फिर भी उसका पति उससे विमुख है, तो मानना पड़ेगा कि वह पति ही दुराचारी है, वह अन्य मृततृष्णा में पड़कर अपनी साध्वी स्त्री के प्रेम की प्रतिष्ठा करना नहीं जानता। यदि दोनों बातें न हों, दोनों निर्दोष हों, तो पत्नी के प्रेम व गुणगण से आकृष्ट होकर पति को उसके वश में होना ही होगा, उसके विशुद्ध प्रेम के उच्च भाव की प्रतिष्ठा करनी ही होगी। यों ही यदि निर्दोषपूर्ण भक्तियुत भक्त की सर्वथा उपेक्षा की जाय, तो यह भगवान् का एक प्रबल दोष सिद्ध होगा, कि वे प्रेम की प्रतिष्ठा करना नहीं जानते। किन्तु भगवान् कहते हैं कि ऐसा नहीं है, उस प्रेम के वश में सत्पति के समान मैं अवश्य होता हूँ।

इस प्रकार के स्वयं भगवान् के व भगवदनुगृहीत महात्माओं के शतशः वचन हैं जो भगवान् का भक्तपराधीन होना बतलाते हैं और इस पराधीनता से समता में भी बाधा नहीं आती–यह भगवान् ही कह रहे हैं–

**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः**
**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।**

(भगवद्गीता)

अब यह बात रह जाती है कि मनुष्य का कर्तव्य तो फिर कुछ बाकी न रहा। जब भगवान् का अनुग्रह होगा, तब मनुष्य भक्ति में लगेगा। मनुष्य चाहे भी, तो बिना अनुग्रह भक्ति नहीं हो सकती। फिर मनुष्य को क्या वृथा उपदेश किया जाता है कि "भक्ति करो।" करे कहां से, वह बिचारा स्वतन्त्र हो तब न। उसके तो साधन व फल सबकुछ भगवान् के हाथ में है, उसको विधिवाक्य सुनाना निरा "अरण्यरोदन" है।

उत्तर है कि भाई हम तो बार बार कह चुके कि जीव कभी स्वतन्त्र हो ही नहीं सकता, वह तो सर्वथा प्रभु की इच्छा के अधीन है, प्रभु के अनुग्रह बिना उसका कोई उबारा नहीं। किन्तु याद रक्खो कि उपदेश मिलना, शास्त्र के विधि वाक्यों में विश्वास होना यह भी सब प्रभु का अनुग्रह ही है। उस रूप के साधनों में उसे प्रवृत्त कर देते हैं। किसी को विधिवाक्यों द्वारा उपदेश दिलाकर कर्म में ही लगा देते हैं, किसी को सद्भक्तों के संसर्ग से कथाश्रवणादि में प्रवृत्त करते हैं–और किसी को–विशेष अनुग्रह होने पर स्वतः अपनी ओर खींच लेते हैं। सारांश यह कि, चित्त में सद्वृत्ति का उदय होना, उपदेश प्राप्त होना, उपदेशों में श्रद्धा होना–यह सब अनुग्रह का ही फल है। उपदेश कदापि व्यर्थ नहीं, और ऐसे उपदेश प्राप्त कर मनुष्य को अपने ऊपर भगवदनुग्रह का अनुमान कर परम संतुष्ट हो भगवत्सेवा में लगना चाहिये, मैं परतन्त्र हूं, मैं कुछ कर ही नहीं सकता, बिना अनुग्रह भगवत्सेवा कैसे करूं, मुझे उपदेश देना व्यर्थ है" इत्यादि व्यर्थ आलस्यजनित कुतर्कों में कभी न पड़ना चाहिये।

श्री विट्ठलेश जी "भक्तिहंस" में विधिवाक्यों की सार्थकता इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि जब तक भगवान् में निरुपाधिक स्नेह उत्पन्न न हुआ हो, तब तक श्रवण-कीर्तन आदि नवधा भक्ति-साधनों में जीव की प्रवृत्ति विधिवाक्यों द्वारा ही होती है और स्नेह उत्पन्न हो जाने पर फिर विधिवाक्य अप्रयोजक हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रवण, कीर्तन, अर्चन आदि में मनुष्य की प्रवृत्ति होने का कोई कारण तो अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कार्य कभी हो नहीं सकता तो जिनके अन्तःकरण में भक्ति अर्थात् भगवत्प्रेम उत्पन्न हो चुका है–उनका तो प्रवर्तक वह प्रेम ही हो जायगा जिसके साथ प्रेम हो, उसकी सदा बात सुनना औरों से उसकी ही चर्चा करना, उसकी याद करना, उसका आदर पूजा करना अर्थात् मैं सबके लिये समान हूँ मेरा न कोई द्वेष्य है, न कोई प्रिय मित्र है, किन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरी सेवा करते हैं, वे चूंकि मेरे आधार पर हैं–वे सदा मुझमें हैं–इसलिये मैं भी उनमें अवश्य हूं। जो मुझसे प्रेम करें, उनका यदि मैं उनके प्रेम को ग्रहण करता हुआ उद्धार करूं तो इससे समता में कोई बाधा प्राप्त नहीं हो सकती। इस सबसे सिद्ध हो जाता है कि भक्तिपूर्वक भगवत्सेवा ही भगवत्प्राप्ति के द्वारा सच्चा सुख प्राप्त करने का मुख्य साधन है।

कदाचित यह शंका हो कि, भक्तिपराधीनता बोधन करनेवाले वचनों का परमात्मा की स्वतन्त्रता बतलाने वाले वचनों से विरोध होगा, क्योंकि जब परमात्मा सर्वथा भक्ति के वश में हो गया, तो स्वतंत्र कहाँ रहा ? इसका उत्तर आचार्यगण यह देते हैं कि, वस्तुतः विरोध कुछ नहीं, क्योंकि 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति ने भी अनुग्रहमात्र से भगवान् का प्राप्त होना बताया है—और भक्ति से प्राप्त होना कहनेवाले भी यही कह रहे हैं—भक्ति का अनुग्रह में ही पर्यावसान है। तात्पर्य यह है कि जब भगवान् का अनुग्रह होता है, वे जिसका वरण करते हैं वही भक्ति का पात्र भी होता है। बिना भगवदनुग्रह से प्रेम हो ही नहीं सकता इसलिये जिस पुरुष के भगवान् का अनुग्रह होता है, वे जिसका वरण करते हैं वही भक्ति का पात्र भी होता है। बिना भगवदनुग्रह के प्रेम हो ही नहीं सकता इसलिये जिस पुरुष का भगवान् में प्रेम हो, उसे अनुमान करना चाहिये कि मुझ पर अवश्य भगवान् का अनुग्रह है, उन्होंने कृपाकर मेरा स्वीकार किया है—इससे मैं अवश्य कृतकृत्य हो जाऊंगा। भक्ति जैसा सुलभ और सर्वोत्कृष्ट साधन संसार में रहने पर भी जो अनन्त जीव दुःखसागर में गोते लगा रहे हैं सीधा सा पार जाने का उपाय भी उनसे नहीं होता इससे स्पष्ट सिद्ध है, कि बिना भगवदनुग्रह के भगवद्भक्ति हो ही नहीं सकती। भगवान् जब कृपा करते हैं—तब ही उनकी भक्ति होती है—तब ही हृदय में स्वाभाविक प्रेम का उदय होता है।

तो यह तो फिर एक चक्कर पड़ा, घूम घुमाकर वहीं पहुँच गये। किसी घाट पर एक कुटी में रहने वाला मनुष्य एक दिन कुछ रात्रि रहते कार्यवश दूसरे गांव को चला था। रास्ता भूलकर यह इधर उधर भटकने लगा। यों कभी इधर और कभी उधर घूम घाम कर सबेरे होते होते फिर अपनी कुटी में ही उलटा आ पहुँचा। मनुष्य प्रवर्त्तक कौन ? बस, साधनों में प्रवृत्ति कराने के लिये शास्त्रीय विधिवाक्यों की व आचार्य एवं महात्माओं के उपदेशों की आवश्यकता हुआ करती है यद्यपि भगवान् की इच्छा के अनुसार ही जीवमात्र की प्रवृत्ति है, किन्तु भगवान् की इच्छा किसी उपाय विशेष के द्वारा ही प्रवर्तक होती है वे उपाय विशेष ही विधिवाक्य आदि हैं। यद्यपि भक्ति शब्द का मुख्य अर्थ स्नेह ही है, किन्तु उस स्नेह के साधन मर्यादा-भक्ति के अंग, श्रवण, कीर्तन आदि भी भक्तिपद से कहे जाते हैं। स्नेहपूर्वक श्रवण, कीर्तन और विधिवाक्यों की प्रेरणा से किये जानेवाले श्रवण, कीर्तन आदि का भेद भी पुष्टिमार्गीय भक्ति ग्रन्थों में बहुधा निरूपित हुआ है।

मनुष्य जन्म की सफलता संपादित करनेवाली प्रधानभूत भक्ति के साधन रूप से ही सब प्रकार के शुभ कर्म और ज्ञानादि का उपयोग पुष्टिमार्ग में माना गया है। श्रीविट्ठलेश जी ने भक्तिहंस में यह साधन उद्धृत किया है—

**दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।**

**श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते**

अर्थात् दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदपाठ, मनोनिग्रह एवं और और प्रकार के नाना शुभ कर्मों से श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् की भक्ति ही सिद्ध की जाती है और श्री वल्लभाचार्य 'निबन्ध' में साधनों का क्रम इस प्रकार वर्णन करते हैं कि–

**तस्य ज्ञानाद्धि कैवल्यमविद्याविनिवृत्तितः**

**वैराग्यं सांख्ययोगौ च ततो भक्तिश्च केशवे ।**

इसका तात्पर्य श्रीचरणों ने ही इस प्रकार प्रकट किया है कि ब्रह्म का ज्ञान होने पर अविद्या निवृत्त हो जाती है, तब विषयों की तृष्णा नहीं रहती अर्थात् वैराग्य होने पर नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक कर सब अनित्यों का त्याग कर दिया जाता है, और फिर एकान्त प्रदेश में अष्टांगयोग साधन में प्रवृत्ति होती है। फिर तप होता है। तप से यहां तात्पर्य विचारपूर्वक आलोचन अथवा एकाग्र स्थिति से है। इस तप से ही निरन्तर भावना होते होते परम प्रेमारूपा भक्ति सिद्ध हो जाती है।

आगे भी वैराग्यादि का अंगभाव बोधित करते हैं–

**वैराग्यज्ञानयोगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा ।**

**एकेनापि दृढेनेशं भजन् सिद्धिमवाप्नुयात् ।।**

इसकी व्याख्या में इसका आशय यों अभिव्यक्त किया है कि "वैराग्य अवश्य भजन का अंग है, क्योंकि जब तक वैराग्य न होगा, तब तक अन्तःकरण में विषयों का आवेश रहने के कारण भगवान् का आवेश ही नहीं हो सकेगा, फिर भजन कैसा? दूसरा सब पदार्थों का और भगवान् का यथार्थ ज्ञान भी अवश्य ही भजन का अंग है, क्योंकि निश्चयात्मक ज्ञान के बिना प्रवृत्ति कभी होती नहीं। प्रवृत्ति मात्र में इष्टसाधनता-ज्ञान कारण है, भगवद्भजन मेरा साधन है यह ज्ञान होने पर ही भजन में प्रवृत्ति होगी और इस ज्ञान के स्वरूप संगठन के लिये भगवान् का ज्ञान-इष्ट का ज्ञान, व तुच्छता जानने के लिये इतर पदार्थों का तात्विक ज्ञान अवश्य होना चाहिये।

योग भी भजन का अंग है, क्योंकि योग के बिना चित्त की चंचलता रहने पर भजन हो ही नहीं सकता। प्रेम तो भजन का मुख्य कारण है ही, क्योंकि बिना प्रेम के यथोचित भजन होगा ही नहीं, आनन्द प्राप्त होने पर ही सच्चा भजन होता है और आनन्द बिना प्रेम मिलता ही नहीं। तप भी भजन का अंग है, तप के द्वारा शरीर इन्द्रिय

आदि परिपक्व होते हैं। यदि सब साधन न भी हों तो श्री आचार्य महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि, एक ही दृढ़ हो जाय, और उसके द्वारा भजन करता रहे, तो सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जायगा। तात्पर्य यह कि, भजन मुख्य है, अंग एक, दो चार जितने मिल जांय, अच्छा है।

## प्रपंच और संसार

यह धर्म अथवा पुरुषार्थ संसार पर ही आधारित है। अत: दार्शनिक दृष्टि से संसार और प्रपंच का भी विभिन्न मतों में क्या स्वरूप है यह प्रदर्शित कर दिया जाता है। श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद में एक मोटा भेद यह है कि श्री शंकराचार्य आकाश, वायु, पृथिवी आदि संपूर्ण प्रपंच को मायाकल्पित या दूसरे शब्द में मिथ्या कहते हैं और शुद्धाद्वैतवाद में प्रपंच को सत्य मानकर ही अद्वैतप्रक्रिया का निर्वाह किया जाता है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तानुसार जो कुछ जैसा हम समझ रहे हैं, वह सब ठीक ही है, हमारा समझना 'अविद्याकृत' है ही नहीं, या ज्ञान होने पर हमारी समझ में कोई अन्तर ही नहीं पड़ेगा। नहीं, शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में भी हमारे समझने में बहुत कुछ हिस्सा 'भूल' का है, जो कि 'अविद्या' की कृपा से हमें प्राप्त हुआ है। जिससे हम सरासर धोखे में पड़े हुए हैं, और ज्ञान के बिना उससे छुटकारा होना हमारा दुर्लभ है।

श्री वल्लभाचार्य अपने 'तत्वार्थदीप' निबन्ध के 'शस्त्रार्थ' प्रकरण में आज्ञा करते हैं कि–

**प्रपंचो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत् ।**
**तच्छक्त्या विद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते ।।२३।।**

श्रीमत्प्रभु की स्वकृत व्याख्यानुसार ही इसका तात्पर्य विशद किया जाता है।

प्रपंच और संसार इन दोनों शब्दों का अर्थ वस्तुत: भिन्न भिन्न है। शास्त्रों में संसार को असत् या मिथ्या कहा गया है, प्रपंच को नहीं। आचार्य श्री के कथनानुसार इन दोनों का भेद न समझने के कारण ही सबको मिथ्या कहने की भ्रांति जगत् में फैली है। जिन जिन वस्तुओं को जिस जिस स्वरूप में भगवान् ने पैदा किया–वह सब प्रपंच कहलाता है। यह प्रपंच भगवद्रूप ही है, भगवान् ही अपनी इच्छानुसार रमणार्थ प्रपंच रूप से प्रकट हुए हैं, प्रकृति के परिणाम रूप उपादान से भगवान् ने जगत् को नहीं बनाया। वेद में तो सद्रूप भगवान् का ही प्रपंचरूप से प्रकट होना कहा गया है, किन्तु विष्णु पुराण आदि में माया के द्वारा भी प्रपञ्चोत्पत्ति बतलाई है। वहां माया को भगवान्

की शक्ति समझना चाहिए। एकरूप रहकर भी 'सर्वरूप' 'अनन्तरूप' हो जाने का जो भगवान् का सामर्थ्य है, वही सामर्थ्य या शक्ति 'माया' कही जाती है। तो माया के द्वारा जगत् की उत्पत्ति बतलाने वाले पुराणों का तात्पर्य यही है कि भगवान् ने अपनी शक्ति-- अपने सामर्थ्य से ही स्व-स्वरूप प्रपंच को प्रकट किया है, दूसरे किसी का थोड़ा भी सहारा नहीं लिया।

यह हुई प्रपंच की बात, अब संसार के संबन्ध में कहा जाता है कि परमात्मा की शक्ति रूप अविद्या के द्वारा जीव के लिये संसार उपस्थापित किया जाता है। यहां श्लोक में 'उच्यते' पद दिया है, 'उत्पद्यते' नहीं, इसका यह अभिप्राय है कि संसार केवल वाचनिक है, अभिमानरूप है, व्यावहारिक है। न कि प्रपंच के समान ब्रह्म से प्रकट हुआ है। अतएव शास्त्रकारों ने इस संसार को असत् कहा है, प्रपंच को नहीं। संसार क्या वस्तु है, यह श्री आचार्यचरणों ने बताया है कि 'अहं' (मैं) 'मम' (मेरा) इत्यादि अभिमान संसार है। 'मैं यह कर्म करता हूं' 'इस कर्म का यह फल मुझे प्राप्त होता है' 'मैं इस फल का भोक्ता हूं' इत्यादि क्रिया और क्रियाफलों का आत्मा में अभिमान ही संसार है और वह वस्तुतः 'असत्' है। 'असत्' होने पर भी परमात्मा की शक्ति 'अविद्या' के द्वारा जीव के प्रति उपस्थित किया जाता है। परमात्मा को जो जगन्निर्माण में कारणीभूत क्रीड़ा (रमण) की इच्छा है, वह जीव के मोहित हुए बिना और नाना कर्म करने एवं फल भोगने में प्रवृत्त हुए बिना परिपूर्ण नहीं होती, बिना मोह के विषमता न होगी, और विषमता के बिना संसार का स्वरूप कुछ भी न होगा।

सारांश यह हुआ कि वस्तुस्वरूप तो सब प्रपंच के अन्तर्गत है, और वे परमात्मा के बनाये हुए परमात्मस्वरूप, अतएव सर्वथा सत् है। किन्तु जीव जो उसे 'मेरा' कहकर स्वसंबंधिता का अभिमान करता है, और उस अभिमान द्वारा उनमें नाना 'विकल्प' उत्पन्न करता है, किसी को 'सुन्दर' कहकर अपने सुख का साधन समझता हुआ उसमें अनुरक्त होता है-यह सब 'अविद्या का' पसारा है, इस प्रकार के अभिमान ही संसार हैं, और ये सर्वथा असत् हैं, एवं ये ही जीव के बन्धन हैं, इन बन्धनों से मुक्त होने के लिए-सब पदार्थों से 'अहं' 'मम' व्यवहार और तन्मूलक सुख-दुख साधनता हटाकर सबको यथार्थ भगवद्रूप से समझने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव शुद्धाद्वैत संसार में ज्ञानसंपादन मुख्य कर्तव्य माना गया है, और उसे भक्ति का मुख्य अंग कहा गया है।

यह 'प्रपंच' और 'संसार की प्रक्रिया दूसरे मतों में भी देखी जाती है। शांकरमत के दृढ़ अनुयायी विद्यारण्यस्वामी अपने 'पंचदशी' ग्रन्थ के द्वैतविवेक प्रकरण में ईशसृष्ट

और जीवसृष्ट दो प्रकार के द्वैत का विवेचन करते हुए उपनिषद् के 'सप्तान्नवाद' का आश्रयण कर लिखते हैं कि–

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः ।
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीद्विभिन्नताम् ।।१७।।
ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद् द्वाभ्यां समन्वितम् ।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ।।१८।।
मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ ।
मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम् ।।१९।।
ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते ।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद् भोगो बहुदृष्यते ।।२०।।
हृष्यत्येको मणिंलब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः ।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ।।२१।।
प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ।।२२।।
भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा ।
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः ।।२३।।

इनका तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने यद्यपि स्वरूप से सब पदार्थों को बनाया है, किन्तु जीव ने अपने ज्ञान और कर्म के द्वारा इनको अपना भोग्य अपने आप बनाया है। सारांश यों है कि यह जगत् ईश्वर का तो कार्य है, और जीव का भोग्य है, अतः दोनों ही से इसका सम्बन्ध है, इसमें दृष्टान्त है कि जैसे एक स्त्री अपने पिता से तो उत्पन्न है, और पति की भोग्य है उसे दोनों ही की सम्बन्धिनी कहा जाता है जगत् की उत्पत्ति में माया की वृत्तिरूप ईश्वर का संकल्प कारण है और जगत् के अपने भाग का साधन बनाने में मन की वृत्तिरूप जीव का संकल्प साधन है। ईश्वर का संकल्प एक है, अतः मणि आदि वस्तु एकरूप ही उत्पन्न होती हैं, किन्तु भोक्ता पुरुष और उनकी मनोवृत्तियां अनेक हैं अतः भोग कई प्रकार से देखा जाता है। एक ही मणि है, उसे प्राप्त करके एक मनुष्य को हर्ष होता है–तो वह मणि उसके लिए हर्षरूप भोग का साधन हुई। दूसरा पुरुष उसे प्राप्त न कर सकने के कारण क्रोध करता है,

तो वही मणि उसके क्रोध का साधन हो गई। तीसरा विरक्त पुरुष मणि को केवल देखता ही है, उसे इसके सम्बन्ध में न हर्ष होता है, न क्रोध होता है। यों एक ही मणि में इन जीवों ने प्रिय अप्रिय और उपेक्ष्य (तटस्थता) ये तीन प्रकार के आकार बनाये। जीवों के बनाये आकार परस्पर नहीं मिलते, जैसा कि जिसको वह प्रिय है, उसे प्रिय ही है अप्रिय नहीं हाती, जिसे अप्रिय है, उसे प्रिय नहीं होती–किन्तु ईश्वर का बनाया मणिरूप तीनों के लिये साधारण और तीनों के ज्ञानों में मिला हुआ है। यों ही ईश्वर की बनाई हुई एक ही स्त्री किसी की भार्या, किसी की स्नुषा (पुत्रवधू) किसी की ननद, किसी की जिठानी और किसी की माता होती है। स्वरूपतः स्त्री एक ही है। किन्तु प्रतियोगी बुद्धि से कई प्रकार की भिन्न भिन्न हो रही है। अर्थात् भिन्न-भिन्न सम्बन्ध के अनुसार प्रत्येक पुरुष उसे (अपने अपने सम्बन्ध की अनुयोगीभूत) भिन्न भिन्न रूप से देखता है। बस, मणि किंवा स्त्री ईश्वरनिर्मित है किन्तु हर्ष साधनता, क्रोधसाधनता आदि के व स्वकीयता परकीयता आदि के भाव, किंवा भार्या, स्नुषा माता आदि ममतामूलक सम्बन्ध के भाव जीव की अविद्या द्वारा निर्मित केवल व्यावहारिक है।

इस ही तत्त्व को कुछ विवेकशील विद्वान् यों प्रकट करते हैं कि जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं–एक सत्तासिद्ध, दूसरे भातिसिद्ध। जो पदार्थ जगत् में है (अपनी सत्ता में रहते हैं) इसलिये उनका ज्ञान होता है–वे सत्तासिद्ध कहे जाते हैं और जिनका ज्ञान होता है, इसही लिये उनकी सत्ता प्रकल्पित है अर्थात् ज्ञान में प्रतीत होने पर भी जो अपनी वस्तुगत सत्ता कुछ नहीं रखने, वे भातिसिद्ध कहने योग्य है। उदाहरण के लिये जैसे पर्वत, उसका रूप, उसकी कठिनता आदि पदार्थ सत्ता सिद्ध हैं, क्योंकि वे हैं–इसलिये प्रतीत होते हैं। और पर्वत में दूरपन, (दूरता) या नजदीकपन (सन्निहितता) छोटापन (लघुता) या बड़ापन (विशालता) अच्छापन (रमणीयता) या डरावनापन (भीषणता) एक दो आदि संख्या, किसी दूसरे पर्वत की सदृशता वा विरोधिता, एक जातीयता या विभेद-इत्यादि-इत्यादि बहुत से धर्म केवल भातिसिद्ध हैं, पदार्थगत कोई विशेष सत्ता न होने पर भी बुद्धि में दूसरे पदार्थों की अपेक्षा से इन धर्मों की प्रतीति हो जाया करती है। अतएव ऐसे धर्म अपेक्षाविशेष से अनियत होते हैं, और सत्ता सिद्ध धर्म एकरूप नियत होते हैं। जैसे कोई भी पुरुष देखनेवाला हो, सब पर्वत को सदा पर्वत ही कहेंगे, और पर्वत कृष्ण वर्ण होगा, तो सब देखनेवाले सदा उसे कृष्ण वर्ण ही कहेंगे–यों सत्तासिद्ध धर्म नियत हैं। किन्तु उस ही पर्वत को एक पुरुष दूर और दूसरा नजदीक कह सकता है, एक उसे छोटा और दूसरा बड़ा बता सकता है। एक के लिये वह रमणीय और दूसरे के लिये भयानक प्रतीत हो सकता है। दूसरा क्यों?

एक ही पुरुष किसी समय में या किसी स्थान की अपेक्षा उसे दूर कह सकता है, दूसरे समय में या दूसरे स्थान पर बैठकर वही उसे नजदीक बता सकता है। अब देखना यह है कि किसी स्थान पर रह कर कोई पुरुष उसे दूर कहे, या दूसरे स्थान पर रह कर नजदीक कहे, इससे पर्वत के स्वरूप में कुछ भी विलक्षणता नहीं होती, पर्वत जैसा पहले था, वैसा ही अब भी है। सत्ता में कोई विलक्षणता नहीं, दूरता और सन्निहितता की प्रतीतिमात्र है प्रतीति से ही यह दूरता और सन्निहितता कल्पित है। यों ही किसी छोटे पर्वत की अपेक्षा छोटा बड़ा कह दें–इससे पर्वत के स्वरूप में कोई विशेषता नहीं होती, बड़ापन छोटापन प्रतीतिमात्र है। उसको यदि कोई रमणीय समझता है, या उसके विपरीत भयंकर समझने लगता है, तो यह समझनेवाले की समझ मात्र है, पदार्थ तो जैसा है वैसा एकसा ही है। कभी उसे दूसरों के साथ तुलना करते हुए सदृश या विरुद्ध कह दें, कभी दूसरे की अपेक्षा उसे विभिन्न बतलाने लगे, और कभी दूसरे से कुछ भी तुलना न करते हुए केवल पर्वतमात्र उसे समझें, तो इन बातों का वस्तु के स्वरूप की विचित्रता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, बस, ऐसे अपेक्षाकृत धर्म केवल भातिसिद्ध धर्म कहावेंगे। इनकी सत्ता प्रतीतिमात्र के ही आधार पर है। यों ही 'सामान्य' और 'विशेष' को बुद्ध्यपेक्ष–भातिसिद्ध–या प्रतीतिमात्र के आधार पर अवस्थित महर्षिकणाद ने स्पष्ट कहा है–**'सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्'** (वैशेषिक सूत्र)।

पर्वत के दृष्टान्त से ही सर्वत्र समझ लीजिए, किसी स्त्री में सम्बन्ध विशेष के अनुसार ममता–मूलक भार्यात्व, भगिनीत्व, मातृत्व, स्नुषात्व आदि की कल्पना प्रतीतिमात्र सापेक्ष है, अस्तु स्वरूप की इन प्रतीतियों में कुछ भी विलक्षणता नहीं होती। कोई मनुष्य एक स्त्री को सुन्दरी कहता है, दूसरा उसे कुरूपा समझता तो कहना होगा, कि यह समझ ही मात्र है। वस्तु तो जैसी थी वैसी ही है। ये सब धर्म उसमें काल्पनिक हैं। ये ऐसे प्रतीतिमात्र सापेक्ष या भ्रांतिसिद्ध धर्म प्रातिभासिक कहलाते हैं और इन्हें ही प्रकृत सिद्धान्त में 'संसार' कहा जाता है। अब कहां कौन–कौन धर्म सत्ता सिद्ध हैं और कौन-कौन भातिसिद्ध है, इस बात की परीक्षा विवेक से करने की आवश्यकता है और संभव है, इस विचार में मतभेद भी बहुत कुछ हो, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के विवेक से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही धर्म की परिभाषा में ज्ञान कहलाता है और ऐसे प्रतीतिसिद्ध धर्मों के बन्धन में न पड़ने का सब ही दार्शनिक हमें आदेश करते हैं।

अब इससे आगे और कुछ सूक्ष्म विचार करते हुए विवेकशील विद्वान् हमें यह बतलाते हैं, कि ईश्वर ने जो पदार्थ जैसा पैदा किया, वह वैसा रहे, उससे हमें कुछ

प्रयोजन नहीं। उससे जीव का न बन्ध है, न मोक्ष। जीव तो अपने ज्ञान में आये हुए पदार्थों के द्वारा बद्ध होता है, और वे ज्ञान के विषयीभूत पदार्थ मनःकल्पित अतएव प्रातिभासिक हैं। ईश्वर की बनाई हुई एक स्त्री है, वह सबके लिये समान है, और इससे किसी जीव के बन्धन का कोई संबंध नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्न पुरुष जो अपने मन के द्वारा उसे ग्रहण करते हैं वह उन पुरुषों की मानस स्त्री भिन्न-भिन्न है और उस भिन्न-भिन्न मानस स्त्री में ही भिन्न-भिन्न संबन्धों की कल्पना उन-उन पुरुषों ने कर रक्खी है। यह मानस स्त्री और उसके साथ के (सम्बन्ध धर्म और धर्मी) दोनों जीवसृष्ट प्रातिभासिक, मिथ्या अतएव हेय हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये मानस स्त्रियां उस ईश्वरकृत स्त्री से ही निकली हैं, उस ही के आधार पर ये मन की कल्पनाएं हुई हैं और यही बौद्ध के विज्ञानवाद की अपेक्षा इस विवेक का बड़ा भारी अन्तर है। विज्ञानवादी बौद्ध लोग मानस स्त्रियों को ही प्रपंच मान बैठे हैं, ये बाह्य पदार्थ नहीं मानते, किन्तु हमलोग मन में आकर समर्पण करने के लिये बाह्य प्रपंच की सत्ता आवश्यक समझते हैं, हमारा विश्वास है कि बाह्य स्त्री न होती तो मन में आती कहां से ? अस्तु, यह एक दूसरा विवाद है, किन्तु इतना तो अवश्य ही है कि जीव का बन्धन इन मानस स्त्रियों से ही है। ईश्वर निर्मित प्रपंच की स्त्री मर भी जाय, और मन की स्त्री बनी रहे, तो वियोगजनित दुःख रूप से बन्धन बना रहता है और प्रपंच की स्त्री बनी रहे किन्तु मनोवासना दूर कर दी जाय तो जीव उससे मुक्त हो चुका। अतः जीव को केवल अपने मानस संसार के विलय का ही प्रयत्न करना चाहिये। यह सब विद्यारण्य स्वामी ने ही पंचदशी में उक्त श्लोक के आगे लिखा है-

**ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते**
**योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ।**
**मैवं मांसमयी योषित्काचिदन्या मनोमयी ।**
**मांसमय्या अभेदेपि भिद्यते ही मनोमयी ।।२५।।**
**सत्यं वै विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ ।**
**अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत्**
**सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम् ।।३२।।**
**अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ।**
**अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद् द्विष्यते कुतः ।।४२।।**

श्लोकों का अर्थ यह है कि पूर्वोक्त भार्या, स्नुषा, माता आदि रूप से जो भिन्न भिन्न पुरुषों के एक स्त्री में भिन्न भिन्न ज्ञान बतलाये गये हैं, वहां ज्ञानों का तो परस्पर भेद हुआ, वस्तु के आकार में तो कोई भिन्नता न आई, क्योंकि स्त्री के शरीर में जीव के ज्ञान द्वारा कोई विशेषता पैदा होती हुई नहीं देखी जाती, फिर जीवनिर्मित द्वैत–या 'संसार' क्या पदार्थ है? इसका उत्तर यों देते हैं कि ऐसी शंका मत करो, क्योंकि मांस की बनी हुई दूसरी है, मन की बनी हुई दूसरी है। मांस की बनी हुई यद्यपि एक है, किन्तु मन की बनी हुई भिन्न भिन्न हैं। इसके भाष्य और वार्तिककार के वचनों से मनोमय पदार्थ को सिद्ध कर आगे कहते हैं कि अब घट आदि विषय दो प्रकार के सिद्ध हो गये, एक मिट्टी का घड़ा, और एक बुद्धि का घड़ा। इनमें से बुद्धि का घड़ा ही जीव का बन्धन करनेवाला है–यह बात अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध हो जाती है। क्योंकि बुद्धि का घड़ा रहने पर (मिट्टी का न रहने पर भी) सुख दुःख होते हैं और मिट्टी का घड़ा रहने पर भी बुद्धि का घड़ा न रहने पर सुख दुःख नहीं होते। इसका कई लौकिक दृष्टान्तों द्वारा समर्थन कर आगे कहते हैं कि ईश्वर का बनाया द्वैत मुक्ति में बाधक नहीं प्रत्युत साधक है, और उसे हम हटाने में भी असमर्थ हैं, फिर उसके साथ द्वेष क्यों करें ? अर्थात् जीवसृष्ट द्वैत ही बन्धन का हेतु है– और वह ज्ञान वैराग्य द्वारा हटाया जा सकता है–यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है, तब उसे ही हटाने का प्रयत्न करना चहिये।

शुद्धाद्वैत के मान्य विद्वानों ने भी स्थान स्थान पर इन मनोमय पदार्थों का विवेचन किया है विद्वत्प्रवर श्रीबालकृष्णभट्ट जी अपने प्रमेयरत्नार्णव के 'प्रपंचविवेक' प्रकरण में लिखते हैं कि–"परन्तु व्यामोहिका माया जीवं व्यामोहयित्वा तदीयबुद्धौ प्रापंचिकसद्वस्तुसदृशं मायिकं पदार्थमुत्पाद्य पुरःस्थितविषये प्रतिपक्षि तदा पदार्थग्रहणम्। तस्यापि ग्रहणात् द्विशिष्टाज्ञानं भ्रमात्मकं भवति। तथा सति वस्तुग्रहे मायिकधर्माणामपि ग्रहणाद् 'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्।' 'देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा' 'स्वबुद्घावाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत्। स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्। इत्यादि वाक्यानि सावकाशानि भवन्ति। इमानि तादृक् प्रतीतिमूलकानि प्रमाणान्यवलम्ब्य विवर्तादिवादानां प्रवृत्तिः। पुराणादौ तादृशवादमूलमायिकत्वोक्तिवैराग्यार्थमुपयुज्यत–इति व्यवस्थापितं तत्त्वदीपे, अतः प्रतीतिरेव मुग्धानां मायिकी, न वस्तुनि कश्चिद्दोष, स्वाभाविकः' इत्यादि। इसका अर्थ है कि श्रुति, स्मृतिवचनानुसार यह सिद्ध है कि ब्रह्म ही प्रपंचरूप से सर्वत्र इन्द्रियग्राह्य है, किन्तु व्यामोहन करनेवाली माया जीव को भ्रम में डालकर जीव की बुद्धि में ईश्वर निर्मित प्रपंच के अन्तर्गत वस्तु के सदृश मायिक पदार्थं को उत्पन्न कर देती है। यही मन का

विषयाकार में परिणत होना हुआ—और यह मायाकृत है। और माया पदार्थ को सामने रक्खे हुए प्रपंच के पदार्थ के साथ मिला देती है, यही पदार्थ का ग्रहण (ज्ञान) कहलाता है। तो इस ज्ञान में मायारचित पदार्थ के भी अन्तर्गत होने से यह विशिष्टज्ञान भ्रमात्मक सिद्ध हो गया और प्रत्येक वस्तुज्ञान में मायारचित धर्म भी साथ अवश्य गृहीत होते हैं—इस ही आधार पर पुराण में लिखा है कि—'जो कुछ मन से, वाणी से, आंख से या श्रोत्र आदि से गृहीत होता है, वह विनाशशील है, और मायाजनित मन का विकार है, 'और इस ही आधार पर पदार्थों को स्वप्नसदृश, दुःखरूप आदि कहा गया है। इन प्रतीतिमूलक प्रमाणों के आधार पर ही विवर्तवाद आदि संसार में फैले हैं, और इन वादों को मूल मानकर पुराणों में भी जो कहीं जगत् को मायाजन्य कह दिया है—वह जगत् से वैराग्य कराने के लिये है—यह तत्वदीप-निबन्ध में निर्णीत हो गया है। सिद्ध यह हुआ कि भूले हुए लोगों की प्रतीति (ज्ञान) ही मायाजन्य है, वस्तु के स्वरूप में स्वाभाविक कोई दोष नहीं।

शुद्धाद्वैतमार्तण्ड के टीकाकार श्रीरामकृष्ण भट्टजी महाराज भी आरंभ के तृतीय श्लोक की व्याख्या में ही लिखते हैं कि '**नामरूपभेदज्ञानमेवाविद्यकम्, न तु ते**' अर्थात् प्रत्येक नाम और रूप का जो भेदपूर्वक हमें ज्ञान होता है, वही अविद्याकृत है। नाम और रूप अविद्याकृत नहीं है। बाईसवें श्लोक की टीका में भी शांकर मत का निराकरण करते हुए '**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**' श्रुति की संगति लगाने को आपने लिखा है कि '**तत्र माया ज्ञानं प्रति करणम्, न तु ब्रह्मणो बहुस्वरूपत्वं**' अर्थात् उक्त श्रुति में ब्रह्म की बहुरूपता में माया को कारण नहीं बतलाया गया, अनेक रूप से जो ज्ञान होता है—उसमें माया को कारण कहा है। तात्पर्य यही है कि ज्ञान मायिक है, पदार्थ मायिक नहीं है। श्री हरिराय जी भी ब्रह्मवाद में लिखते हैं कि 'इह सर्वरूपतया अद्वये ब्रह्मणि प्रपंचरूपेपि सच्चिदानन्दतयैकरूपे वस्तु नाना न, किन्त्वब्रह्म-दशायामविद्यया भासत एव, अतो वैलक्षण्यम्।' तात्पर्य यह है कि अद्वितीय ब्रह्म यद्यपि क्रीडार्थ प्रपंचरूप हुआ है, किन्तु प्रपंच में भी उसकी सच्चिदानन्दतारूप एकता विराजमान है, प्रपंच की वस्तु भिन्न-भिन्न नहीं, जिनकी ब्रह्मदृष्टि नहीं है उन्हें अविद्या द्वारा भेद की प्रतीति होती है। अविद्याकृत ही विलक्षणता भासित हो रही है। आगे एक में अनेक भान का दृष्टान्तों से उपपादन कर आपने स्पष्ट ही कहा है कि 'अत एव न ब्रह्मविदां तथा प्रतीतिः।' ब्रह्मवेत्ता जनों की प्रतीति लौकिक पुरुषों को सी नहीं होती। वे ब्रह्म से अभिन्न, वस्तु का स्वरूपमात्र देखते हैं।

श्री आचार्य महाप्रभुचरण भी निबन्ध में शास्त्रार्थ प्रकरण (श्लोक ९१) में दो

प्रकार से वेदान्तों का बोधन प्रकार दिखाते हुए द्वितीय प्रकार में ये कहते हैं 'यदा अखंडाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवत् सत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति, तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धिर्घटते इति, सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति बुद्धिर्भवति। न तु स्वरूपतोऽपि घटादिपदार्थोपि धर्मी बाध्यत इत्यर्थः।' तात्पर्य यह कि जब अखण्डाद्वैतभान पुरुष को होता है, और कटक कुण्डल आदि में सुव्वुर्णदृष्टि की तरह सब विश्व में केवल ब्रह्मदृष्टि हो जाती है, तब भिन्न-भिन्न विषयों की 'घटः' 'पटः' आदि बुद्धियों का बोध नहीं होता–अर्थात् ये भिन्न-भिन्न बुद्धियां नहीं रहने पातीं, केवल ब्रह्मबुद्धि ही सर्वत्र हो जाती है। किन्तु बुद्धि का बाध होने पर भी घट आदि पदार्थ स्वरूपतः बाधित नहीं होते। पदार्थों का स्वरूप तो बना ही रहता है। किसी को ब्रह्मबुद्धि होने पर सब घड़े फूट जांय, या कपड़े फट जांय–यह असंभव है।

इस आगे के निरूपण से यह सिद्ध हुआ कि केवल पदार्थों के साथ जीव की अपनी संबन्ध-कल्पना ही अविद्याकृत है, किन्तु जिस प्रकार एक दूसरे से भिन्न पदार्थों का स्वरूप हम समझते हैं वह हमारा विशिष्ट ज्ञान भी अविद्या में ही प्रविष्ट है। सबको ब्रह्मरूप से देखना ही सद्बुद्धि है, वही ज्ञान है, और उसके उत्पन्न होने पर ये विकल्प-बुद्धियां विलीन हो जाती हैं। प्रपंच के सब पदार्थ ईश्वरनिर्मित सत्य हैं किन्तु उन पदार्थों के आधार पर मानस में जिन पदार्थों की कल्पना होती है वे अविद्या निर्मित हैं। सिद्ध यह हुआ कि पदार्थों को स्वरूपतः मिथ्या कहने में शांकर सिद्धान्त के साथ शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का विवाद है, किन्तु जिस रूप में हमने पदार्थों को परस्पर भिन्न स्वसंबन्धी अपने लिये दुःख सुख आदि के हेतु मान रक्खा है और इसके आधार पर अपने आप में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की कल्पना कर रक्खी है वह सब हमारा मानना अविद्याकृत मिथ्या है, यह शुद्धाद्वैत के आचार्यों को भी अभीष्ट है। सब पदार्थों को ईश्वर रूप और ईश्वर स्मरणार्थ आविर्भूत देखना, एवं अपने आपको उनसे निःसंग देखना ज्ञान है। यह ज्ञान भक्ति में परम उपयोगी है। पदार्थों की सत्यता असत्यता का विचार केवल दार्शनिक है, जीव की कृतकृत्यता इतने ही ज्ञान से हो जाती है, यह बात शांकरमत के अनुयायी विद्वान् भी मान चुके हैं।

# पैसठवाँ-पुष्प

**सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्।**
**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।**

"हे कौन्तेय ! अपने कर्म का, चाहे वह दोषयुक्त प्रतीत होता हो, परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि समस्त कर्मों का प्रारम्भिक स्वरूप दोषों से उसी प्रकार ढँका रहता है जिस प्रकार अग्नि जलाते समय अग्नि का स्वरूप प्रारम्भ में धुएँ से ढँका रहता है" (४८)

कर्मों से आलस्यादि के कारण छुटकारा प्राप्त करने वाले यही युक्ति देते हैं कि इस कार्य में तो अमुक-अमुक दोष हैं। अतः हम यह कार्य नहीं करना चाहते। परन्तु ऐसा तो कोई कार्य नहीं है जिसके प्रारम्भ में दोष प्रतीत न हों। सात्विक सुख का लक्षण करते हुए पहिले ही यह बात लिख दी गई है कि उसके प्रारम्भ में विष के आस्वाद का सा कटु अनुभव होता है। धुआँ अग्नि के साथ ही उत्पन्न होता है, अतः वह अग्नि का सहज कहा जा सकता है। आरम्भ में अग्नि धूम से ढँका रहता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। अग्नि जलाने पर प्रारम्भ में धुआँ एक दोष ही है। अग्नि जलाने वाले का कोई कार्य धूम से सिद्ध नहीं होता। न तो वह किसी वस्तु को गरम कर सकता है और न वह अग्नि की तरह प्रकाश ही देता है। प्रत्युत आँखों के लिए वह कष्टप्रद ही हो जाता है। बहुधा धुएँ से भरे हुए स्थान पर खड़ा होना भी कठिन हो जाता है। अतः अनिष्टसम्पादक होने से उसकी दोषरूपता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। परन्तु अग्नि प्राप्त करने के लिए वह अनिवार्य है। अग्नि प्रज्वलित हो जाने के अनन्तर धुआं निवृत्त हो जाता है। और अग्नि की गर्मी से अपने अभीष्ट कार्यों की पूर्ति कर ली जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक सात्विक कार्य के प्रारम्भ में शारीरिक कष्ट आदि दोष अवश्य आते हैं। परन्तु जब उस कार्य का उत्तम फल प्राप्त हो जाता है तब उसके सामने दोषों से उत्पन्न किया हुआ कष्ट नगण्य प्रतीत होने लगता है–

**"क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।"**

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार अग्नि के प्रारम्भ में धुआँ अवश्य होता है उससे हम बच नहीं सकते उसी प्रकार सभी कार्यों के प्रारम्भ में कायक्लेशादि दोष भी अनिवार्य हैं। उनसे बचना अशक्य है। यदि कोई मनुष्य अपने स्वभाव सिद्ध कर्मों को दोष युक्त समझकर और दूसरे के कर्म को दोषमुक्त समझकर अपने कर्म का

परित्याग कर दूसरे के कर्म में प्रवृत्त होता है तो यह उसकी भूल है। कर्ममात्र प्रारम्भ में दोषों से घिरे रहते हैं। जब सभी कर्मों के प्रारम्भ में दोषों से भेंट होना अनिवार्य है तब अपने कर्म का परित्याग क्यों किया जाय। यहाँ अर्जुन की प्रथमाध्याय की शंकाओं का भी उत्तर हो जाता है। अर्जुन ने युद्ध छोड़ कर भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह की इच्छा प्रकट की थी। क्या भिक्षावृत्ति निरापद है। उसमें भी तो अनेक दोष हैं। जब वहां भी दोष ही मिलेंगे तो युद्ध के दोषों को ही क्यों न स्वीकार किया जाय। क्योंकि युद्ध तो अर्जुन का स्वधर्म है। संसार का जो चक्र है, वह तो हमारे चलाये चलता नहीं और हमारे रोकने से रूकता नहीं। जो कार्य जिस रूप में होना है, होगा ही। हमें अपना काम करते जाना चाहिए।

श्रीशंकराचार्य ने यहां दार्शनिक दृष्टि पर आधारित यह विचार उपस्थित किया है कि यहां भगवान् ने अपने कर्म कभी न छोड़ने के लिये आग्रहपूर्वक आदेश दिया है। इससे यह अर्थ स्पष्ट ही निकाला जा सकता है कि कर्म छोड़े भी जा सकते हैं।

यहां उन्होंने कर्मों को न छोड़े जाने के उपदेश पर पूर्व पक्ष के रूप में दो शंकायें उपस्थित की हैं। कर्मों को न छोड़ना दो ही स्थितियों से सम्भव है। एक तो यदि कर्म को छोड़ना सम्भव ही न हो तब उनके त्याग की सम्भावना ही नहीं रहती। दूसरी अवस्था वह है अपने कर्म को न छोड़ने की, जब कर्म को छोड़ने में दोष माना जाय। यदि अपने कर्म को छोड़ देना दोषावह हो, तो बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह दोषों से बचने के लिये अपने कर्मों का त्याग न करे। इनका अनुष्ठान करता रहे।

इनमें पहिला पक्ष तो इसलिये सम्भव नहीं है कि उसका तो यह भी आशय निकाला जा सकता है कि कर्म छोड़ना जब अशक्य है तब जो व्यक्ति अशक्य कार्य कर दे वह जिस प्रकार प्रशंसनीय माना जाता है, उसी प्रकार कर्मों के असम्भव परित्याग को जो व्यवहार में उतार दे वह प्रशंसनीय माना जायेगा।

इस पर यह उत्तर दिया जाता है कि जब कर्मों का परित्याग सम्भव ही नहीं है तब उनको छोड़ देने पर प्रशंसनीय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कर्म तो कर्ता के धर्म हैं, उनसे शून्य तो कर्ता कभी रह नहीं सकता। इस पर पुनः प्रश्न होगा कि कर्ता का स्वरूप क्या है। क्या सांख्य के गुणों के समान कर्ता अत्यन्त चलन स्वभाव वाला है। ऐसा इसीलिए नहीं माना जा सकता कि इस मत के अनुसार कर्त्ता में और क्रिया में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। सांख्य के गुण तो क्रिया रूप ही हैं। जब वैसा ही कर्ता भी मान लिया जाय तो कर्म और कर्ता के स्वरूप में भेद ही क्या रहा। इसी प्रकार यदि बौद्ध दर्शन के अनुसार क्रिया को ही कारक मान लिया जाय जैसा कि

उन्होंने रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच क्रिया रूपों की समष्टि को ही आत्मा माना है, तो इस मत को स्वीकार करने में भी उक्त दोष ही आता है कि क्रिया और कारक के स्वरूप में इसको मानने पर कोई भेद नहीं रह जाता। फिर उसको कारक ही क्यों कहा जाय। फिर क्रिया ही क्यों न कहा जाय। उसमें क्रियान्वयित्व अर्थात् क्रिया से सम्बन्धित होने का लक्षण जो कारक का है, वह घटित नहीं होता।

तीसरे वैशेषिक मत को भी श्रीशंकराचार्य ने यहाँ दिखाया है कि क्रिया के अतिरिक्त क्रिया के आधार के रूप में एक वस्तु और है। सभी क्रियाएं उसी को अपना आधार बनाती हैं। ऐसी वस्तु न मानने पर क्रियाओं का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं हो सकता। क्रियाओं का समूह ही आगे की क्रियाओं का आधार बन जायगा, ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं हो सकता। क्योंकि क्रिया तो तत्काल नष्ट होती है, एक क्रिया तब तक नष्ट हो जाती है जब तक दूसरी क्रिया उत्पन्न हो। इस क्रम में क्रियाओं का समूह ही कैसे बन पायेगा और वे क्रियाएं निराधार कैसे होंगी। इसलिए क्रिया के अतिरिक्त उसके आधार के रूप में एक कूटस्थ वस्तु भी माननी होगी। वह कूटस्थ वैशेषिक मत में आत्मा माना गया है। वही कर्ता है, उसका स्वरूप क्रिया से पृथक् है। जब वह क्रिया करता है तब सक्रिय होता है, और जब नहीं करता तो निष्क्रिय होता है। इस प्रकार मान लेने पर कर्मों का पूर्णरूप से परित्याग कर देना सम्भव हो जाता है। आत्मा जब क्रिया का परित्याग कर दे तब वह निष्क्रिय भी हो सकता है।

सांख्य और बौद्ध दर्शनों के उपर्युक्त मतों से इसमें यही विशेषता आती है कि न तो सांख्य दर्शन के समान नित्य प्रचलनशील वस्तु को कर्ता कहना होता है और न बौद्ध दर्शन के समान क्रिया को ही कारक मानना आवश्यक होता है। अपितु द्रव्य में जो क्रिया विद्यमान है उसका विनाश होता रहता है और जो क्रिया नहीं है उसकी उत्पत्ति होती रहती है। जो शुद्ध द्रव्य है वह अपनी शक्ति से युक्त अपने रूप में अवस्थित रहता है। उसी को कारक या कर्ता वैशेषिक दर्शन में माना जाता है। परन्तु वैशेषिक दर्शन के द्वारा उपस्थापित यह मत भगवान् को अभीष्ट नहीं। उन्होंने–

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।**
**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।**

इस द्वितीय अध्याय के पद्य में इस मत का खण्डन कर दिया है कि अविद्यमान् क्रिया उत्पन्न होती है, और विद्यमान् क्रिया नष्ट होती है। उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया है कि जो सत् वस्तु है अर्थात् जिसकी सत्ता है, वह कभी नष्ट नहीं होता और जिसकी सत्ता नहीं है अर्थात् जो विद्यमान नहीं है वह कभी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इस

सिद्धान्त का उक्त वैशेषिक मत से विरोध है क्योंकि उस मत में वस्तु में अविद्यमान् क्रिया की उत्पत्ति मानी गई है और विद्यमान् क्रिया का नाश माना गया है। अतः गीता के प्रस्तुत सन्दर्भ में भी इस मत की उपादेयता समाप्त हो जाती है।

फिर प्रश्न होता है कि गीता को अभिमत न होने मात्र से कोई मत अनुपयुक्त नहीं हो सकता। यदि उस मत में तर्क और युक्तियां हैं जो कि सत्य पर आधारित हैं तो उसको स्वीकार किया जाना चाहिए। श्रीशंकराचार्य इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं कि तर्क और युक्तियों से भी उपर्युक्त मत प्रमाणित नहीं होता। वैशेषिकों के क्रम से उत्पत्ति की प्रक्रिया दिखलाते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि वैशेषिक सृष्टि का कारण परमाणुओं को मानते हैं। दो परमाणुओं से संयुक्त होने पर द्व्यणुक बनता है। तीन द्व्यणुक मिलकर त्रसरेणु बनता है, तब वह इन्द्रिय द्वारा जाना जाता है। दो परमाणुओं के संयुक्त होने पर जब द्व्यणुक बना तो यह कहना होगा कि उससे पहिले द्व्यणुक नहीं था। उसका अभाव था और आगे त्रसरेणु बनने पर भी द्व्यणुक का अभाव हो जायगा। निष्कर्ष यह निकला कि द्व्यणुक आदि द्रव्यों का अपनी उत्पत्ति के पहिले अत्यन्त अभाव उसी प्रकार रहता है, जिस प्रकार खरगोश के सिर पर सींग का अभाव है। खरगोश के सिर पर कभी सींग नहीं देखे गए। यही अभाव का उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में दिया जाता है। खरगोश पर जिस प्रकार सींग का अभाव है, उसी प्रकार द्व्यणुक आदि द्रव्यों का अपनी उत्पत्ति के पूर्व में अभाव है। इस समानता को दिखलाने का यहां यही प्रयोजन है कि जब अभाव अवस्था में द्व्यणुक आदि द्रव्य में और खरगोश के सींग में कोई अन्तर नहीं रह गया तो जिस प्रकार खरगोश के सिरपर सींग कभी मिल ही नहीं सकता उसी प्रकार द्व्यणुक आदि द्रव्यों की भी कभी उपलब्धि नहीं होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। शश शृङ्ग के समान द्व्यणुक आदि उत्पन्न ही नहीं होते ऐसा वैशेषिक सिद्धान्त में नहीं माना जाता। इसपर वैशेषिक मत की ओर से यह कहा जाता है कि अभाव अवस्था में संस्थित जिन द्रव्यों का अपने समवायिकारण के साथ समवाय सम्बन्ध हो जाता है वे उत्पन्न हो जाते हैं, वे भाव रूप हो जाते हैं, सत् बन जाते हैं। जिन अभाव अवस्था में संस्थित द्रव्यों का अपने समवायिकारण के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं होता वे अभाव रूप असत् ही बने रहते हैं। द्व्यणुक आदि द्रव्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व शशशृङ्ग के समान ही अभाव अवस्था में अथवा असत् अवस्था में रहते हैं। आगे चलकर समवायिकारण से समवाय सम्बन्ध होने पर उनकी अभाव अवस्था नष्ट हो जाती है और वे भावरूप या सद्रूप हो जाते हैं।

यहाँ यही बतलाना आवश्यक होगा कि जो पदार्थ असत् है, जिसका अभाव

है, उसका कारण भाव रूप या सद्रूप कैसे होगा। 'असत्' या अभाव अवस्था में स्थित उस पदार्थ का सम्बन्ध भी किसी के साथ कैसे सम्भव हो सकता है। शश शृङ्ग जो असत् है, जिसका कि अभाव है, उसके कारण की कल्पना कैसे की जा सकती है और उसका किसी भी पदार्थ से सम्बन्ध भी कैसे दिखाया जा सकता है।

यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि असत् का सम्बन्ध या उसका कारण हम नहीं कहते। अपितु जब द्व्यणुक आदि पदार्थ बन गए तब उनका अपने कारण से समवाय सम्बन्ध हमने स्वीकार किया तो यह बात भी नहीं बनती। क्योंकि घट आदि कार्यों के निर्माण की जो कारण सामग्री कुम्हार का दण्ड आदि है उनके व्यापार के पहिले वैशेषिक दर्शन में घट आदि पदार्थों की सत्ता स्वीकार ही नहीं की जाती। जिस कारण सामग्री का अपने पदार्थ के साथ सम्बन्ध होना कह रहे हैं उसकी सत्ता सम्बन्ध से पहिल अवश्य होनी चाहिए। जिन दो पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होता है उनके सम्बन्ध के पहिले उनकी सत्ता अवश्य होती है। जब आपने घट की या वस्त्र की उत्पत्ति के पहिले घट, वस्त्र आदि की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया तो सम्बन्ध के पहिले उनकी सत्ता का ही ग्रहण नहीं होगा। जब सम्बन्ध से पहिले कार्य की सत्ता का ग्रहण ही नहीं होता तब सम्बन्ध ही कैसे होगा। मृत्तिका ही घट बन जाती है। धागे ही वस्त्र बन जाते हैं। यह बात तो वैशेषिक दर्शन में मानी ही नहीं जाती क्योंकि अवयव और अवयवी का भेद वहाँ स्वीकार किया गया है। जब मिट्टी का घड़ा बन जाना स्वीकार नहीं, और धागों का वस्त्र बन जाना स्वीकार नहीं और फिर भी कारण सामग्री से कार्य रूप घट, वस्त्र आदि का सम्बन्ध अभीष्ट है तब अभाव रूप या असत् घट वस्त्र आदि से ही कारण सामग्री का सम्बन्ध कहना होगा। असत् पदार्थ के साथ सम्बन्ध कहना युक्ति और तर्क के विरुद्ध है।

इस पर यदि यह कहा जाय कि असत् पदार्थ के साथ संयोग आदि सम्बन्ध भले ही असम्भव हों, परन्तु समवाय सम्बन्ध तो असत् पदार्थ के साथ भी माना ही जा सकता है, तो ऐसा कथन भी असङ्गत है। क्योंकि यदि असत् पदार्थ का भी समवाय सम्बन्ध माना जाय तो शशशृङ्ग आदि जो असत् हैं, उसका भी समवाय सम्बन्ध मानना होगा। परन्तु शशशृङ्ग आदि का समवाय सम्बन्ध मानना आपको भी इष्ट नहीं। यदि शशशृङ्ग आदि का भी समवाय सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाय तब समवायिकारण के रहने पर शशशृङ्ग की भी उत्पत्ति होनी चाहिए, जैसे कि घट आदि के समवायिकारण मृत्तिका आदि से घट आदि पदार्थों की उत्पत्ति देखी जाती है। परन्तु घट आदि की उत्पत्ति की तरह शशशृङ्ग आदि की उत्पत्ति देखी सुनी नहीं जाती। अतः असत् पदार्थ के साथ भी समवाय सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

इसका उत्तर यह कह कर भी नहीं दिया जा सकता कि घट आदि का उनकी उत्पत्ति के पहिले जो अभाव है, जिसे कि वैशेषिक प्रागभाव कहते हैं, उन्हीं का उत्पत्तिक्षण में अपने कारणों से सम्बन्ध होता है, शशशृङ्ग आदि का नहीं होता। इस प्रकार यद्यपि अभाव दोनों का है, परन्तु घट आदि के अभाव में और अत्यन्त असत् शशशृङ्ग आदि के अभाव में एक रूपता नहीं अपितु विशेषता है। वही विशेषता घट आदि का अपने कारणों के साथ सम्बन्ध करा देती है, शशशृङ्ग आदि में उस विशेषता के न होने से उनका कारण सामग्री के साथ सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए उनकी उत्पत्ति भी नहीं देखी सुनी जाती। ऐसा कथन इसलिए समीचीन नहीं है कि प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव, अत्यन्ताभाव ये जो अभाव के चार भेद उन्होंने माने हैं, इनके लक्षणों में विभिन्न पदार्थों के साथ किसी प्रकार की भेदक विशेषता का समावेश नहीं किया गया है और ऐसा करना सम्भव भी नहीं है, क्योंकि ऐसी कोई विशेषता दिखाई भी नहीं जा सकती।

वैशेषिक मत का उक्तरीति से निराकरण करने के अनन्तर श्रीशंकराचार्य ने सांख्य के परिणाम-वाद का भी निराकरण कर दिया है। सांख्य में अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानी जाती अपितु अपने कारण में वस्तु पहिले से ही उपस्थित रहती है, सहायक सामग्री से कारणावस्था कार्यावस्था में परिणत हो जाती है। मृत्तिका ही दण्ड, चक्रादि कारण सामग्री के द्वारा घट बन जाती है। तन्तु ही आतान वितान के द्वारा पटरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। कारणावस्था से अभिव्यञ्जक सामग्री के द्वारा कार्यावस्था में पहुँचने के अनन्तर नाम, रूप, कार्य में कारणावस्था से कार्यावस्था में वैशिष्ट्य आ जाता है। कारणावस्था में उसका नाम मिट्टी होता है, कार्यावस्था में उसे घड़ा कहते हैं। कारणावस्था में उसका स्वरूप बिखरा हुआ, कण-कण अलग-अलग था, कार्यावस्था में उसका रूप एक ढाँचे में ढल कर संगठित बन जाता है। कारणवस्था में मिट्टी आदि के आकार में उससे जल लाना आदि कार्य नहीं हो सकते थे, कार्यावस्था में घड़ा बन जाने पर उससे जल का आहरण आदि कार्य होते हैं। यही कार्यावस्था और कारणावस्था में भेद है। इसी बात का खण्डन श्रीशंकराचार्य ने किया है कि यह जो कारणावस्था से कार्यावस्था में आपने अपूर्व धर्म की उत्पत्ति मानी है वह उसी प्रकार असंगत है जिस प्रकार वैशेषिक मत में अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति मानना असंगत बतलाया गया है। कार्यावस्था में अपूर्व धर्मों की नई उत्पत्ति हो जाती है और कारणावस्था के धर्मों का विनाश हो जाता है, यह कथन वैसा ही है कि अभाव अवस्था का विनाश होकर भाव अवस्था उत्पन्न हो जाती है, यह कहना। अतः उक्त पक्ष में जिन दोषों का उपन्यास किया गया था उनकी स्थिति यहाँ भी उसी प्रकार रहेगी। यद्यपि कार्य भूत पदार्थ की नवीन उत्पत्ति और विनाश न मानकर सांख्यमत में उनकी अभिव्यक्ति और तिरोभाव

माना गया है, परन्तु अभिव्यक्ति और तिरोभाव की उपस्थिति और अनुपस्थिति में कोई प्रमाण न होने से यह मत उपादेय नहीं रह जाता।

इस प्रकार उक्त मतों का निराकरण करते हुए अपनी ओर से वस्तु के स्वरूप की विवेचना में श्रीशंकराचार्य कहते हैं, वस्तु सर्वथा सत् और एक है, वह अविद्या के द्वारा उत्पत्ति और विनाश आदि धर्मों से उसी प्रकार विकल्पित होती है जिस प्रकार नाटक में नट एक रूप को बदलकर दूसरा रूप ग्रहण करता रहता है। नट कभी राम बनता है, कभी कृष्ण बनता है, कभी दुष्यन्त बनता है। वस्तुत: न वह राम है, न कृष्ण है, न दुष्यन्त है। वह उसमें अनिर्वचनीय बुद्धि है। उसी प्रकार अविद्या एक अनिर्वचनीया (नहीं कहने योग्य) शक्ति है, उसी के द्वारा ब्रह्म के उत्पत्ति विनाश आदि दिखाए जाते हैं। इस पर प्रश्न होता है कि यदि आत्मा में क्रिया नहीं है और वे अविद्या के द्वारा आत्मा पर आरोपित हैं तो कर्मों का परित्याग क्यों नहीं होता। इसका उत्तर है कि जो अविद्वान् पुरुष आत्मा पर अविद्या के आरोप को नहीं समझते वे तो क्षणभर के लिए भी क्रिया का परित्याग नहीं कर सकते। उन्हीं के लिए भगवान् ने पहिले भी कहा है–

**"नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"**

अर्थात् अविद्या के वशीभूत कोई भी पुरुष क्षणमात्र के लिए भी क्रिया का परित्याग नहीं कर सकता। ऐसे पुरुषों को अपने स्वभाव सिद्ध सदोष कर्मों का भी परित्याग नहीं करना चाहिए यह प्रस्तुत श्लोक में भगवान् का आदेश है। परन्तु जो पुरुष विद्वान् हैं, जिन्हें अविद्या के द्वारा आत्मा पर आरोप का विस्पष्ट ज्ञान हो चुका है, वे पुरुष तो सर्वथा कर्मों का परित्याग ही कर देते हैं। वे इस श्लोक के विषय नहीं बनते। जैसे पीलिया रोग से ग्रस्त पुरुष को सभी पदार्थ पीले दिखाई देते हैं, परन्तु जब इसका रोग दूर हो जाता है तब उसे सभी पदार्थ अपने अपने रंग में ही यथा पूर्व दिखाई देने लगते हैं। रोग मिट जाने पर पीला दिखाई देना भी समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या रूपी रोग से आक्रान्त जीव अनेक प्रकार के कर्म करता है। ज्ञान के द्वारा अविद्या के दूर कर दिए जाने पर कर्मों से भी छुट्टी मिल जाती है।

इस सिद्धान्त के प्रकाश में आपातत: सर्व कर्मों का परित्याग बतलाने वाले–

**"सर्वकर्माणि मनसा"**

आदि वचन, और अपने-अपने कर्मों को अवश्य करणीय बतलाने वाले–

**"स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:"**

आदि वचन सुसङ्गत हो जाते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि सहज होने के कारण जो कर्म सुकर हैं, वे चाहे सदोष अर्थात् आरंभ में कुछ शारीरिक क्लेश पहुँचाने वाले भी हों तो भी उनका परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह कि जो ज्ञानयोग के योग्य भी हो गया है उसको भी कर्मयोग का पालन अवश्य ही करना चाहिए।

श्रीनीलकण्ठ ने अर्जुन, की स्थिति पर इस पद्य को संगठित करते हुए लिखा है कि अर्जुन का सहजात धर्म है क्षत्रियोचित युद्ध करना। उस अपने सहजात धर्म का पालन करने में अर्जुन को बहुत से दोष दिखाई दे रहे थे, जिनका विस्तार से विवरण उसने प्रथमाध्याय में कर दिया है। भगवान् ने उसके इस दोष दर्शन का समाधान यही उपदेश देकर किया कि तुम सर्वथा कर्म छोड़कर तो क्षणभर भी रह नहीं सकते और यदि अपना सहज धर्म छोड़कर किसी संन्यास आदि अन्य धर्म का आश्रय लेकर जीवन यापन करोगे तो दोषों से वहां भी छुटकारा तुम्हें नहीं मिल सकेगा। क्योंकि ऐसा तो कोई कर्म प्रारंभ ही नहीं किया जा सकता जिसमें कोई दोष हो ही नहीं। जिस प्रकार अग्नि जलाते समय पहिले धूम के ही दर्शन होते हैं, उस धूम से आवृत होता हुआ ही अग्नि दृष्टिपथ में आता है, उसी प्रकार किसी भी धर्म का प्रारंभ करते हुए अनेक दोषों का सामना पड़ेगा ही। उनसे छुटकारा मिलना कभी भी संभव नहीं है। जब सहजात धर्म पालन में भी दोष है और उसका परित्याग कर दूसरे धर्म का आचरण करने में भी दोष अवश्य है, तब अपना धर्म क्यों छोड़ा जाय।

लोकमान्य तिलक अपनी टिप्पणी में कहते हैं कि संन्यास शास्त्र का और गीता का लक्ष्य एक ही है। परन्तु संन्यास शास्त्र में जहां मोक्ष प्राप्त करने के लिए समस्त कर्मों के परित्याग को आवश्यक बतलाया गया है, वहाँ गीता में मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म परित्याग को अनिवार्य नहीं माना। इतना ही नहीं, अपितु लोकसंग्रह को भी गीता में प्रमुख स्थान दिया गया है और उसके लिए अपने सहज कर्म को करना आवश्यक माना है। कर्म परित्याग नहीं अपितु फलासक्ति छोड़ कर स्वधर्म रूप कर्म का अनुष्ठान अवश्य करना ही चाहिए। यही भगवान् ने उपदेश के अन्ततक स्मरण कराया है।

# छासठवां-पुष्प

"असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति" ।।४९।।

"जिसकी बुद्धि असक्त हो गई है, जो सर्वत्र जितात्मा है, जिसकी स्पृहा शान्त हो गई है, ऐसा पुरुष संन्यास से नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है।" (४९)

विगत पद्यों में भगवान् ने कहा है कि अपने सहज कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। उन्हें दोषयुक्त होने पर भी करते रहना चाहिए। प्रश्न होता है कि इस प्रकार के कर्म करने से फल क्या मिलेगा। उसी का उत्तर इस पद्य में देते हैं कि कर्म करते समय बुद्धि में यदि आसक्ति न हो, फल की कोई आकांक्षा न हो, जिन पुत्र दारा आदि में सांसारिक व्यक्तियों को आसक्ति अर्थात् राग द्वेष होते हैं, उनमें से भी यदि मनुष्य अपनी आत्मबुद्धि हटाकर जितात्मा बन जाय, शरीर के भोगों की तृष्णा भी जिसकी शान्त हो गई हो, ऐसा पुरुष संन्यास के द्वारा परम सिद्धि प्राप्त कर लेता है। जितात्मा का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने अन्तःकरण या मन को जीतने वाला कहा है क्योंकि आत्मा को जीतने वाला कहने का तो कोई अर्थ ही नहीं है, आत्मा को कोई जीत ही नहीं सकता। "असक्त बुद्धिः" का अर्थ करते हुए श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं कि पामर मनुष्यों की यह भावना होती है कि अमुक वस्तु यदि विनष्ट हो गई, तो वह वस्तु क्या नष्ट हुई, मैं ही नष्ट हो गया, इसप्रकार की बुद्धि वाले पुरुष सक्त बुद्धि कहलाते हैं, ऐसी आसक्ति से रहित होने वाला ही असक्त बुद्धि कहलाता है। जब मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है तो उसमें कुछ नष्ट भी होता है, कुछ लाभ भी होता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि अधिक वस्तु नष्ट होती है, लाभ अल्प होता है। इसके भी आगे बढ़िये तो ऐसे भी सहस्रों उदाहरण मिल जाँयगे जहाँ अपनी ही वस्तुएं नष्ट ही नष्ट होती हैं, लाभ कुछ भी नहीं होता। अपनी अत्यन्त प्रिय वस्तुओं को भी लोग गवां देते हैं, लौकिक दृष्टि से उसके बदले में उन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं होता। इन परिस्थितियों में वस्तुओं के नष्ट होने पर उसका कोई प्रभाव अपने ऊपर न आने देने वाला पुरुष असक्त बुद्धि और जितात्मा कहलाने का अधिकारी है, यह श्रीरामानुजाचार्य का आशय है। केवल अपने सहज कर्म के निर्वाह मात्र से किसी को कृतकृत्यता प्राप्त नहीं हो सकती। यदि मनुष्य कदम-कदम पर लाभ या फल देखता हुआ, लाभ से अत्यधिक प्रसन्न होता हुआ, और हानि में अत्यन्त शोकाकुल होता हुआ, कार्यों में प्रवृत्ति रखता है, चाहे वे उसके सहज कार्य ही क्यों न हों, तो भी वह कृतकृत्य नहीं हो सकता,

उसे सिद्धि नहीं मिल सकती। अतः सिद्धि प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को असक्तबुद्धि रखते हुए और जितात्मा होकर अपने-अपने कर्मों में निरत रहना चाहिए। "विगतस्पृहः" की व्याख्या लिखते हुए श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि सिद्धि की अभिलाषी पुरुष सभी कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ भी यह दृढ़ता से समझता रहता है कि सभी कार्यों का कर्त्ता परमपुरुष सर्वनियन्ता जगदीश्वर है, अतः अमुक कार्य मैंने किया है, मैं अपने कार्यों को अन्य व्यक्तियों से अच्छे प्रकार से करता हूँ, इस प्रकार की स्पृहा उसमें नहीं रहती। उक्त युक्ति से कर्मों में प्रवृत्ति रखने वाला पुरुष संन्यास से परम सिद्धि को प्राप्त करता है, ऐसा ऊपर कहा है। इसकी व्याख्या में श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कर्म करनेवाला पुरुष सम्यक् दर्शन करता है, सम्यक् दर्शन का ही संन्यास कहा जाता है। उसी सम्यक् दर्शन से उसे परमासिद्धि मिलती है। साथ ही उन्होंने यह भी लिख दिया है कि सम्यक् दर्शन होने पर मनुष्य सभी कर्मों को छोड़ देते हैं, अतः संन्यास का अर्थ यहाँ सभी कर्मों का परित्याग भी किया जा सकता है। बात एक ही है, सम्यक् दर्शन होने पर उनके सिद्धान्तानुसार कर्म बन ही नहीं सकता। अतः संन्यास के द्वारा परमसिद्धि मिलना उनके सिद्धान्तानुसार युक्तियुक्त है। सांसारिक कर्मबन्धनों में जकड़ा हुआ मानव परमासिद्धि को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। अतः सिद्धि तभी प्राप्त होती है, जब सभी कर्मों का परित्याग कर दिया जाय। उसी का नाम संन्यास है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि संन्यास के विषय में अर्जुन इस प्रस्तुत अध्याय के आरम्भ में ही प्रश्न कर चुका है कि–

**"संन्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वमिचछामि वेदितुम् ।**
**त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक् केशिनिषूदन ! ।।"**

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा था–

**"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।**
**सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।"**

इसप्रकार भगवान् ने त्याग और संन्यास का स्पष्ट निरूपण किया है। श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि यहाँ भी संन्यास का वही आशय है। जो सिद्धि प्राप्त करता है, उसे यहाँ नैष्कर्म्य सिद्धि कहा गया है। जहाँ कर्मों की समाप्ति हो जाती है उसे निष्कर्म कहते हैं। निष्कर्म का ही भाव नैष्कर्म्य कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जिस सिद्धि की बात यहाँ कही जा रही है उसमें परित्याग हो जाता है। कर्मों का अभाव होने से ही इसका नाम नैष्कर्म्य है। कर्म रहेंगे तो उनके शुभाशुभ कर्मों का भोग भी अवश्य बना रहेगा। कर्मों को छोड़ देने पर उसके फल भोग का प्रसङ्ग नहीं रहेगा।

वही सिद्धि की अवस्था है। एक व्याख्या में कहा गया है कि निष्कर्म शब्द से परब्रह्म का बोध होता है। ब्रह्म के स्वरूप में कर्म का नितान्त अभाव है अत: वह निष्कर्म है। उक्त युक्ति से कर्मानुष्ठान करने वाला ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अत: उस सिद्धि को भगवान् ने परमार्थिक बतलाया है। कर्मों के अनुष्ठान से जो सिद्धि मिलती है, वह परमासिद्धि नहीं होती, क्योंकि कर्मों का अनुष्ठान करते करते अनेक जन्मों के अनन्तर कहीं मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। परन्तु कर्मों का परित्याग कर देने से अथवा कर्मों के फल का परित्याग करते जाने से शीघ्र ही मुक्ति प्राप्ति हो जाती है। इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए शंकरानन्द लिखते हैं कि इस सिद्धि के अतिरिक्त भी अन्य अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, और वशित्व नाम की आठ सिद्धियाँ योग शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। योगानुष्ठान करने वाला व्यक्ति इन सिद्धियों को क्रमशः प्राप्त करता है। ये सिद्धियाँ देवयोनियों में स्वभावत: प्राप्त रहती हैं, मनुष्यों को इनकी प्राप्ति योगाभ्यास से होती है। इनके अतिरिक्त भी कुछ सालोक्य आदि सिद्धियाँ हैं, जिनका वर्णन योग शास्त्र और तन्त्र शास्त्र में प्राप्त होता है। परन्तु ये सभी सिद्धियाँ ईश्वर और जीव में परस्पर भेद ज्ञान को दृढ़ करती रहती हैं, ईश्वर या इष्ट देवता इन सिद्धियों का प्रदाता माना जाता है और साधक पुरुष इनकी अभिलाषा रखने वाला होता है। ये सिद्धियाँ स्वरूपत: पृथक्-पृथक् हैं, अत: इनको प्रदान करने वाले देवता भी पृथक्-पृथक् ही माने जाते हैं। इस प्रकार इन सिद्धियों के मार्ग में आरम्भ से अन्त तक भेद ही भेद बना रहता है। साथ ही ये सिद्धियाँ मनुष्यों को अनेक प्रकार के फलों से मोहित करती रहती हैं और मनुष्य इनके वशीभूत होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं और संसार चक्र में घूमते ही रहते हैं। इसके विपरीत भगवान् ने प्रस्तुत पद्य में नैष्कर्म्य सिद्धि नाम से जो सिद्धि बतलाई है, उसका कारण सम्यक् दर्शन है। उसमें आत्मा, परमात्मा, जीव, ब्रह्म, अनेक प्रकार के देवता आदि में किसी प्रकार का कुछ भी भेद है ही नहीं। इस सिद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त होकर भेद या द्वैत रूपी अज्ञान समाप्त हो जाता है और ब्रह्म अथवा सम्पूर्ण जगत् के मूल कारण का ज्ञान हो जाने पर अनन्तज्ञान, अनन्तसत्ता और अनन्त सुख के साम्राज्य पर ब्रह्मवेत्ता आसीन हो जाता है। इसीलिए इसे परमासिद्धि यहाँ भगवान् ने कहा है।

अब अग्रिम पद्य में यह बतलाते हैं कि इस परमासिद्धि को प्राप्त करके ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार हो जाती है।

---

# सडसठवां-पुष्प

**"सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।**
**समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा" ।।५०।।**

"सिद्धि को प्राप्त करने के उपरान्त प्राणी ज्ञान की परम प्रतिष्ठा रूप ब्रह्म को जिस प्रकार प्राप्त कर लेता है, वह मुझसे संक्षेप में सुनो।" (५०)

जिस सिद्धि का विवरण विगत पद्य में हो चुका है, यहाँ उसी सिद्धि से तात्पर्य है कि अपने स्वभाव सिद्ध कार्य को ईश्वरार्पण बुद्धि से करते हुए प्राणी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वह सिद्धि शरीर और इन्द्रियों में अत्यन्त स्वच्छता प्रदान करती है, और स्वच्छन्द शरीर और इन्द्रियों से निर्मल और दोष रहित ज्ञान प्राप्त होने लगता है, वही आगे ब्रह्म प्राप्ति में हेतुभूत होता है। भगवान् ने ब्रह्म की प्राप्ति को ज्ञान की परम निष्ठा या स्थिति बतलाया है। श्रीशंकराचार्य के मत में निष्ठा का तात्पर्य यही है कि वहाँ ज्ञान की समाप्ति हो जाती है। ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाने के अनन्तर कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। इसीलिए इसे ज्ञान की पराकाष्ठा भगवान् ने बतलाया है। ज्ञान की वह निष्ठा आत्म ज्ञान के सदृश होती है, आत्म ज्ञान आत्मा के सदृश होता है, आत्मा उपनिषद् वाक्यों और भगवद्वचनों में वर्णित हुआ है। श्रीशंकराचार्य ने यहाँ प्रश्न उठाया है कि जो भी ज्ञान होता है वह ज्ञेय वस्तु के आकार का ही होता है। विषय का जो आकार है, वही ज्ञान का भी आकार होता है, यही दार्शनिक सिद्धान्त है। तब यह विरोध प्राप्त होगा कि आत्मा तो ज्ञान का विषय कभी बनता नहीं। वह तो विषय नहीं अपितु ज्ञाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में आत्मा ही ज्ञाता तथा संसार ही ज्ञेय है, तब यहाँ आत्मा का ज्ञान होना यह कैसे उपयुक्त होगा। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान आकार वाले पदार्थों का ही होता है। आत्मा का ज्ञान मान लेने पर तो आत्मा भी आकार वाला सिद्ध हो जायगा। परन्तु आत्मा तो निराकार है तब उसका ज्ञान कैसे होगा। इसके उत्तर में यदि यह कहें कि–

**"आदित्यवर्णम्"**

**"भारूपः"**

**"स्वयं ज्योतिः"**

आदि श्रुतियों के आधार पर आत्मा को भी आकारवान् मानना सिद्ध है तो उसका उत्तर है कि उक्त श्रुतियों का आत्मा को आकारवान् बतलाने का अभिप्राय नहीं

है। इन श्रुतियों का अभिप्राय वहाँ के प्रकरण का पूर्वापर अनुसंधान करने से यही स्पष्ट होता है कि ब्रह्म तम रूप नहीं है। पहले श्रुति में ब्रह्म का पदार्थ के रूप में निषेध किया गया है कि ब्रह्म द्रव्य, गुण, कर्म, आदि कुछ भी नहीं है। अन्त में यह संदेह न हो कि वह तमो रूप है, इसलिए श्रुति ने उसे आदित्य–वर्ण आदि बतलाकर यही अभिप्राय प्रकट किया है कि वह अन्धकार रूप नहीं है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म सूर्य के आकार के समान है, अथवा सूर्य जिस प्रकार अपना प्रकाश बाहर फैलाता है वैसे ही ब्रह्म भी अपना प्रकाश बाहर फैलाता है। अपितु वह अन्धकार के समान रूपवाला नहीं है, यही बतलाने में श्रीशंकराचार्य ने इन श्रुतियों का तात्पर्य माना है। जहाँ ब्रह्म को आदित्य के वर्ण बतलाने वाली श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं, वहीं–

**''न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य**
**न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्''**

(श्वे० उ० ४।२०।)

**''अशब्दमस्पर्शम्''**

(क० उ० १।१।१५।)

इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म में रूप आदि का निषेध भी दिखला रही हैं। अत: ब्रह्म को किसी आकार का श्रुतिप्रमाण से नहीं कहा जा सकता। अत: ज्ञान ब्रह्म के या आत्मा के आकार का नहीं हो सकता। ज्ञान आकारवान् पदार्थ का ही होता है, गुण धर्म जिसमें हों वही ज्ञान का विषय बनता है, आत्मा में गुण, धर्म या आकार है नहीं तब आत्मा का ज्ञान कैसे होगा। आत्मा का ज्ञान न होने पर वह ज्ञान की परानिष्ठा है, यह भगवान् का कथन कैसे संगत होगा ? इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा अत्यन्त निर्मल स्वच्छ और सूक्ष्म है उसके अत्यन्त समीपस्थ होने के कारण आत्मा की यह निर्मलता स्वच्छता और सूक्ष्मता बुद्धि में भी प्राप्त हो जाती है। बुद्धि का कार्य आकारवान् बना देना है। बुद्धि आकार रहित पदार्थों को भी आकारवान् सा दिखा देती है अत: आकार सत्ता का आभास बुद्धि के द्वारा आत्मा पर भी दिखा दिया जाता है। बुद्धि का आभास ही मन है, मन का आभास ही इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों का आभास ही शरीर है, अत: लौकिक पुरुष देहमात्र में आत्मदृष्टि रखते हैं। चार्वाकमतानुयायी चैतन्य विशिष्ट देह को ही पुरुष मानते हैं। अन्य लोग मन को ही चेतन मानते हैं। दूसरे कुछ लोग बुद्धि को ही चेतन मानते हैं।

बुद्धि के भी अन्तःस्थित अव्यक्त या प्रकृति है, उसी को अव्याकृत, अविद्या आदि शब्दों से कहा जाता है। कुछ लोग उसी को चेतन मानते हैं। सभी लोगों को बुद्धि से लेकर देह पर्यन्त जो आत्मा का आभास है, वही भ्रान्त बनाए हुए है। इसी आत्मा की आभासता के कारण बुद्धि मन आदि को आत्मा मान बैठते हैं। वस्तुतः आत्मा इनमें से एक भी नहीं है। आत्मा का वास्तव में कोई आकार भी नहीं है। इसलिए आत्मा ज्ञान का भी विषय नहीं बन सकता। अतः आत्मविषयक ज्ञान का विधान करना भी युक्ति संगत नहीं होता। तब आत्मा की प्राप्ति का क्या उपाय है, उसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा पर नाम रूपादि का जो आरोप है, उसकी निवृत्ति कर देनी चाहिए। यही आत्मा की प्राप्ति का साधन है। आत्मचैतन्य का ज्ञान प्राप्त करने का विधान तो किसी प्रकार बनता ही नहीं। आत्मा का ग्रहण हमें सर्वत्र अविद्या के द्वारा आरोपित पदार्थों के आकार में ही होता है। इसीलिए विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं ऐसा मानते हैं, वह ज्ञान स्वसंवेद्य है, अतः वह ज्ञान कैसा है, इसको जानने के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता वे नहीं मानते।

इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म पर से अविद्या के द्वारा किए गए आरोप को हटाने में ही शास्त्रों के उपदेश चरितार्थ होते हैं। आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने का विधान किसी भी शास्त्र में नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो उसका प्राप्त किया जाता है, जो ज्ञात न हो अथवा जो अप्रसिद्ध हो। आत्मा तो सर्व प्रसिद्ध है, अतः उसके ज्ञान का विधान सर्वथा निरर्थक है। यदि आत्मा अत्यन्त प्रसिद्ध है तो उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती। उसकी प्राप्ति के लिए इतना प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता ? उसका उत्तर है कि सबकी बुद्धि अविद्या के द्वारा आत्मा पर आरोपित नाम और रूपों से अपहृत हो जाती है। अतः अत्यन्त प्रसिद्ध, सुख से जानने योग्य, अत्यन्त निकटस्थित आत्मतत्त्व भी अप्रसिद्ध, अविज्ञेय और दूरस्थित हो जाता है और वह दूसरा सा अविद्या के पाश से आबद्ध अविवेकी पुरुषों को प्रतीत होता है। जो व्यक्ति बाह्याकारों से अपनी आत्मबुद्धि हटा लेते हैं, जिन्हें गुरु की कृपा से आत्मा का प्रसाद प्राप्त हो जाता है, उनके लिए तो आत्मा के अतिरिक्त सुखप्रद, सुप्रसिद्ध, सुविज्ञेय और समीपस्थ कुछ भी नहीं है। इसी को प्रस्तुत पद्य में ज्ञान की परानिष्ठा कहा गया है।

कुछ लोगों का यह कथन भी श्रीशंकराचार्य ने लिखा है कि निराकार होने से बुद्धि आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकती अतः इस पद्य में प्रतिपादित ज्ञान की परमनिष्ठा दुस्साध्य है। इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि यह बात उन्हीं व्यक्तियों

के साथ है, जो गुरु सम्प्रदाय से रहित हैं, जिन्होंने वेदान्त का श्रवण नहीं किया है, जिनकी बुद्धि अत्यन्त बाहरी विषयों से आबद्ध है, प्रमाणभूत ग्रन्थों में जिन्होंने श्रम नहीं किया है। उसके विपरीत जिन व्यक्तियों के साथ उपर्युक्त बातें नहीं हैं, जो गुरुसम्प्रदाय के अनुयायी हैं, जिन्होंने वेदान्त का श्रवण किया है, जिनकी बुद्धि अन्तर्मुखी है, जिन्होंने प्रमाणभूत ग्रन्थों में परिश्रम किया है, उनके लिए तो जो लौकिक ज्ञान ज्ञेय आदि द्वैत प्रपञ्च हैं, उसी का ग्रहण करना कठिन होता है, आत्मतत्त्व तो सदा उनको प्राप्त ही रहता है। आत्म चैतन्य के अभाव में किसी भी वस्तु की उपलब्धि न होने के कारण वे बाहरी वस्तुओं को ग्रहण ही नहीं करते। आत्मनिष्ठ पुरुष के सामान्य जनों से विलक्षण इस प्रकार को भगवान् ने स्वयं कहा है–

**"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।**
**यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।"**

अतः बाह्य आकारों में प्रतीत होने वाली भेदबुद्धि की निवृत्ति कर देना ही आत्मा के स्वरूप का आश्रय लेने में कारण है।

उक्त व्याख्यान श्रीशंकराचार्य की व्याख्या के अनुसार लिखा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रमाण पर्यन्त प्रतिदिन कर्मयोग के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाली ध्यानसिद्धि को प्राप्त करके जिस प्रक्रिया का अनुष्ठान करता हुआ ब्रह्म को प्राणी प्राप्त कर लेता है, उस प्रक्रिया को संक्षेप से मुझसे सुनो। वह ब्रह्म ही ध्यानात्मक ज्ञान की परनिष्ठा है, ध्यान के द्वारा वही परमप्राप्य है।

ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में कहा गया है कि ब्रह्म की प्राप्ति का यहाँ यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि ब्रह्म की ध्यान से नवीन प्राप्ति होती है। ब्रह्म तो प्राणी को सर्वदा ही प्राप्त है। एक क्षण के लिए भी वह ब्रह्म से पृथक् नहीं है। परन्तु अज्ञान के कारण उसे ब्रह्म की उपलब्धि नहीं हो रही है। जिस प्रकार अपने गले में स्वर्ण का आभूषण रहने पर भी कोई स्त्री उसे अपने गले में बिना देखे ही चारों ओर तलाश करती है, परन्तु वह उसे मिलता नहीं, जब कोई उसे यह कहता है कि मूर्खे ! जिस आभूषण को तू चारों तरफ तलाश कर रही है, वह तो तेरे गले में ही पड़ा है, तब उसे ज्ञान होता है, वह आभूषण को प्राप्त कर प्रसन्न हो जाती है, यह आभूषण की प्राप्ति कोई नवीन पदार्थ की प्राप्ति नहीं अपितु अज्ञानवश अपने ही पास की वस्तु को वह नहीं जान पाती, उसी प्रकार नित्यप्राप्त आत्मा को अज्ञानवश हम बाहर तलाश करते हैं, जब गुरुप्रसाद से हमें यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा या ब्रह्म तो मैं स्वयं

हूं, तब हमारे उल्लास का अन्त नहीं होता। यहाँ भी कोई नवीन प्राप्ति नहीं है, अपितु अपने अज्ञान की निवृत्तिमात्र होती है।

वल्लभाचार्य की व्याख्या में कहा गया है कि ज्ञान की जो परमसिद्धि है उसको प्राप्त करने पर जीवित अवस्था में ही जिस प्रक्रिया से प्राणी अक्षर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, उस प्रक्रिया को हे अर्जुन ! तुम मुझसे सुनो।

आगे तीन पद्यों में भगवान् ब्रह्म प्राप्ति की प्रक्रिया कहते हैं।

---

# अडसठवां-पुष्प

"बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

"विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर, धैर्य से अपने को संयत करके, शब्द आदि विषयों को छोड़कर, राग और द्वेष को निरस्त करके।" (५१)

"एकान्त स्थान का सेवन करता हुआ, परमित आहार का ग्रहण करता हुआ वाणी, शरीर और मन को संयत रखता हुआ, प्रतिदिन ध्यान और योग परायण होता हुआ वैराग्य का आश्रय लेता हुआ।" (५२)

"अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, तथा बाह्य सामग्री को छोड़कर ममता से मुक्त होकर शान्त होता हुआ पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है।" (५३)

ब्रह्मभाव को प्राप्त करने की उक्त प्रक्रिया कोई नवीन नहीं है। गीता में भी अनेक सन्दर्भों में इसका विवरण किया जा चुका है, तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में भी इन बातों पर प्रकाश डाला जा चुका है। उक्त प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार से अपने को ब्रह्म में मिला देना सांसारिक प्राणियों के लिए बड़ा हही दुष्कर कार्य है। जो व्यक्ति उक्त लक्षणों से दूर रहते हुए भी स्वयं को ब्रह्म का साक्षात् कर लेने वाला समझते हैं और संसार को त्याग करने की इच्छा करते हैं, वे स्वयं को बहुत बड़ा धोखा देते हैं जिसमें सर्वप्रथम विशुद्ध बुद्धि से युक्त होना ही बतलाया गया है। श्रीशंकराचार्य के अनुसार माया से रहित अध्यवसायात्मक बुद्धि ही विशुद्ध बुद्धि होती है। श्रीविद्यावाचस्पति जी गीता में बुद्धि का अर्थ आठ प्रकार की बुद्धि करते हैं जो सांख्य के वर्णन के अनुसार है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये चार बुद्धि के सात्विक रूप हैं और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, ये चार तामस रूप हैं। इनमें से सात्विक रूप ही बुद्धि के विशुद्ध रूप कहे जा सकते हैं। तामस रूप अशुद्ध रूप हैं। बुद्धि के विशुद्ध रूपों का ग्रहण करने का भगवान् का अभिप्राय बुद्धि के सात्विक रूपों के परिग्रह और तामस रूपों के परित्याग से ही है।

विविक्त सेविता और अल्पाहार से निद्रा आदि दोषों का परिहार हो जाता है। आत्मा के धृति या धैर्य से नियमन करने का अर्थ विषयों से स्वयं को विमुख करता हुआ योग और समाधि के योग्य अपने मन को बनावे यही है। पैशाचभाष्य में विविक्त सेवी का अर्थ यह किया गया है कि ऐसा स्थान रहने के लिए चुनना चाहिए जहाँ योग से विरोध रखने वाली वस्तुएँ नहीं। ध्यान और योग का अर्थ करते हुए पौशाच भाष्य में लिखा गया है कि ध्यान का अर्थ है चित्त की एकाग्रता, और योग का अर्थ है उस एकाग्रचित्त को आत्मोन्मुख करके आत्मा में स्थापित करना। भगवान् ने अहंकार, बल, दर्प, काम आदि को छोड़ना भी ब्रह्म प्राप्ति का उपाय बतलाया है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अहंकार आदि का परित्याग तो ठीक है, परन्तु बल का परित्याग करना तो उचित नहीं है। बल तो आत्म प्राप्ति का परम साधन है। बल का परित्याग करके आत्मा को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषद् में कहा गया है–

**"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"**

अर्थात् यह आत्मा बल विहीन पुरुषों को प्राप्त नहीं हो सकता। जब आत्मा को प्राप्त करने के लिए बल की अत्यन्त आवश्यकता उपनिषद् में कही गई है, और आत्म-प्राप्ति के लिए बल का अभाव कथमपि युक्त नहीं कहा जा सकता, तब भगवान् ने अहंकार आदि के साथ बल को भी परित्याग करने योग्य पदार्थों में कैसे गिन दिया। इसका उत्तर यही है कि बल के दो रूप हैं। एक रक्षणीय और दूसरा उद्वेजक, जिसका वर्णन भर्तृहरि के पद्य में सुन्दर रूप से किया गया है कि–

**विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।**
**खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।**

इस पद्य में स्पष्ट है कि अन्य बातों की तरह शक्ति या बल के भी दो रूप हैं। एक खल या दुष्ट पुरुषों के द्वारा परिगृहीत उसका तामस रूप है जिसका प्रयोजन परपीड़ा या अपने से अतिरिक्त दूसरों को कष्ट पहुँचाना है और दूसरा शक्ति या बल का सात्विक रूप है जिसका प्रयोजन आत्मरक्षा है। यहाँ भगवान् ने जिस बल के परित्याग के लिए कहा है, वह बल का तामस रूप ही है। बल यदि है तो उससे किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहिए। आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति के लिए बल को दूर कथमपि किया ही नहीं जा सकता। श्रीपुरुषोत्तम जी ने परिग्रह को छोड़ने का अर्थ, गृह, स्त्री, सन्तति आदि को छोड़ना किया है। लोकमान्य तिलक ने परिग्रह का अर्थ बन्धन किया है। उनका तात्पर्य यही है कि गृह आदि का परित्याग कोई आवश्यक या अनिवार्य नहीं है। अपितु गृह आदि के प्रति अहंकार, ममत्व आदि का ही परित्याग

आवश्यक है। उसके अभाव में तो गृह आदि का परित्याग कर देने पर भी उनमें वासना बनी रहती है। घर छोड़कर अरण्य या गिरि गुहा में जाकर रहने पर भी यदि मन में उन वस्तुओं का बराबर ध्यान बना रहे तो उससे अच्छा यही है कि मनुष्य घर में रहकर ही उनके प्रति ममत्व बुद्धि हटाने का अभ्यास करे।

श्रीनीलकण्ठ ने राग-द्वेष का परित्याग करने का अर्थ संकल्प को छोड़ना किया है। संकल्प ही विषय की परिकल्पना करता हुआ अनुकूल विषय में राग और प्रतिकूल विषय में द्वेष उत्पन्न करता है। गौतम सूत्र इस विषय में श्री नीलकण्ठ ने उद्धृत किया है-

**"दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः"**

(४।२।२।)

दोषों के निमित्त जो रूप आदि विषय हैं, वे संकल्प के द्वारा होते हैं, भगवान् ने जो वाणी, शरीर, और मन को संयत करना कहा है उनका प्रत्येक का उपाय बतलाते हुए श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि शरीर का संयम दृढ़ता से आसनासीन होने से होता है। विषयों से इन्द्रियों को हटाने से वाणी में संयम आता है और सभी प्रकार के संकल्पों का परित्याग कर देने से मन में संयम आता है। आगे श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि वाणी, शरीर और मन का संयम करने पर योगी पुरुष को योगज सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् का उद्धरण उन्होंने दिया है कि-

**पृथिव्यप्तेजोऽनिल खे समुत्थिते-**
**पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।**
**न तत्र रोगो न जरा न मृत्युः**
**प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।।**

आगे मुण्डकोपनिषद् का भी उद्धरण उन्होंने दिया है-

**"यं यं लोकं मनसा संविभाति**
**विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्**
**तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्**
**तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः"**

(मु० उ० ३।२३।)

**नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।**
**नाशान्तमनसो वाऽपि प्रज्ञाने नैनमाप्नुयात् ।।**

(कठो० उ० २।२३।)

योग की अवस्था में अहंकार का निग्रह आवश्यक है। यदि अहंकार का निग्रह नहीं हुआ तो योग मार्ग में प्रवृत्त पुरुष योग के अपने सामर्थ्य को देखता हुआ दर्प को प्रश्रय देता है और उसके मन में यह विचार आने लगता है कि मेरे समान संयम रखने वाला और कौन होगा। इस प्रकार अभिमान को धारण करने वाला योगी पुरुष दिव्य सिद्धियों की इच्छा करने लगता है। यदि किसी कारण कामनाओं की पूर्ति नहीं होती तो उसे क्रोध भी आने लगता है। क्रोध के वशीभूत होता हुआ वह क्रोध के निमित्त को समाप्त करने के लिए शिष्य आदि को तैयार करता है इस प्रकार क्रमशः इनमें प्रवृत्त होता हुआ अपना नाश कर लेता है। इसीलिए समस्त अनर्थों की जड़ जो अहंकार है उसको छोड़ देना भगवान् ने यहाँ आवश्यक बतलाया है। अहंकार के छोड़ देने पर ही अन्य सब राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि दोषों का छोड़ना संभव है। इस प्रकार इन सबको छोड़ता हुआ योगी पुरुष संसार के बन्धनों को तोड़कर ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। लोकमान्य तिलक ने इन श्लोकों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि यह वर्णन कर्म-योगी पुरुष का ही है जो कर्म मार्ग में अग्रसर होता हुआ सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है। उन्होंने संन्यास की ओर इसके अर्थ को ले जाने का विरोध करके यह भी दिखाया है कि यहाँ के अनेक शब्द वे ही हैं जो विगत अध्यायों में भक्ति आदि के वर्णन में भी आ चुके हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि ये लक्षण सामान्य हैं, भक्त, ज्ञानी और कर्म करने वाले तीनों पुरुषों में घटित होते हैं। वस्तुतः फलाशा के परित्याग कर देने पर कर्म करते रहने से जो फल प्राप्त होता है वही कर्म संन्यास से भी होता है। अतः गीता में अपने वैशिष्ट्य के अनुसार कर्म करते हुए ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेने की प्रक्रिया यहाँ दिखलाई गई है।

---

# उनहत्तरवां-पुष्प

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।**
**समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।५४।।**

"उक्त प्रक्रिया से ब्रह्मभूत होकर प्रसन्नात्मा वाला न किसी का अनुशोचन करता है, न कुछ चाहता है। वह सभी भूतों में समान भाव रखता हुआ मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है।" (५४)

ब्रह्म को प्राप्त करने वाला पुरुष अध्यात्म का प्रसाद प्राप्त कर लेता है। उसको किसी भौतिक वस्तु के अभाव का कष्ट नहीं होता। अमुक वस्तु मेरे पास नहीं है, ऐसा अनुशोचन वह कभी नहीं करता क्योंकि वह किसी भौतिक वस्तु की अभिलाषा ही नहीं रखता। वह ब्रह्म वेत्ता हो जाने के कारण समस्त भूतों में उसी एक तत्त्व का ग्रहण करता हुआ सब में समान भाव रखता है। इस प्रकार वह मेरी परमा भक्ति को प्राप्त कर लेता है। यह श्रीशंकराचार्य का आशय है।

श्रीरामानुजाचार्य ने "समस्त भूतों में वह समभाव रखता है" इसका तात्पर्य यह लगाया है कि वह परम ज्ञान को प्राप्त करने वाला पुरुष भगवान् के अतिरिक्त समस्त संसार को तुच्छ समझता है। उसे कहीं कोई प्रलोभन नहीं रह जाता। इस प्रकार वह भगवान् की भक्ति प्राप्त कर लेता है।

आनन्दगिरि व्याख्या में "न शोचति" और "न कांक्षति", इन पदों से निग्रह और अनुग्रह से वह रहित हो जाता है यह आशय व्यक्त किया है। वल्लभाचार्य की व्याख्या में यहां श्री शुकदेव जी का उदाहरण दिया है, वे ब्रह्मज्ञानी होने के साथ ही भगवान् के परम भक्त थे। "मद्भक्तिं लभते पराम्" से वह भगवान् का भाग या अंश बन जाता है, यह लिख कर भगवान् के धाम रूप अक्षर पुरुष से भी आगे पुरुषोत्तम के स्वरूप में प्रवेश को ही सर्वोपरि लक्ष्य और सिद्धि कहा गया है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला योगी ब्रह्मभूत ही हो जाता है और समाधि से उठने पर भी वह प्रसन्नात्मा रहता है।

तत्त्व प्रकाशिका में

**"समः सर्वेषु भूतेषु"**

**का**

**"समलोष्टाश्मकाञ्चनः"**

से साम्य दिखाया है।

श्री शंकरानन्द ने कहा है कि यह सन्देह नहीं करना चाहिए कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष को भी शरीर का ध्यान तो रखना ही होगा और तन्निमित्तक हर्ष, शोक भी उसे होंगे ही ? वस्तुतः उसकी शरीर से 'अहं' बुद्धि ही हट जाती है, तब शरीर के लिए वह हर्ष शोक नहीं करता। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने यहां–

**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !**

**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च,**

इा श्लोक में कही गई चतुर्थ श्रेणी की भक्ति ही मानी है। यह ज्ञान के अनन्तर हाने वाली भक्ति आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी की भक्ति से भिन्न श्रेणि की होती है और यही चारों में सर्वश्रेष्ठ है।

---

# सत्तरवां-पुष्प

**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।**
**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।५५।।**

"भक्ति के द्वारा मैं जितना हूँ और मैं जो हूँ उसको (पूर्वोक्त मार्ग से चलता हुआ पुरुष) तत्त्वरूप में जान लेता है, उसके अनन्तर मेरा तात्विक स्वरूप जानकर उस स्वरूप के अन्दर वह प्रवेश करता है।" (५५)

श्रीशंकराचार्य 'यावान्' तथा 'यः' शब्दों का आशय बतलाते हैं कि उपाधि के द्वारा मेरा कितना अनन्त विस्तार कर दिया जाता है तथा मेरा उपाधि शून्य आकाश के समान सर्वाधार और असंग केवल चैतन्य मात्र जो स्वरूप है उन दोनों रूपों को वह जान लेता है। 'यावान्' शब्द से ईश्वर का सोपाधिक स्वरूप बतलाया गया है और 'यः' शब्द से उसके उपाधि शून्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप का संकेत है।

उनका कथन है कि यहां ज्ञान के अनन्तर उससे भिन्न कोई प्रवेश नाम की क्रिया विवक्षित नहीं है। ज्ञान के अनन्तर और कोई फल अवशिष्ट रहता ही नहीं। अतः ज्ञान मात्र ही परम फल है, यह ध्यान रखना होगा।

**"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि"**

(१३।२)

इत्यादि पद्य में भगवान् स्वयं को क्षेत्रज्ञ के रूप में अवस्थित कह चुके हैं।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि स्वरूपतः और स्वभावतः जैसा मैं हूँ और गुण तथा विभूति से मेरा जितना विस्तार हो जाता है ऐसे मुझे-उपर्युक्त भक्ति से जान जाता है। इस तत्त्व ज्ञान के अनन्तर उसी भक्ति के द्वारा वह अपने में मेरे गुणों का आविर्भाव प्राप्त कर लेता है और मुझमें प्रवेश करता है। यहां उत्तरार्ध में प्रारंभ का जो 'तत्' पद है, उससे श्रीरामानुजाचार्य ने भक्ति का ही ग्रहण किया है क्योंकि वही भगवत्प्राप्ति का अनन्य साधन है।

आनन्दगिरि व्याख्या में यहां-

**"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"**

(मु० उ० ३।२।९)

"स एव तदभवत्"

(बृ० उ० १।४।१०)

"ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्नोति"

(बृ० उ० ४।४।६)

"स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधि गच्छति

(गी० ५।२४)

"मद्भक्त एतद्विज्ञायमद्भावायोपपद्यते"

(१३।१०)

इन वचनों का प्रस्तुत प्रसंग के उपोद्वलक के रूप में स्मरण कराया है। इसी प्रकार श्रीवाल्लभ व्याख्या में भी

"ब्रह्म विदाप्नोति परम्"

(तैत्ति० २।१।१)

"यो वेद निहितं गुहायाम्"

(तैत्ति० उ० २।१।१)

आदि उपनिषद् वचन उद्धृत किये गए हैं।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि इस ज्ञान लक्षण भक्ति का फल यह है कि वह भक्त मुझे पूर्ण रूप से जान लेता है। उसी पूर्ण रूप का स्पष्टीकरण 'यावान्' और 'यः' पदों से हुआ है। इन शब्दों का आशय अधिक स्पष्टता से समझाते हुए श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि 'यावान्' 'मैं जितना हूँ', इसका आशय यह है कि मैं अणु परिमाण वाला हूँ अथवा जैन दर्शन में स्वीकृत सिद्धान्त के समान मैं देह परिमाण वाला हूँ अथवा न्याय दर्शन में स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार आकाश की तरह समस्त मूर्तद्रव्यों में संयुक्त रूप से रहने वाला विभुपरिमाण मेरा है, अथवा वेदान्त दर्शन की एक शाखा के अनुसार संसार रूपी प्रपञ्च के साथ मेरा अंशांशि सम्बन्ध है अथवा मैं अखण्ड एक रस तत्त्व हूँ, इन सब विकल्प तथा अन्य भी मेरे विषय में उठने वाले अनेक विकल्पों में से मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है, यह वह पुरुष तत्त्वतः जान जाता है। मेरी भक्ति प्राप्त कर लेने के अनन्तर भक्त पुरुष के उपर्युक्त सन्देह विगलित हो जाते हैं और मेरे स्वरूप का निय उसे हो जाता है, यह 'यावान्' पद का तात्पर्य हुआ। इसी प्रकार

'य:' पद का आशय खोलते हुए वे कहते हैं कि क्या मैं देह, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि के समान ही हूँ, कितने समय तक स्थित रहने वाला हूँ, अथवा बौद्धों की भांति क्षणिक विज्ञान रूप अथवा शून्य रूप हूँ, अथवा न्याय दर्शन में स्वीकृत सिद्धान्त के समान मैं समस्त जगत का कर्ता हूँ, अथवा सांख्य के समान उपभोक्ता हूं, जड़, जड़चेतना मिश्रित, शुद्ध चैतन्य, कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों से अलग केवल आनन्द घन हूँ, इत्यादि विकल्पों में से मेरा भक्त मेरा अवधारण करने में समर्थ हो जाता है। मेरे भक्त को इन सभी मतों में सन्देह से छुट्टी मिल जाती है और वह समस्त संशयों को दूर करता हुआ मेरे अजर, अमर, अभय और अशोक स्वरूप को जान लेता है। इसी बात की श्रुति भी पुष्टि करती है–

**"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"**

(मु० उ० २।२।८)

इस प्रकार आत्मा का दर्शन हो जाने पर समस्त संशय उच्छिन्न हो जाते हैं। आगे उन्होंने इस पर भी विचार किया है कि पद्य के उत्तरार्ध में "मुझे तत्त्वत: जानकर उसके अनन्तर प्रवेश करता है" यह जो कहा गया है, इसमें "मां ज्ञात्वा तद्विशते" अर्थात् मुझे जानकर मेरे स्वरूप में प्रवेश करता है यह अर्थ प्राप्त हो ही जाता है, ज्ञान और प्रवेश क्रिया का पौर्वापर्य क्रम बन ही जाता है, तब 'तदन्तरम्' कहने की बीच में क्या आवश्यकता थी। इसका अर्थ तो यही किया जा सकता है कि "ज्ञान प्राप्त होने पर उसके अनन्तर मेरे स्वरूप में वह प्रवेश करता है"। यहाँ "उसके अनन्तर" यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। क्योंकि 'तदनन्तरम्' का अर्थ "उसके उपरान्त" यही होता है। जब "ज्ञात्वा" कह ही दिया तब जानने के अनन्तर ही प्रवेश होगा यह बात स्वत: सिद्ध हो गई। अत: "तदनन्तरम्" इस पद का तात्पर्य उन्होंने यह प्रकाशित किया है कि वर्तमान शरीर के अनन्तर वह मुझ में प्रवेश करता है। ज्ञान हो जाने के तत्काल बाद मुक्ति या भगवान् के स्वरूप में प्रवेश नहीं हो जाता अपितु ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी शरीर के रहने तक उसे संसार में रहना ही पड़ता है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी जो आरब्ध कर्म हैं वे अभी विदेह कैवल्य प्राप्त करने में प्रतिबन्धक बने हुए हैं। यदि ऐसा न मानकर यही माना जाय कि ज्ञान प्राप्त होते ही विदेह कैवल्य भी प्राप्त हो जाता है तब तो यह भी मानना होगा कि तत्त्वज्ञान के अनन्तर शरीर भी नहीं रहता। परन्तु ऐसा नहीं है उन्होंने यहाँ न्यायशास्त्र की प्रक्रिया की समानता दिखलाते हुए कहा कि वस्त्र के समवायि कारण के विनष्ट हो जाने पर

भी वस्त्र एक क्षण तक बना रहता है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाने पर तथा शरीर या संसार का जो मूलभूत कारण अविद्या है वह निवृत्त अवश्य हो गई, परन्तु शरीर की स्थिति तक मुक्ति नहीं होती, वह तो शरीर पात के अनन्तर ही होती है, यही 'तदनन्तरम्' का तात्पर्य है।" 'यत्' 'तत्' आदि पद बुद्धि में स्थित पदार्थों के लिए प्रयोग में आया करते हैं। इस विवेचन में शरीर भी विवेचनीय रूप से बुद्धि में स्थित है ही। अत: "तदनन्तरम्" का 'तत्' पद उसी शरीर का परामर्श यहां करता है।

# इकहत्तरवां-पुष्प

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।५६।।
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।५७।।

इस प्रकार पराभक्ति प्राप्त करके और अन्य प्रकार की अभिलाषाओं को छोड़ चुका हुआ मनुष्य सभी कर्मों के करने का भी पूर्ण अधिकार रखता है। इस बात को प्रस्तुत पद्य में कहते हैं कि–

"मेरा आश्रय लेने वाला उक्त पुरुष सभी कर्मों को करता हुआ भी मेरे प्रसाद से शाश्वत और अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है।" (५६)

इससे यह बात सिद्ध होती है कि भक्तिपूर्वक पूर्ण ज्ञान हो जाने पर भी कर्म करने का वह पूर्ण अधिकारी है, परन्तु विशेषता यह है कि जहाँ सामान्यलोग बन्धन में बँधकर कर्म करते हैं, और किए हुए कर्मों के फल से पुनः बँधते जाते हैं, वहाँ वह पुरुष जो ऊपर कही गई प्रक्रिया को अपनाता हुआ, ब्रह्मभाव तक जा पहुँचा है, बन्धनवश कर्म नहीं करता अपितु फलाशा छोड़कर कर्म करता है और इसीलिए उन कर्मों का नया कोई बन्धन भी उस पर नहीं आता क्योंकि वह किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कर्म नहीं करता अपितु कर्त्तव्य बुद्धि से ही कर्म में प्रवृत्त होता है, जैसा कि भगवान् पहिले अपने लिए तीसरे अध्याय से २२वें श्लोक में कह आए हैं। जब स्वयं आप्तकाम पूर्णकाम आत्माराम भगवान् भी कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म को स्वीकार कर लेते हैं और कर्म करने की इच्छा से कर्मभूमि में अवतीर्ण होते हैं, तो उनकी पराभक्ति को प्राप्त हुआ पुरुष कर्त्तव्य बुद्धि के बड़ा से बड़ा कर्म भी अवश्य ही करेगा। वह कर्मानुष्ठान करता हुआ ही शाश्वत अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है। विष के प्रभाव को दूर करने का मंत्र जिनको सिद्ध हो जाता है वे लोग विष का पान करके भी उसके प्रभाव से अलग रहते हैं, वैसे ही परमेश्वर की अनुकम्पा से कर्म करने की वह प्रक्रिया उन पुरुषों के हाथ लग जाती है, जिससे निरन्तर कर्म करते रहने पर भी उसके किसी बन्धन या प्रभाव से पुरुष सर्वदा असंस्पृष्ट ही बना रहता है।

जब इस प्रकार भगवान् ने अपने भक्त के लिए अपने शाश्वत पद की व्यवस्था कर दी तो अब श्रोता या उस प्रक्रिया में प्रवृत्त पुरुषों का यही कर्त्तव्य रह जाता है

कि सर्वात्मना अपने आपको उसी प्रक्रिया में तल्लीन कर दें। अन्य सभी मार्गों का परित्याग कर दें और स्वयं को भगवदर्पण करते हुए और प्रत्येक कार्य को उनको इच्छा और आज्ञा समझ कर करते हुए परम, शाश्वत, अविचल, अखण्ड आनन्दरूप पद को प्राप्त करें जो परमपुरुषार्थ जगत्रूपी महारोग के लिए रसायन है, मुमूर्षु के लिए अमृत है। इसीलिए अग्रिमपद्य में भगवान् अर्जुन को ऐसा ही करने का उपदेश दे रहे हैं कि–

"सभी कामों को अपने चित्त से मुझमें समर्पित करके मेरे आश्रित रहकर, बुद्धियोग का आश्रय लेकर अपने चित्त को सर्वथा मद्रूप बना दो।" (७५)

यहाँ अन्त में भगवान् ने बुद्धियोग का आश्रय लेना कहा है। इसी आधार पर विद्यावाचस्पति जी ने भी गीता का मुख्यप्रतिपाद्य बुद्धियोग ही माना है। बुद्धि के चार भेद हैं इत्यादि विवरण आरम्भ में ही किया जा चुका है।

# बहत्तरवां-पुष्प

**मच्चित्त: सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्त रिष्यसि ।**
**अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।५८।।**

"अपने चित्त को मुझमें अर्पित करके मेरे प्रसाद से तुम समस्त दुर्गों का तरण कर जाओगे। अब यदि तुम अपने अहंकार के वशीभूत होकर मेरी बात को नहीं मानोगे तो विनाश को प्राप्त करोगे।" (५८)

भगवान् ने गीता में ऊपर जिस व्यवहार का उपदेश दिया है उसका फल भी पहिले के पद्यों में आ गया है। इस श्लोक के पूर्वार्ध में पुनः फल कह दिया कि यदि तुम मुझ में अपने चित्त का अर्पण कर देते हो, और मेरी समझाई हुई पद्धति से लोक व्यवहार में प्रवृत्त होते हो तो संसार में जितने दुर्ग हैं, उनका तरण कर जाओगे। दुर्ग का अर्थ किला प्रसिद्ध है। किला कष्ट से पार किया जाता है, विशेष कर लड़ाइयों में किले का विशेष उपयोग होता है। मैदान की लड़ाइयों में भी विभिन्न प्रकार की व्यूह रचना या सेना का सन्निवेश ही दुर्ग कहा जाता है। संसार को भी एक प्रकार का युद्ध-क्षेत्र ही माना जाता है। यहाँ भगवान् ने दुर्ग के तरण की बात कही है इसका तात्पर्य दोनों ओर लगाया जा सकता है। यदि भगवान् का बराबर स्मरण रखते हुए मनुष्य संसार के व्यवहारों में प्रवृत्त होता है तो सांसारिक व्यवहार में इस प्रकार के जो विकट अवसर उपस्थित हो जाते हैं, जिनसे पार पा जाना बहुत कठिन प्रतीत होता है, उनसे अनायास मनुष्य पार चला जाता है। उसका कारण भगवान् का प्रसाद ही है। श्रीनीलकण्ठ जी ने दुर्ग की व्याख्या में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कष्टों का ग्रहण किया है। जीवन में दैहिक, दैविक और भौतिक तापों का वर्णन आता ही है। वे ही दुर्ग हैं, उन्हीं के सन्तरण की फलश्रुति यहाँ है। दूसरा तात्पर्य यह भी लगाया जा सकता है कि भगवान् ने समझ लिया कि अब अर्जुन उनके उपदेश से पूर्णरूप से सन्तुष्ट होकर युद्ध में प्रवृत्त होने को उद्यत हो गया। अतः आगे युद्ध करते समय जो प्रक्रिया उसे अपनानी चाहिए उसका निर्देश यहाँ भगवान् देते हैं कि यह युद्ध बड़ा भयानक है। इसमें संसार के चुने हुए वीर एकत्रित हो चुके हैं। अतः इस युद्ध में बहुत बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। तुम यह समझने में गलती मत करना कि तुमने अनेक लड़ाइयों में विजय प्राप्त कर ली है, अतः इस युद्ध में भी तुम अनायास विजय श्री का वरण कर लोगे। ऐसी बात नहीं है। इस युद्ध में अनेक दुर्ग हैं। अर्थात् विपक्ष में एक ही नहीं अनेक ऐसे योद्धा हैं, जो अपने आप दुर्ग रूप हैं। उन्हें संसार में कोई पराजित नहीं कर सकता। मृत्यु का अधिपति यमराज भी जिनसे घबड़ाता है।

भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य आदि प्रत्येक ऐसे-ऐसे योद्धा हैं, जो अकेले ही सम्पूर्ण विश्व के वीरों को समाप्त करने को पर्याप्त हैं। ये ही इस युद्ध के विशाल दुर्ग हैं, ये जब सेनापति बनेंगे तो अपनी सेना की व्यूह रचना करेंगे। वह व्यूह रचना भी एक प्रकार का दुर्ग ही होगी। उन व्यूहों में घुसकर शत्रुपर विजय पा लेना हँसी खेल नहीं है। परन्तु यदि युद्ध काल में तुम्हारा चित्त बराबर मेरी ओर रहा और बराबर तुमने मेरे निर्देश का पालन किया तो तुम इन सभी दुर्गों से पार पा जाओगे। इसके विपरीत यदि तुमने इस अहंकार से कि–"युद्ध के विषय में कृष्ण मुझे अधिक क्या जानते होंगे मैं तो विख्यात धनुर्धर हूँ" मेरे उपदेशों की अवहेलना की तो तुम शत्रुओं के द्वारा विनष्ट कर दिए जाओगे। युद्ध के आगे की सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान् कृष्ण ने ऐसे-ऐसे अवसरों पर अर्जुन तथा समस्त पाण्डव सेना को खतरे से बचाया जबकि वह विनाश के मार्ग में पहुँच चुकी थी। भीष्मपितामह को धराशायी कराने में श्रीकृष्ण की बतलाई हुई युक्ति ने ही काम दिया, अन्यथा भीष्म तो दस दिन में निष्पाण्डवा पृथ्वी कर देने की घोषणा कर चुके थे। भगवान् ने उनकी मृत्यु का रहस्य उन्हीं के मुख से निकलवा लिया। द्रोणाचार्य ने प्रारम्भिक दिन ही जैसा युद्ध किया था उससे पाण्डव सेना के छक्के छूट गए थे, महाभारत के आचार्य द्रोण के सेनापतित्व की पहिले ही दिन की लड़ाई में ऐसा सन्देह होने लगा था कि आज पाण्डवों के लिए रात होगी या नहीं। एक उक्ति के अनुसार पच्चासी वर्ष के द्रोणाचार्य उस दिन रणाङ्गण में १५ वर्ष की आयु वाले के समान वेग से भ्रमण कर रहे थे, उनके रथ की गति अप्रितहत थी, जिधर उनका रथ मुड़ता उसी ओर शत्रु में भगदड़ मच जाती थी। श्रीकृष्ण ने ही उसका भी उपाय किया और द्रोणाचार्य का वध उनकी बतलाई हुई बात को मानने से ही हुआ। कर्ण का उन्होंने जिस कुशलता से अन्त करवाया वह तो प्रसिद्ध ही है। अर्जुन ने उनकी युद्ध काल में प्रत्येक आज्ञा का पालन किया। यदि वह उनकी आज्ञा का पालन न करता तो पाण्डवों के पराजित होने में क्या सन्देह था।

सांसारिक व्यवहार के पक्ष में भी उत्तरार्द्ध का भाव स्पष्ट ही है कि भगवान् ने कर्मों के अनुष्ठान की जो प्रक्रिया बतलाई है, जो मनुष्य अपने कर्मानुष्ठान में अहंकारवश उस प्रक्रिया का अनुसरण नहीं करते, स्वच्छन्द आचरण करते हैं, वे विनष्ट हो जाते हैं, उन्हें आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक उपद्रवों का शिकार होना पड़ता है, वे दुर्गों के संतरण में असमर्थ होकर विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए संसारमार्ग में सफलता प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले पुरुषों को निष्काम भाव से ईश्वर की अर्चना के रूप में अपने नियत कर्म का अनुष्ठान जो भगवान् ने बतलाया है वह करते रहना चाहिए। इसी से कल्याण होता है।

---

# तिहत्तरवां-पुष्प

**यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।**
**मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।५९।।**
**स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।**
**कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।६०।।**

"जिस अहंकार का आश्रय लेकर हे अर्जुन ! तुम "मैं नहीं लड़ूँगा" ऐसा समझ रहे हो, वह तुम्हारी समझ मिथ्या है, प्रकृति तुम्हें युद्ध करने के लिए बाध्य करेगी।" (५९)

इस पद्य में भगवान् ने विशिष्ट पुरुषों की प्रकृति का अच्छा परिचय दे दिया है। प्रत्येक विशिष्ट व्यक्ति में यह एक स्वाभाविक अहंकार होता है कि अमुक कार्य करने का मुझ पर कोई दबाव नहीं है। यदि मेरी इच्छा होगी तो वह काम करूँगा, नहीं इच्छा होगी तो नहीं करूँगा। कोई मुझे किसी काम को अवश्य करने को बाध्य नहीं कर सकता। यह अहंकारपूर्ण समझ अन्य कार्यों के विषय में भले ही सत्य हो, परन्तु अपने स्वभाव सिद्ध कार्य के लिए ऐसा समझ लेना नितान्त मिथ्या है। बहुत से व्यक्ति अपना महत्व दिखाने के लिए कि देखिए यदि हम इस कार्य से अपना हाथ खींच लें तो यह कार्य आगे बढ़ ही नहीं सकता, अपने निश्चित कार्य को छोड़ने की घोषणा कर देते हैं। बहुत से व्यक्ति अपने कार्यों में अनेक विघ्नों और बाधाओं तथा मानसिक असंतोष से अपने कार्य को छोड़ने के लिए आतुर हो जाते हैं। परन्तु यह सब मिथ्यादम्भ है। कोई भी व्यक्ति संसार में रहता हुआ अपने स्वभावसिद्ध कार्य को कभी नहीं छोड़ सकता। वर्तमान में हम अनेक राजनीति धुरन्धरों को पहिले राजनीति से संन्यास लेने की घोषणा करता हुआ देखते हैं, परन्तु वह वास्तव में उनका अपने क्षेत्र में कार्य करने से पूर्ण विराम नहीं अपितु विश्राममात्र होता है। वे या तो नया संगठन बनाकर पुनः अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, या और भी अधिक जोश के साथ पुनः अपने पहिले काम में लग जाते हैं। यही बात भगवान् ने यहां अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कही। अर्जुन ने भी गीता के प्रारम्भ में अपने अहंकार के वशीभूत होकर यह विचार प्रकट किया था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा भले ही मुझे भिक्षाटन करना पड़े। भगवान् यहाँ उसका दोटूक उत्तर देते हैं कि यह तुम्हारा निश्चय मिथ्या है। उसका कारण उन्होंने बतलाया कि–

**"प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति"**

अर्थात् तुम्हारी प्रकृति ही तुम्हें युद्ध करने को बाध्य करेगी। प्रकृति का अर्थ यहाँ स्वभाव ही मानना होगा। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव उसकी सबसे अन्तरंग वस्तु है। कोई भी मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार ही चलता है। स्वभाव का अतिक्रमण कोई नहीं करता। एक लोकोक्ति है–

**''स्वभावो दुरतिक्रमः''**

स्वभाव का अतिक्रमण करना बड़ा कठिन है। श्रीशंकराचार्य ने यहाँ सन्दर्भानुसार प्रकृति का अर्थ क्षत्रिय स्वभाव किया है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार सम्बोध्य अर्जुन क्षत्रिय ही था। अतः क्षत्रिय के स्वभाव में अन्याय के विरुद्ध युद्ध करना भी सम्मिलित है, वही क्षत्रियोचित स्वभाव को तुमको युद्ध करने को विवश करेगा। यही यहाँ भगवान् का आशय स्फुट होता है।

श्रीरामानुचार्य अहंकार के आश्रय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं कि ईश्वर के विधान का अनादर करके, अपने द्वारा ही हित और अहित का निश्चय करके यदि अर्जुन युद्ध से उपरत होगा तो वह धोखा खायगा। क्योंकि अपने को हित और अहित के निर्णय में स्वतन्त्र मानना ही मिथ्या है। मेरे निर्देश से घबड़ा कर तुम प्रकृति के द्वारा युद्ध में लगा दिए जाओगे। यही बात होगी कि–

**''वृश्चिकभिया पलायमान आशीविषमुखे निपतितः''**

अर्थात् सामने बिच्छू को देखकर कोई पुरुष दूसरी ओर भागने लगा तो दूसरी ओर सर्प बैठा था, उसके मुख में जा गिरा। ईश्वर के निर्देश से बचने के लिए कर्म छोड़ा तो प्रकृति के भयंकर पाश में आबद्ध होकर फिर वही कर्म करना पड़ा। प्रश्न होता है कि जब प्रकृति कर्म करने में अवश्य लगा ही देगी ऐसा भगवान् मानते हैं, तो फिर अर्जुन को युद्ध करने की इतनी अधिक प्रेरणा ही क्यों देते हैं। वह यदि प्रारम्भ में युद्ध से उपरत हो ही गया तो भी अन्ततः तो अपनी प्रकृति से बाध्य होकर युद्ध उसे करना ही पड़ेगा। यही तो प्रकृति के द्वारा नियोग का अभिप्राय यहाँ पर है। फिर बार-बार उसे युद्ध के लिए प्रेरित करने की भगवान् को क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर यही है कि प्रकृति के द्वारा बाध्य किये जाने पर जो कार्य किया जाएगा उसमें बन्धकता होगी। उसमें कर्तव्य बुद्धि नहीं रहेगी। इसके विरुद्ध अपने कर्त्तव्यानुष्ठान से ईशार्चन की बुद्धि रखते हुए जो कर्म किया जायगा उसमें बन्धकता नहीं होगी। उस कर्म के कोई गुण दोष कर्त्ता पर प्रभाव नहीं दिखला सकेंगे। वह कर्म करता हुआ भी जल में कमल के पत्ते के समान उनके फलाफल से असम्बद्ध बना रहेगा। श्री वल्लभाचार्य ने यहां प्रकृति को बहिरङ्गा शक्ति बतलाया है।

पद्य में आए अहंकार शब्द के दो प्रकार के अर्थ व्याख्याओं में मिलते हैं। एक तो यह कि अर्जुन ने भीष्म, द्रोण आदि को मारने से पाप लगेगा ऐसा कहकर अपना शास्त्र ज्ञान जो दिखाया था, वह उसका अहंकार ही था। दूसरा यह कि भगवान् के स्वरूप को बिना समझे वह यह समझकर कि ये तो मेरे सारथी हैं, इनका पद मुझसे निम्न है। मैं इनकी बात मानने को विवश नहीं हूँ, ऐसा समझकर भी अर्जुन भगवान् के वचन की अवहेलना कर सकता है, यह भी उसका अहंकार ही है।

श्रीनीलकण्ठ ने प्रकृति की बाधकता को पुष्ट करने के लिए यहाँ–

**"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति"**

(३।३३)

यह पहिले आया हुआ पद्य भी उद्धृत कर दिया है। इसी बात को अग्रिम पद्य के द्वारा पुष्ट करते हैं कि–

"हे कौन्तेय ! अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म से बद्ध होकर मोह वश जिस कार्य को तुम नहीं करना चाहते, विवश होकर वह तुम्हें करना ही पड़ेगा।"

भला कोई पुरुष यदि किसी काम को करना नहीं चाहता तो उसे उस काम को करने के लिए बाध्य कैसे किया जा सकता है, इसका उत्तर यही है कि जो प्रबल होता है वह कमजोर व्यक्ति से उसकी इच्छा के विपरीत कार्य भी करवा लेता है। मनुष्य के अहंकार से उसका स्वभाव अधिक शक्तिशाली है, अतः उसे स्वभाव के अनुसार ही काम करना पड़ता है। उसे करने या न करने में उसका कोई वश नहीं रहता। अपने कर्म के परित्याग का विचार विवेकपूर्ण नहीं अपितु मोह युक्त होता है। अतः वह क्षणिक होता है। इसके विपरीत स्वभाव क्षणिक नहीं होता। वह सर्वदा प्राणी के साथ रहता है। क्षणिक अहंकार के प्रभाव में आकर यदि मनुष्य अपने स्वभाव के विरुद्ध चलने का निश्चय कर लेता है तो आगे चलकर उसे अपना निश्चय बदलना पड़ता है। यही बात भगवान् ने उक्त श्लोक में प्रकट की है। स्वभाव इसी जन्म की वस्तु नहीं है, अपितु पूर्व जन्म के कर्मों से बने हुए इस जन्म के शौर्यादि स्वभाव शब्द की व्याख्या में आते हैं, जैसा कि पहिले स्पष्ट किया जा चुका है। यहां स्वभाव या प्रकृति के वश में होकर कर्म करना पड़ेगा, ऐसी उक्ति से कहीं यह भ्रम न हो जाय कि तब तो प्रकृति ही सबसे बड़ी चीज है। ईश्वर को जो सबसे बड़ा और प्रकृति का नियामक माना गया है, वह समीचीन नहीं है। इसी सन्देह के दूरीकरण के लिए भगवान् अगले पद्य में ईश्वर का निरूपण करते हैं।

---

# चौहत्तरवां-पुष्प

**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति**

**भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।६१।**

"हे अर्जुन ! ईश्वर समस्त भूतों के हृदय में उन्हें अपनी माया में घुमाता हुआ उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार कोई मायावी पुरुष यन्त्र पर रखकर पदार्थों को घुमाता हुआ स्थित रहता है" (६१)

ईश्वर शब्द का अर्थ श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि व्याख्याकारों ने समस्त चराचर प्रपंच का ईशन करने वाला, उनका नियामक ही किया है। वही समस्त प्राणियों के हृदय प्रदेश में संस्थित बतलाया गया है। ईशन करने वाला यदि अत्यन्त समीप न हो तो वह सम्यक् प्रकार से ईशन नहीं कर सकता। जब वह सभी पदार्थों के जड़चेतनात्मक प्रपंच के हृदय देश में स्थित हो जाता है तो सभी जगत् उसके द्वारा अनायास चालित होता रहता है। इसी बात को–

**"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"**

आदि शतशः श्रुतियों में बतलाया गया है कि ईश्वर केवल उपादान कारण अथवा केवल निमित्त कारण ही संसार का नहीं है। यदि वह केवल उपादान कारण ही हो तब तो जैसे लकड़ी से मेज बना दी गई, मेज में जो लकड़ी लगी हुई है उसमें किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं है, वही स्थिति ईश्वर की भी मान लेनी होगी, तब तो वह केवल संसार के निर्माण के लिए उपयोगी मात्र रह जायेगा, निर्माण के अनन्तर उसका कोई स्वातन्त्र्य नहीं रह जायगा। परन्तु ऐसा ईश्वर को केवल उपादान इस दोष के कारण नहीं माना जाता कि जैसे उपादान रूप मृत्तिका से घड़ा बन गया, अथवा उपादान रूप लकड़ी से मेज बना ली गई, उस स्थिति में उपादान के अतिरिक्त कुम्भकार और बढ़ई उसके निर्माता के रूप में भी प्रत्यक्ष हैं, उन्हें निमित्त कारण कहा जाता है, वैसे ही ईश्वर यदि संसार का केवल उपादान कारण है तो निमित्त कारण या निर्माता कोई अन्य होगा। तब वह उपादान रूप ईश्वर से भी अधिक सामर्थ्य रखने वाला सिद्ध हो जायगा। परन्तु वास्तव में तो ऐसा नहीं है। ईश्वर से अधिक सामर्थ्य तो अन्य किसी में माना नहीं जाता। तब उसे उपादान कारण न मानकर निमित्त कारण ही क्यों न माना जाय, इसका उत्तर भी स्पष्ट है कि कुम्भकार और बढ़ई आदि जो तत्तत्पदार्थों का निर्माण करते हैं वे उन पदार्थों के निर्माण करने में सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं। जब तक उपादान कारण मृत्तिका, लकड़ी आदि उनके पास न हो, वे घड़ा, मेज आदि नहीं बना

सकते। परन्तु ईश्वर सृष्टि के निर्माण में इस प्रकार की परतन्त्रता नहीं रखता। इसीलिए ईश्वर को संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना गया है। वह संसार का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। संसार के स्वरूप में भी वही अवस्थित है, और संसार के समस्त पदार्थों के हृदय देश में अवस्थित होकर वही संसार का संचालन भी कर रहा है। उसी विश्व के संचालन को यहां "भ्रामयन्" शब्द से कहा गया है। भ्रमण कराना, घुमाना ही विश्व का संचालन कहलाता है। यही संसार शब्द का भी अर्थ है कि जो संसरण करे, चलता रहे। चलना एक क्रिया है, क्रिया सर्वदा कर्ता की अपेक्षा रखती है। ईश्वर ही वह कर्ता है जो चलाता है।

श्रीशंकराचार्य ने "यन्त्रारूढ़" शब्द के आगे इव शब्द का अध्याहार माना है। जिस प्रकार कोई पुरुष किसी पदार्थ को किसी यन्त्र पर रखकर घुमाता है, यन्त्र भी घूमता जाता है, उसके साथ ही वह पदार्थ भी घूमता जाता है। उसी प्रकार समस्त भूतों के स्वरूप में जो वस्तुएं हैं वे ही यन्त्र हैं, उस यन्त्र पर आरूढ़ होकर वह वस्तु हृद्देशस्थित ईश्वर के द्वारा घुमाई जाती है।

इस पद्य में जो अर्जुन ! यह सम्बोधन है उसका तात्पर्य खोलते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि अर्जुन विशुद्ध अन्तःकरण वाला है। अर्जुन शब्द का प्रयोग विशुद्धता के लिए भी वेदों में

"अहरर्जुनं च"

आदि में प्राप्त होता है। वहां का तात्पर्य है कि कुछ दिवस तो ऐसे होते हैं जो मलिन होते हैं और कुछ दिवस विशुद्ध होते है। यहां अर्जुन इस सम्बोधन को अर्जुन की अन्वर्थ संज्ञा के रूप में व्यंजित करते हुए भाष्यकार लिखते हैं कि अर्जुन विशुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष है। इसलिए अन्तःकरण में जो हृदय देश है, वहां संस्थित ईश्वर का साक्षात्कार उसे अनायास हो सकता है। जिनका अन्तःकरण दूषित वासनाओं से मलिन हो जाता है, उन्हें अपने ही हृद्देश में संस्थित ईश्वर का साक्षात्कार कभी नहीं होता, वह मलिन अन्तःकरण वाला व्यक्ति ईश्वर के दर्शन की योग्यता को उसी प्रकार खो देता है जिस प्रकार मलिन दर्पण प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति को खो बैठता है। अतः जिस प्रकार अपनी स्वच्छ सुन्दर आकृति को देखने के लिए स्वच्छ सुन्दर दर्पण आवश्यक है, उसी प्रकार हृदय स्थित ईश्वर का दर्शन करने के लिए विशुद्ध अन्तःकरण आवश्यक है। अर्जुन, इस सम्बोधन से श्रोता के अन्तःकरण को विशुद्ध कहने का भगवान् का आशय है। जिसने इतने धैर्य और जिज्ञासा से इतने गंभीर और दर्शनों तथा ज्ञान विज्ञान के सार भूत तत्त्वों का विवेचन सुना है, वह अवश्य ही शुद्ध

अन्तःकरण वाला पुरुष है। मलिन अन्तःकरण वाला पुरुष तो इन विषयों को सुनने का धैर्य ही नहीं रख सकता। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जिसका अन्तःकरण मलिन है, ईश्वर उसके हृदय देश में नहीं है, अथवा यदि है भी तो वह उसका संचालन नहीं कर रहा है, ऐसा नहीं है। सभी प्रकार के अन्तःकरण वाले पुरुषों के हृद्देश में ईश्वर अवस्थित है और वह उन सभी का संचालन भी करता है, परन्तु उसका ज्ञान या अनुभव विशुद्ध अन्तःकरण वालों को ही होता है। यही यहां व्याख्याकारों का आशय है।

श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्यानुसार भगवान् कहते हैं कि समस्त भूत प्रपंच को अपने-अपने पूर्व कृत कर्मों के अनुसार प्रकृति का अनुवर्तन करने के लिए मैंने नियमित कर रक्खा है। क्योंकि मैं ही समस्त प्रपंच का ईशन करने वाला ईश्वर हूं। मैं किस प्रकार और कहां स्थित होकर सबका ईशन करता हूं, यह बतलाते हुए भगवान् हृदय देश में ईश्वर रूप या ईशन कर्तृत्व रूप में अपने को स्थित कर रहे हैं। 'हृद्देश' के द्वारा अभिव्यंजित होने वाले भाव को स्पष्ट करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि हृदय ही शरीर स्थित वह प्रदेश या स्थान है जहाँ से शरीर की समस्त प्रवृत्तियों और निवृत्तियों का संचालन हुआ करता है, वहीं पर ईश्वर की स्थिति बतलाई गई है। हमारी समस्त प्रवृत्तिमूलक चेष्टाओं की प्रेरणा और अवरोध हृदयस्थित ईश्वर के द्वारा ही हो रहा है। अनेक सत्पुरुष कार्य और अकार्य के निर्णय के लिए एकान्त प्रदेश में जाकर अपने हृदय स्थित ईश्वर की शरण लेते हैं, और फिर कार्य और अकार्य का निश्चय प्राप्त करके कार्य में प्रवृत्त और अकार्य से निवृत्त हो जाते हैं। दूसरे प्रकार के पुरुष वे हैं जिन्होंने अपनी विवेक शक्ति का पूर्व संस्कार पूर्णरूप से तो नहीं खोया है, परन्तु उस विवेक शक्ति को असत् कर्मों में प्रवृत्त होते हुए आवृत कर दिया है। उन्हें कथंचित् हृद्देशस्थ ईश्वर की प्रेरणा से कार्य अकार्य का ज्ञान तो हो जाता है, परन्तु वे शरीर, मन आदि के असामर्थ्य के कारण श्रेयोमार्ग का ग्रहण नहीं कर पाते और आसुरी प्रवृत्ति के घेरे में आ जाते हैं। वे मन, बुद्धि आदि को ही प्रधान मानने लगते हैं, और सर्वनियन्ता ईश्वर तक उनकी दृष्टि ही नहीं जाती, यद्यपि वे उसकी दृष्टि में सर्वदा रहते हैं। इसी प्रकार के पुरुषों की प्रकृति का निरूपण गीता प्रवचन माला के प्रथम भाग के प्रारंभिक प्रवचनों में हमने विस्तार से किया है। इस प्रकार ईश्वर द्वारा ही सभी प्रवृत्तियों के व्यक्ति अपने अपने कार्यों में नियमित होते हैं, यह बात उक्त व्याख्या के आशय में प्रकट है। यन्त्र का अर्थ श्रीरामानुजाचार्य ने प्रकृति किया है। भगवान् समस्त चराचर प्रपंच को अपने प्रकृतियन्त्र पर आरूढ़ करके अपनी माया शक्ति से उसे घुमाया करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने इस श्लोक के भावार्थ कथन के रूप में-

**"सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो-
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च"**

(१५।१५)

मैं सभी के हृदय में सन्निविष्ट हूँ और मेरे द्वारा ही ज्ञान और उसका अपोहन होता है-

**"मत्तः सर्वं प्रवर्तते"**

(१।८)

मुझसे ही सब कुछ प्रवृत्त होता है-आदि श्लोकों को उद्धृत किया है। अपने पूर्वोपदिष्ट कथन की उपसंहार में भगवान् ने पुष्टि की है। उपसंहार के इन पद्यों में भगवान् ने अपने पूर्वोपदेशों को सूत्ररूप में पुनः कहा है। जिस प्रकार द्वितीयाध्याय विषयोपन्यास की दृष्टि से बहुत महत्त्व रखता है, उसी प्रकार यह अठारहवां अध्याय विषयोपसंहार की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

ब्रह्मानन्द गिरि व्याख्या में इस पद्य की भूमिका में कहा गया है कि पहिले कर्म की श्रेष्ठता पर जो इतना बल दिया गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि कर्म ही प्रधान वस्तु है, वही सबका नियमन करने वाला है, उसके अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है, जैसा कि मीमांसा दर्शन ने माना है। अपितु प्रस्तुत पद्य के द्वारा भगवान् यह कह रहे हैं कि मैं ही समस्त भूतों को अपने अपने कर्मों में प्रेरित कर रहा हूँ। कर्म स्वयं जो जड़ हैं, किसी चेतन की प्रेरणा के अभाव में कर्म हो ही नहीं सकते। अतः ईश्वर स्वयं हृद्देश में प्रतिष्ठित होकर प्राणियों को अनेक अपने अपनी कर्मों में प्रवृत्त कर रहा है।

यहां श्रीशंकराचार्य ने 'इव' का अध्याहार करके जो यह कहा था कि जैसे कोई लौकिक पुरुष पदार्थों को यन्त्र पर रखकर घुमाता है वैसे ही ईश्वर समस्त भूतों को घुमा रहा है, इस पर यह पूर्वपक्ष उठाया गया है कि यह दृष्टान्त विषम प्रतीत होता है। क्योंकि जो भी लौकिक पुरुष पदार्थों को यन्त्र पर आरूढ़ करके घुमाता है, वहाँ यन्त्र के जड़ होने से उसका पुरुष के द्वारा घुमाया जाना संभव हो सकता है। परन्तु प्राणिवर्ग तो चेतन होता है। अपनी बुद्धि से समस्त प्राणी अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। उन्हें अपने कर्मों में प्रवृत्त होने के लिए ईश्वर की प्रेरणा की क्या आवश्यकता है। इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हुए उक्त व्याख्या में कहा गया है कि पद्य में जो ईश्वर को हृद्देश में प्रतिष्ठित बतलाया गया है, वही इस प्रश्न का समाधान है। चेतन

प्राणियों की बुद्धि भी ईश्वर के ही वश में होती है। बिना ईश्वर की प्रेरणा के बुद्धि भी कुछ विचार नहीं कर सकती। अतः सभी कर्मों का परिचालकत्व अन्ततः ईश्वर पर ही जाता है। श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यद्यपि ईश्वर सर्वव्यापक है फिर भी हृदय में वह विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है। जिस प्रकार राम समस्त जगत् के स्वामी होते हुए भी कोसलाधीश कहे जाते हैं, वहीं उनका आधिपत्य विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है, वैसे ही सर्वव्यापक होता हुआ भी ईश्वर हृदय देश में विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है। इसीलिए काव्य की भाषा में हृदय को मन्दिर भी कह दिया जाता है। जहां भगवान् प्रतिष्ठित हों उसे मन्दिर कहा जाता है। जब भगवान् स्वयं अपने को समस्त प्राणियों के हृदय देश में स्थित कह रहे हैं तो प्राणियों का हृदय अपने आप ही मन्दिर हो गया।

# पचहत्तरवां-पुष्प

## ईश्वर निरूपण परिशेष

श्री विद्यावाचस्पति जी ने ईश्वर के सम्बन्ध में अपने 'शारीरिक विमर्श और गीताभाष्य' के आचार्य काण्ड में बहुत कुछ लिखा है। उसका सबका अनुवाद करने पर तो कई ऐसे ग्रन्थ बन जाँयगे। किन्तु गीता के आचार्य काण्ड के आधार पर बहुत संक्षिप्त वर्णन हम यहाँ उधृत कर देते हैं। सब जगत् का अभिन्न उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म है यह तो श्रुति से ही सिद्ध होता है। जैसा कि प्रश्नोत्तर रूप से श्रुति में कहा है कि–

**'किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।**
**मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।**
**ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।**
**मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्।।**

कोई भी विचारशील विद्वान् इन मंत्रों को देखेगा तो वही यही कहेगा कि ये दोनों मंत्र प्रश्नोत्तर रूप हैं। किन्तु आश्चर्य है कि प्रश्न का मंत्र तो वेद संहिता में मिलता है और उसका उत्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। जो मीमांसक पुरुष का सम्बन्ध ही वेद में नहीं मानते वे इस व्यतिक्रम का समाधान क्या करेंगे यह उन्हें सोचना चाहिए। अस्तु यह तो प्रसङ्गागत बात हुई अब अर्थों पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि इनमें पूर्व के अंशों से तो उपादान कारणता कही गई है और 'ब्रह्माद्यतिष्ठत्' इन पदों से निमित्त कारणता सिद्ध होती है। क्योंकि अधिष्ठान करना निमित्त कारण का ही काम हो सकता है। अस्तु वह ब्रह्म आगे चलकर ६ संस्थाओं में विभक्त हो जाता है–

१–परमेश्वर

२–विश्वेश्वर

३–आधिकारिकेश्वर

४–आधिकारिक जीव

५–सांसारिक जीव

६–अगतिक जीव

इनमें से परमेश्वर तो मन और वाणी का विषय हो नहीं सकता। वह अनन्त

रस और अनन्त शक्तिमान् है। हमारे जीवों के मन का स्वभाव है कि वह परिच्छिन्न का ही ज्ञान कर सकता है। अपरिच्छिन्न का स्पष्ट ज्ञान उसे नहीं हो सकता। और वाणी तो मन से भी छोटी शक्ति रखती है। अतएव वह मन और वाणी दोनों से परे है इसीलिए उसे अनिरुक्त प्रजापति कहते हैं। इसी के विषय में उपनिषद् में यह कहा गया है कि–

**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**

अर्थात् मन के साथ वाणी जिसे प्राप्त न कर बीच से ही लौट आती है उसे वेद भी नहीं जान सकते। और ब्रह्मा, विष्णु भी नहीं जान सकते। और भी उपनिषद् में कहा गया है कि–

**'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।'**
**अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।'**

अर्थात् जो यह कहता है कि मैं परमेश्वर को जान गया समझ लो कि वह बिल्कुल नहीं जाना और जो यह कहता है कि मैंने परमेश्वर को नहीं जाना वह उसे जानता है। क्योंकि जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही ज्ञान यथार्थ ज्ञान कहलावेगा तो वह परमेश्वर अविज्ञात स्वरूप ही है इसलिए अविज्ञात रूप में ही उसका ज्ञान यथार्थज्ञान होगा। इसे ही उत्तरार्द्ध में स्पष्ट कहा गया है कि उसे जानने वालों के लिए अविज्ञात और न जानने वालों के लिए विज्ञात समझना चाहिए। वही परमेश्वर 'भूमा' नाम से भी पुराणों में कहा गया है। वही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का उत्पादन और संहार किया करता है। उसके विषय में इतना ही कहा जा सकता है, क्योंकि अधिक वाणी का प्रसर वहाँ सम्भव नहीं। इतना ही संकेतमात्र से वहाँ कह देना पर्याप्त होगा। वह परमेश्वर एक-एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता भिन्न-भिन्न विश्वेश्वरों को बनाकर उसे एक-एक ब्रह्माण्ड का अधिपति बना देता है। वे विश्वेश्वर भी परमेश्वर से भिन्न नहीं होते अपितु कारण और कार्य के अभेद होने से उनके ही रूप समझे जा सकते हैं। वा यों कहो कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और एक-एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठातापन की विवक्षा से तो वे परमेश्वर और विश्वेश्वर भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु एक ही ब्रह्म के स्वरूप होने से अभिन्न ही हैं। इन विश्वेश्वरों को अश्वत्थ-वृक्षों के रूप में भी कहा गया है। जैसा कि श्रुति है कि–

**यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नान्यो नज्यायोस्ति कश्चित्**
**वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः**
**तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'**

अर्थात् जिससे पर और अपर कुछ भी नहीं है जिससे न कोई छोटा है न कोई बड़ा है, अर्थात् वह छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा माना जा सकता है। वह वृक्ष की तरह व्यापी आकाश में स्तब्ध होकर खड़ा हुआ है। उसी पुरुष से यह सब पूर्ण है। भगवद्गीता में भी कहा है कि–

**ऊर्ध्वमूलो अध:शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः ।**
**छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।**

अर्थात् इसका मूल ऊपर की ओर है और शाखा नीचे को फैली हुई हैं और छन्द जिसके पत्ते हैं उसको जानने वाला ही वेदवित् कहला सकता है। यह भगवद्गीता में कर्माश्वत्थ का वर्णन किया गया है। क्योंकि आगे चलकर इस वृक्ष को काटने की आवश्यकता दिखाई है और उपनिषदों में ब्रह्माश्वत्थ का भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। यहाँ यह अभिप्राय है कि इसका मूल जो ब्रह्म है वह तो ऊपर की ओर है और जो संसार रूप शाखाएं फैली हैं वे नीचे की ओर हैं। इस वृक्ष को अश्वत्थ बतलाया है। अश्वत्थ और ब्रह्म के कई सादृश्य विद्यावाचस्पति जी ने अपने ग्रन्थ में कहे हैं जिनका यहाँ वर्णन करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

अस्तु इन एक-एक ब्रह्माण्डों में पाँच-पाँच शाखाएं होती हैं जिनके नाम द्विजाति लोग संध्योपासन में प्रतिदिन व्याहृतियों के रूप में स्मरण किया करते हैं–

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। इनमें सत्य लोक ही स्वयम्भू लोक भी कहा जाता है। वह स्वयम्भू जनः, स्वः और भूः ये चार तो ठोस मंडल अर्थात् पृथ्वी जैसे घनमंडल हैं और तीन इनके बीच में अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश रूप हैं। भूः, स्वः, जनः और सत्यम् ये चार मंडल हैं और इनके बीच में भुवः, महः, और तपः, ये तीन अन्तरिक्ष हैं। किन्तु दूसरा लोक जो भुवः है उनमें चन्द्रमा रहता है और उस चन्द्रमा का हमारी पृथ्वी से घनिष्ट सम्बन्ध है। उसी के कारण हमारी पृथ्वी में ऋतु आदि होती हैं और पृथ्वी में वृक्षलता आदि भी चन्द्रमा के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होते और फैलते हैं। इसलिए चन्द्रमा को भी एक मंडल मान लिया जाता है। इस प्रकार पांच मंडल और दो अन्तरिक्ष ये सात लोक रह जाते हैं।

भूः पृथ्वी, भुवः चन्द्रमण्डल, स्वः सूर्यमण्डल, महः अन्तरिक्ष, जनः, इसका नाम परमेष्ठि लोक भी कहा जाता है। स्वः, तपः, फिर अन्तरिक्ष है और स्वयम्भू सबसे ऊपर सबका अधिष्ठाता होकर विराज रहा है। इन सात मंडलों में तीन त्रिलोकी हो जाती हैं। भूः, भुवः, स्वः यह एक त्रिलोकी हुई। इसका अधिष्ठाता सूर्य है और पृथ्वी और सूर्य इन दोनों का रोदसी इस द्विवचनान्त शब्द से व्यवहार वेद में होता है। आगे सूर्य

को पृथ्वी स्थान में समझो और परमेष्ठि मंडल को सूर्यस्थान में समझो। बीच का महः अन्तरिक्ष मिलाकर यह दूसरी त्रिलोकी हुई। इसको वेद में क्रन्दसी इस द्विवचनान्त शब्द से कहा गया है। आगे परमेष्ठि मंडल को पृथ्वी स्थान में समझकर और स्वयम्भू मंडल को सूर्य स्थान में मानकर यह तीसरी त्रिलोकी हो जाती है। बीच में तपः नाम का अन्तरिक्ष भी सम्मिलित कर दिया जाता है। इस परमेष्ठि मण्डल और स्वयम्भू मण्डल इन दोनों का संयति इस द्विवचनान्त शब्द से वेद में व्यवहार होता है। इस प्रकार सात लोक में एक-एक को दुबारा समझकर तीन त्रिलोकी सम्पन्न हो जाती हैं। इन्हीं तीन त्रिलोकियों का वर्णन नीचे लिखे हुए मंत्रों में प्राप्त होता है-

**तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेममवग्लापयन्ति।**
**मंत्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ।।**

ऋ० २।३।१५।

**तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाद् ।**
**आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु क उ तच्चिकेतत् ।।**

ऋ० १।३।६

इनमें तीन पृथ्वी और तीन द्युलोकों का वर्णन स्पष्ट है। पृथ्वी को पहले मंत्र में माता पद से और द्युलोकों को पिता पद से कहा गया है। जैसा कि 'द्यौ पितः, पृथ्वी मातः' इत्यादि मंत्रों में भी पृथ्वी को माता कहना और द्युलोक को पिता कहना प्राप्त होता है। इन तीन माता और तीन पिताओं को एक ही सूर्य धारण करता है। सूर्य मंडल में भी वाक् व्याप्त है यह पहले मंत्र में कहा गया और दूसरे मन्त्र में द्यौ का नाम स्पष्ट दे दिया गया है। इसी प्रकार अन्यान्य मंत्रों में भी तीन भूमि और तीन द्यु लोक बतलाए गए हैं। इन सब मंडलों का आधार तो अव्यय पुरुष है ही। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मण्डल में एक-एक अक्षर पुरुष की प्रधानता रहती है जैसा कि स्वयम्भू मण्डल में ब्रह्मा, अक्षर पुरुष प्रधान है। दूसरे परमेष्ठि मंडल में विष्णु अक्षर पुरुष की प्रधानता है। जैसा कि अन्यत्र भी श्रुति में कहा गया है कि-

**'यथाग्निगर्भा पृथ्वी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'**

चन्द्रमंडल में सोम नाम के अक्षर पुरुष की प्रधानता है और हमारी पृथ्वी में अग्नि नाम का अक्षर पुरुष प्रधान है। बस अक्षर पुरुष की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम ये ही पांच कलायें हैं। चन्द्रमा यद्यपि हमने अन्तरिक्ष में कहा है तो भी वह

पृथ्वी के चारों ओर घूमा करता है। इसलिए पृथ्वी से नीचे भी जाता है और ऊपर भी। इसी कारण उसका अक्षर पुरुष के बाद में पृथ्वी से नीचे पांचवें स्थान में गिना गया है। यही अक्षर पुरुष हमारे मनुष्य लोकों के आराध्य होते हैं। इन्द्र, अग्नि और सोम तीनों को मिलाकर महेश्वर नाम का एक अक्षर पुरुष कहा जाता है। इन महेश्वर के वर्णन में 'वन्दे सूर्य, शशाङ्कवह्निनयनम्' यह स्तोत्र पाठ में आता है। वहाँ सूर्यपद से इन्द्र लिया जाता है। चन्द्रमा और अग्नि तो स्पष्ट कहे ही गए हैं। अन्य भी पुराणों में महेश्वर का इन्द्र रूप धारण करना कई स्थान पर वर्णित है।

अस्तु इस प्रकार अक्षर पुरुष की एक एक कला प्रत्येक मंडल में बतलाई गई। उसी प्रकार क्षर पुरुष की भी एक-एक कला सब मंडलों में प्रधान रहती है। क्षर पुरुष की भी पांच कलाएँ निम्नलिखित हैं–

प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न। इनमें स्वयम्भू मंडल में प्राणकला प्रधान है। परमेष्ठि मंडल में आप नाम की कला, सूर्य मंडल में वाक् नाम की कला पृथ्वी में अन्नाद् कला और चन्द्रमा में अन्न नाम की कला प्रधानता से रहती है। अन्नाद और अन्न में एक ही कला बच जाती है। अन्न अन्नाद के भीतर ही प्रविष्ट हो जाता है। इसी अभिप्राय से ब्रह्मा का एक सिर काट दिया गया यह आख्यायिका पुराणों में कही गई है।

अस्तु वह प्रसङ्गागत बात हुई। पांच अक्षर पुरुष की और पांच क्षर पुरुष की यों दस कलाएं बतलाई गई। सबकी आधार अव्यय पुरुष की ही पांच कलाएं हैं। इनके नाम आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् हैं। ये सब जगह व्याप्त समझने चाहिए। इनके साथ परात्पर पुरुष की एक कला मिलाकर एक षोडशी प्रजापति कहलाता है। वह ही हमने पहले परमेश्वर पद से लिखा है। भगवान् कृष्ण आधिकारिक जीव कहे गये हैं। आधिकारिक जीव का लक्षण यह होता है कि जिनमें ईश्वरत्व और जीवत्व ये दोनों लक्षण पाए जांय। इसीलिए भगवान् कृष्ण प्रायः जीव रूप में ही रहते थे और समय-समय पर अपना ईश्वर रूप भी प्रकट कर दिया करते थे। प्रकृत पद्य में परोक्ष रूप से अपना वर्णन भगवान् कृष्ण ने इसीलिए किया है। अन्यत्र भगवद्गीता में– मामेव शरणं व्रज' 'अहंकर्त्ता च भोक्ता च' इत्यादि रूप से ही भगवान् ने अपना प्रत्यक्ष रूप से परिचय दिया है किन्तु यहाँ 'ईश्वरः सर्वभूतानां' 'तमेव शरणं गच्छ' इत्यादि परोक्ष रूप से ही परिचय दिया है। इसका भी यही आशय हो सकता है कि यहाँ आधिकारिक पुरुष के रूप में ही अपना दिग्दर्शन कराया। आधिकारिक पुरुष के सम्बन्ध में वेदान्त सूत्रों में यह कहा गया है कि

**'यदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्'**

अर्थात् अधिकारिक पुरुष अपने अधिकार पर्यन्त अवस्थित रहते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् कृष्ण जब तक उनकी इच्छा थी तब तक अवस्थित रहे और भक्तों के हृदयदेश में तो सदा ही विराजमान् रहते हैं।

अस्तु यह भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में प्रसङ्गागत चर्चा हुई। अब यह भी समझना चाहिए कि पांच मंडल जो पुण्डीर नाम से कहे गए हैं उनमें प्रत्येक पुण्डीर का अधिष्ठाता अक्षर पुरुष भी एक-एक मंडल का अधिष्ठातारूप से अवान्तर ईश्वर कहा जाता है यह भी जान लेना आवश्यक है कि ईश्वर के सृष्टि करने में पुरुष प्रकृति और शुक्र नाम के तीन पदार्थों की आवश्यकता हुआ करती है और वे तीनों एक ही रूप हैं जैसा कि श्रुति में कहा गया है कि-

**'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते'**

अर्थात् शुक्र ब्रह्म और अमृत एक ही है। यहाँ ब्रह्मपद से प्रकृति कही जाती है और अमृत पद से पुरुष कहा गया है। शुक्र किस प्रकार उत्पन्न होता है और क्या उसका स्वरूप है इसका वर्णन ईशावास्योपनिषद् एवं अन्य उपनिषदों में भी प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार श्रीविद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थों के आधार पर यह परमेश्वर विश्वेश्वर और अधिकारिकेश्वर आदि का अति संक्षिप्त वर्णन यहाँ कहा गया। सांसारिक जीव और अगतिक जीव ये तो सब जगह पुराण धर्मशास्त्र आदि में वर्णित हैं ही उनका प्रसङ्ग बताने की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ईश्वर के ये रूप पाठकों को हृदयंगम कर लेना आवश्यक समझकर यह संक्षिप्त वर्णन भी यहाँ कर दिया गया। अब यहाँ एक शंका यह उपस्थित होती है कि ईश्वर ही जब सबको यन्त्रारूढ़कर घुमाता है तो फिर मनुष्य को भला बुरा करने का उपालम्भ क्यों दिया जाय वह तो ईश्वर के परतन्त्र है जैसा वह नचाता है उसी प्रकार के कर्म करता है फिर जीव को भला-बुरा कहने की आवश्यकता ही क्या, वह तो एक प्रकार कठपुतली जैसा है। कठपुतली को हम भलाबुरा नहीं कह सकते। इसी प्रकार िव को भी भलाबुरा कहना उचित प्रतीत नहीं होता और यही क्यों जीवधारी को अपने भले-बुरे कर्मों का फल भी क्यों दिया जाय, क्योंकि वह तो ईश्वर ने जैसी प्रेरणा की वैसा ही करता था, फिर इसमें उसका दायित्व ही क्या ? कदाचित यह कहा जाय कि ईश्वर पूर्व कर्मों के अनुसार ही प्रेरणा देता है तो यह भी उचित नहीं होगा क्योंकि श्रुति में यह भी लिखा है कि जिसको ईश्वर उन्नत करना चाहता है उससे अच्छे कर्म करवाता है और जिसे नीचे

ढकेलना चाहता है उससे बुरे कर्म करवाता है, इस श्रुति के अनुसार तो जीव का दायित्व कुछ भी नहीं रह जाता फिर उसे भले-बुरे का परिणाम क्यों भुगताया जाय। दूसरी बात यह भी है कि पूर्व कर्म के अनुसार ही उत्तर कर्मों की प्रेरणा ईश्वर द्वारा मिलेगी तो एक बार जो असाधु कर्मकर गड्ढे में गिर चुका उसे तो फिर उठने का मौका नहीं मिल सकता और जो एक बार उन्नत हो चुका उसे गिरने का मौका नहीं मिल सकता। किन्तु हमारे पुराणादि में तो ऐसा नहीं मिलता। वहाँ तो अच्छे काम करने वालों से भी कुछ बुराई हो जाती है और बुरे कर्म करने वालों से भी कुछ अच्छे काम बन जाया करते हैं उनका फल भी उन्हें अच्छा या बुरा मिला करता है ऐसा वर्णन मिलता है। इसका समाधान लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता रहस्य' में यह किया है कि ईश्वर के आधीन रहने पर भी जीव को कुछ स्वतन्त्रता रहती है। उस स्वतन्त्रता की झलक जब आवे वही समय ऐसा होता है कि जीव अपने को उन्नत बनावे वा नीचे गड्ढे में गिरावे। इसलिए जीव को सावधान रहना चाहिए कि जब स्वतन्त्रता की झलक आवे तब वह अपने को उन्नति मार्ग में लगाए। इसीलिए जीव को अच्छे बुरे का उपालम्भ भी दिया जाता है और उसे अच्छे बुरे कर्मों का फल भी मिलता है। मानों ईश्वर ही कुछ ऐसी स्वतन्त्रता की झलक समय-समय पर देता है कि उस समय वह चाहे तो अपने को उन्नत कर ले और चाहे नीचे ढकेल ले ऐसी ईश्वर की ओर से ही परीक्षा की प्रेरणा मिला करती है।

वेदान्त दर्शन के 'पञ्चदशी' ग्रन्थकार ने तो कारण शरीर को ही ईश्वर कहा है और सूक्ष्म शरीर को जीव कहा है। कारण शरीर की प्रेरणा से ही सूक्ष्म शरीर सब प्रकार के भले-बुरे काम किया करता है और कारण शरीर पूर्व-पूर्व के संस्कारों के अनुसार ही प्रेरणा देता है ऐसा होने पर भी सूक्ष्म शरीर में भी इतनी स्वतन्त्रता है ही कि वह सुसंगति से सुमार्ग पर लग जाय या कुसंगति से गिरने के मार्ग पर लग जाय। इसी प्रकार के इस प्रश्न के समाधान शास्त्रों में मिलते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत पद्य सब व्याख्या में प्रकट कर दिए गए अब उनकी संक्षिप्त आलोचना की जाती है। तत्व प्रकाशिका ने यह प्रश्न तो उठा दिया कि इस पद्य का पूर्व के पद्यों से विरोध प्रतीत होता है किन्तु उसका समाधान वे भली प्रकार न कर सके। अब भगवद्गीता में कर्म मार्ग, उपासना मार्ग और ज्ञान मार्ग तीनों का ही उपदेश है उनमें कर्मवाद के अनुसार तो यह प्रस्तुत पद्य का अर्थ होना चाहिए कि अध्याय के आरम्भ में जब अर्जुन ने संन्यास और त्याग का आशय पूछा था तो भगवान् ने यही उत्तर दिया था कि-

''काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।''

इसका आशय स्पष्ट है कि काम्य कर्मों के परित्याग का नाम संन्यास है और सब कर्मों का फल छोड़ देने का नाम त्याग है। प्रस्तुत पद्य में–'सर्व धर्मान् परित्यज्य' यहाँ परित्यज्य पद से त्याग भी कहा गया है। इसलिए यही आशय होगा कि सब कर्मों के फल का त्याग कर दो। इस पर श्री शंकरानन्द जी ने जो लक्षणा का दोष दिया है वह लागू नहीं हो सकता। क्योंकि भगवान् ने जब स्वयं त्याग शब्द का अर्थ परित्याग बतलाया तब लक्षणा की आवश्यकता ही क्या। भगवद्गीता में जो उपदेश है उनका तो अर्थ भगवान् के कथनानुसार ही करना चाहिए अन्यथा ही लक्षणा का प्रसंग आवेगा। इसलिए कर्म मार्ग में यही अर्थ ठीक घटित होगा कि सब कर्मों का फल छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ।

उपासना मार्ग में 'तत्व प्रकाशिका' का कथन ही ठीक है कि सब धर्म कर्मों का फल इस ईश्वर की शरण में जाना ही है। जब ईश्वर शरण प्राप्त हो गयी तो फिर भी धर्माचरण करते रहने का तात्पर्य तो ऐसा ही होगा कि जैसे कोई मनुष्य रेलगाड़ी पर चढ़कर अपने अभीष्ट स्थान पर जाता है, वह अभीष्ट स्थान प्राप्त करके भी रेलगाड़ी के मोह से उसमें ही बैठा रहे तो फल यह होगा कि इधर-उधर भटकता रहेगा कभी गन्तव्य स्थान को प्राप्त ही नहीं कर सकेगा। इसलिए ईश्वर की शरणागति प्राप्त हो जाने पर सब धर्मों का फल मिल गया समझकर, अनन्तर सब धर्मों का परित्याग ही कर देना न्याय प्राप्त है।

ज्ञान काण्ड के अनुसार यह अर्थ होगा कि आत्मा में जो कर्तृत्व, भोतृत्व आदि धर्मों का तुमने अपने अज्ञानवश आरोप कर रक्खा है उन आरोपित धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। यह आशय श्रीनीलकण्ठ ने प्रकट किया है। यही ठीक है। इस प्रकार इस पद्य की तीनों कर्मोपासना और ज्ञान में व्याख्या भी हो जाती है और कोई पूर्वापर विरोध भी नहीं प्राप्त होता।

---

# छिहत्तरवां-पुष्प

## "भारतीय दर्शन शास्त्रों में परमतत्त्व"

जड़ चेतन दो विभागों में विभक्त संसार में चेतना सम्पन्न प्राणिवर्ग की प्रधानता रहती है, यही सर्वानुभव सिद्ध है। जड़ जगत् चेतन प्राणिवर्ग का व्यवहार सम्पादित करने के लिए, उसका उपकरण स्वरूप बनता है। यह बात हम लोगों के प्रतिदिन के व्यवहार से सुस्पष्ट सिद्ध हो जाती है। चेतन वर्ग में भी मनुष्य सबसे प्रधानता रखता है क्योंकि जड़ जगत की भांति अन्य प्राणियों से भी यह अपने व्यवहार में उपयोग लेता है। गो-महिषी आदि दुग्ध अन्न आदि विविध पदार्थों के उत्पादन द्वारा मानवीय उपयोग में आते हैं। घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि प्राणी इसके वाहन का काम देते हैं। शुक, कोकिल आदि पक्षी विनोद का साधन बनते हैं। यहाँ तक कि कुत्ता बिल्ली ही नहीं सिंह व्याघ्रादि को भी किसी न किसी प्रकार यह अपने उपयोग में ले ही लेता है। मनुष्य की इस प्रधानता का मूलकारण क्या है इस पर विचार करने से ज्ञान शक्ति ही इसका मूल दिखाई देगी। मनुष्य में ज्ञान शक्ति अन्य समस्त प्राणि जगत की अपेक्षा बहुत अधिक है। यही शक्ति अपने प्रभाव से इसे सर्वोच्च बना रही है, ज्ञान के बल पर ही, यह जड़ चेतन वर्ग से अपना काम निकालता रहता है, इसीलिए इस शक्ति के परिवर्तन की इच्छा भी इसे निरन्तर बनी रहती है। उसी इच्छा को संस्कृत भाषा में जिज्ञासा कहा जाता है। इस जिज्ञासा वा ज्ञान को हमारे पूर्वचार्यों ने तीन भागों में विभक्त किया है, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। अपने सम्बन्ध में भी बहुत लोगों को अनेक बार जिज्ञासा हो जाती है कि, हम क्या हैं ? कहां से आए ? इस हम के भीतर क्या क्या तत्व हैं इत्यादि। इस जिज्ञासा वा इसके निवर्तक ज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान कहा जाता है। बाह्य पृथ्वी जल वा अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में जो जिज्ञासा हो, उस जिज्ञासा वा उसके निवर्तक ज्ञान को आधिभौतिक कहते हैं। और आकाश के सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि की जिज्ञासा वा ज्ञान को आधिदैविक पद प्राप्त है। इस स्थूल जगत के अतिरिक्त इसके परिचालक सूक्ष्म जगत के तत्त्व भी देवपद से ही कहे जाते हैं और उनका ज्ञान भी आधिदैविक में ही अन्तर्गत है। इनमें आध्यात्मिक ज्ञान को दर्शन पद से कहा जाता है। मनुष्य के हृदय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। अपने सम्बन्ध में भी उसे अनेक बार जिज्ञासा हो उठती है। उसी का समाधान दर्शनों में किया जाता है कि हम क्या हैं, कहाँ से आए, वा इस हम के भीतर क्या क्या तत्त्व अन्तर्गत हैं इत्यादि। इस आध्यात्मिक ज्ञान ने भारतवर्ष में बहुत पुराने समय से बहुत बड़ी उन्नति की थी। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि, हमारी संस्कृति

का मूल आध्यात्मिक ज्ञान ही है। भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है और स्वर्गीय लोकमान्य तिलक महोदय ने अपने गीता रहस्य में इसका विस्तृत निरूपण किया है कि आधिभौतिक वा आधिदैविक आधार पर किया गया धर्म विचार अधूरा रहता है आध्यात्मिक विचार के आधार पर ही धर्म की पूर्णता होती है। अतः आध्यात्मिक विद्या के प्रदाता दर्शन शास्त्र हमारी संस्कृति के मूल आधार हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। अच्छा तो अब हमें पहले दर्शन शब्द के अर्थ पर ही विचार करना चाहिए।

दर्शन शब्द का अर्थ है देखना वा देखने के साधन। इसका मूल 'दृश' धातु आरम्भ में चाक्षुष ज्ञान के लिए व्यवहार में आया था। किन्तु आगे चाक्षुष ज्ञान के समान जो विस्पष्ट ज्ञान हो, उस अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा, धीरे धीरे ज्ञान सामान्य के अर्थ में भी आ गया। इसलिए अब दर्शन शब्द से तीनों प्रकार के अर्थ लिए जा सकते हैं। चाक्षुष ज्ञान, उसके साधन, विस्पष्ट ज्ञान उसके साधन और सामान्यतः ज्ञान, उसके साधन। किसी गम्भीर वस्तु के ज्ञान से पूर्व एक प्रकार का मनन वा विचार आवश्यक होता है इसलिए विचार, मत वा मन की प्राथमिक प्रवृत्ति को भी दर्शन शब्द से कई जगह व्यक्त किया गया है। यों तो सब ही शास्त्र ज्ञान के साधन हैं। यदि किसी प्रकार का ज्ञान न दे, तो फिर वह शास्त्र ही क्या ? इस विचार से सभी शास्त्रों का सामान्य नाम 'दर्शन' होना चाहिए। किन्तु आत्मा, ईश्वर, आदि अति गूढ़ तत्वों के ज्ञान वा उसके साधन में ही 'दर्शन' शब्द निरूढ़ हो गया है। इसका कारण यह है कि वेदों में–**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** इत्यादि रूप से आत्मा के दर्शन का विधान पाया जाता है। आत्मा का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष तो कभी हो ही नहीं सकता, तब यहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ विस्पष्ट ज्ञान ही मानना पड़ता है। उस विस्पष्ट ज्ञान के साधन श्रुति में ही बतलाए गए हैं–श्रोतव्यः, मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः। इस श्रुति का विवरण आचार्यों ने इस प्रकार किया है–

**श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।**
**मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ।।**

अर्थात् पहले श्रुति के वाक्यों से वाक्यार्थ विचार कर आत्मा आदि तत्त्वों का श्रवण करना, फिर उन तत्त्वों का अपने मानसिक बल के अनुसार युक्ति पूर्वक मनन वा विचार करना और युक्तियों से जब वह सुनी हुई बात जम जावे तो उसका निरन्तर ध्यान करना, अर्थात् चित्तवृत्ति को निरन्तर उसी ओर लगाना। इन साधनों से 'दर्शन' अर्थात् विस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। फिर उस ज्ञान को कोई डिगा नहीं सकता। जैसे प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तु में किसी प्रकार का, संदेह वा भ्रम हमें कभी नहीं होता, इसी

तरह असंदिग्ध और अभ्रान्त ज्ञान जब आत्मा वा ईश्वर का हो जाय, तो उसे दर्शन के समान ही मानकर वहाँ प्रत्यक्ष वा दर्शन शब्द का ही व्यवहार करते हैं, और उसके साधनों को भी दर्शन की संज्ञा देते हैं।

दर्शन वा साक्षात्कार के उक्त तीनों साधनों में निदिध्यासन या समाधि तो केवल मन का व्यापार है। वह वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता। हाँ उसके साधनों का क्रम योग दर्शन में अवश्य बतलाया गया है। किन्तु वह सब क्रिया से सम्बन्ध रखता है–वाणी के व्यापार–मात्र से नहीं। श्रवण–मनन, इन दोनों में मनन अर्थात् युक्ति पूर्वक मूल विषयों को सोचना साक्षात्कार अर्थात् विस्पष्ट ज्ञान के लिए अधिक उपयोगी होता है। इस कारण आत्मा आदि तत्त्वों पर मनन अर्थात् उसपर युक्ति प्रधान विचार करने वाले शास्त्रों का ही नाम दर्शन पड़ा है।

दर्शन शास्त्रों ने क्रम से सूक्ष्म तत्व में प्रवेश कराया है वेदान्त में इसे 'अध्यारोपापवाद' नाम से भी कहा गया है। अर्थात् एक-एक जगह आरोप से पहले आत्मरूपता का ग्रहण कर, फिर वहाँ उसका निषेध करते जाना और अन्त में मुख्य तत्व पर पहुँच कर विश्राम लेना।

छः दर्शनों की गणना कई प्रकार से की जाती है। किन्तु इस क्रम में चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त इस प्रकार की गणना का विशेष उपयोग है। न्याय सब दर्शनों का पूर्वाङ्ग है। उसमें तर्क करने की पद्धति बताई जाती है और योग सब दर्शनों का उत्तराङ्ग। उसमें मनन के अनन्तर निदिध्यासन अर्थात् चित्त की समाधि का प्रकार बताया जाता है। इसलिए इन दोनों को क्रमिक श्रेणी में गिनना उचित नहीं होता। इसी प्रकार पूर्व मीमांसा वाक्यार्थ निश्चित करने की प्रक्रिया बतलाती है। उसका श्रवण में ही उपयोग है। मनन विषय उसमें प्रासङ्गिक बहुत अल्प आता है। इसलिए मनन प्रधान दर्शनों की श्रेणी में उसको भी स्थान देना उपयुक्त नहीं होता। हाँ, उत्तर मीमांसा में दोनों विषय प्रधान हैं, वह उपनिषदों के वाक्यार्थ की प्रक्रिया भी बताती, और आत्मा आदि तत्वों पर युक्ति पूर्वक मनन भी कराती है। इसलिए उसे वेदान्त नाम से दर्शनों की श्रेणी में अन्तिम स्थान दिया जाता है। वहाँ जाकर विचार की समाप्ति हो जाती है। उससे आगे विचार का कोई स्थान नहीं रहता इसलिए उसे वेदान्त कहते हैं–वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त अर्थात् पर्यवसान जहां से आगे ज्ञान की सीमा न बढ़ सके।

अच्छा तो अब इसका क्रम देखिए ! पहले दर्शन चार्वाक को 'लोकायत' कहते हैं। लोक प्रचलित विचारों को ही यह दर्शन रूप देता है। सर्व साधारण लोग शरीर

को ही अपना स्वरूप मानते हैं। इसके अतिरिक्त कोई आत्मा उनके विचार में नहीं आता। इसलिए चार्वाक भी शरीरात्मक वादी है। हाँ, इतना अवश्य है कि, सर्वसाधारण लोग अपने व्यवहार में स्त्री-पुत्र बल्कि धन, सम्पत्ति आदि को भी अपने स्वरूप के अन्तर्गत मान लेते हैं। इसलिए इनकी विपत्ति वा इनका ह्रास होने पर अपनी ही विपत्ति वा ह्रास मानते हैं। उन सब पर से आत्म भाव को चार्वाक हटा देता है, इतना आत्म पदार्थ का संकोच वह भी करता है, सब प्रकार के व्यवहार के निर्वाहक और अहं (मैं) पद का वाच्यार्थ शरीर ही रहता है। यही शरीर को आत्मा मानने की युक्ति है। ज्ञान के साधन इन्द्रियों को आत्मा कहना या शरीर के परिचालक प्राण को आत्मा कहना, ये सब चार्वाक, दर्शन के ही अवान्तर भेद हैं। इससे आगे बौद्ध कुछ सूक्ष्मता की ओर बढ़ाते हैं। वे कहते हैं कि यदि शरीर ही आत्मा हो तो, जड़ चेतन का विभाग ही संसार से उठ जाए। क्योंकि जिन पृथ्वी आदि तत्वों से बाहर के पदार्थ बनते हैं, उनसे ही शरीर भी बनता है, फिर बाहर के पत्थर मिट्टी आदि से हममें भेद ही क्या रहा। भेद इतना ही बताना होता है कि हमको ज्ञान है, मिट्टी पत्थर आदि को ज्ञान नहीं, इसलिए जड़ और चेतन के भेदक ज्ञान को ही आत्मा कहना चाहिए, शरीर मात्र को नहीं। ज्ञान क्षण-क्षण में बदलता रहता है। हमें कभी वृक्ष का ज्ञान होता है, कभी मनुष्य का, कभी कुत्ते का, कभी मिट्टी, पत्थर का। इसलिए आत्मा को भी क्षणिक ही मानना चाहिए स्थिर नहीं। क्षणिक होने पर भी उसकी एक धारा है, इसलिए चेतनता विलुप्त नहीं होती। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी के प्रवाह में हमारे सामने का जल प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस क्षण में जो जल हमारे सामने है, वह दूसरे क्षण में नहीं रहेगा। किन्तु कोई जल दूसरे क्षणों में भी हमारे सामने रहेगा। यों प्रतिक्षण बदलता हुआ भी, कोई जल हमारे सामने बना ही रहता है। इसी को 'प्रवाह नित्यता' कहते हैं। इस तरह आत्मा को भी प्रवाह नित्य समझना। यों इस दर्शन में आत्मा को शरीर से भिन्न बता दिया, किन्तु उसे भी अनित्य रखा।

इससे आगे जैन दर्शन की पारी आई वह कहता कि यों प्रतिक्षण ज्ञान बदलता जाए तो कल या परसों देखी हुई वस्तु का ज्ञान हमें केसे हो। जिससे देखा वह तो रहा नहीं, अब याद कौन करे। इसलिए आत्मा को स्थिर भी मानना चाहिए, और बदलता हुआ भी वह नित्य भी है, और अनित्य भी है। द्रव्य रूप से नित्य है, और पर्याय वा अवस्था रूप से अनित्य भी है। इस प्रकार कुछ स्थिरता की ओर झुकाकर 'स्याद्वाद' जैन दर्शन ने स्थापित किया। यहाँ आत्मा शरीर से अतिरिक्त भी हुआ, और एक प्रकार से स्थिर या नित्य भी।

इसके आगे वैशेषिक दर्शन आता है। जिसके आचार्य 'कणाद' हैं। इसे न्याय भी कहते हैं। वह कहता है कि, एक ही वस्तु नित्य, और अनित्य, स्थिर और बदलने वाली दोनों प्रकार की हो—यह समझ में नहीं आता। यदि नित्य है तो अनित्य कैसे? और अनित्य है तो नित्य कैसे ? इसलिए स्थिर और बदलने वाली दोनों वस्तुओं को भिन्न-भिन्न मानना चाहिए। आत्मा स्थिर वा नित्य है, और बदलने वाले ज्ञान (इच्छा सुख दुःखादि) इसके गुण हैं। गुण बदलते रहते हैं, किन्तु आत्मा सदा स्थिर एक और नित्य है। गुणों के बदलने से उसकी नित्यता में कोई बाधा नहीं पड़ती। जैसे एक किसी कपड़े को कभी हमने पीला रंग दिया, कभी धोकर साफ कर लिया, फिर लाल रंग डाला फिर सफेद बना लिया। इस प्रकार पीत, रक्त, श्वेत आदिगुण उसके बदलते गए, किन्तु कपड़ा वही रहा। इस तरह ज्ञान, इच्छा, सुख आदि गुणों के बदलते रहने पर भी आत्मा एक है। वह सब गुणों का आश्रय है। धर्मों का परिवर्तन होता है। आश्रयभूत धर्मी का नहीं। यों इसने आत्मा की नित्यता को प्रतिष्ठित कर दिया और शरीर इन्द्रिय वा मन से भी आत्मा को पृथक बता दिया। मन इन्द्रिय आदि को उसका कारण मान लिया, किन्तु इन कारणों के द्वारा कर्तृत्व आत्मा पर ही इसने भी माना।

अब आगे सांख्य दर्शन आता है, वह कहता है कि जिसमें गुण होगा वह क्रिया का आधार भी बनेगा। और जिस पर क्रिया होगी वा जिसमें गुण बदलते रहेंगे, वह कुछ काल तक भले ही स्थायी दिखाई देता रहे, किन्तु नित्य वह कभी नहीं हो सकता। परिवर्तनशील का विनाश अवश्यम्भावी है। चाहे एक दिन में हो, चाहे हजार वर्ष में। ऐसा ही संसार के सब पदार्थों में देखा जाता है कि, बदलने वाला कभी, नित्य नहीं होता। आत्मा का कभी भी विनाश मान लिया जाय, तो अनादि आवागमनचक्र की उत्पत्ति नहीं बैठती। इसलिए दो मूलतः पृथक्-पृथक् ही तत्त्व मानने चाहिए। एक बदलने वाला और एक स्थायी रहने वाला। पहले का नाम प्रकृति है, और दूसरे का पुरुष। जितना कुछ कर्तृत्व है। अथवा ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख, आदि गुण हैं वे सब प्रकृति में हैं। पुरुष तो कमल के पत्ते की तरह सदा बेलाग रहता है। किन्तु चेतन वही है, उसकी चेतना के प्रतिबिम्ब से ही प्रकृति सब करती रहती है, वह पुरुष के सन्निधान मात्र से ही प्रकृति का उपकारक है। उसे चैतन्य दे देता है। क्योंकि उसके स्वरूप में कभी भी कोई विकार नहीं होता। जैसे जल पर सूर्य का प्रतिबिम्ब गिरने से जल चमक उठा, उस चमक के कारण, वह भी बाह्य दृष्टि से चमकदार सा प्रतीत होता है और इधर उधर अपना प्रकाश भी दिखाने लगता है। जल के प्रकम्पित होने पर, जल का सूर्य भी प्रकम्पित होता हुआ दीख पड़ेगा, किन्तु बिम्ब भूत असली सूर्य पर इस प्रकम्पन का, कोई प्रभाव नहीं। इस प्रकार प्रकृति में प्रतिबिम्बित चैतन्य, ज्ञान

सुख आदि का, आश्रय प्रतीत होता है। किन्तु मुख्यचेतन पुरुष में इन धर्मों का, कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जब तक वह प्रकृति के साथ है, तब तक संसारी प्रतीत होता है। प्रकृति को छोड़ते ही वह, नित्य मुक्त है, आत्मा की सर्व रूप से नित्यता और निःसंगता सांख्य ने सिद्ध कर दी है। किन्तु प्रकृति को उसने पृथक् ही माना, और प्रकृति के धर्मों का, आरोप पुरुष पर किसी रूप में अनुभव से मानना ही पड़ा। अब अन्तिम दर्शन 'वेदान्त' उपस्थित होता है। आत्मा एक निर्धर्मक और निर्विशेष तत्त्व है। उन पर अनादि संस्कार-वश भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को हमने लाद रखा है, जैसे एक वस्तु सुवर्ण को लीजिए, वह कभी आपको एक ढेले के रूप में, कभी चिपटे रूपमें, कभी लम्बे कड़े के रूप में, कभी गोल कुण्डल के रूप में कभी प्रलम्ब हार के रूप में मिलेगा। ये सब सुवर्ण की अवस्थाएँ हैं। किन्तु जिसकी यह अवस्थाएँ हैं, वह सुवर्ण क्या है ? इसका पता लगाना अत्यन्त कठिन है। सुवर्ण को जब कभी आप देखेंगे, तब किसी न किसी अवस्था में ही पायेंगे। सब अवस्थाओं से पृथक् कर सुवर्ण को आप कभी ध्यान में भी नहीं ला सकते, किन्तु यह मानना ही पड़ता है कि सुवर्ण कोई एक तत्त्व है जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में मिलता है। एक धनी सद्गृहस्थ ने किसी बड़े चतुर सुनार से बड़ा सुन्दर सुवर्ण का हार बनवाया, जिसमें उसने 'सोने से उसकी गढ़ाई भारी' की कहावत को चरितार्थ कर दिया। सोने से भी अधिक द्रव्य गढ़ाई और जड़ाई में खर्च कर डाला। किन्तु दुर्दैव वश वह कभी निर्धन हो गया और उसने अपने उस भूषण को बेचने के लिए किसी सर्राफ की दुकान पर ले गया। वहाँ उसने कुल खर्च बतलाया जो आभूषण की तैयारी में लगा था। सर्राफ ने कहा ! बाबूजी गढ़ाई की बात तो जाने दीजिए, असली सोने का दाम ले लीजिए। इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार में भी साधारण लोग असली वस्तु मूलतत्व को ही मानते हैं। ऊपर की अवस्थाओं को झूठा कल्पित समझते हैं। इसी प्रकार मनन करते जाओ तो इस परिणाम पर पहुँच सकोगे कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि सब ऊपर से लादी हुई अवस्थाएँ हैं। मूलतत्व एक ही है।

जो सब जगत् का मूलतत्व है, उसमें और हमारे शरीर इन्द्रिय आदि को चलाने वाले मूलतत्त्व में भी कोई अन्तर नहीं हो सकता। क्योंकि निर्धर्मक वस्तु में अन्तर वा भेद कहें ही किस आधार पर ? अन्तर तो अवस्थाओं में ही दिखाई देता है। सब अवस्थाओं से परे रहनेवाले मूलतत्त्व में भेद आया ही कहाँ से ? बस इसलिए सर्वं खल्विदं ब्रह्म अयमात्माब्रह्म, यह सब कुछ ब्रह्म ही है। हम जिसे आत्मा कहते हैं, वही ब्रह्म है। कर्तृत्व वा गुण अनादि संस्कारवश आरोपित मात्र हैं। असली तत्त्व को समझकर इन आरोपित धर्मों को पूरी तरह निःसार वा मिथ्या समझ लेना ही कृतकृत्यता है। बस, यही ज्ञान की समाप्ति है।

अब विचारशील विद्वान् पाठक देखेंगे कि दर्शनों ने किस प्रकार स्थूलता से उठाकर अत्यन्त गहन सूक्ष्मतत्त्व में हमें पहुँचा दिया। इन दर्शनों ने केवल सीढ़ी का काम किया, परस्पर विरोध वा झगड़े की इसमें कोई बात नहीं। यों शनैः शनैः सूक्ष्मतत्व को बुद्धि में जमा देना ही भारतीय दर्शन शास्त्रों की विशेषता है। और ये क्रम से ज्ञान मार्ग में बढ़ाने वाले हैं, विरोध सिखाने वाले नहीं।

इस क्रमिक परम्परा से सिद्ध हुआ कि अद्वैतवाद एकात्मवाद ही भारतीय संस्कृति में परमतत्त्व माना जाता है। यह सम्पूर्ण विश्व भगवान् का ही रूप है, यह जानकर भारतीय संस्कृति की नींव डाली गई है। राग-द्वेष रहित होकर लोक हित कामना से कर्म करना यह कर्म योग–

**सियाराम मय सब जग जानी।**
**करहुँ प्रणाम जोरि युग पानी।।**

यह भक्ति योग की पराकाष्ठा, और "सर्वं खल्विदं" यह ज्ञान योग का परतत्त्व सब एकात्मवाद पर ही अवलम्बित है। आधुनिक सभ्यता में पले हुए बहुत से विद्वान् समझते हैं, कि देश हित पर अपना बलिदान हमें पाश्चात्य सभ्यता ने ही सिखाया है। किन्तु यह भारी भूल है, इसका मूल स्रोत भारत ही है, क्योंकि इसका आधार एक आत्मवाद ही है। देश के वा देशवासी अन्य व्यक्तियों के हित के लिए हम अपने हित का त्याग क्यों करें, इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाश्चात्य संस्कृति के पास नहीं, वहाँ के विद्वान् इस प्रश्न का इतना ही उत्तर देते हैं कि, प्राणिमात्र में इस प्रकृति का प्रभाव देखा जाता है, यह एक 'ह्यूमन नेचर' ही नहीं प्राणिमात्र की नेचर है। अत्यन्त क्रूर प्रकृति के सिंह व्याघ्र आदि भी अपने बालकों के लिए, अपना भोज्य आदि छोड़ते देखे जाते हैं। किन्तु यह नेचर क्यों बनी इसका उत्तर वे कोई नहीं दे पाते, भारतीय दर्शन ही इसका मुख्य उत्तर देता है, कि सब में व्याप्त आत्मा एक है, इसलिए जिसे परोपकार कहा जाता है वह परोपकार नहीं स्वोपकार वा स्वार्थ ही है। इसलिए उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होनी ही चाहिए। जिस प्रकार हम शरीर के अधिक भाग की प्रसन्नता के लिए अल्प भाग को कष्ट भी दे लेते हैं। सब शरीर में विष न फैल जाय इसलिए विषाक्रान्त सड़ी हुई अंगुली को कटा भी डालते हैं। इसी प्रकार जनता के अधिक भाग के सुख के लिए अपने एक तुच्छ शरीर का त्याग भी युक्ति युक्त हो सकता है। अन्य प्राणियों में और स्वयं में विशेषता न समझने के कारण ही शिवि महाराज का एक कपोत की रक्षा के लिए शरीर दान वा विश्वरक्षा के लिए महर्षि दधीचि का अस्थि दान ऐसे-ऐसे दृष्टान्त भारतीय संस्कृति में ही प्राप्त होते हैं और सिद्ध करते हैं कि भारतीय संस्कृति

दार्शनिक मूल तत्व पर ही अवलम्बित है और इसी कारण मोक्ष को ही भारतीय संस्कृति में परम पुरुषार्थ माना गया है उसके साधन रूप से त्रिवर्ग का अनुष्ठान है। मोक्ष की सिद्धि अहंकार के त्याग पर ही अवलम्बित है और अहंकार का त्याग ही पद-पद में धर्म भी सिखाता है। हमारे प्रत्येक धार्मिक संकल्प के अन्त में 'न मम' यह जो पद बोला जाता है, उसी से सिद्ध है कि ममता और उसकी मूलभूत अहंता का त्याग ही हमारे धर्म कार्य का लक्ष्य है। अर्थ और काम सेवन भी अहंकार रहित होकर ही भारतीय संस्कृति में सिखाया जाता है।

संक्षिप्त आशय यही है कि, धर्म-अर्थ प्राप्ति के लिये नहीं, मोक्ष साधन के लिए होना चाहिए, और अर्थ का उपयोग कामसिद्धि के लिए, धर्मानुष्ठान के लिए होना चाहिए। काम का सेवन भी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए नहीं, किन्तु केवल जीवन रक्षा के उद्देश्य से होना उचित है और जीवन रक्षा केवल सांसारिक कार्यों के लिए नहीं तत्व जिज्ञासा के लिए होनी चाहिए। यहाँ तक हमने अपने आत्मा अर्थात् जीवात्मा के सम्बन्ध से दर्शनों की परम्परा का दिग्दर्शन किया। अब परमात्मा के सम्बन्ध से भी दर्शनों के क्रम पर विचार करना चाहिए। पूर्वोक्त परम्परा के अन्त में कहा जा चुका है कि, दर्शन शास्त्र अन्त में जहाँ पहुँचाते हैं, वह हमारे शरीर का मूल तत्व और सम्पूर्ण प्रपंच का मूल तत्व पृथक्-पृथक् नहीं, मूल तत्व सबका एक ही है। यह भी कहा जा चुका है कि निर्गुण निर्धर्मक, होने के कारण उसका कोई वर्णन नहीं हो सकता। किन्तु बिना निर्देश के उसके सम्बन्ध में कुछ कहा भी कैसे जाय, उसका निरूपण वा उपदेश कैसे किया जाय, इसलिए व्यापार चलाने को श्रुति और दर्शनों ने ब्रह्म नाम से उसका व्यवहार किया। वह ब्रह्म सीमा रहित है। दिशा-देश व काल के द्वारा उसकी कोई सीमा नहीं हो सकती। वह नित्य और अखण्ड है, उसमें किसी प्रकार का धर्म व गुण नहीं, धर्म व गुण तो पीछे पैदा होते हैं ? वे जगत् की वस्तु हैं, उनका मूल तत्व में कहाँ सम्भव, निस्सीम में कोई क्रिया वह हरकत भी नहीं हो सकती। अतः हलचल से शून्य एक आत्म तत्व है। परन्तु इस प्रकार के तत्व के बिना क्रिया व गुण वाले तत्व से प्रपंच कैसे बन गया, यह एक पहेली है। इसका समाधान यही हो सकता है कि उसमें इस प्रकार की अचिन्त्य शक्ति व अपरिमित बल है, जिसके कारण वह अनन्त प्रपंचों की रचना कर डालता है, शक्ति व बल पृथक् नहीं गिना जाता। अग्नि की शक्ति को अग्नि से पृथक् कोई नहीं गिनता। जिन वैज्ञानिक तत्त्वों का आजकल अविष्कार होता है उसमें भी किसी न किसी प्रकार की शक्ति अवश्य होती है, किन्तु उस शक्ति की पृथक् गिनती कभी नहीं की जाती इसलिए शक्ति सहित मूल तत्त्व एक ही माना जाता है, दो नहीं।

उस शक्तिमान और शक्ति को रस और बल, ज्ञान, तथा कर्म व ब्रह्म और माया कहा जाता है। वह सबके अनुकूल ही है, किसी के प्रतिकूल नहीं। अपने ही बनाए हुए तत्त्वों से वह प्रतिकूल कैसे हो ! और वह यदि प्रतिकूल हो तो उस तत्त्व व पदार्थ का जन्म ही कैसे हो। इस सबकी अनुकूलता के कारण उसे आनन्द रूप मानते हैं। उसी का परिचायक रस यह नाम है, वह स्वयं विचार पूर्वक सब प्रपञ्च की रचना करता है, किसी दूसरे चेतन की प्रेरणा से नहीं, यदि वह जड़ होता तो उसकी प्रेरणा के लिए कोई दूसरा चेतन अपेक्षित होता, क्योंकि कोई जड़ पदार्थ बिना चेतन की प्रेरणा के व्यवस्थित काम करता हुआ नहीं देखा जाता। किन्तु उसका कोई प्रेरक नहीं इस आधार पर उसे ज्ञान शब्द से कहा जाता है, और वही अपनी सत्ता सब पदार्थों में देता है या यों कहें कि सत्ता रूप से सबमें अनुप्रविष्ट होता है। स्वयं विनष्ट न होता हुआ भी इतने प्रपञ्च रच देता है, इसलिए 'बृंहण' व विकास शील होने के कारण उसे ब्रह्म शब्द से भी कहते हैं।

बल शक्ति और क्रिया एक ही वस्तु के रूपान्तर हैं जब वह प्रसुप्त दशा में रहे तो बल कहते हैं। जागरित होकर कर्म में उद्यत होने की दशा में शक्ति और कार्य रूप में परिणत हो जाने पर उसे ही क्रिया कहा जाता है। यह बल व शक्ति भी अनन्त है, यह तो मानना ही पड़ेगा। क्योंकि, अशक्त रस कभी भी हो तो उसके रहने का प्रमाण ही क्या मिले ? शक्ति से ही तो उसकी विज्ञापना होती है। किन्तु बल व शक्ति में निस्सीमता नहीं है। सीमाबद्ध खण्डों के रूप में संख्याकृत अनन्तता उसमें है, अर्थात् खंड-खंड रूप में वह सम्पूर्ण रस में व्याप्त रहती है, और स्वयं सखण्ड होने के कारण, वह अखण्ड रस को भी खण्ड रूप में दिखा देती है। जैसे अनन्त आकाश वृक्षों व दिवारों के घेरे में आकर पृथक् सा प्रतीत होने लगता है वा बहुत प्रदेश में व्यापक, समुद्र के जल को एक-एक लहर खण्ड-खण्ड रूप में दिखा देती है। इसी प्रकार निस्सीम अनन्त रस व ब्रह्म को यह शक्ति अपनी सीमाबद्धता के कारण, सीमा बद्ध सा बना देती है, इसी आधार पर इसे माया कहा जाता है।

संस्कृत भाषा में मा धातु का अर्थ माप-सीमा-हद बन्दी है। इसलिए जिसके द्वारा सीमा बांधी जाय, जो सीमा बन्धन का कारण हो, उसे माया कहना अर्थानुगत है। असीम की सीमा इसने कैसे कर डाली, व जब एक ही तत्त्व था तो, यह शक्ति कहाँ से निकल पड़ी, यह बात समझ में नहीं आती। इसी आधार पर समझ में न आने वाली, सभी अद्‌भुत क्रियाओं को माया कहने का प्रचार चल पड़ा। सब क्रियाओं का मूल होने के कारण, कर्म शब्द से भी इसे कहा जा सकता है। एक प्रकार से विचार करने से यह शक्ति व माया उस रस व ब्रह्म से विरुद्ध स्वभाव की प्रतीत होती है,

वह निस्सीम है, यह ससीम, वह एक है यह अनन्त, वह सदा एक रूप रहता है यह प्रतिक्षण बदलती है इसलिए इसे उसके स्वरूप में अन्तर्गत तो मान नहीं सकते, किन्तु है यह उसी की, इसलिए इसे उसका परिग्रह (स्वीकार की हुई वस्तु) कहते हैं यह रस का प्रथम परिग्रह हुआ। सीमाबद्ध होने पर, एक के अनेक रूप हो जाते हैं निरवयव सावयव बन जाता है। अवयव व कला से रहित निष्फल तत्व, कला सहित सकल हो जाता है। जिसे हम मूलतत्व कह रहे हैं उसमें वास्तव में अवयव व खण्ड नहीं होते किन्तु माया के कारण खण्ड प्रतीत होने लगते हैं। स्वरूप से तो वह सदा ही अखंड है। माया ही खण्ड दिखा देती है इसलिए वे अवयव व कला 'दूसरा' परिग्रह हुआ।

जहाँ खण्ड रूपता आई कि परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। यह प्रकृति का सार्वजनिक नियम है कि जिसका अंश होता है, वह अपने अंशी में सदा ही मिलना चाहता है, पृथ्वी के अंश-एक ढेले को हम ऊपर-आकाश में उछालें तो वह वहाँ न रुककर अपने अंशी व घन पृथ्वी में आकर मिलेगा। बड़े प्रवाह में से जल को एक ओर पृथक् रोकना चाहो तो वह अपने वेग से अपने घन में ही मिलने की क्रिया करता रहेगा। वायु को किसी घेरे में लेकर रोको तो वह घेरा तोड़कर अपने अंशी के साथ ही मिलेगी। इसी नियम के आधार पर निस्सीम में से जो सीमाबद्ध खण्ड व अंश निकलेंगे, वे निस्सीम में ही जाना चाहेंगे, इसे ही वैज्ञानिक लोग आकर्षण नियम कहते हैं। यों आकर्षण-विकर्षण-प्रवृत्त होने पर सत्व-रजस्-तमस् नाम के तीनों गुण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। जहाँ शक्ति जन्य क्रिया की आल्पता रहे, वह लघुभूत प्रकाश प्रधान अंश सत्व नाम से, क्रिया की बहुलता पर 'रजस्' नाम से और दो क्रियाओं का परस्पर संघर्ष होकर समान बल वाले दो पुरुषों द्वारा विभिन्न दिशाओं में खींची जाने वाली रस्सी की तरह जहाँ क्रिया-शून्यता-स दिखाई देने लगती है वहाँ 'तमस्' नाम से कहा जाता है। क्रिया ही धारा वाहिक होकर जहाँ स्थिरता ग्रहण कर लेती है, उसी का नाम गुण पड़ जाता है। इसलिए वह निर्गुण तत्व अब सगुण हो गया। यह अवश्य ध्यान रहे कि परिवर्तित न होने वाले उस मूल तत्व में कभी सगुणता नहीं आ सकती। यह सगुणता दिखाना भी माया का एक खेल है। इसलिए यह 'गुण' नाम का 'तृतीय' परिग्रह हुआ।

गुण पैदा होने पर उनमें तारतम्य व विकृति भी अवश्य हो जाती है। जैसे जल में वायु का प्रवेश होने पर एक बुद्बुदा बना और वायु और जल के परस्पर संघर्ष से कुछ शुष्कता आई तो झट विकार रूप फेन पैदा हो गया। इसी प्रकार बीज और जल का मिश्रण होने पर सूर्य और पृथ्वी के आकर्षण विकर्षण से बीज

अङ्कुर रूप से परिणत हो जाता है, अर्थात् अंकुर नाम का विकार वहाँ पैदा हो जाता है। इन्हीं दृष्टान्तों से समझ में आएगा कि क्रिया की धारावाहिकता के परिणाम, भूत गुणों से विकार अवश्य पैदा हो जाया करते हैं, किन्तु ये विकार भी क्रिया की मूल-भूत उस शक्ति वा माया के ही खेल हैं, उनके भीतर रहता हुआ भी 'रस' व ब्रह्म सदा अविकृत है, उसपर तो विकार केवल लादे जाते हैं, इसलिए यह विकार नाम का चौथा 'परिग्रह' हुआ।

विकार उत्पन्न होते ही मूलतत्व को आवृत कर डालते हैं। समुद्र फेन के भीतर जल का स्वरूप दिखाई नहीं देता, अंकुर में बीज का स्वरूप दिखाई नहीं देता मूलकारण का स्वरूप विकारों से आवृत हो जाता है। यह आवरण भी उसी क्रिया या माया शक्ति की क्रीड़ा है। असल में तो मूलतत्व न रहे तो यह विकार टिके ही किस आधार पर, इसलिए इस आवरण को हम 'पांचवां' परिग्रह ही कहेंगे। आवरण हो जाने पर मूल कारण अपने स्वरूप में न दीखकर, आवरण करने वाले विकार के रूप में दिखाई देने लगते हैं इसे 'अंजन' कहते हैं, यह पूरा बन्धन है। विकार के साथ एक ऐसी गुत्थी पड़ गयी कि पृथक् होकर, मूलकारण का स्वरूप दीखना ही दुर्लभ हो गया। लाल, पीला या नीला रंग सफेद वस्त्र को अपने रूप में अंजित कर देते हैं, अपने रूप में दिखाते हैं इसलिए यह 'अंजन' 'छठा' परिग्रह है।

हमारा आत्मा भी इसी मूल तत्व का एक अंश है। यह पहले कहा जा चुका है। इसलिए अपने आत्मा के आधार पर, यह विषय अच्छी तरह समझ में आ जाएगा। हमारा आत्मा भी जब निस्सीम से माया शक्ति द्वारा समीम बनाया गया तो, वह अपने सीमा बन्धन को तोड़कर निस्सीम हो जाने की सदा अभिलाषा रखता है। यही कारण है कि, जीव मात्र में बढ़ने व उन्नत होने की स्वभाविक अभिलाषा है। इस अभिलाषा को महात्मा भर्तृहरि ने बड़े सुन्दर शब्दों में चित्रित किया है–जिसके पास कोई सम्पत्ति न हो, वह चाहता है कि किसी प्रकार सौ रुपये तो मेरे पास इकट्ठे हो जाएं, किन्तु सौभाग्य वश सौ रुपये मिल गए तो सहस्र की इच्छा हो जाती है। सहस्र हो जाने पर लक्ष की इच्छा जाग उठती है। प्रचुर धन हो जाने पर वही भूखण्ड का स्वामी होने की इच्छा करने लगता है। भूखण्ड के स्वामी मंडलाधिप चक्रवर्ती होने की अभिलाषा रखते हैं, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, व शिव बनना चाहता है इस प्रकार पूर्ण शिवत्व व निस्सीमता प्राप्त किए बिना अभिलाषा की पूर्ति होती ही नहीं।

तात्पर्य यह है कि अपनी स्थिति से और बढ़ना प्राणिमात्र की स्वाभाविक अभिलाषा है। इसी अभिलाषा के कारण परस्पर संघर्ष होता है, क्योंकि सभी अपनी-अपनी उन्नति

चाहते हैं। जहाँ-जहाँ हमारी उन्नति दूसरे की उन्नति से टकराएगी वहाँ-वहाँ परस्पर संघर्ष होगा और राग द्वेष आदि गुण आत्मा में हो जाएंगे। सीमाबद्ध और सखण्ड होने के कारण ही, इन गुणों की उत्पत्ति हुई है, अब राग द्वेष कई प्रकार के विकार पैदा करेंगे। और उदासीन स्वच्छ आत्मा का स्वरूप उन विकारों से ढँकता जाएगा। आगे चलकर उन विकारों के ही रूप में आत्मा को समझ लिया जाएगा। क्रोधी, लोभी, कामी आदि उनके ना‌ा पड़ जाएंगे। एक रूप तटस्थ आत्मा का कहीं पता भी नहीं रहेगा, किन्तु आत्मा का स्वरूप अब भी स्वच्छ है, शास्त्रोक्त अभ्यास से, इन विकार के आवरणों को हटाया कि 'महात्मा' पुरुषों में स्वच्छ आत्मा का रूप प्रस्फुट हा जाता है इसी दृष्टान्त से मूलतत्व की भी निर्विकारता का अनुभव किया जा सकता है।

छह परिग्रह हमने ऊपर बताए, इन्हीं के आधार पर हमारे छः दर्शनों की कल्पना है। प्रथमतः सब परिग्रह युक्त मूलतत्व व आत्मा को चार्वाक पकड़ता है, वह संसार को ही सब कुछ बताता है। संसार में प्रभावशाली राजा आदि समृद्धशाली व्यक्तियों को ईश्वर मानता है। एवं अपने रूप में आत्मा को रंग देने वाले शरीर को ही आत्मा कहता है। इससे आगे बौद्ध दर्शन एक अन्तिम परिग्रह अंजन को छोड़ देता है। इसलिए शरीर में उसका आत्मभाव नहीं रहता, किन्तु आवरण तक के पांच परिग्रह व साथ रखता है, आत्मा का आवरण करने वाला मुख्यतया अन्तःकरण है। उस अन्तःकरण की वृत्ति ज्ञान है, इसलिए वह दर्शन ज्ञान को ही आत्मा कहता है। और ज्ञान शक्ति की जिनमें प्रधानता है उन बुद्धों को ही ईश्वर कहता है। इस दर्शन के मानने वाले साधु भी 'मुक्त कच्छ' रहते हैं, वे अपने स्वरूप से भी सूचना देते हैं कि अंजनरूप बन्धन हमने खोल डाला, इससे आगे का जैन दर्शन आवरण को भी हटा देता है, इसलिए उस दर्शन के मानने वाले साधु दिगम्बर रहते हैं, वे अपने वेश से सूचना देते हैं कि हमने आवरण हटा दिया और आवरण हटा देने वालों, तीर्थंकरों को ही वे ईश्वर कहते हैं। केवल अन्तःकरण को वे आत्मा नहीं कहते आवरण में से आवृत आत्मा के स्वरूप को बाहर निकालते हैं, किन्तु विकार तक के परिग्रह साथ रखते हैं, इसलिए विकारों की अनित्यता और आत्मा की नित्यता दोनों की उलझन में वे रहते हैं। 'स्यादनित्यः-स्यान्नित्यः' उनके दर्शन में द्रव्य (मूल) और पर्याय (अवस्था व विकार) दोनों मिलकर एक ही रूप माने जाते हैं। चतुर्थ दर्शन वैशेषिक वा न्याय विकारों को भी अलग छाँट देता है। आत्मा के स्वरूप में विकारों को नहीं प्रवृष्ट करता। ईश्वर को भी महाभूत आदि सृष्टि के पदार्थों से पृथक् मान लेता है, किन्तु गुण तक के तीन परिग्रह वह साथ रखता है। इसलिए इस दर्शन में आत्मा और ईश्वर दोनों सगुण हैं।

अब पांचवां सांख्य दर्शन गुणों को भी पृथक् करता है। उसके सिद्धान्त में गुणमयी प्रकृति पृथक् है। वही जगत की रचना करती है। आत्मा में गुणों का संबंध नहीं है। इस प्रकार चार परिग्रह इसने आत्मा के स्वरूप से हटा लिए। किन्तु माया और कला को साथ रक्खा। इसलिए उसके सिद्धान्त में पुरुष एक नहीं, किन्तु अनन्त हैं। कला को साथ रखने के कारण भेद को वह न हटा सका। एकत्व की प्रतीति न ला सका। आगे सबके अन्तिम वेदान्त दर्शन ने कला को भी हटा दिया। माया शक्ति वाले एक रस रूप ब्रह्मत्व की झलक उसने दिखलाई। किन्तु माया रूप परिग्रह उसे भी रखना ही पड़ा। क्योंकि सब परिग्रहों को हटा देने पर शुद्ध मूलतत्व मन और वाणी का अविषय हो जाता है। उसे वाणी भी नहीं कह सकती। मन भी नहीं पकड़ सकता। इसलिए माया तत्व के साथ उस मूल रस तत्व का निरूपण करता हुआ भी वेदान्त माया को कल्पित कह कर शुद्ध ब्रह्म का आभास दिखा देता है।

इस प्रकार ये हमारे छहों दर्शन क्रम-क्रम से बुद्धि को मूलतत्व की ओर बढ़ाते हैं। श्रुति प्रतिपादित छहों परिग्रहों के साथ ६ दर्शनों का सम्बन्ध मिल जाता है, और सबके प्रतिपाद्य मूल तत्व का पता लग जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय दर्शन परस्पर विरुद्ध दर्शन नहीं है। वह मूल तत्व तक जाने के लिए सीढ़ी मात्र है और श्रुति प्रतिपादित मूल तत्व पर ब्रह्म तक पहुँचा देना ही उन सबका एकमात्र लक्ष्य है।

अब यह दूसरी बात है कि जिसने जिस दर्शन को पकड़ लिया वह उसी को मुख्य मानकर औरों का खण्डन-मण्डन करने लगता है। महामान्य ग्रन्थाकारों ने इस पद्धति को इसलिए अपनाया है कि एक-एक भूमिका दृढ़ होती जाय तब आगे बढ़ने का अवसर आवे, एक-एक भूमिकाओं को दृढ़ किए बिना फिसलने का डर रहता है, किन्तु एक भूमिका दृढ़ हो जाने पर आगे की भूमिका में प्रविष्ट होना अनिवार्य है। और विवेचक विद्वान् अन्त में सब भूमिकाओं का समन्वय कर लेते हैं।

# सतहत्तरवां-पुष्प

**तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !**
**तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।६२।**

"हे भारत ! पूर्णरूप से उसी हृदयस्थित ईश्वर की शरण में जाओ, उसी के प्रसाद से तुम परम शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त करोगे।"

जो ईश्वर हृदय देश स्थित होकर समस्त जगत को घुमा रहा है, उसी की शरण में जाने को भगवान् कह रहे हैं। जो पुरुष दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होते हैं, उन्हें ही अपने हृदयस्थित ईश्वर की आज्ञा का अनुसरण करने का उपदेश दिया जाता है। भगवान् ने पहले ही अर्जुन को दैवी संपत्ति में समुत्पन्न कह दिया है, अतः उसे ऐसा उपदेश भगवान् ने दिया। जो लोग आसुरी सम्पत्ति के प्रभाव में रहते हैं, उनकी मन और बुद्धि कलुषित हो जाती है, अन्तःकरण के कलुषित हो जाने पर उसमें आत्मा का गिरने वाला प्रतिबिम्ब भी मलिन हो जाता है, उन्हें सन्मार्ग का दर्शन नहीं हो सकता। अतः उन पुरुषों के लिए यह कथन संगत नहीं हो सकता। उन्हें तो सन्मार्ग पर लाने की अन्य विधियां हैं।

पद्य में "सर्वभावेन" पद आया है। यह भी एक सामान्य प्रवृत्ति मानवों की होती है कि कोई आपत्ति आ जाने पर वे भगवान् की शरण लेते हैं और सम्पत्ति या प्रसन्नता के समय में भगवान् को भूले रहते हैं। जो नितान्त निरीश्वरवादी होते हैं, ऐसे पुरुष भी गंभीर संकट की स्थिति में किसी अदृश्य शक्ति पर विश्वास करके उससे संकट को हटाने की प्रार्थना कर लिया करते हैं। उन पर भगवान् का अनुग्रह भी होता है। परन्तु संकट के दूर हो जाने पर भी उन्हें परम शान्ति की उपलब्धि नहीं होती और बार-बार वे नानाविध संकटों से दबोचे जाते हैं। इसीलिए परम शान्ति की उपलब्धि के लिए भगवान् ने 'सर्वभावेन' ईश्वर की शरण में जाने को कहा है। भक्त ध्रुव ने बाल्यावस्था में ही वन में जाकर हृदयस्थित ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया था। वह सर्वभावेन भगवान् में इतना लीन हुआ कि जब भगवान् स्वयं उसके सामने उपस्थित हुए तब भी उसकी ध्यान मुद्रा भंग नहीं हुई। तब भगवान् ने उसके ध्यान में संस्थित अपने रूप को विचलित किया। जब इससे उसका ध्यान विचलित हुआ और उसने नेत्र खोले तो अपनी आंखों के आगे उसी रूप को प्रत्यक्ष पाया जिसका वह हृदय में ध्यान किये हुए था। भगवान् के उस त्रिभुवन रमणीय रूप को अपने सामने देखकर बालक ध्रुव परमानन्द में निमग्न हो गया, वह भगवान् की स्तुति करने को व्याकुल

हो उठा परन्तु वाणी की असमर्थता के कारण वह कुछ भी न कह सका। भगवान् ने अपने शंख का उसके मस्तक से स्पर्श जब कराया तो उसकी वाक्शक्ति जागरित हो गई। उसने स्तुति प्रारंभ करते हुए कहा–

**''योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां**
**संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना**
**अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्**
**प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्''**

(भागवत ४।९।६)

"हे भगवन् ! आप वही हैं जो मेरे भीतर प्रवेश करके मेरी इस प्रसुप्त वाक् शक्ति को जगाते हैं, यही नहीं अपितु मेरे हाथ, पैर, कान, त्वचा आदि को भी आप ही की शक्ति से जागरण मिलता है, आप समस्त शक्तियों को धारण करते हैं, परम पुरुष आपको मेरे प्रणाम हैं।" ध्रुव की इस स्तुति में हृदय स्थित ईश्वर का ही ध्यान वर्णित है। ध्रुव ने अपने हृदय स्थित ईश्वर का जो सर्वभाव से भजन किया उसी से उन्हें परम शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त हुआ जो आज भी स्थिर है।

श्रीमद्भागवत में गजेन्द्र मोक्ष के वर्णन में भी यही बात पुष्ट होती है कि जब गजेन्द्र अपनी समस्त शक्ति लगाकर भी अपने को ग्राह के चंगुल से निकालने में असमर्थ हो गया तो उसने भगवान् की शरण में अपने को दे दिया। किसी कवि ने गजेन्द्र की उक्ति लिखी है–

**''मातङ्गाः कलभाः करेणुसहिता मामेव ये संश्रिता-**
**स्तेऽमी क्षीणबलं विलोक्य युधि मां संन्त्यज्य दूरंगताः**
**कर्तारं जगतामशेषविपदां हर्तारमेकं श्रियो**
**भर्तारं तु विना न संकटसमुद्धर्तारमीक्षे परम्''**

गजेन्द्र कहता है–अनेकों हाथी, हाथियों के बच्चे, हाथिनियां ये सब जो मेरे ही आश्रित हैं, ग्राह के साथ युद्ध में मुझे कमजोर समझ कर दूर चले गए हैं। अब जगत के रचयिता, समस्त आपत्तियों के एक मात्र हरण करने वाले लक्ष्मी पति भगवान् के अतिरिक्त मुझे और कोई इस संकट से बचाने वाला दिखाई नहीं देता। गजेन्द्र की इस आर्त पुकार पर भगवान् ने प्रादुर्भूत होकर उसके शत्रु ग्राह का अपने चक्र से वध कर दिया और उसे परम शान्ति और शाश्वत स्थान का भागी बनाया।

इसी प्रसंग में एक बात और स्मरण आ गई है। सनातन धर्म के प्राचीन उपदेशकों में एक रोचक बात प्रसिद्ध थी कि कौरव सभा में जब द्रौपदी को नग्न किया जाने लगा तो द्रौपदी ने भगवान् का स्मरण किया। उसने भगवान् को मन में याद करते हुए उन्हें–'हे कृष्ण, द्वारका वासिन्, कह कर संबोधित किया और उनसे अपनी लज्जा बचाने की प्रार्थना की। परन्तु तब भी भगवान् की ओर से उसकी लज्जा बचाने का कोई उपक्रम नहीं हुआ। जब शरीर पर वस्त्र बिलकुल कम रह गया तब अपनी लज्जा जाती देखकर द्रौपदी ने अपने हृदय में संस्थित भगवान् को संबोधित कर उनसे अपनी लज्जा बचाने की प्रार्थना की। फलतः उसका वस्त्र बढ़ने लगा और–

**"दस हजार गजबल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर"**

वाली बात प्रकट हुई। द्रौपदी ने भगवान् की ओर देख कर कहा कि नाथ ! आपने बड़ा विलम्ब कर दिया। इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा कि द्रौपदी, इसमें तेरी ही गलती थी, तू हमें द्वारकावासिन् कह कर बुला रही थी, द्वारका से हम चल पड़े। परन्तु द्वारका तो यहां से दूर है, वहां से आने में समय तो लगता ही। जब तूने अपने हृदय में स्थित कह कर हमें बुलाया तो हम तत्काल आ पहुंचे। भगवान् ने यह बोधन किया कि मनुष्य को यह समझना चाहिए कि भगवान् तो उसके इतने निकट हैं जितना और कोई हो नहीं सकता। भगवान् को इतने निकट में स्थित समझ लेने पर ही हम अनायास उनकी शरण में पहुँच सकते हैं। हृदय में भगवान् की जो स्थिति कही गई है, उसमें मानसिक वृत्तियों और संस्कार वश अनेक रूपों और आकारों की कल्पना मनुष्य करता है। हृदय में भगवान् का कोई रूप प्रतिष्ठित हो जाता है। गोस्वामी श्री तुलसीदास जी के हृदय में भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित थे। एक बार कुछ लोग उन्हें वृन्दावन में भगवान् कृष्ण के मन्दिर में ले गए। उन्होंने भगवान् का दर्शन करके यह कहा कि–

**"कहा कहों छबि आज की भले बने हो नाथ ।**
**तुलसी मस्तक तक झके धनुष बाण लो हाथ ।।"**

उनके हृदय में राम रूप ही प्रतिष्ठित था। ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान् ने उनको राम रूप में ही वहां दर्शन दिया।

श्री रामानुजाचार्य ने इस पद्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ईश्वर के सर्वत्र अवस्थित होने के कारण हे अर्जुन ! तुम को चाहिए कि तुम उसी ईश्वर की शरण लो जो कि तुम्हारे सारथी के रूप में अवस्थित है और जो तुम्हें 'अमुक कार्य

करो' ऐसे आदेश दे रहा है। उसकी आज्ञा की यदि तुम अवहेलना भी करोगे तो भी तुम्हें उसकी माया के वशवर्ती होकर युद्ध आदि तो करने ही पड़ेंगे। परन्तु ईश्वर की आज्ञा न मान कर उसकी माया के वश में रहते हुए युद्ध आदि करने से सर्वथा विनाश की ही संभावना अधिक रहेगी। अतः ईश्वर जिस प्रकार युद्ध आदि करने की प्रेरणा दे रहा है, उसी का आश्रय लेना तुम्हारे लिए उपयुक्त है। ऐसा करते हुए ही तुम्हें ईश्वर के प्रसाद से परम शान्ति और शाश्वत स्थान की प्राप्ति हो सकेगी। इस बात को शतशः श्रुतियों में भी कहा गया है–

**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।**

(ऋ० सं० १।२।६।५)

**ते ह नाकं महिमानः सचन्ते ।**
**यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।**

(ऋ० सं० ८।४।१९।६)

**यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्।**

(ऋ० सं० ८।७।१७।७)

**अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते।**

(छा० उ० ३।१३।७)

**सोऽध्वनः परमाप्नोति**
**तद्विष्णो परमं पदम्**

(कठो० ३।९)

इत्यादि श्रुतियों में उस परम स्थान का स्पष्ट विवरण है।

**एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये ।**
**तेषां तत्परमं स्थानं यद्वैपश्यन्ति सूरयः ।।''**

(वि० पु० १।६।३९)

इत्यादि स्मृति पुराण आदि में भी उस परम स्थान का उल्लेख है।

पैशाच भाष्य में कहा गया है कि सर्वभाव से भजन का अभिप्राय यह है कि भगवान् को ही अपना स्वामी, आचार्य पोषक सब कुछ समझो। प्रार्थना में एक श्लोक इसी आशय का प्रसिद्ध है कि–

**"त्वमेव माता च पिता त्वमेव**
**त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव**
**त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव**
**त्वमेव सर्वं मम देव देव**

यहां भगवान् को सभी भावों में देखते हुए स्तुति की जाती है।

ब्रह्मानन्द गिरि व्याख्या में परा शान्ति का अर्थ अविद्या की निवृत्ति किया गया है।

श्री पुरुषोत्तम जी ने लिखा है कि इस पद्य में भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि यदि तुम मेरे कथन के अनुसार चल कर युद्ध नहीं करना चाहते तो अपने हृदय स्थित ईश्वर की ही आज्ञा में चलो। अर्थात् तुम्हारी बुद्धि अनेक प्रकार के तर्क वितर्क करके भले ही तुम्हें अपने कर्तव्य से विचलित कर रही हो, परन्तु तुम्हारा हृदय कभी युद्ध से विमुख होने की सलाह नहीं दे सकता। क्योंकि सभी के हृदय में परमात्मा का निवास है। परमात्मा सभी को कर्तव्य कार्य में ही अग्रसर करता है। यदि मनुष्य अपनी बुद्धि को अपने हृदय की अनुगामिनी बना ले तो वह कभी दुविधा में नहीं पड़ेगा। हृदय का निर्णय उसके स्वभाव के अनुकूल ही होगा, परन्तु तर्क वितर्क करने वाली बुद्धि मनुष्य को कर्तव्य मार्ग से अलग भी हटा ले जाती है। इसीलिए भगवान ने अर्जुन को युद्ध करने या न करने के विषय में अपने हृदय में स्थित परमात्मा की शरण में जाने को कहा। वस्तुतः भगवान् कृष्ण ही सबके हृदय में संस्थित हैं परन्तु उन्हें बाहर अपने मित्र के रूप में खड़ा देखकर यदि उनके ईश्वरत्व में आस्था न जमती हो तो भगवान् ने अर्जुन को अपनी हृदय की ही बात मानने की सलाह दी है। हृदय का और भगवान् का निर्णय एक ही है, क्योंकि वे ही भगवान् बाहर अर्जुन को जो बात समझा रहे हैं, उसके हृदय में प्रविष्ट होकर भी उसी बात को ध्वनित कर रहे हैं।

तत्त्वप्रकाशिका में यहाँ यह प्रश्न पूर्व पक्ष रूप में उपस्थित किया गया है कि ईश्वर की शक्ति माया और उसका प्रयोक्ता ईश्वर दोनों ही जब नित्य हैं तब संसार की निवृत्ति कैसे होगी। दोनों में से कोई एक यदि अनित्य या विनाश शील हो तब तो माया के विनष्ट हो जाने पर जीव का मोक्ष प्राप्त करना संभव भी हो सकता है। परन्तु माया भी ईश्वर के समान ही नित्य जब मान ली गई तो माया के हट जाने पर जो मोक्ष होता है उसकी कथा ही समाप्त हो जाती है क्योंकि माया भी नित्य ही है। इसी प्रश्न के

उत्तर के रूप में तत्त्व प्रकाशिका में इस पद्य को लगाया है कि भगवान् की माया का तरण भगवान् की शरण में जाने से ही संभव है। शाश्वत स्थान की व्याख्या में कहा गया है कि वह स्थान प्रकृति काल और कर्म के सम्बन्ध से शून्य, नित्य और एक रस है। शास्त्रों में विष्णु पद आदि शब्दों से उसी की ओर संकेत है।

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि पूर्वपद्य के अनुसार जब ईश्वर ही समस्त भूतों के हृद्देश में बैठकर प्रेरित कर रहा है तब तो जितने विधि निषेध शास्त्र हैं वे सब व्यर्थ हो जायँगे। ईश्वर यदि विहित कार्यों की ओर प्रेरित करेगा तो मनुष्य विहित कर्मों का अनुष्ठान करेगा। यदि ईश्वर निषिद्ध कार्यों की ओर प्रेरित करेगा तो मनुष्य निषिद्ध कर्मों का ही अनुष्ठान करेगा। विधि शास्त्रों का लाख अध्ययन करने पर भी ईश्वर की प्रेरणा विहित कर्मों के अनुष्ठान के लिए नहीं होगी तो विधि शास्त्र रक्खे ही रह जायंगे। इसी प्रकार शास्त्रीय निषेधों को भली भांति जान लेने पर भी यदि ईश्वरीय प्रेरणा उनसे बचने की नहीं है तो उनसे कौन बच सकेगा। इसी का उत्तर श्रीमधुसूदनसरस्वती ने इस पद्य से माना है कि यद्यपि ईश्वर सबको प्रेरित करता है, परन्तु वह सर्वदा सत्कार्य और विहित कार्यों की ओर ही प्रेरित करता है। असत्कर्मों और निषिद्ध कार्यों की ओर ईश्वर प्रेरित नहीं करता अपितु उसके हम स्वयं दोषी हैं। हम ईश्वर की आज्ञा की अवहेलना करते हैं और असत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होकर अपना नाश स्वयं करते हैं। हमें सर्वदा कल्याण मार्ग का प्रदर्शन करने वाले ईश्वर की शरण लेनी चाहिए जिससे हम उन्मार्ग से बचते रहे और सन्मार्ग पर चलते हुए परम शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त करें।

परमार्थ प्रपा में यह श्लोक उद्धृत किया गया है–

**"स्थूलं वपुः परिधिरान्तरमस्य सूक्ष्मं**
**देवालयं तदिह देवगतिः परात्मा**
**तत्पूजनोपकरणान्यखिलेन्द्रियाणि**
**कृत्वा तमेव शरणं व्रज जीव नान्यम्"**

यह स्थूल शरीर परिधि है, सूक्ष्म शरीर देवालय है, परमारत्मा उसमें प्रतिष्ठित है, सारी इन्द्रियां उसकी पूजा के साधन के रूप में हैं, ऐसा समझकर हे जीव ! तू उसी ईश्वर की शरण में जा।

# अठहत्तरवां-पुष्प

**इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया**

**विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।६३।**

"इस प्रकार यह गुप्त से भी गुप्ततर ज्ञान मैंने तुम्हें बतलाया है, इसका पूर्णतया मनन करने के अनन्तर जैसी इच्छा हो वैसा ही तुम करो" (६३)

क्या ईश्वर को सर्व हृदयस्थित बतलाकर उसकी शरण में जाने का जो भगवान् ने अर्जुन को अभी उपदेश दिया उसी को भगवान् ने अत्यन्त गुप्त बतलाया है। ऐसा नहीं, अपितु यह सम्पूर्ण गीता के उपसंहार का प्रकरण होने से सम्पूर्ण गीता में ज्ञान का जो प्रतिपादन किया गया है उसी को भगवान् ने महत्त्वपूर्ण बतलाया है। गीता के ज्ञान के महत्व का हम विगत प्रवचनों में अनेक बार विवेचन कर चुके हैं। गीता में वेद उपनिषद्, वेदान्त सूत्र तथा व्यावहारिक दृष्टि का मन्थन करके एक नवनीत उपस्थित किया गया है। परन्तु इतना सब होने पर भी भगवान् ने अर्जुन को कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता दी है कि वह जैसा चाहे वैसा करे। चाहे तो वह युद्ध करे, न चाहे तो न करे। परन्तु इतना निर्मल ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वह भगवान् के उपदिष्ट कार्य को कैसे न करे। उसे युद्ध करने के लिए ही यह ज्ञानोपदेश हुआ है। ज्ञान में यदि पूर्णता है तो क्रिया में उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। पारमार्थिक दृष्टि से तो ज्ञान स्वयं में परिपूर्ण होता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से तो ज्ञान की चरितार्थता क्रिया में ही होता है-

**"ज्ञानं भार: क्रियां विना"**

ज्ञान क्रिया के बिना भार स्वरूप ही होता है। अर्जुन अभी व्यवहार दशा में ही विद्यमान है, अत: उसे क्रिया में अपना ज्ञान लाना ही है। अत: भगवान् ने उसे उसकी इच्छा पर छोड़ते हुए भी उसे अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए ही उद्बुद्ध किया है।

श्रीरामानुजाचार्य ने गुह्यतर का अर्थ करते हुए कहा है कि मुमुक्षु, पुरुष के द्वारा ही ज्ञातव्य होने के कारण यह गुह्यतर है। इस ज्ञान के विषय का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीरामानुजाचार्य ने कहा है कि इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का विवेचन शृंखलाबद्ध रूप में किया गया है और यह दिखाया गया है कि अधिकारि भेद से तीनों ही मार्ग परम अभीष्ट तक पहुंचाने वाले हैं। इच्छापूर्वक आचरण करने की जो छूट भगवान् ने अर्जुन को दी है उसका भी श्रीरामानुजाचार्य ने यही अर्थ किया है कि अपनी इच्छानुसार कर्म, ज्ञान या भक्ति किसी का भी आश्रय लेकर काम करो।

आनन्द गिरि व्याख्या में कहा गया है कि भगवान् का यहां यह आशय है कि मेरे द्वारा उपदिष्ट जो यह ज्ञान है, वह बिना किसी प्रतिबन्ध के परब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार कराने के लिए पर्याप्त है। परन्तु उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रतिबन्धक पाप आदि को अपने धर्माचरण से दूर कर देना पहिले आवश्यक है। अतः समस्त शास्त्रों के पर्यालोचन के अनन्तर अभी तुम्हें अपने वर्णाश्रमोचित आचरण का ही पालन करना चाहिए।

श्रीपुरुषोत्तमजी ने लिखा है कि जिस प्रकार तन्त्रशास्त्रोक्त मन्त्र और बीज में समस्त शास्त्रों का सार भूत ज्ञान समाविष्ट रहता है, उसी प्रकार गीता में भी समस्त ज्ञान का सार समाविष्ट हुआ है। इसीलिए जिस प्रकार मन्त्र और बीज गुप्त रखने की प्रक्रिया शास्त्रों में बतलाई गई है, उसी प्रकार इस गीता शास्त्र या गीता ज्ञान को भी भगवान् ने गुह्यतर कह दिया है।

श्रीनीलकण्ठ इसी सन्दर्भ में कहते हैं कि मन्त्र-तन्त्र और रसायनादि तो गुप्त होते हैं, परन्तु यह ज्ञान उनसे भी अधिक सार भूत होने के कारण गुह्यतर है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि यह ज्ञान कर्म आदि का फलभूत होने के कारण गुह्यतर बतलाया गया है। इसका अशेष रूप से विमर्श करने का तात्पर्य बतलाते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि सभी शास्त्रों के साथ अथवा ज्ञान कर्म और भक्ति की परस्पर एकवाक्यता समझ कर ही अपनी इच्छानुसार कर्म का आचरण करो। इसका तात्पर्य यह है कि प्रायः लोग शास्त्रों में यह दोष लगाते हैं कि शास्त्रों में परस्पर विरुद्ध बातें लिखी रहती हैं, या कर्म, ज्ञान भक्ति को भी कुछ लोग परस्पर विपरीत मार्ग समझते हैं। परन्तु यह उनकी सर्वथा भ्रान्ति है। शास्त्रों में कहीं भी परस्पर में कोई विरोध नहीं है और न ही कर्म, भक्ति और ज्ञान में ही परस्पर कुछ भी विरोध है। हम अपने ही बुद्धि दोष से इस प्रकार समझ कर शास्त्रों और मार्गों के विरोध की मन मानी कल्पना करते रहते हैं। उसी बुद्धि दोष को मिटाने के लिए भगवान् ने अशेष रूप से विमर्श करने का आदेश दिया है। गंभीरता पूर्वक पूर्वापर आलोचना करने पर सभी शास्त्रों की और मार्गों की एकवाक्यता और एक गन्तव्य लक्ष्य अपने आप दृष्टि में आ जाता है।

श्रीधरी व्याख्या में कहा गया है कि इस ज्ञान का विमर्श करने के अनन्तर तुम्हारा मोह नष्ट हो जायगा। मोह रहित बुद्धि से तुम अपने लिए जो भी मार्ग चुनोगे वह कल्याणकारी ही होगा इसलिए इसका पूर्ण रूप से विचार करने के अनन्तर जैसा चाहो वैसा ही करो।

---

# उनियासीवां-पुष्प

**सर्वगुह्यतमं भूयः श्रणु मे परमं वचः ।**

**इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्''।६४।**

"सबसे अधिक गुप्त मेरे परम वचन को फिर सुनो, तुम मेरे दृढ़ रूप से इष्ट हो इसलिए तुम्हारे हित की बात कहता हूं।" (६४)

विगत पद्य में अपने अभीष्ट मार्ग के चुनाव करने का भगवान् ने अर्जुन को आदेश दे दिया था। परन्तु उन्होंने देखा कि अर्जुन अपने लिए मार्ग चुनने में समर्थ नहीं है और न यह ऐसा अवसर ही है कि वह उक्त समस्त उपदेश का पुनः विमर्श करके अपने मार्ग का निर्धारण करे। सामने युद्ध का दृश्य उपस्थित है। इस अवसर पर यदि पुनः बुद्धि दोष ने अर्जुन को दबा दिया और वह कहीं फिर कुछ अनुचित निर्णय कर बैठा तो कठिनाई उपस्थित हो जायगी। अतः परम करुणाशील भगवान् ने उसे एक बार फिर अन्ततः सम्बोधित करके कह दिया कि तुम में इतनी शक्ति नहीं है कि तुम शास्त्रों के सार भूत उपदेशों का फिर अशेषतः मनन करके अपने कर्तव्य मार्ग का निश्चय कर सको। अतः यह भार भी मैं अपने ऊपर ही ले लेता हूं। मैं ही तुम्हें समस्त उपदेश का जो निगूढ़तम सार है वह बतला देता हूं, तुम निश्शंक भाव से उसी का अनुसरण करो। यह जिज्ञासा होती है कि कठिनाइयों को समाप्त करने के लिए इतने उत्सुक क्यों हैं ? इसका उत्तर भगवान् ने दिया है कि हे अर्जुन ! यह सब कथन मैं इसीलिए स्वीकार कर रहा हूं कि तुम मेरे दृढ़ इष्ट हो, अत्यन्त प्रिय हो, अतः तुम्हारे लिए मुझे यह उपदेश देने में कुछ आपत्ति नहीं है। अर्जुन यहां, जैसा कि हम अनेकधा स्पष्ट कर चुके हैं जीवमात्र का प्रतिनिध है। जीव ईश्वर का ही अंश या आभास होने के कारण ईश्वर को अत्यन्त प्रिय है। जो ज्ञान, भक्ति और कर्म का उपदेश गीता में दिया है, उसमें से अपने उपयुक्त मार्ग चुनना जीव के लिए कठिन है, अतः भगवान् ने पुनः उसका सारोपदेश किया। यह जो सार है वही समस्त गीता और समस्त शास्त्रों में अनेक शब्दों और अनेक रूपों में कहा गया है। इसकी सारता या परम गुह्यता यही है कि यह एक ऐसी बात है कि जो समस्त शास्त्रों में अनुस्यूत है। सभी का तात्पर्य इसी में है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि आगे भगवान् दो पद्यों में सार रूप से भक्ति का उपदेश दे रहे हैं। भक्ति ही सार भूत है अतः उसे गुह्यतम कहा है। ऐसा केवल यहां ही नहीं है, अपितु विगत नवम अध्याय में जहां भक्ति का वर्णन आया है। वहां भगवान् ने उसे गुह्यतम ही बतलाया है--

## "इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे"

भक्तियोग की श्रेष्ठता का अनेक उक्तियों से प्रतिपादन शास्त्रों में मिलता है। याज्ञवल्क्य स्मृति का एक पद्य व्याख्या में उद्‌धृत हुआ है–

**"इज्याचारदमाहिंसायागस्वाध्यायकर्मणाम् ।**
**अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्"**

(या. स्मृ. १।१।९)

योग से आत्म दर्शन करना यज्ञादि सब में उत्कृष्ट कहा गया है। योग का अर्थ भक्त योग ही व्याख्याकार ने लिखा है।

यहां व्याख्याओं में यह विवाद का अवसर आता है कि भगवान् ने ज्ञान को अधिक महत्व दिया है या भक्ति को। गीता के व्याख्याकारों में श्रीशंकराचार्य आनन्द गिरि, श्रीनीलकण्ठ आदि ज्ञान को प्रधानता देने वाले व्याख्याकार हैं, तथा श्रीरामानुजाचार्य आदि भक्ति प्रधान व्याख्या करने वाले आचार्य हैं। श्री रामानुजाचार्य आदि व्याख्याकारों ने उपर्युक्त पद्यों का भाष्य लिखते हुए भक्ति को ही गीता का सार माना है और उपदेश का पर्यवसान भक्ति में ही दिखाया है। श्रीशंकराचार्य अपने सिद्धान्त के अनुसार भक्ति को साधन ही मानते हैं और ज्ञान को चरम लक्ष्य मानते हैं। इन स्थलों के अपने भाष्य में भी श्रीशंकराचार्य ने यही कहा है कि भगवान् का अभिप्राय यही है कि भक्ति मुझे प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। परन्तु भक्ति के द्वारा प्राप्य मैं ही होता हूँ। भगवान् स्वयं ज्ञानरूप ही हैं। अत: परमलक्ष्य उनके मत में ज्ञान ही होता है और भक्ति उसका सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसी दृष्टि से उपनिषदों में जो उपासनाएं बतलाई गई हैं, उनका भी श्री शंकराचार्य ने अपने वहां के भाष्य में समन्वय किया है। कर्म भी उनकी दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करने के साधन ही हैं, उनके द्वारा भी साध्य ज्ञान ही है। इसका विस्तृत विचार उन्होंने गीता के उपसंहार भाष्य में किया है जिसका सार वहीं लिखा जायगा।

श्रीमधुसूदनसरस्वती अपनी व्याख्या में श्रीशंकराचार्य का ही अनुसरण करते हैं, उन्होंने भक्ति पर भी बहुत विवेचन किया है और अपने 'भक्ति रसायन' में उन्होंने भक्ति को एक स्वतन्त्र रस का रूप देकर उसके विभाव, अनुभाव, संचारि भावों का विशद विवेचन किया है जिसका उल्लेख हम विगत पद्य में कर चुके हैं।

प्रस्तुत पद्य में 'गुह्याद् गुह्यतम्' की व्याख्या में उन्होंने लिखा है कि गुह्य जो कर्म योग है उससे, ज्ञान योग गुह्यतर है, इन दोनों गुह्य और गुह्यतर कर्म योग और ज्ञान योग से भी जो गुह्यतम है उसे अब आगे के पद्यों में भगवान् बतला रहे हैं। इससे

भक्ति योग को ही उन्होंने अपनी व्याख्या में सर्वोच्च स्थान दिया ऐसा मान कर आनन्दगिरि व्याख्या में इसका खण्डन किया गया है। वहां कहा गया है कि श्रीमधुसूदनसरस्वती ने जो अर्थ लिखा है वह भाष्यकार श्रीशंकराचार्य के अर्थ के विपरीत है। श्रीशंकराचार्य ने "हितम्" शब्द से साधन रूप में भक्ति का ग्रहण माना है। ज्ञान तो साधन नहीं अपितु साध्य है। अतः वह भक्ति से अवर कक्षा में कैसे माना जा सकता है।

हम आगे पृथक् पुष्प में ज्ञान और भक्ति में गीता किसको प्रधान मानती है इसका विवेचन करेंगे। यहां यह शंका होगी कि पहले तो भगवान् ने

**"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः"**

ऐसा कहा है, फिर यहां उसके विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है; इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। एक तो यह कि वह कथन परब्रह्म की दृष्टि से है और यह जो अपने अवतार में अर्जुन के साथ सम्बन्ध है उसके कारण आप उसके सारथी बने हुए हैं इस अभिप्राय से है और दूसरा उत्तर यह है कि उन्होंने यह भी कहा है–

**"ये भजन्ति तु मां भक्त्या**
**मयि ते तेषु चाप्यहम्"**

अर्थात् जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें रहते हैं, इसलिए मैं भी उनमें रहता हूं, इस अभिप्राय से यह कहा गया कि तुम मेरा भजन करते हो इसलिए मुझे दृढ़ प्रिय हो। अर्जुन पहिले भी भगवान् का अनुगत रहता था और विश्वरूप प्रदर्शन के अनन्तर तो वह परम भक्त हो गया था। यह गीता में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

# अस्सीवां-पुष्प

**"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।**
**मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे" ।६५।**

"अर्जुन ! तुम अपने मन को मुझमें अर्पित कर दो, मन में केवल मुझे ही रक्खो, मेरे भक्त हो जाओ, मेरा ही यजन करो, मुझे ही प्रणाम करो, मैं तुमसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूं, क्योंकि तुम मुझे प्रिय हो, तुम मुझे ही प्राप्त करोगे" (६६)

यहां गीता के उपदेष्टा भगवान् श्री कृष्ण का परब्रह्म रूप बिलकुल विस्पष्ट हो गया है। इस प्रकार का अपने में लीन कर लेने का आश्वासन केवल ईश्वर ही दे सकता है। स्मरण रहे कि इससे पूर्व के पद्य में भगवान् ने अर्जुन से कहा था कि मैं जो अब अन्त में तुमसे कह रहा हूँ, वह अत्यन्त गुह्यतम और परम वचन है। इससे भी पूर्व के पद्य में भगवान् ने अर्जुन से यह कहा था कि गीता के उपदेश का पूर्ण रूप से मनन करके जैसी इच्छा हो वैसा करो। व्याख्याकारों ने वहाँ यह आशय स्पष्ट किया था कि कर्म, उपासना, और ज्ञान इन तीनों मार्गों का मनन करने के अनन्तर जैसी इच्छा हो वैसा करो। अर्जुन की स्थिति को समझते हुए भगवान् ने स्वयं ही गीता के उपदेश का सार बतला देने की इससे पूर्व के पद्य में प्रतिज्ञा की। इस आलोचन से यह निष्कर्ष निकला कि प्रस्तुत पद्य तथा इसके अग्रिम पद्य में भगवान् गीता के समग्र उपदेश का सार कथन कर रहे हैं। भगवान् को अपने मन में बिठा कर उनका भक्त बन कर, उन्हीं के लिए यज्ञादि क्रियाओं का अनुष्ठान करता हुआ, सर्वत्र उन्हीं को अवस्थित देख कर उन्हें प्रणाम करता हुआ मनुष्य जब संसार के व्यवहारों में प्रवृत्त होता है तो भगवान् को ही अपने समस्त कार्यों का आश्रय और द्रष्टा समझता हुआ वह पुरुष अन्त में भगवान् को ही प्राप्त करता है। इस विषय में भगवान् ने "मैं यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूं" ऐसा कहा है। ऐसी प्रतिज्ञा करने का कारण भी वही है जो पहिले के पद्य में भी उन्होंने कहा है कि हे अर्जुन तुम मुझे प्रिय हो, इसलिए तुम्हारे स्नेह के कारण मैं तुम्हें अपना स्परूप स्पष्टतया दिखा रहा हूं। इससे व्याख्याकारों ने यह भी आशय प्रकट किया है कि कहीं कोई ऐसा न समझ ले कि भगवान् को अर्जुन से अवश्य कोई स्वार्थ था, जिससे वे उस पर अपना जादू चलाकर अपना कोई काम निकालना चाहते थे। अथवा उन्हें अर्जुन से ऐसा कोई भय था जिससे प्रेरित होकर भगवान् बार बार उसे उद्बुद्ध करते थे। इसी का समाधान स्थान स्थान पर भगवान् ने यह कह कर किया है कि, मैं यह सब तुम्हें इसलिए बतला रहा हूं कि तुम मुझे बहुत प्रिय हो। इससे यह बात भी भगवान् ने स्पष्ट कर दी कि जो मुझे प्रिय

होता है, उससे मैं कुछ छिपाता नहीं। मुझे उसके सामने अपने आपको प्रकट करना ही पड़ता है। इसके विपरीत जो भगवान् को प्रिय नहीं होता, भगवान् कभी उसे मिलते ही नहीं, वह उसका अदृश्य रूप से ही नाश कर देते हैं। वे साकार रूप से जब ऐसे व्यक्ति के सामने भी जाते हैं तब भी पहिले ही उसकी ऐसी दृष्टि बना देते हैं कि वह उन्हें भगवान् के रूप में पहिचान ही नहीं पाता। दुर्योधनादि के सामने भी भगवान् जाते थे तब भी दुर्योधनादि उन्हें भगवद्रूप में इसीलिए नहीं पहिचान पाते थे कि भगवान् उनकी उस प्रकार देखने की शक्ति का ही अपहरण कर लेते थे। क्योंकि वे उन्हें प्रिय नहीं थे। श्रीरामानुजाचार्य ने कहा है कि "मन्मना भव" का तात्पर्य है कि भगवान् की स्मृति निरन्तर रहनी चाहिए। भगवान् की स्मृति का नैरन्तर्य ही उपर्युक्त शब्दों से कहा गया है। भगवान् के इस प्रकार के निरन्तर चिन्तन का विधान उपनिषदों में भी विस्तार से कहा गया है।

**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।**
**तमेव विद्वानमृतमिह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।**

(श्वे० उ० ३।८)

इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में भगवान् की स्मृति को ही परम कल्याण का मार्ग बतलाया है। इस प्रकार की स्मृति के अभ्यास से भगवान् के दर्शन का सा आनन्द मिलने लगता है। 'मद्भक्त' का अर्थ उन्होंने अत्यन्त प्रिय किया है और कहा है कि मेरे भक्त होने से अत्यन्त प्रिय लगने वाली मेरी निरन्तर स्मृति को प्राप्त कर सकोगे। यह कोई लालच देना नहीं अपितु भगवान् की सत्य प्रतिज्ञा है कि वह भगवान् के द्वारा अवश्य अनुगृहीत होगा। भगवान् ने पहिले अर्जुन क्यों मुझे इतना प्रिय है, इसका कारण भी बतलाया है कि–

**"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः"**

(७।१७)

अर्थात् ज्ञानी पुरुष को भगवान् अत्यन्त प्रिय होते हैं और भगवान् को ज्ञानी अत्यन्त प्रिय होता है। ज्ञानवान् होने के कारण अर्जुन भगवान् को अत्यन्त प्रिय है, अपने अत्यन्त प्रिय पुरुष का वियोग भगवान् को सह्य नहीं होता, इसलिए भगवान् उसे भी अपने स्वरूप में ही निविष्ट कर लेते हैं। इसलिए यह भगवान् की प्रतिज्ञा कि तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, सर्वथा युक्तियुक्त है।

आनन्दगिरि व्याख्या में कहा गया है कि पद्य के तीसरे चरण–

**'मामेवैष्यसि'**

में जो एव कार है, उसका अर्थ अवधारण या निश्चय है। मुझको ही प्राप्त करोगे, अन्य को नहीं। यह एव कार इसके पहिले के वाक्यों में भी लगाना चाहिए। 'मन्मना' का अर्थ होगा कि केवल मुझे ही मन में रक्खो अन्य किसी को नहीं। मेरे ही भक्त बनो अन्य के नहीं। मेरे ही निमित्त से यज्ञ आदि करो अन्य के निमित्त से नहीं। मुझे ही प्रणाम करो अन्य को नहीं। वस्तुतः मन को भगवन्मय बना लेने के अनन्तर भगवान् के अतिरिक्त और सबकी भावना ही हट जाती है। प्रश्न होता है कि भगवान् ने अन्य देवताओं के उद्देश्य से यज्ञ आदि का निषेध क्यों किया। इसका उत्तर भगवान् ने पहिले ही दे दिया है कि–

**"देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि"**

(७।२३)

अर्थात् देवताओं का यजन करने वाले देवताओं को प्राप्त करते हैं और मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं। यहां उसी को पुनः कह कर दृढ़ किया है कि तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, क्योंकि तुम मेरे भक्त हो।

श्लोक का अर्थ लिखते हुए आनन्द गिरि व्याख्या में कहा गया है कि तुम पूर्ण रूप से अपने मन को मुझे अर्पित कर दो। मन की अत्यन्त चंचलता और उसके निग्रह के दुष्कर होने से यदि तुम ऐसा करने में समर्थ न हो सको तो मन का इतस्ततः व्यापार होने पर भी तुम मेरे भक्त रहो, मुझमें अखण्ड प्रेम बनाए रक्खो ! प्रेम का आश्रय पुत्र दारा आदि भी होते हैं, उनसे प्रेम रखता हुआ मनुष्य भगवान् से प्रेम कैसे रक्खे, इस आशय को समझकर आगे कहा कि यदि पुत्र दारा आदि में अधिक प्रेम रहने के कारण तुम मुझ में निरतिशय प्रेम नहीं रख सकते तो बाहर से पुत्र दारा आदि से प्रेम रखते हुए भी भीतर से मेरा यजन, पूजन आदि किया करो, यदि असमर्थता के कारण अथवा आलस्य आदि से पूजा के उपकरणों को संगृहीत करने की असमर्थता से तुम यजन नहीं कर सकते तो अन्ततः सबसे सरल उपाय है कि मुझे नमस्कार करते रहो। मन, शरीर और कर्म से मेरे प्रति नम्रता धारण करो। इनमें से किसी उपाय का आश्रय लेने पर तुम्हें मेरे प्रसाद से तत्त्व ज्ञान हो जायगा और तुम मुझे प्राप्त कर लोगे। भगवान् मुझसे ऐसा कह कर कोई वंचना तो नहीं कर रहे हैं, इस संभावित शंका को निवारण के लिए भगवान् ने अर्जुन को कहा कि तुम मेरे प्रिय हो। प्रिय से कभी वंचना नहीं होती, वंचना होने पर प्रिय नहीं होता। अतः उक्त कथन में कोई वंचना की बात नहीं, यह सर्वथा सत्य प्रतिज्ञा है।

श्रीपुरुषोत्तम जी ने अपनी व्याख्या में "मां नमस्कुरु" का तात्पर्य लिखा है कि

नमस्कार अपने से श्रेष्ठ को ही किया जाता है, अतः इसका यह तात्पर्य है कि तुम सर्वदा मुझ में श्रेष्ठत्व बुद्धि रक्खो।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि 'मन्मना' में जो 'अहम्' शब्द है उसका अर्थ है परब्रह्म, तदाकार मन वाले पुरुष को 'मन्मना' कहा है। अपने मन को आत्मभूत आनन्द घन परब्रह्म में लगा दो ! इस पद्य के पूर्वार्ध के वाक्यों से श्रीनीलकण्ठ ने गीता के तीनों षट्कों का तात्पर्य प्रकट किया है। वेदान्त के 'तत्त्वमसि' इस महा वाक्य की गीता के तीनों षट्कों के साथ संगति दिखाते हुए हमने पहिले प्रसंगानुसार अनेक बार कहा है कि गीता का उत्तर षट्क जीव और ब्रह्म की एकता या दोनों के अभेद का निरूपण करता है। गीता के तीनों षट्क "तत्त्वमसि" इस महावाक्य के तीनों पदों की पृथक्-पृथक् व्याख्या करते हैं। गीता रहस्यार्थ बतलाते हुए जो भगवान् तत्त्व-कथन कर रहे हैं, उनमें भी तीनों षट्कों का तात्पर्य एक-एक पद से प्रकट किया है। सर्व प्रथम 'मन्मना भव' इस पद से 'मत्' शब्द से सम्बोध्य परब्रह्म और जीव की अभिन्नता जो कि उत्तर षट्क और 'असि' इस वाक्यांश का तात्पर्य है उसे प्रकट किया है। इस प्रकार की ज्ञान निष्ठा अथवा इस प्रकार का जीव और ब्रह्म का अभेद ज्ञान कैसे होगा, इसके उत्तर में श्रीनीलकण्ठ ने 'मद्भक्त' इस पद को लगाया है। इससे गीता के मध्यम षट्क का तात्पर्य जो भगवदुपासना रूप है उसे प्रकट किया है। अल्प पुण्य वाले पुरुष में भक्ति का उदय ही कैसे होगा और वह भक्त कैसे बनेगा। भक्ति तो पुण्य से प्राप्त होती है, इस शंका का उत्तर देने के लिए भगवान् ने कहा कि तुम मेरे उद्देश्य से यज्ञ आदि किया करो। उससे पुण्य की उत्पत्ति होकर मेरी भक्ति तुम्हें प्राप्त होगी। इस प्रकार तीनों षट्कों का समन्वय करने पर फिर भी यह शंका बनी रहती है कि यज्ञ आदि तो सम्पन्नता में ही संभव होते हैं। निर्धन पुरुष कैसे यज्ञ आदि करे और उसके अभाव में जब पुण्योत्पत्ति रुक गई तब भक्ति भी प्राप्त नहीं होगी और ब्रह्म के साथ अभेद का ज्ञान भी असंभव हो जायेगा। तो क्या यह उपाय केवल धन सम्पन्न पुरुषों के ही लिए हैं, धन पुरुषों के कल्याण का कोई उपाय ही नहीं है। इसका उत्तर दिया है कि मुझे नमस्कार करते रहो। यह नमस्कार पूजा आदि का निर्देशक है। यज्ञ यागादि में तो व्यय बहुत अधिक होता है, अतः वह दुस्साध्य है परन्तु भगवान् की प्रतिमा आदि का यथा लब्ध उपचारों से पूजन करके उन्हें प्रणाम करना तो शक्य हो सकता है अल्प धन या निर्धन के लिए भी। अन्ततः नमस्कार में तो धन के व्यय की भी कोई आशंका नहीं रहती। भगवान् की प्रतिमा आदि में भगवद् बुद्धि को स्थिर रखते हुए विनीत भाव से प्रणाम करना तो सभी के लिए संभव है, अतः वह भी उपाय भगवान् ने बतला दिया जिससे कोई भी पुरुष चाहे वह निर्धन हो या धनवान कल्याण मार्ग से वंचित न रह सके। इस प्रकार नमस्कार करने से भी वही पुण्य प्राप्त होगा

जो यज्ञ आदि से प्राप्त होता है, फिर भक्ति प्राप्त होकर ज्ञान अर्थात् परब्रह्म के साथ अपने अभेद का बोध होकर परम कल्याण रूप मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जायगा यह श्रीनीलकण्ठ की व्याख्या का सारांश है।

तत्त्व प्रकाशिका में पहिले ध्यान फिर भक्ति अर्थात् भगवान् के लिए पूजनादि क्रियाएं करना, उस भक्ति को सम्पादित करने के लिए ही यज्ञ आदि करना, और अन्त में अपने यज्ञ में जो दोष रह गए हों उनके परिहार के लिए नमस्कार करना, इनसे जो पुरुष सम्पन्न होता है वह भगवान् को ही प्राप्त करता है, यह तात्पर्य प्रकट किया गया है। भक्ति का अर्थ भगवत्सम्बधिनी क्रिया करते हुए उन्होंने स्मृति पद्य उद्धृत किया है कि–

**"सुरर्षे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिय या क्रिया**
**सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः पराभवेत्"**

यज्ञ से उन्होंने द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ आदि पांच यज्ञ और अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग का ग्रहण किया है। द्रव्य यज्ञ का अभिप्राय वैभव पूर्ण स्थिति में समस्त उपचारों से भगवान् का आराधन करना है। जो वैभव सम्पन्न नहीं हैं उनके लिए द्रव्य यज्ञ, पत्र, पुष्प, फल आदि से यथाशक्ति भगवान् का पूजन करना है। अपने धर्म का पालन करते हुए क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदि का सहन करना ही तपोयज्ञ है। यम, नियम, आसन आदि के अभ्यास के द्वारा प्राणायाम पूर्वक अपने चित्त को जीतने का अभ्यास करना योग यज्ञ है। अपने अधिकारानुसार उपनिषदादि शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय यज्ञ है। सुने हुए और अध्ययन किए हुए ज्ञान का मनन और प्रवचन करना ज्ञान यज्ञ है। इन्हीं यज्ञों का अनुष्ठान यज्ञ शब्द से तत्त्व प्रकाशिका में कहा गया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने पद्योक्त अर्चन और वन्दन को भगवान् की नवधा भक्ति का उपलक्षण बतलाया है। भक्ति के नौ प्रकार भागवत में इस प्रकार कहे गए हैं–

**"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्**
**अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्**
**इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा**
**क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीत मुत्तमम्"**

भगवद्भक्ति को ही यहां उत्तम अध्ययन का फल बतलाया है।

---

# इक्यासीवाँ-पुष्प

**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**
**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।६६।**

"समस्त धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ। शोक मत करो। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्ति दिलाऊंगा" (६६)

श्रीशंकराचार्य लिखते हैं कि कर्मयोग की परम सिद्धियां, उसका रहस्य ईश्वर की शरण में पहुंच जाना है। भगवान् ने विगत पद्य में उस कर्मयोग निष्ठा से ईश्वर की शरण में चला जाना ही उसकी चरितार्थता है यह दिखलाकर उसका उपसंहार कर दिया। अब प्रस्तुत पद्य के द्वारा यह प्रकट किया है कि अन्ततः ज्ञान मार्ग का ही आश्रय लेना चाहिए और समस्त कर्मों का, चाहे वह धर्म हों या अधर्म, परित्याग कर देना चाहिए। पद्य में जो "सर्वधर्मान्" पद है उसमें अधर्म का भी संग्रह श्रीशंकराचार्य ने माना है। उनका अभिप्राय कर्म मात्र का परित्याग कर देने से है। सब धर्मों को छोड़ने का आशय खोलते हुए उन्होंने लिखा है–

**"सन्त्यज्य सर्वकर्माणि"**

"सभी कर्मों से संन्यास लेकर" सब कर्मों को छोड़ देने के अनन्तर समस्त जगत का आत्मा जो समस्त भूतों में समभाव से अवस्थित है, जो गर्भ, जन्म, जरा मरण आदि से रहित है, उसकी शरण में जाओ। इसका तात्पर्य स्पष्ट करते हुए आचार्य ने लिखा है कि "अहम्" अर्थात् "मैं" शब्द से सम्बोध्य जो ब्रह्म है, जिसे हम शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार से हटाकर भी "मैं" कहते हैं, उसकी शरण में जाओ और यह निश्चय करो कि–"मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।" कर्मों को छोड़कर जब तुम इस प्रकार की बुद्धि कर लोगे तब धर्म और अधर्म के जितने बन्धन हैं उन सबसे मैं तुम्हें मुक्त कर दूंगा। इसका तात्पर्य है कि उक्त निश्चय कर लेने के अनंतर जब–

**"आत्मैवेदं सर्वम्"**

यह बोध हो जायगा तो वह बोध ही धर्मों तथा अधर्मों के बन्धनों को विगलित कर देगा। भगवान् स्वयं ज्ञान रूप हैं, अतः "मैं तुम्हें पापों से छुड़ा दूंगा" ऐसा उन्होंने कहा है। ज्ञान का प्रकाश अज्ञान के अन्धकार को स्वतः निवृत्त कर देता है। पहिले भी भगवान् कह चुके हैं–

**"नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता"**

जब भगवान इतना विश्वास दिला रहे हैं तब अपनी स्थिति के विषय में अर्जुन को शोक करने का अवसर ही नहीं रह जाता। इसीलिये भगवान् ने शोक को दूर करने का भी आदेश दिया है–

**"मा शुचः"**

इसके अनन्तर गीता का तात्पर्यार्थ प्रकट करते हुए श्रीशंकराचार्य ने लम्बा भाष्य लिखा है, हम अग्रिम पुष्प में उसका संक्षिप्त विवरण करेंगे।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि यहां समस्त धर्मों के परित्याग का जो कथन है उसका आशय यह है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का अधिकारानुसार परिपालन करते हुए उनके फल की अभिलाषा का त्याग कर दो, उनमें से कर्म बुद्धि भी हटा लो और अपने भीतर से कर्तृत्व बुद्धि भी हटा लो, यही "सर्व-धर्म-परित्याग"' शब्द से यहां अभीष्ट है। आगे–

**"मामेकं शरणं व्रज"**

का अभिप्राय यह है कि केवल भगवान् में कर्तृत्व आदि बुद्धियां रक्खो वे ही कर्ता हैं, वे ही कर्म हैं, ऐसी बुद्धि बना लेना ही एकमात्र उनकी शरण में जाना है। "परित्यज्य" में जो त्याग है उसका आशय स्पष्ट करते हुए श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं कि त्याग भगवान् ने तीन प्रकार का बतलाया है–

**"निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम !**
**त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः"**

(१८।४)

आगे सात्विक त्याग का निरूपण है–

**"सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः"**

(१८।९)

स्पष्ट है कि सङ्ग और फलाशा को छोड़कर कर्म, भक्ति और ज्ञान मार्गों में से किसी भी मार्ग पर चलने का भगवान् का आदेश है। देहधारी पुरुष निश्शेष रूप से कर्मों को नहीं छोड़ सकता। यह बात प्रस्तुत अध्याय के आरम्भ में ही–

"न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते" ।।

इस पद्य के द्वारा बतला दी गई है। इस प्रकार फलाशा का परित्याग करके हे अर्जुन! तुम जब कर्म, भक्ति या ज्ञान में से किसी मार्ग का ग्रहण करोगे तब मेरी प्राप्ति में बाधक जो अनेक जन्मों के संचित पाप हैं, उनसे मैं तुमको विमुक्त कर दूंगा, यह सारांश भगवान् ने प्रकट कर दिया है।

प्रस्तुत पद्य की भक्ति परक दूसरे प्रकार की व्याख्या लिखते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि अर्जुन यह सोचने लगा कि भक्तियोग की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है। सभी पापों के विनष्ट हो जाने पर जब कोई पुरुष भगवान् को अत्यन्त प्रिय हो जाता है तब कहीं उसको भक्ति मिलती है। मैं तो अनेक पापों से आबद्ध हूं, मुझे भक्तियोग की प्राप्ति कैसे होगी, यह विचार जब अर्जुन के मन में आने लगा और भगवान् की भक्ति से वंचित रहने का शोक उसके मुख पर दिखाई देने लगा तो उसे सान्त्वना देते हुए भगवान् ने उसे फलाशा छोड़कर कर्म करने का, और केवल भगवान् की शरण में चले जाने का आदेश दिया।

इस सन्दर्भ में 'सर्वधर्मपरित्याग' का तात्पर्य लिखते हुए श्रीरामानुजाचार्य ने कहा है कि भक्तियोग की प्राप्ति के लिए पाप क्षय आवश्यक है। पापों को नष्ट करने के लिए शास्त्रों में अनेक प्रकार के कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों के विधान हैं। वे व्रत बहुत समय में सम्पन्न होते हैं। इन सब व्रतों का अनुष्ठान करके अपने समस्त पापों से मुक्त होकर भक्तियोग को प्राप्त करना अर्जुन के लिए अनेक जन्मों में जाकर कहीं संभव होगा। सर्व धर्म परित्याग कहने का भगवान् का यही आशय है कि तुम इन सभी व्रतों को छोड़ दो, और केवल मेरा आश्रय लो। भगवान् तो परम कारुणिक हैं, वे धन, धर्म आदि कुछ नहीं देखते, अपने आश्रितों की वे परम शरण हैं, ऐसा समझकर उनकी शरण में जाने से वे सभी पापों से मुक्ति दे देंगे।

श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि धर्म शास्त्रों में अनेक धर्म कहे गए हैं, कुछ आश्रम धर्म हैं, कुछ सामान्य धर्म ऐसे हैं जो सभी धर्मों और सभी आश्रमों में समान रूप से पालनीय होते हैं। इन समस्त धर्मों में से किसी का भी परिग्रह मत करो। "मैं अमुक धर्म का दृढ़ता से पालन करूँगा" इस प्रकार की भावना भी छोड़ दो। ईश्वर सभी धर्मों का आश्रय है, उसी की शरण में चले जाओ। धर्मों का पालन मनुष्य करे या न करे, परन्तु यह तो निश्चित है कि फल देने में धर्म स्वतन्त्र नहीं है। धर्मों के परिपालन से पाप का नाश और पुण्य का समुदय होने पर ईश्वर का अनुग्रह जब प्राप्त

होता है, तब परम लाभ या मोक्ष मिलता है। स्पष्ट है कि धर्मों का परिपालन स्वयं जीवन का पूर्ण लाभ देने में समर्थ नहीं होता अपितु उसकी एक शृङ्खला है। भगवान् की शरण ही समस्त जीवन का फल वितरित कर देती है। अतः अन्य किसी साधन की अपेक्षा न करने वाली भगवान् की शरण ही लेनी चाहिए। जो स्वयं परम फल देने में समर्थ नहीं हैं, ऐसे धर्म हों या न हों उनकी उपेक्षा ही कर देनी चाहिए। भगवान् की शरण में जाने का आकर्षण जीव को सदा ही बना रहता है। भगवान् परमानन्द घन हैं। जीवन में आनन्द की अल्प मात्रा ही है। वह दु:खों से सर्वदा आक्रान्त रहता है। दु:खों की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिए जीवमात्र ईश्वर की शरण लेता है। भगवान् की शरण से बढ़कर वस्तु कोई नहीं है ऐसा निश्चय करके भगवान् में अपने मन का अर्पण उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार दीपक के प्रकाश को निरन्तर परिचालित रखने के लिए तैल की धारा दीपक में चलती रहती है। आगे श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि–

## "मामेकं शरणं व्रज"

"केवल मेरी शरण में जाओ" इतना कह देने से यह प्रतिफलित हो जाता है कि अन्य सब को छोड़ दो, उसी से सर्व धर्म परित्याग भी प्राप्त हो ही जाता है, पुनरपि सर्व धर्म परित्याग की जो बात पद्य में पृथक् कही गई है उसका तात्पर्य यह है कि इसका यह आशय नहीं लगाना चाहिए कि स्वरूपतः समस्त धर्म हेय हैं, अतः उन्हें छोड़ देने को भगवान् कह रहे हैं, अपितु यहाँ का आशय यह है कि समस्त धर्मों का आचरण करने से जो फल होगा उसका प्रदाता तो मैं ही हूँ, मेरी शरण में आ जाने से समस्त धर्मों के आचरण का फल स्वतः मिल जायगा और मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी। श्रीशंकराचार्य ने यहाँ जो धर्म शब्द से अधर्म का भी ग्रहण मानकर व्याख्या की थी, उस पर विचार करते हुए श्रीमधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि अधर्म के ग्रहण करने की यहां आवश्यकता नहीं है। अधर्म का ग्रहण करना तो तब आवश्यक होता जब कर्म मात्र के स्वरूपतः परित्याग कर देने का भगवान् का अभिप्राय होता। परन्तु भगवान् का आशय यहाँ यही है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास इन सभी आश्रमों में स्थित पुरुषों के लिए सामान्यतः यह विधि है। धर्म का आचरण करते हुए भी उसके प्रति उपेक्षा बुद्धि ही होना चाहिए और भगवान् की शरण को ही सर्वाधिक समझना चाहिए। चाहे हम कर्म मार्ग में हों या संन्यास मार्ग में, दोनों ही स्थितियों में हम भगवान् की शरण ले सकते हैं। जिस प्रकार कर्मों का परित्याग कर देने वाला संन्यासी भगवान् की शरण लेता है, उसी प्रकार कर्मों में प्रवृत्त पुरुष कर्मों के फल

की आकांक्षा न रखता हुआ भगवान् की शरण लेता है। इस प्रकार उसका कर्म बन्धक नहीं अपितु बन्धन छुड़ाने वाला होता है। बन्धन छूटने पर प्राणी भगवान् की शरण में पहुँच ही जाता है। सभी व्यक्तियों का अपने धर्मों के प्रति आदर रहता है, परन्तु धर्म मोक्ष का प्रत्यक्ष कारण नहीं है, यही यहां भगवान् ने दिखाया है। परन्तु भगवान् की शरण प्राप्त करने की योग्यता धर्माचरण से ही प्राप्त होती है, अतः प्रारम्भ में धर्माचरण से अपनी पात्रता बनाना आवश्यक है। अधर्म के आचरण में सत्पुरुषों का आदर नहीं होता अतः उसके परित्याग का विधान मानने के लिए आवश्यक नहीं रह जाता। साथ ही अधर्माचरण का निषेध तो अन्य धर्म शास्त्र आदि में मिलता ही है, परन्तु धर्माचरण के प्रति उपेक्षा का भाव अन्यत्र से विहित नहीं है, अतः उस अभिनव कथन को ही मानना उपयुक्त है। अन्य शास्त्रों से प्राप्त अधर्म के परित्याग का यहां आशय नहीं है। कर्म मात्र का परित्याग तो संन्यास के प्रतिपादक वेदान्त शास्त्र का मुख्य विषय है। यदि कहा जाय कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय संन्यास ही है इसका निषेध करते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि यहाँ तो भगवान् ने एकमात्र अपनी शरण लेने का विधान किया है। ईश्वर की शरण में जाना ही समस्त शास्त्रीय विधानों का मुख्य लक्ष्य है। गीता शास्त्र का उपसंहार भी भगवान् की शरण ग्रहण का उपदेश देकर ही भगवान् ने किया है, उपसंहार वक्ता के तात्पर्य के निर्णय में परम सहायक होता है। भगवान् की शरण के बिना संन्यास भी अपना फल देने में समर्थ नहीं होता। गीता का परम तात्पर्य संन्यास को इसलिए भी नहीं माना जा सकता कि गीता का उद्देश्य अर्जुन के मोह को नष्ट करके उसे युद्ध के लिए प्रेरित करना है। कर्म मार्ग में होने के कारण संन्यास का तो अर्जुन अधिकारी ही नहीं है, भगवान् उसे संन्यासी हो जाने का आदेश कैसे दे सकते थे। यदि यह कहा जाय कि अर्जुन जीव मात्र का प्रतिनिधि है, अर्जुन को निमित्त बनाकर जीवमात्र का कल्याण जिसमें है वह उपदेश भगवान् ने दिया है, जीवमात्र का परमकल्याण मोक्ष प्राप्ति में ही है, मोक्ष प्राप्ति ज्ञान से ही होता है, और परम ज्ञान कर्मों के परित्याग के अनन्तर ही प्राप्त होता है तो इस पर भी यह विप्रतिपत्ति सामने आती है कि भगवान् ने अर्जुन के लिए ही–

**"ततो वक्ष्यामि ते हितम्"**

**"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः"**

इत्यादि कहा है। अतः साक्षात् सम्बोध्य अर्जुन की स्थिति का भी तात्पर्य के पर्यालोचन में विचार करना आवश्यक है। अतः भगवान् ने जब सभी धर्मों के परित्याग करने का आदेश दिया तब संन्यास धर्म का भी अनादर करके भगवान् की ही शरण

ग्रहण करना चाहिए, यही उनका तात्पर्य है। सर्वधर्म परित्याग के अनन्तर जब भगवान् की शरण ग्रहण करोगे तो भगवान् की ही एक मात्र शरण ग्रहण करने के कारण भगवान् सभी पापों से तुम्हें मुक्ति दिला देंगे। आगे भगवान् की शरण में जाना तीन प्रकार से हो सकता है यह लिखते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं–

**तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा ।**

**भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासमात्रतः**

अर्थात् "मैं उन्हीं का हूँ" "वे मेरे ही हैं" और 'मैं वही हूँ' इस प्रकार की भावनाओं से युक्त भगवान् की शरण तीन प्रकार की होती है जो क्रमशः साधना और अभ्यास के परिपक्व होने पर प्राप्त होती जाती है। तीनों प्रकार की शरण के उदाहरण भी उन्होंने व्याख्या में दिए हैं। प्रथम प्रकार की शरण का उदाहरण है–

**"सामुद्रो हि तरङ्गः**

**क्वचन समुद्रो न तारङ्गः"**

अर्थात् समुद्र में उठने वाली तरङ्गें समुद्र की कही जाती हैं, समुद्र को तारङ्ग नहीं कहा जाता, समुद्र तरङ्गों से नहीं बना है। समुद्र में कहीं तरङ्गें भी होती हैं और कहीं बिलकुल शान्त अवस्था में भी रहता है, तरङ्गें समुद्र की शरण में जैसे हैं वैसे ही भगवान् समुद्र हैं और जीव उनकी शरण में तरङ्ग के समान हैं। यह प्रथम प्रकार की शरण का उदाहरण हुआ।

दूसरी शरण है कि "वे मेरे ही हैं"। शरण की इस भूमिका में भक्त भगवान् को इस प्रकार बिठाता है कि वे यहाँ से हट ही नहीं सकते। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी बालक्रीड़ा में किसी से अपना हाथ छुड़ाकर चले गए। अपनी दृढ़ भक्ति को प्रकट करते हुए उसने कहा कि–

**"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात् कृष्ण ! किमद्भुतम्**

**हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते"**

अर्थात् हे कृष्ण ! तुम मुझ से हाथ छुड़ाकर चले गए, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं, मैं तो तुम्हारी वीरता तब समझूं जब तुम मेरे हृदय से चले जाओ।

तीसरी भूमिका का उदाहरण है कि–

**"सकलमिदमहं च वासुदेवः**

**परमपुमान् पुरुषोत्तमः स एकः"**

"यह समस्त जगत् और मैं परम पुरुष भगवान् पुरुषोत्तम ही हैं", उनके अतिरिक्त न मैं कुछ हूं न अन्य कुछ है। तीसरी शरण में वही स्थिति हो जाती है जो ज्ञान मार्ग की भी पराकाष्ठा है, उसमें भगवान् के अतिरिक्त भी अन्य कुछ है यह भावना ही मिट जाती है।

अन्त में श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि इस गीता शास्त्र में कर्मनिष्ठा, का प्रतिपादन हुआ है। कर्म विकर्म, अकर्म आदि कर्मों के भेद, संसार में कर्म करने की युक्ति, आदि का विवेचन करते हुए अन्ततः कर्मों के अनुष्ठान से अपने को पवित्र बनाकर सर्व कर्मसंन्यास में कर्म निष्ठा का उपसंहार हुआ है। इसी प्रकार संन्यास के साधन आदि का विवरण करके–

**"ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा**
**विशते तदनन्तरम्"**

कहकर संन्यास या ज्ञाननिष्ठा का उपसंहार हुआ है। भक्ति निष्ठा कर्म और ज्ञान दोनों निष्ठाओं का साधन तथा फल है। इसका उपसंहार प्रस्तुत पद्य के द्वारा हुआ है भाष्यकार श्रीशंकराचार्य से अपना मतभेद दिखाते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि भाष्यकार ने–

**"सर्वधर्मान् परित्यज्य"**

इतने अंश से सर्व कर्म संन्यास का विधान माना है–

**"मामेकं शरणं व्रज"**

इस कथन से ज्ञाननिष्ठा से उपसंहार माना है। सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय श्रीमधुसूदनसरस्वती श्रीशंकराचार्य का अनुगमन ही करते हैं और स्वयं को अद्वैत वीथी पथिकों का उपास्य कहते हैं। परन्तु गीता का अन्तिम तात्पर्य प्रकट करते हुए उन्होंने भक्ति को ही प्रधानता दी है। यहां उन्होंने भाष्यकार से अपना मतभेद भी बड़े विनम्र शब्दों में यह कहकर प्रकट किया कि–

**"भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः"**

अर्थात् भगवान् का क्या अभिप्राय है, इसका विवरण करने में अत्यन्त अल्पज्ञ हम जैसे पुरुषों की क्या शक्ति है। श्रीमधुसूदनसरस्वती के कथन की ब्रह्मानन्द गिरि तथा श्रीधरी व्याख्याओं में आलोचना की गई है।

श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या में कहा गया है कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह

उद्देश्यांश है, और "मामेकं शरणं व्रज" यह विधेयांश है। शरणमार्ग के अवरोधक धर्म ही यहां सर्वधर्म शब्द से गृहीत होते हैं। उनके परित्याग का तात्पर्य उन्हें छोड़कर शरण मार्ग या पुष्टि मार्ग के अनुकूल धर्मों को ग्रहण करने में है।

**"मन्मना भव"**

आदि विगत पद्य से उसका सम्बन्ध भी बन जाता है। पहिले भगवान् ने शरण मार्ग के साधक कर्मों को कह दिया और अब उसके विरोधी धर्मों के परित्याग का उपदेश दे दिया। पहिले कहा गया था–

**"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय"**

वहां अन्य देवता आदि में मन लगाने का निषेध प्रति फलित होता है। अन्य देवता आदि का भजन रूपी जो धर्म है उसका निषेध यहां श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या में माना गया है। वाल्लभ सिद्धान्त के अनुसार अर्जुन अभी मर्यादा मार्ग में है, अन्य धर्म का परित्याग करने का उपदेश देकर भगवान् उसे पुष्टिमार्ग ग्रहण करने का आदेश दे रहे हैं। पापों से मुक्ति दिलाने की प्रतिज्ञा करते हुए भगवान् ने पुष्टि मार्ग के अनुसार अपना पुरुषोत्तम रूप प्रकट कर दिया है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि–

**"ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति"**

(१३।२५)

इत्यादि पद्य में भगवान् ने नमन, यजन, भजन, और मनन क्रम से सांख्य निष्ठा बतलाई थी। आगे–

**"अन्ये त्वेववमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।**
**तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः" ।।**

(१३।२६)

इस पद्य से केवल उपासना करने वालों की योगनिष्ठा बतलाई गई थी। उसी योगनिष्ठा का प्रस्तुत पद्य से उपसंहार किया गया है। पद्य का अर्थ लिखते हुए श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि वर्ण, आश्रम, देह, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि के जो अग्निहोत्र सुख, दुःख आदि धर्म हैं, उनका परित्याग कर दो, और सर्व शक्तिशाली उपाधि मुक्त या उपाधि रहित, अखण्ड, एकरस, आनन्दघन जो परब्रह्म है, उसकी शरण

लो। क्योंकि उसकी शरण अविद्या आदि के क्लेशों को समाप्त कर देती है। शरण शब्द का अर्थ है–"शृणाति क्लेशादीन्", जो क्लेश आदि को शीर्ण कर दे। समस्त धर्मों का परित्याग कर देने पर और भगवान् की शरण ग्रहण कर लेने पर फल यह होगा कि वे ही समस्त जगत् के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित हैं, वे पूर्व सञ्चित तथा इस जन्म में किये गए बन्धुवध आदि पापों से मुक्ति दे देंगे। अतः "मैं अपने पूज्य बन्धुओं को संग्राम में मारकर कभी न छूटने वाले महान् पाप का भागी बनूंगा और अनन्त काल के लिए नरक प्राप्त करूंगा" इस प्रकार का शोक हे अर्जुन ! तुम मत करो, तत्त्व ज्ञान या भगवान् की शरण ले लेने के अनन्तर प्राणी शोक से विमुक्त हो जाता है। यह बात श्रुतियों और स्मृतियों में सर्वत्र विख्यात है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि–

**"स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित**
**उदेति हवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद"**

(छां० १।६।७)

यहाँ सूर्य समस्त पापों का नाश करते हुए उदित होता है, उसकी आराधना करने वाला समस्त पापों से विनिर्मुक्त हो जाता है, यह स्पष्ट है।

**"तरति शोकमात्मवित्"**

(छां० ७।१।३)

"आत्मवेत्ता पुरुष शोक का तरण कर जाता है"।

**"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"**

(ई० ३।७)

एकत्व का दर्शन करने वाले के लिए मोह और शोक है ही कहां ? निष्कर्ष लिखते हुए श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि वर्णाश्रम धर्मों से संन्यास लेकर षष्ठ अध्याय में कहे गए योग के द्वारा शरीर आदि के धर्मों का भी परित्याग करके निर्विकल्प भाव से संस्थित तत्त्व का साक्षात्कार करने वाला पुरुष पुण्य पाप आदि कर्मों से लिप्त नहीं होता।

तत्त्व प्रकाशिका में कहा गया है कि–यहां भगवान् ने जो समस्त धर्मों के परित्याग की बात कही है, उसका गीता के वचनों से आपाततः विरोध प्रतीत होता है। पहिले कर्मों के परित्याग का भगवान् ने केवल निषेध ही नहीं किया अपितु कर्मों के परित्याग को असंभव भी कहा है–

**''न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते''**

**''नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते**
**मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः''**

**''नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्''**

इत्यादि पद्यों में धर्मानुष्ठान रूप कर्मों की अवश्य कर्तव्यता और उनके परित्याग को तामस कहा गया है, तब यहां वे ही भगवान् कैसे समस्त धर्मों के परित्याग की खुली छूट अर्जुन को दे रहे हैं। यह विरोध प्रतीत होता है। उसका समाधान करते हुए तत्त्व प्रकाशिकाकार कहते हैं कि जो लोग भगवद्भक्ति से विहीन हैं उनको भी भगवान् की भक्ति की योग्यता प्राप्त हो जाय, इसी उद्देश्य से उनके लिए कर्मों का आवश्यक विधान भगवान् ने किया है। कर्मानुष्ठान के अनन्तर भक्ति की योग्यता प्राप्त हो जाने पर तो कर्मों का परित्याग कर एक मात्र भगवान् की शरण में चला जाना चाहिए। भगवान् को प्राप्त कर लेना ही कर्मानुष्ठान का प्रमुख प्रयोजन है। जब भगवान् में चित्त लगाने का सामर्थ्य प्राप्त हो गया तब कर्मानुष्ठान निष्प्रयोजन हो जाता है–

**''तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति**
**यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन''**

इत्यादि श्रुतियों में वेदाध्ययन, यज्ञ, दान आदि से भगवान् के स्वरूप को जानना ही मुख्य लक्ष्य बतलाया गया। भगवान् के स्वरूप की जिज्ञासा उत्पन्न कर देने के अनन्तर वेदाध्ययन, यज्ञ, दान आदि विधियों का कार्य पूर्ण हो जाता है। श्रीमद्भागवत में भी लिखा है कि–

**''निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्**
**जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम्**
**तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता**
**मत्कथाश्रवणादौ वा यावत् श्रद्धा न जायते''**

यहां पर भगवत्कथा आदि के श्रवण आदि में जब तक प्रवृत्ति नहीं हो जाती तभी तक कर्मों के अनुष्ठान की बात कही गई है, उसके अनन्तर कर्मों को छोड़ देना चाहिए यह स्पष्ट कर दिया गया है। गीता में भी विश्वरूप दर्शन आदि के अवसरों पर भगवान् ने अध्ययन, यज्ञ, दान आदि साधनों के द्वारा विश्वरूप देखने की योग्यता प्राप्त नहीं होती अपितु यह योग्यता अनन्य भक्ति से ही आ सकती है, ऐसा कहा गया है–

"न वेद यज्ञाध्ययनैर्न दानैर्नच क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर"
"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन नचेज्यया
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा"
"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप !"
"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव"

इत्यादि पद्यों का यहां के पद्यों से पूर्ण साम्य प्रकट होता है। इन पद्यों में स्पष्ट कर दिया गया है कि परमेश्वर के दर्शन करने में यज्ञ, दान आदि साक्षात् रूप से सहायक नहीं, परन्तु भक्ति के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप का दर्शन प्राप्त कर लेना भी संभव है।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"

इत्यादि पद्यों में समस्त दुःखों के विनाश का कारण परमात्मा के ज्ञान को ही कहा गया है और उस ज्ञान का अनन्य साधन भक्ति ही है। भगवान् की प्रसाद रूपा भक्ति से ही भगवान् का ज्ञान होना संभव है, यह बात अन्य श्रुतियों तथा स्मृतियों में भी इस प्रकार कही गई है–

"शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः"
"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्"'
"न स शक्यः सुरैर्द्रष्टुं नचान्यैरपि सत्तम !
यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति"

इत्यादि श्रुति तथा स्मृति वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्त पुरुष ही

भगवान् की वरणीयता को प्राप्त कर उनके स्वरूप दर्शन का नि:स्सीम सौभाग्य प्राप्त करने का भी अधिकारी बनता है।

श्रीशंकरानन्द ने यहां यह प्रश्न उठाया है कि प्रस्तुत पद्य कर्म मार्ग में प्रवृत्त पुरुषों के लिए उपदेश है या कर्म मार्ग से निवृत्त पुरुषों के लिए। कर्मोपदेश के प्रकरण में उद्धृत होने के कारण इसे कर्ममार्ग में प्रवृत्त पुरुषों के लिए मानना उपयुक्त है। अर्जुन अभी कर्ममार्ग में ही विद्यमान है। अत: कर्म में निरत पुरुषों के लिए ही भगवान् ने समस्त धर्मों का त्याग करके अपनी शरण में आने का उपदेश दिया है। इस मत को उद्धृत करके आगे इसका खण्डन करते हुए श्रीशंकरानन्द ने लिखा है कि जो पुरुष कर्म मार्ग में हैं, जिन्हें अभी ज्ञानी होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है, उनको कभी कर्मानुष्ठान नहीं छोड़ना चाहिए, यह भगवन् ने गीता में अनेक बार कहा है। भगवान् का भजन भी एक कर्म है। भजन रूप कर्म का अनुष्ठान करते रहने के कारण अन्य धर्मों को छोड़ देने पर भी कर्म लोप नहीं होता इस विचार का भी श्रीशंकरानन्द ने खण्डन किया है कि जो धर्म वर्णाश्रमों के अनुसार बतलाए गए हैं यदि मनुष्य उन कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता तो वह दोष का भागी अवश्य बनता है। केवल भगवन्नाम का जप करना मात्र ही यथेष्ट नहीं है।"

जो व्याख्याकार पद्योक्त "सर्व धर्मान् परित्यज्य" का अर्थ समस्त धर्मों के फल का परित्याग करते हैं, वे वहां लक्षणा का आश्रय लेते हैं, अन्यथा समस्त धर्मों के त्याग के कथन से उनके फल के परित्याग का अर्थ कैसे लिया जा सकता है, अत: उक्त अर्थ करने में उन्हें लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु यहां लक्षणा का आश्रय लेने का कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता। लक्षणा का आश्रय लेने का मुख्य कारण यथाश्रुत शब्दों के वाच्यार्थ का प्रकृत अर्थ में संगत न होना है। परन्तु यहां तो वाच्यार्थ सुसंगत होता है। तब लक्षणा का आश्रय लेने की यहां क्या आवश्यकता। यथाश्रुत शब्दों के वाच्यार्थ की संगति दिखाते हुए श्री शंकरानन्द लिखते हैं कि भगवान् ने योगियों के लिए ज्ञान निष्ठा या सांख्य निष्ठा बतलाई है और कर्माधिकारियों के लिए कर्मयोग या कर्म निष्ठा बतलाई है। कर्म निष्ठा का उपसंहार पहिले हो चुका है यहां ज्ञान निष्ठा का उपसंहार है। इस प्रकार गीता के प्रकरणों के पर्यालोचन से यह प्रकरण ज्ञान निष्ठा के उपसंहार का ही सिद्ध होता है और इसमें उन समस्त धर्मों के स्वरूपत: परित्याग का अर्थ सुसंगत होता है। फिर उन्होंने प्रश्न उठाया है कि कर्म में लगे रहना तो भगवान् के प्रीति सम्पादन का ही उपाय है, उसके परित्याग का कथन भगवान् क्यों कर रहे हैं ? हां, कर्म फल त्याग का भगवान् ने पहिले भी विधान किया है, यहां भी

कर्मफल त्याग मानने पर भगवान् का आशय समझ में आ जाता है। इसका उत्तर देते हुए वे लिखते हैं कि कर्म करने से भी अधिक प्रीति ज्ञान से प्राप्त होती है। कर्म करते समय कर्त्ता को भेद ज्ञान बना रहता है, जो कि अयथार्थ है। कर्म मार्ग में प्रवृत्ति रखने वाला अर्जुन भी भगवान् से इतना महत्वपूर्ण उपदेश सुन लेने के उपरान्त भी भेद ज्ञान से विमुक्त नहीं हो सका और अन्त में उसने कहा कि–

**"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत**
**स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव"**

यहां उसने भगवान् को अपने से पृथक् समझकर ही सम्बोधन किया है, वह भगवान् से अपने को अभिन्न नहीं समझ सका था। कारण कि वह कर्म मार्ग का ही पथिक था।

अब यह प्रश्न रह जाता है कि समस्त धर्मों का परित्याग करके कोई यदि इस वचन के आधार पर अधर्म का आचरण करने लगे तो क्या उसे भगवन् की शरण प्राप्त हो जायगी ? इसका समाधान श्रीशंकराचार्य के अनुसार ही श्रीशंकरानन्द ने किया है कि भगवान् ने पहिले–

**"त्यज धर्ममधर्मं च"**

कहकर धर्म और अधर्म का परित्याग कर देने का स्पष्ट विधान कर दिया है, ज्ञान मार्ग में जहां कहीं धर्म के त्याग की बात कही जायगी वहां अधर्म का त्याग करके जब प्राणी भगवान् की शरण में चला जाता है तब उसे अद्वितीय तत्त्व का ज्ञान हो जाने के कारण उसका शोक स्वतः ही निवृत्त हो जाता है। भगवान् ने उपक्रम में भी–

**"अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्"**

कहकर अशोच्य के शोक करने को निरर्थक बतलाया था। यहां उपसंहार भी शोक के अपनोदन के उपदेश से हुआ। शोक का अपनोदन अद्वितीय तत्त्व के साक्षात्कार होने पर ही होता है। इस प्रकार उपसंहार का यह पद्य ज्ञान मार्ग में ही अपना तात्पर्य प्रकट करता है यह उक्त व्याख्याकार का आशय है।

लोकमान्य तिलक भी उपसंहार के इस पद्य को भक्ति परक ही मानते हैं और धर्म शब्द से धर्म और अधर्म दोनों मानने के पक्ष का खंडन करते हुए धर्म पद से अहिंसा धर्म, सत्य धर्म, मातृ पितृ सेवा धर्म, गुरु सेवा धर्म, यज्ञ याग धर्म दान धर्म संन्यास धर्म आदि को त्याज्य कोटि में निविष्ट करते हुए सगुण भक्ति को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं ज्ञानमार्ग के व्याख्याकार निर्गुणोपासना से ही प्रभावित होते हुए इसकी

व्याख्या करते हैं यह दिखाकर लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि यद्यपि निर्गुणोपासना गीता को अभीष्ट नहीं है ऐसी बात नहीं। गीता में अनेकत्र निर्गुणोपासना की चर्चा आती है, परन्तु उपसंहार में गीता में सगुणोपासना ही प्रधान है। भगवान् का यह अपने शरणागत के लिए दिया गया आश्वासन अर्जुन को निमित्त बनाकर जीव मात्र के लिए समझना चाहिए। सभी जीवों को उनका यह सन्देश है कि समस्त उपर्युक्त धर्मों को छोड़ कर मेरा आश्रय ले लेने से कोई डर नहीं रह जाता।

श्री विद्यावाचस्पतिजी राजविद्या, सिद्ध विद्या, आर्ष विद्या और राजर्षि विद्या इन चार विद्याओं को गीता में वर्णित मानते हैं। इनमें से प्रस्तुत प्रकरण राजर्षि विद्या का उपसंहार है। अव्यय पुरुष का एक भेद गूढ़ात्मा अव्यय है। यहां उसी एक निष्ठा रखने का आदेश दिया गया है।

# बयासीवां-पुष्प

## श्री शंकराचार्य का उपसंहार

श्री शंकराचार्य ने यहां अपना उपसंहार भाष्य विस्तार से लिखा है। उन्होंने इस प्रश्न पर विस्तार से, प्रमाण और युक्तियों से विचार किया है कि गीता का तात्पर्य, निष्कर्ष ज्ञान है या कर्म। गीता के तात्पर्य के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। भिन्न-भिन्न मतों के आचार्यों ने गीता का तात्पर्य अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार निश्चित किया है। स्वयं गीता के वचनों पर दृष्टिपात करने पर ही यह प्रकट होता है कि वहां कर्म मार्ग का भी पूर्ण समर्थन है, और ज्ञान मार्ग का भी। इसी बात को दिखाते हुए श्रीशंकराचार्य ने इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया कि उनके सिद्धान्तानुसार गीता का तात्पर्य क्या है, इस पर विस्तार से विवेचन किया जाय।

**"यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते"** (१३।१३)

**"ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्"** (१८।५५)

इत्यादि वचनों के द्वारा ज्ञान को ही निःश्रेयस का परम साधन माना गया है, तथा-

**"कर्मण्येवाधिकारस्ते"** (२।४७)

**"कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्"** (४।१५)

इत्यादि वचनों के द्वारा कर्मों की अवश्य कर्तव्यता बतलाई गई है। ज्ञान और कर्म की श्रेष्ठता के इस प्रतिपादन से गीता को ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही परम तात्पर्य के रूप में अभीष्ट है अथवा केवल ज्ञान या केवल कर्म ही श्रेष्ठ है, इस प्रकार का सन्देह हो जाना स्वाभाविक है। इनमें केवल आत्मज्ञान मोक्ष प्राप्ति का हेतु होता है, क्योंकि आत्मा का ज्ञान हो जाने पर भेद बुद्धि निवृत्त हो जाती है और केवल आत्मा ही रह जाता है, यही कैवल्य या मोक्ष है। अब केवल कर्म भी मोक्ष के हेतु बन सकते हैं अथवा नहीं इसका विचार यहां प्रासङ्गिक है।

आत्मा जब असंग तथा एक और अद्वितीय है तो उसमें भेद बुद्धि आती कहां से है, इसका उत्तर यह है कि अनादि काल से आत्मा पर अविद्या के द्वारा भेद बुद्धि आरोपित है। कर्म में प्रवृत्त पुरुष सर्वदा इस भेद से आबद्ध रहता है कि-"यह मेरा कर्म है, मैं इसका कर्ता हूं, अमुक फल की प्राप्ति के लिए मैं अमुक कर्म करूंगा।"

इस अविद्या के द्वारा समुत्पादित भेद बुद्धि का विनाश आत्मज्ञान से ही होता है कि "मैं सर्वत्र व्याप्त एक आत्मा हूं, मैं अकर्ता हूं, मुझ में कोई क्रिया नहीं है, मैं किसी फल का भोक्ता भी नहीं हूं, मुझ से अतिरिक्त और कोई है ही नहीं", इस प्रकार का आत्म सम्बन्धी ज्ञान जब उत्पन्न हो जाता है तो वह भेद बुद्धि भी अपने आप ही निवृत्त हो जाती है, जिस भेद बुद्धि के कारण मनुष्य अनेक प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। निःश्रेयस या मोक्ष की सिद्धि केवल कर्म से, अथवा ज्ञान और कर्म के समुच्चय से नहीं होती, अपितु केवल ज्ञान से ही होती है। कर्म के द्वारा मोक्ष या निःश्रेयस की प्राप्ति क्यों नहीं होती, इसका कारण बतलाते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि कर्म से वही वस्तु प्राप्त की जा सकती है, जिसका पहिले अभाव हो और कर्म के द्वारा जिसकी उत्पत्ति होती हो। निःश्रेयस या मोक्ष में यह बात नहीं। आत्मा के साक्षात्कार का नाम ही मोक्ष है। कर्मों के द्वारा न तो आत्मा उत्पन्न किया जाता है, और न उसके साक्षात्कार का ही उत्पादन होता है। क्योंकि आत्मा स्वयं नित्य है, उसका उत्पादन कर्म से कैसे होगा। उसका साक्षात्कार भी सभी को है क्योंकि "मैं हूं, या नहीं", अथवा "मैं कौन हूं" इस प्रकार की शंका किसी को नहीं होती। अतः कर्म के द्वारा उत्पाद्य वस्तु मोक्ष में कुछ नहीं है। अविद्या के द्वारा आत्मा पर जो धर्म आरोपित हैं, उनका ज्ञान हो जाना ही मोक्ष है। ज्ञान किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं करता अपितु वह अज्ञान को निवृत्त कर देता है और अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर आत्मा का प्रकाश फैल जाता है। ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, इस सिद्धान्त का खंडन करते हुए श्रीशंकाचार्य कहते हैं कि ज्ञान और कर्म में लगा हुआ पुरुष जैसे उससे भिन्न फल को देने वाले भिन्न कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति में लगा हुआ ज्ञाता पुरुष कर्म आदि में प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है। जब तक ऐसी प्रवृत्ति रहती है, उस अवस्था को ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न से दूर ही समझना चाहिए। यदि कहो कि लकड़ी चीरना रूपी कर्म भोजन रूपी क्रिया में सहायक होता है। लकड़ी चीरने के अनन्तर भोजन आदि क्रियाएं होती हैं, अग्नि उत्पन्न करने के अनन्तर पाक आदि बनाना या अग्निहोत्र आदि करना रूपी क्रियाएं होती हैं, अतः जिस प्रकार एक क्रिया के उपरान्त दूसरी क्रिया देखी जाती है, उसी प्रकार पहिले ज्ञान फिर कर्म इत्यादि क्रम से मुक्ति प्राप्त होती है और मुक्ति के साधन के रूप में ज्ञान और कर्म का सहयोग बन जाता है, तो यह कथन उपयुक्त नहीं। क्योंकि कर्म स्वतः अल्प फल वाला होता है, अतः एक कर्म ने अपना अल्पफल जब दिया तो अल्पता की परिपूर्ति के लिए दूसरा कर्म करना होता है। परन्तु ज्ञान का फल तो परिपूर्ण है। अपने में परिपूर्ण फल रखने वाला ज्ञान किसी कर्म आदि अन्य साधन की अपेक्षा ही

नहीं रखता है। रस्सी में सर्प के अज्ञान को निवृत्त कर देना प्रकाश का काम है। इस कार्य में प्रकाश को अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं, उसी प्रकार ज्ञान ही अज्ञान को निवृत्त कर देता है, अज्ञान का निवृत्त हो जाना ही कैवल्य या मोक्ष है। अतः ज्ञान अपने में परिपूर्ण है, उसे अपने फल देने के लिए कर्म आदि की अपेक्षा नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान का फल मोक्ष बहुत बड़ा फल है, उसमें प्रवृत्त होने वाला पुरुष अल्प फल वाले कर्म में प्रवृत्त ही क्यों होगा। जिनका ध्येय समस्त भारत को विदेशी दासता से छुड़ाना था, वे किसी एक भाग में ही स्वतन्त्रता प्राप्त करके कैसे चुप हो सकते थे। इसी प्रकार मोक्ष रूपी परम स्वतन्त्रता की अभिलाषा रखने वाला पुरुष क्षणिक आनन्द प्रदान करने वाले कर्मों में कैसे लिप्त हो जायगा। अतः कर्म निःश्रेयस देने के साधन नहीं और मोक्ष रूपी फल देने में कर्म की सहायता की कोई अपेक्षा नहीं, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

इस पर कर्मवादी यह कहते हैं कि नित्य कर्मों के न करने से प्रत्यवाय होता है। यदि हम नित्य कर्मों को छोड़कर ज्ञान मार्ग का आश्रय ले लेंगे तो शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार पाप के भागी बनेंगे। अतः नित्य कर्मों का परित्याग कथमपि उचित नहीं। नित्यकर्मों के अनुष्ठान से मोक्ष तो स्वतः सिद्ध हो जाता है क्योंकि मोक्ष नित्य ही है। नित्य कर्मों के अनुष्ठान से नित्य मोक्ष सिद्ध हो ही जायगा। इस प्रकार कर्ममार्ग का आश्रय लेने से शास्त्रों का विरोध भी नहीं होता और बिना किसी समाधि आदि के प्रयत्न के मोक्ष स्वतः प्राप्त हो जाता है। तब कर्म मार्ग का परित्याग कथमपि समुचित नहीं कहा जा सकता। कर्मों के अनुष्ठान से पाप की प्राप्ति नहीं होगी, नित्य कर्मों के अनुष्ठान के साथ-साथ जब हम निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देते हैं तो अनिष्ट शरीरों की उत्पत्ति रुक जाती है। साथ ही काम्य कर्म जो अनेक कामनाओं से किए जाते हैं उनका भी परित्याग कर देने से इष्ट शरीर की भी उत्पत्ति नहीं होती। वर्तमान शरीर को आरंभ करने वाले जो कर्म हैं वे सब इस शरीर के अन्त होने के साथ ही क्षीण हो जायंगे। उसके उपरान्त कैवल्य या मोक्ष की स्थिति प्राप्त हो जायगी। इस प्रकार बिना किसी अतिरिक्त प्रयत्न के मोक्ष जब स्वतः ही कर्मानुष्ठान करते हुए करगत हो रहा है तो कौन इस मार्ग को छोड़ कर अन्य मार्ग का अवलम्बन लेना चाहेगा। इस प्रकार के कर्म सिद्धान्त में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हमने निषिद्ध और काम्य कर्मों का परित्याग कर दिया, अतः उनके फल के उपभोग के लिए आगे हमें शरीर धारण नहीं करना पड़ेगा, परन्तु अनादि काल के जो कर्म संचित हैं वे तो अपना फल देने के लिए पुनः शरीर ग्रहण करवाएंगे। स्वभावतः वे कर्म इतने अधिक होते हैं कि एक शरीर में उन सभी का फल भोग लेना संभव नहीं है। तब उनके फलों के उपभोग के

लिए जब इस शरीर के उपरान्त भी शरीर ग्रहण करना अनिवार्य ही हो गया तब इस शरीर के बाद मोक्ष प्राप्त हो जायगा यह कथन कैसे संगत होगा। उसका उत्तर देते हुए कर्मवादी कहते हैं कि अवश्य ही यह प्रश्न उपस्थित होता है परन्तु उसका समाधान कोई दुष्कर नहीं। काम्य और निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान का परित्याग कर देने के अनन्तर जब केवल नित्यकर्मों का अनुष्ठान ही होगा तब नित्यकर्मों के अनुष्ठान में जो पीड़ा होती है, उस पीड़ा का कष्टकारी अनुभव ही पूर्व संचित कर्मों के फल का उपभोग करा देगा। नित्यकर्मों के अनुष्ठान में पर्याप्त क्लेश उठाना पड़ता है। शीतोष्ण का सहन करना आदि का दारुण कष्ट नित्य कृत्यों के अनुष्ठान में अनिवार्य होता है। उस कष्ट को उठाते हुए कर्म के कर्ता की किसी फल विशेष के लिए अभिलाषा भी नहीं होती, अतः उन कर्मों के अनुष्ठान काल में होने वाले कष्ट के स्वभाविक परिणाम स्वरूप पूर्व संचित कर्मों का क्षय हो जाता है और इस प्रकार कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त पुरुष इस शरीर के बाद स्वतः मोक्ष की स्थिति में पहुंच जाता है।

कर्मवादियों के इस मत को उद्धृत करके इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि–

**"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति**
**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"**

(१ श्वे० उ० ३।८)

इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध है कि विद्या या ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। कर्मवादियों की युक्तियों का उत्तर देते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं कि नित्यकर्मों का भी फल होता है यह बात श्रुति स्मृति सिद्ध है। नित्यकर्मों के अनुष्ठान में होने वाला क्लेश ही पूर्व कर्मों का फल भोग रूप है, इस कथन में कोई युक्ति और प्रमाण नहीं दिया जा सकता। साथ ही इस कथन में भी यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि पूर्वकृत अशुभ कर्मों का फल नित्य कर्मानुष्ठान में होने वाला क्लेश है, यह मान भी लिया जाय, तब भी पूर्वकृत शुभ कर्मों का फल भी तो भोगना अवशिष्ट रह ही जाता है। क्या शुभ कर्मों का भी फल नित्यकर्मों में होने वाले क्लेश से ही मिल गया समझ लिया जाय। शुभ कर्मों का तो क्लेश रूप फल कहीं सुना नहीं जाता। इसी प्रकार के अन्य अनेक तर्कों का उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य ने यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि मोक्ष की उपलब्धि में प्रधान प्रतिबन्ध अविद्या है, कर्म स्वयं अविद्या की अवस्था में ही किये जाते हैं, अतः उनसे अविद्या का नाश होना संभव नहीं, वह कार्य केवल विद्या से ही हो सकता है। गीता में भी इसी सिद्धान्त का

प्रतिपादन हुआ है कि कर्म के अधिकारी ब्रह्मविद्या से अनभिज्ञ हैं, और जो विज्ञाता पुरुष हैं वे तो सर्वकर्म संन्यास पूर्वक ज्ञान निष्ठा के ही अधिकारी हैं इस विषय में निम्नलिखित वचनों को उन्होंने प्रमाण रूप में उपस्थित किया है–

**"उभौ तौ न विजानीत:"**

**"वेदाविनाशिनं नित्यम्"**

**"ज्ञानयोगेन सांख्यानां**
**कर्मयोगेन योगिनाम्"**

**"अज्ञानां कर्मसंज्ञिनाम्"**

**"गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते"**

**"सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी"**

**"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्"**

इन उद्धरणों में ज्ञान निष्ठा ही मोक्ष का परम साधन है यह भगवान् का अभिप्राय है। श्रीशंकराचार्य का उपसंहार भाष्य यहां बहुत विस्तृत है और कर्मवाद की ओर से उपस्थापित अनेक युक्तियों का उन्होंने उत्तर दिया है, उसका संक्षिप्त परिचय हमने यहां झलका दिया है।

---

# तिरासीवां-पुष्प

## भक्ति और ज्ञान

अब अन्त में हम इस बात का विवेचन करना आवश्यक समझते हैं कि भगवद्‌गीता में ज्ञान को प्रधानता दी गई है या भक्ति को। यद्यपि दोनों ही का विवेचन गीता में विस्तार से आता है और लोकमान्य तिलक ने भी ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य माना है। तथापि किसको प्राप्य माना गया और किसको प्राप्त कराने वाला, इस बात का विवेचन आवश्यक है। यद्यपि दोनों ही की प्रधानता के वाक्य गीता में मिलते हैं। जैसा कि–

मयि सर्वाणि कर्म्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।

(अ० ३, श्लो० ३०)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।

(अ० ६, श्लो० ३१)

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।

(अ० ६, श्लो० ४७)

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।

(अ० ८, श्लो० २२)

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।

(अ० ९, श्लो० ३०)

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्‌भक्तः स मे प्रियः ।।

(अ० १२, श्लो० १५)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समीतत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

(अ० १४, श्लो० २६)

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।

(अ० १८, श्लो० ६८)

इत्यादि पद्यों में भक्ति को ही प्रधान माना गया है। और–

सर्वाणीन्द्रियकर्म्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।

(अ० ४, श्लो० २७)

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वकर्म्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।

(अ० ४, श्लो० ३३)

इसके आगे भी चार, पांच श्लोक ज्ञान की प्रशंसा के हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।।

(अ० ९, श्लो० १५)

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।।

**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।**

**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।**

**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।**

**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरणाधिगच्छति ।।**

(अ० ४, श्लो० ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९)

इत्यादि पद्यों में ज्ञान की ही प्रशंसा है। पद्यों का अर्थ अपने-अपने प्रकरण में लिखा जा चुका है। इसलिए यहाँ पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं है। तथापि–

**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।**

**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।**

इस पद्य में यही क्रम बताया गया है कि भक्ति से पहले सामान्य और विशेष ज्ञान होता है। और ज्ञान के अनन्तर भगवान् में प्रवेश होता है। यहाँ कोई यह शंका करे कि अपराभक्ति से ज्ञान होता है तो यह भी युक्त नहीं। क्योंकि इसके पहले पद्य में--

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।**

**समः सर्वेषुभूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।**

पहले पद्य में पराभक्ति शब्द स्पष्ट है। इससे यही सिद्ध हाता है कि पराभक्ति के अनन्तर ही भगवान् ने ज्ञान होना कहा है। और ज्ञान के अनन्तर भगवान् में प्रवेश अर्थात् उनका सायुज्य ही प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त विश्वरूप प्रदर्शन के अनन्तर ११ अध्याय में भी भगवान् की उक्ति है–

**भक्त्या त्वनन्ययाशक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।**

**ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।।**

(अ० ११, ५४ श्लो०)

इस पद्य में भी यही क्रम बताया है कि भक्ति के द्वारा सामान्य और विशेष ज्ञान होता है और उसके अनन्तर भगवान् में प्रवेश अर्थात् भगवत् सायुज्य प्राप्ति हो जाती है। दोनों ही जगह–'भक्त्या' यह तृतीया विभक्ति है वह स्पष्ट ही भक्ति का अङ्गभाव प्रकाशित कर रही है। इससे भक्ति रसायन में जो श्रीमधुसूदनसरस्वती ने लिखा है कि

भक्ति के अनन्तर कुछ भी प्राप्य नहीं रहता, उसके अनन्तर भगवत् सायुज्य ही प्राप्त हो जाता है, और श्री भागवत् के आधार पर यह भी लिखा है कि, भक्त लोग तो भगवत् सायुज्य रूपा मुक्ति ही नहीं चाहते वे तो निरन्तर भक्ति का ही आस्वाद मिलने में प्रसन्न रहते हैं, वह प्रसङ्ग भगवद्‌गीता के अनुकूल नहीं पड़ता। क्योंकि यहां भक्ति से भगवान् का ज्ञान होना और अनन्तर उनकी सायुज्य प्राप्ति होना बताया गया है। यद्यपि–

**'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतोऽर्जुन ।**
**आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।'**

(अ० ७, श्लो० १६)

इस पद्य में ज्ञानी को ही भक्ति का अधिकारी माना गया है। इससे ज्ञान की भक्ति के प्रति अङ्गता सिद्ध होती है। अर्थात् पहले ज्ञान और पीछे भक्ति का प्राप्त होना वहाँ बताया गया है। किन्तु उसके अनन्तर ही भगवान् ने–

'ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्' इन पदों से ज्ञानी को अपना आत्मा बताकर अपने में उसका प्रवेश ही सूचित कर दिया है। और–

**उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ।**
**आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।**

उससे भी ज्ञानी ने मुझको ही अनुत्तम गति के रूप में प्राप्त किया है। इस कथन से ज्ञानी का भगवान् में प्रवेश ही सिद्ध होता है।

इससे वह पद्य भी उनके प्रतिकूल नहीं पड़ता।

**श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।**
**सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ।।**

(अ० ४, श्लो० ३३)

इस पद्य में भी ज्ञान में सब कर्मों की समाप्ति करके भगवान् ने ज्ञान की उत्कृष्टता सिद्ध की है। इसी प्रकार–

**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।**
**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ।।**

(अ० ९, श्लो० १५)

इस पद्य में भी ज्ञान के अनन्तर उपासना की झलक प्रतीत होती है। किन्तु वहाँ भी एकत्व के द्वारा उपासना कहकर ज्ञानी का अपने साथ एक भाव ही प्रकट किया है।

**योमामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।**
**स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ।।**

(अ० १५, श्लो० १९)

इस पद्य में भी मुझको पुरुषोत्तम जानकर जो भजन करता है इस कथन से भी ज्ञानी का भक्ति में अधिकार प्रतीत होता है किन्तु वहाँ भी भगवान् का कथन है कि ऐसा पुरुष सर्वभाव से मेरा भजन करता है। इसका तात्पर्य यही होगा कि सबको मेरा ही रूप समझकर मेरा भजन करता है। सबको भगवान् का रूप समझ लेना ज्ञान की पराकाष्ठा है। इससे ज्ञानी हो जाने के अनन्तर ज्ञान की काष्ठाएं प्राप्त होती रहती हैं। यही सिद्ध होता है। ज्ञानी का पुनः भक्ति में प्रवेश प्राप्त नहीं होता।

इन प्रकरणों की आलोचना करने से भगवद्गीता में भक्ति को साधन और ज्ञान को साध्य भगवान् ने बनाया है, यही सिद्ध होता है। अथवा यों कहो कि ज्ञान और भक्ति दोनों ही परस्पर साध्य और साधन रहते हैं। ज्ञान से भक्ति और पराभक्ति और परज्ञान एक रूप ही सिद्ध होता है। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि जो स्वभावतः विरक्त है उसको ज्ञान के मार्ग से चलना चाहिए और जो किसी में भी अनुरक्त है, उसे भक्ति के मार्ग से चलना चाहिए। अन्त में पराभक्ति, परज्ञान, प्राप्त कर दोनों ही कृतकृत्य हो जाएंगे। यही सिद्धान्त शास्त्रों का प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत् में जो लिखा गया है कि–

**''हित्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-**
**र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत् ततो यदि**
**यत्र क्व वा भद्रममुष्य किं ततो**
**कोवाऽथ आप्तो भजतां स्वधर्मतः''**

अर्थात् अपना धर्म छोड़कर भगवान् की भक्ति में जो लग गये हैं वे यदि पूरे परिपक्व न भी हो सकें और इधर-उधर उनका पतन भी हो तो उनका इसमें अकल्याण ही क्या हुआ। अर्थात् भगवान की भक्ति में जो उन्हें आनन्द है वह तो बना ही रहेगा। फिर जिस किसी योनि में जाकर भी उनका अकल्याण नहीं हो सकता। और जो अपने

धर्म का पालन करते हुए भी भगवान् का भजन करने लगें उनको विशेषता क्या मिलेगी। इस प्रकार भक्ति को प्रधानता देकर स्वधर्माचरण की उपेक्षा बतायी गई है वह भी भगवद्‌गीता के अनुकूल नहीं पड़ती। क्योंकि यहाँ तो भगवान् ने–

**'मामनुस्मर युध्य च'**

इस प्रकार अपने स्मरण अर्थात् अपनी भक्ति करते हुए भी क्षत्रियोचित युद्ध का अर्जुन को बार-बार आदेश दिया है। इससे भगवद् भक्ति करता हुआ भी पुरुष अपने वर्णाश्रमोचित धर्म का पालन अवश्य करता रहे यही भगवान् का उपदेश सिद्ध होता है।

---

## चौरासीवां-पुष्प

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।६७।।
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।६८।।
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।६९।।
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।७०।।
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।।७१।।
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।।७२।।

अर्जुनउवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत! ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।७३।।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।।७४।।
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५।।
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६।।
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।

**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।**
**तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम ।।७८।।**

इस उपदेश को तुम्हें ऐसे पुरुष को नहीं करना चाहिए जो तपस्या नहीं करता हो, जो भक्त न हो, जो सुनने की इच्छा न रखता हो, और जो मुझ से द्वेष रखता हो।" (६७)

यह शास्त्र सम्प्रदाय विधि है। गीता एक सम्पूर्ण शास्त्र है। कोई भी शास्त्र तभी सुरक्षित रहता है जब तक उसका विधि पूर्वक सम्प्रदाय चले। किसी उच्च कोटि की विद्या, या किसी नये आविष्कार का योग्य व्यक्तियों में प्रचार होना उस शास्त्र का सम्प्रदाय माना जाता है। गीता शास्त्र का सम्प्रदाय भगवान् कृष्ण से ही चला है। वर्तमान में सम्प्रदाय शब्द का प्रचलन फिरकापरस्ती के अर्थ में समाचार पत्रों के द्वारा किया जाने लगा है। परन्तु प्राचीन साहित्य में सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग उपर्युक्त सुन्दर अर्थ के अभिज्ञापन में ही सर्वदा हुआ करता था। उससे किसी भी प्रकार के द्वेष की गंध भी नहीं आती थी।

किसी उच्च कोटि की विद्या का प्रचार करने के पहले यह अच्छी प्रकार से देख लेना चाहिए कि उस विद्या का प्रसार उपयुक्त अधिकारी पुरुष में ही किया जाय। हम पहिले प्रसङ्गानुसार कह चुके हैं कि जो उस विषय के अधिकारी नहीं हैं, ऐसे पुरुषों में वितरित की गई विद्या तो निरर्थक हो जाती है, या अनर्थकारिणी हो जाती है। अतः ऐसे पुरुषों में विद्या का वितरण कभी नहीं करना चाहिए। इसीलिए किसी ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रत्येक ग्रन्थकार उस ग्रन्थ के अनुबन्ध चतुष्टय लिखता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय क्या है, उसका अधिकारी कौन है, उससे किस प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है और उस ग्रन्थ का अपने विषय तथा अधिकारी से किस प्रकार का सम्बन्ध है। उक्त अनुबन्ध चतुष्टय को प्रकट करने की संस्कृत ग्रन्थकारों की प्राचीन परिपाटी है। प्राचीन शैली के अध्यापक ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अनुबन्ध चतुष्टय को अपने छात्रों को पहिले अच्छी रीति से समझा देते हैं।

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि जो संसार के बन्धन को काटने के लिए तपस्या नहीं करता, उसे यह उपदेश नहीं देना चाहिए। आगे कहा गया है कि जो अभक्त हो, अर्थात् जिसमें भक्ति की भावना न हो, भले ही वह तपस्या करता हो, उसे भी यह उपदेश नहीं देना चाहिए। भक्ति के आधार देवता, गुरु आदि होते हैं। उपदेश श्रवण का वही अधिकारी होता है जिसकी देवता, गुरु आदि में भक्ति हो। यदि तपस्या भी करता हो और भक्त भी हो परन्तु जिसको उपदेश सुनने की अभिलाषा न हो उसे भी यह उपदेश

नहीं सुनाना चाहिए। अन्त में भगवान् कहते हैं कि जो व्यक्ति मुझमें अर्थात् भगवान् कृष्ण में दोष देखता हो उसे भी यह उपदेश नहीं देना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि बहुत से लोग भगवान् को नहीं मानते। उनके जो गुण भक्त लोग बतलाते हैं, उन गुणों का ऐसे नास्तिक पुरुष उपहास करते हैं। अतः वे इस उपदेश के अधिकारी नहीं रहे। उपदेश के श्रवण का अधिकारी वही पुरुष हो सकता है जो ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखता हो। दूसरा अभिप्राय यह भी है कि गीता के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण हैं। जो व्यक्ति कृष्ण भगवान् को ईश्वर न समझ कर मनुष्य ही समझेगा उसे गीता में अनेक दोष दिखलाई देने लगेंगे। वह यही समझेगा कि यह श्रीकृष्ण ने अपना आत्मविज्ञापन ही किया है। उन्होंने स्वयं को सबका कारण परब्रह्म आदि सभी कुछ कहा है। कृष्ण को सामान्य मानव समझने वाले पुरुष इसे उनका आत्मविद्यापन ही कहेंगे। अतः ऐसे पुरुष जो गीता के उपदेष्टा के स्वरूप को ही नहीं जानते, उन्हें यह उपदेश नहीं सुनना चाहिए। उपदेश श्रवण से पहिले उपदेष्टा में यह श्रद्धा और विश्वास होना आवश्यक है कि वह हमें जो कुछ कहेगा, वह सर्वथा सत्य और हमारे लिए हितकर ही होगा। यदि उपदेष्टा के प्रति इस प्रकार की श्रद्धा और विश्वास श्रोता के मन में नहीं है, तो उसे दिया गया वह उपदेश नितान्त निरर्थक ही होगा अतः उपदेष्टा भगवान् में असूया दोष प्रकट करने वाले पुरुष को यह उपदेश नहीं सुनाना चाहिए।

श्रीनीलकण्ठ ने तप का अर्थ किया है आलोचना, जो आलोचना शून्य है अर्थात् जो सुनी हुई उपदेश की बातों का मनन नहीं करता उसे भी उपदेश देना निरर्थक है।

उपनिषद् में विद्या के अधिकारी की चर्चा आई है कि–

**"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि**
**असूयकायानृजवेऽयताय न मां ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्"**

अर्थात् विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा कि तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरी सम्पत्ति हूँ। जो असूया रखता है, जो सरल स्वभाव का नहीं है, और जो आहार व्यवहार में असंयत है, ऐसे पुरुष को मुझे दान न देना, तभी मैं शक्तिशालिनी बन सकूंगी। और भी कहा गया है–

**"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।**
**तस्यैते कथिताह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ।।"**

अर्थात् जिस पुरुष की देवता और गुरु में परमभक्ति है, उसी पुरुष को ये आध्यात्मिक अर्थ कहने पर प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार अनधिकारी को उपदेश सुनने का निषेध करके अब किसको यह उपदेश सुनाना चाहिए, इसे बतलाते हैं–

"परमगुप्त इस उपदेश को जो मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझमें परमभक्ति को प्राप्त करता हुआ निस्सन्देह मुझे प्राप्त कर लेगा।" (६८)

इस उपदेश को मेरे भक्तों को सुनाना चाहिए यह भगवान् का आदेश है। सुनने वाले की भी भगवान् में पूर्ण भक्ति रहनी चाहिए। इस प्रकार सुनने का फल भगवान् की प्राप्ति ही बतलाया गया है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि जो पुरुष स्वयं तो भक्ति हीन है, परन्तु सम्मान और अपनी पूजा कराने की अभिलाषा से श्रोताओं के बीच में बैठकर इस उपदेश को यदि सुनता है तो उसे भी भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। जैसे अजामिल आदि नितान्त भक्तिहीन पुरुष भी अपने बालक नारायण का नाम लेने से ही मृत्यु काल में भगवान् के कृपाभाजन बन गए। इस उपदेश को श्रोताओं में सुनाने वाले पुरुष की प्रशंसा करते हुए तथा उसे अपना अनुग्रह भाजन बतलाते हुए भगवान् आगे कहते हैं–

"मनुष्यों में उस पुरुष से अधिक मेरा प्रिय कार्य करने वाला और कोई नहीं है, और आगे भी उससे अधिक मुझे प्रिय और कोई अन्य नहीं होगा।" (६९)

यह भी गीता की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले पुरुष की ही बात है। इस अमूल्य उपदेश को जनता में वितीर्ण करने वाला पुरुष भगवान् का साक्षात् प्रीति पात्र होता है।

"हमारे इस धर्ममय सम्वाद का जो पुरुष स्वयं अध्ययन करेगा, उस पुरुष के द्वारा ज्ञान यज्ञ में मैं पूजित होता रहूँगा।" (७०)

गीता का उपदेश करने वाला यदि अन्य पुरुष न भी मिले तो भी मनुष्य को स्वयं ही उसका अध्ययन करते रहना चाहिए। वह एक ज्ञान यज्ञ है, और उससे भगवान् की पूजा होती है।

आगे इस उपदेश के सुनने वालों को क्या फल मिलता है, यह बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि–

"श्रद्धायुक्त, असूया से रहित जो पुरुष इस उपदेश को सुनेगा, वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्म करने वाले पुरुष जिन लोकों को प्राप्त करते हैं, उन्हें प्राप्त कर लेगा।" (७१)

यहाँ मुक्त का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने पाप से मुक्त होना किया है। इसका श्रवण करने वाला पुरुष पापों से मुक्त हो जायगा।

इस समस्त उपदेश का प्रयोजन अर्जुन के युद्ध काल में संभूत मानसिक क्षोभ को विनष्ट करना था। यदि वह प्रयोजन ही पूरा न हो तो इस सम्वाद को कहने, पढ़ने, सुनने आदि के जो फल बतलाए गए हैं, वे सब एक ओर रक्खे ही रह जायंगे। इस उपदेश की सफलता की कसौटी तो यही है कि इससे अर्जुन का मोह दूर हुआ कि नहीं। इसी बात को प्रकट करने के लिए भगवान् अर्जुन से अग्रिम पद्य में प्रश्न करते हैं कि–

"हे अर्जुन ! मैंने जो उपदेश तुम्हें दिया है, उसे तुमने एकाग्रचित्त से सुना भी है या नहीं, और अज्ञान से उत्पन्न होने वाला तुम्हारा मोह इस उपदेश से सुनकर नष्ट हो गया अथवा नहीं।" (७३)

जब किसी रोगी की कोई वैद्य चिकित्सा करना प्रारम्भ करता है तब उस वैद्य की चिकित्सा से रोगी को कुछ लाभ हुआ या नहीं, इसका उत्तर रोगी ही अपने अनुभव से दे सकता है। वैद्य भी अपनी चिकित्सा की सफलता की परीक्षा करने के लिए रोगी से ही प्रश्न करता है कि कहो भाई मेरी चिकित्सा से तुम्हारा रोग शान्त हो गया या नहीं। जब रोगी कहता है कि हाँ, मुझे आपकी चिकित्सा से पूर्ण लाभ हुआ है, मेरा रोग नष्ट हो चुका है, तब चिकित्सक अपनी चिकित्सा को सफल मानता है। संसार रूपी महारोग के चिकित्सक भगवान् ने अर्जुन के मोह रूपी महारोग की चिकित्सा अमूल्य उपदेश रूपी महौषधि देकर की। अब अपना उपदेश सुनाने के अनन्तर उन्होंने अर्जुन से वही प्रश्न किया जो चिकित्सक चिकित्सा करने के अनन्तर अपने रोगी से करता है। उसका उत्तर देते हुए अर्जुन कहता है कि–

"हे अच्युत ! आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया, मैंने स्मृति प्राप्त कर ली, विगत संदेह होकर मैं अब स्थित हूँ, आपके वचनों को पूरा करूंगा।" (७३)

मोह समस्त अनर्थों का मूल है यह समुद्र के समान सुदुस्तर है। वह मोह यद्यपि मनुष्य पर सर्वदा ही छाया रहता है, परन्तु विशेष अवसरों पर वह अपने उग्र रूप से मनुष्य पर हावी होता है, और उसे अपने कर्त्तव्य कर्म से विमुख कर देता है। मोह का ऐसा ही आक्रमण युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन पर हुआ था, जिससे वह अपने कर्त्तव्य से विच्युत होकर युद्ध से विमुख हो जाने में अपना कल्याण समझने लगा था। वही मोह का उग्ररूप भगवान् का उपदेश सुनकर समाप्त हो गया, और वह कहता है कि मैंने स्मृति प्राप्त कर ली। यहाँ संसार रूपी मोह जो अर्थ किया जाता, वह संगत नहीं होता, क्योंकि संसाररूपी मोह के नष्ट हो जाने पर तो कुछ भी करणीय कर्म अवशिष्ट ही नहीं रह जाता। भगवान् अभी अर्जुन को इसका अधिकारी भी नहीं

मानते। अतः उन्होंने उसे अपने सहज कर्म युद्ध में ही प्रेरित किया और स्वकर्त्तव्य पालन रूप युद्ध में प्रवृत्त होने में जो मोह प्रतिबन्ध बन गया था, अपने उपदेश के द्वारा भगवान् ने उसी का शमन किया है। उसी मोह का नष्ट होना यहाँ अर्जुन ने स्वीकार भी किया है। यदि भगवान् के उपदेश से अर्जुन का संसार रूपी मोह दूर हो गया होता, तब तो वह आत्मज्ञानी हो जाता। परन्तु उसके उत्तर में उसका आत्मज्ञानी होना नहीं अपितु उसका कर्मधिकारी होना ही स्पष्ट है। ज्ञानी पुरुष के लिए आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता, परन्तु अर्जुन यहाँ भगवान् को अपने से ृथक सम्बोधित कर रहा है। इसी से उसका कर्मधिकारी होना सिद्ध है।

इसके आगे संजय जो कि धृतराष्ट्र के पास बैठ कर व्यास के प्रभाव से दिव्य दृष्टि सम्पन्न होता हुआ युद्ध का सभी समाचार सुन रहा था–

उसकी उक्ति है, "इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव के तथा महात्मा पार्थ के इस अद्भुत और रोमहर्षण सम्वाद को सुना।" (७४)

अवश्य ही यह सम्वाद अद्भुत है क्योंकि युद्धस्थल पर पक्ष-प्रति पक्ष के बीच इस प्रकार का विलक्षण उपदेश सम्भवतः कहीं भी देखा सुना नहीं गया। रोम हर्षण इसलिये है कि अनायास उन समस्त गम्भीरतम शास्त्रों का मथितार्थ समझ जाने पर जिस प्रसन्नता का अनुभव होता है वह अनिर्वचनीय है।

संजय को इतना सौभाग्य भगवान् वेद व्यास की कृपा, से ही प्राप्त हुआ। अतः वह भगवान् वेद व्यास के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करता हुआ कहता है कि–

"व्यास की कृपा से यह अत्यन्त रहस्य भूत योग मैंने साक्षात् योगेश्वर कृष्ण से स्वयं सुना।" (७५)

यह एक गुह्य योग है। गीता कर्म योग शास्त्र है उसी को यहाँ संजय ने योग कहा है भगवान् के लिये उसने योगेश्वर शब्द का साभिप्राय प्रयोग किया है। योग का विवरण जितनी पूर्णता तथा सुन्दरता से योगेश्वर कर सकते हैं उतनी पूर्णता तथा सुन्दरता से अन्य कोई नहीं कर सकता। इसको गुह्यतम कहने का अभिप्राय इसके निरतिशय महत्व को प्रकाशित करने में है।

इस सम्वाद को सुनकर जिस अपार हर्ष का अनुभव संजय को हुआ, उसे प्रकट करते हुए वह कहता है कि–

"हे राजन् धृतराष्ट्र ! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत तथा पुण्य सम्वाद का बार-बार स्मरण करते हुए मुझे बार-बार अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।" (७६)

वस्तुतः जैसा कि भगवान् ने पहले कहा है यह भगवद्गीता रूपी सम्वाद श्रवण मात्र से पापों को नष्ट करने वाला और पुण्य दायक है। इसका यही प्रमाण है कि संजय से इस उपदेश का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु उसे इसके श्रवण मात्र से इतना अधिक आनन्द प्राप्त हुआ जिसे बार-बार प्रकाशित करते हुए भी वह तृप्त नहीं होता। फिर उसने तो भगवन् के मुख से ही इसे सुना। अतः उनकी कल्याण कारिणी और श्रवण मोहिनी वाणी भी सुनने को मिली।

आगे पुनः अपने हर्ष को ही प्रकट करता हुआ संजय कहता है कि–

'उपदेश देते समय भगवन् का जो अत्यन्त अद्भुत रूप था, उसका स्मरण करके हे राजन् ! मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है और प्रसन्नता भी होती है।" (७७)

अन्त में श्रीमद्भगवद्गीता का उपसंहार करते हुए समस्त उपदेश के सार के रूप में संजय कहता है कि–

"जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर पार्थ हैं वहीं लक्ष्मी और विजय होती है यह मेरी निश्चित नीति वाली मति है।" (७८)

इस प्रकार इस परम ज्ञानमय श्रीमद्भगवद्गीता पर यथा शक्ति व्याख्यान मैंने प्रस्तुत किया। आशा है कि कृपालु पाठक अज्ञान वश जो दोष आ गये हैं उन्हें क्षमा करेंगे और सार ग्रहण करेंगे। इति–

---